CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डा. कोमलसिंह सोलंकी

3992

नाथ पंथ और निर्गुण संत-काव्य

3992

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

STATE MUSEUM, LUCKNOW
LIBRARY

Acc. No. 3992

Book No. 891·43
स न

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर के लिये
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
द्वारा प्रकाशित

891.43
G न

[सर्वाधिकार सुरक्षित]

प्रथम संस्करण : १९६६

मूल्य : १२.००

3992

कैलाश प्रिन्टिंग प्रेस, आगरा २
[१२/८/६६]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राक्कथन

डा० कोमलसिंह सोलंकी का शोध-प्रबन्ध "हिन्दी के निर्गुण संत-कवियों पर नाथ पंथ का प्रभाव" सन् १९६० में विक्रम विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच. डी. की उपाधि के लिये स्वीकृत किया गया था। अब यह विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की एक योजना के अन्तर्गत प्राप्त प्रकाशन अनुदान की सहायता से प्रकाशित किया जा रहा है।

डा० सोलंकी ने अपने प्रबन्ध में आधुनिक भारतीय साहित्य के एक अत्यन्त रोचक पक्ष का विवेचन किया है। संभवतः नाथ परंपरा गुजरात से प्रारम्भ होकर महाराष्ट्र तथा बाद में भारत के अन्य भागो में फैली। इसने तत्कालीन अनेक भारतीय भाषाओं के साहित्य तथा धार्मिक चिन्तन को प्रभावित किया है।

प्राचीन साहित्य और परवर्ती संत कवियों के मध्य कड़ी के रूप में इस परम्परा का महत्व गहन अध्ययन का विषय है और इस प्रबन्ध में डा० सोलंकी ने एक नवीन दृष्टि प्रदान की है। मुझे आशा है कि डा० सोलंकी का यह योगदान साहित्य के अध्येताओं के लिये उपयोगी सिद्ध होगा और इस विषय तथा सम्बन्धित क्षेत्र में शोध-कार्य को प्रेरणा देगा।

एस० एस० भंडारकर
उपकुलपति

१५ अगस्त, १९६६
जीवाजी विश्वविद्यालय,
ग्वालियर।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निवेदन

नाथ पंथ सिद्ध और संत-काव्य के मध्य की कड़ी है। यद्यपि सिद्ध साहित्य, नाथ पंथ और कतिपय संतों पर पृथक्-पृथक् शोध-कार्य हो चुका है तथापि नाथ पंथ का संत कवियों पर क्या प्रभाव है इस क्षेत्र में मेरा यह प्रथम प्रयास है। इस प्रबन्ध का प्रतिपाद्य विषय 'हिन्दी के निर्गुण संत कवियों पर नाथ पथ का प्रभाव' है। नाथ पंथ के स्वरूप निर्धारण में भारतीय धर्मसाधना के अन्तर्गत अनेक धार्मिक मतों, सम्प्रदायों का योग रहा है अतएव इस प्रबन्ध की पृष्ठभूमि में मध्यकालीन धार्मिक वातावरण और उसके लोक प्रभाव को प्रस्तुत करना एक अनिवार्य आवश्यकता थी, साथ ही नाथपंथी प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए संत-काव्य की उपलब्धियों के बिना यह अध्ययन सम्भवतः पूर्ण न हो पाता। नाथ पंथ के पूर्व की धार्मिक एवं सामाजिक अवस्थाओं से लेकर संत-काव्य की विविध परिणतियों तक लगभग आठ सौ वर्षों का एक दीर्घ काल व्यतीत होता है, इस दृष्टि से कतिपय अनुषंगिक प्रसंग युग प्रभाव को प्रकट कर सकने के उद्देश्य से इस प्रबन्ध में आ गये हैं।

काव्य एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। उस पर जिस बौद्धिक चेतना और रागात्मक अनुभूति का प्रभाव पड़ता है उसका परिणाम काल, स्थान एवं वातावरण सापेक्ष्य होता है। प्रभाव के फलस्वरूप कतिपय नवीन उपलब्धियाँ भी युगानुकूल स्वाभाविक हैं। राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक प्रभाव की पृथक्-पृथक् अवस्थाओं की अपेक्षा काव्य पर एक समग्र सांस्कृतिक प्रभाव ही मुख्य माना जा सकता है। नाथ पंथ एवं संत-काव्य इस दृष्टि से एक ही तत्त्वचिन्तन की दो विभिन्न परिणतियाँ मानी जाकर भिन्न साधना पंथों की पोषक बनी हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध अध्ययन की दृष्टि से तीन खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड में पृष्ठभूमि तथा परिधि, द्वितीय खण्ड में समीक्षा, तथा तृतीय खण्ड में प्रभाव एवं संस्कृति का विवेचन है। तीन खण्डों के भीतर यह प्रबन्ध कुल ७ अध्यायों में विभाजित किया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रथम अध्याय में निर्गुण संत-काव्य के सम्बन्ध में उपलब्ध विभिन्न स्थापनाओं को संगृहीत कर संत-काव्य का स्वरूप निर्धारित करने का प्रयत्न है। इस दृष्टि से काव्य के सम्बन्ध में उपलब्ध भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों की स्थापनाओं पर विचार कर संत कवि किस रूप में काव्य परिधि के अन्तर्गत स्वीकार किये जा सकते हैं उस पर सविस्तार चर्चा की गयी है। सामान्यतः संत-काव्य लोककाव्य है, अतएव संत-काव्य की लोकभूमि का परिचय भी इसी संदर्भ में दिया गया है। अध्ययन की सामग्री तथा अध्ययन का लक्ष्य भी इसी अध्याय के अन्तर्गत मिलेगा।

द्वितीय अध्याय में नाथ पंथ और उसके लोकप्रभाव की सविस्तार चर्चा की गयी है। वस्तुतः नाथ पंथ के पूर्ववर्ती धार्मिक मतों में शैव, वैष्णव, शाक्त तथा बौद्ध, जैन मत प्रभावशाली थे और उपासना के क्षेत्र में तांत्रिक साधना की प्रधानता थी। नाथ पंथ के सिद्धान्त अपने मूल रूप में आज उपलब्ध नहीं हैं, केवल साधना का मिश्रित रूप ही प्राप्त है। ऐसी स्थिति में भारतीय धर्मसाधना की बौद्धोत्तर उक्त परिणतियों पर विस्तार से चर्चा इसी दृष्टि से की गयी है जिससे कि नाथ पंथ की पृष्ठभूमि पर प्रकाश पड़ सके। नाथ पंथ की साधना पद्धति और उसकी लोकाभिव्यक्ति के परिचय के पश्चात् इस अध्याय में नाथ पंथ की मूल प्रवृत्ति का विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय में निर्गुण संत-काव्य के अंगीभूत तत्त्वों का विवेचन है। संत-काव्य के आविर्भाव की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों की चर्चा उसमें की गयी है। संत-काव्य मूलतः आध्यात्मिक काव्य है, अतः उस पर भारतीय दर्शन के प्रभाव की दृष्टि से दार्शनिक पीठिका और उसकी व्यावहारिक परिणति पर भी विचार किया गया है। विविध दार्शनिक मतों का संक्षिप्त परिचय एवं संतों पर उसका प्रभाव भी इस अध्याय में उस प्रकरण से सम्बद्ध होकर आया है। साथ ही संतों की लोकपरक भावना और उसके विकास सूत्रों की चर्चा है तथा इसी संदर्भ में नाथ पंथ और निर्गुण संत-काव्य का विवेचन भी प्रस्तुत है।

चतुर्थ अध्याय में नाथ पंथ एवं संत-काव्य के सिद्धान्त पक्ष पर प्राप्त सामग्री के आधार पर विचार किया गया है। नाथ पंथ का तत्त्वचिन्तन, उसकी साधना पद्धति, संतों का तत्त्वचिन्तन, उनके आध्यात्म सम्बन्धी विचार इस अध्याय में हैं। नाथपंथी साहित्य की पृष्ठभूमि में संतों के ब्रह्म, जीव, जगत, माया और मायावाद की समीक्षा की गयी है, नाथ पंथ की प्रभावशीलता को दृष्टि में रखते हुए संत मत पर विविध साम्प्रदायिक आचार्यों द्वारा प्रतिपादित विचारों के औचित्य की सीमा भी निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। तत्पश्चात् नाथपंथी हठयोगी साधना तथा संतों की सहज साधना के मध्य विकास सूत्रों का विवेचन किया गया है। संत मूलतः भक्ति भावना से प्रेरित सत की खोज करने वाले साधक ही माने गये हैं इस दृष्टि से भक्ति का विवेचन, नाथपंथी भक्ति का साम्प्रदायिक रूप तथा निर्गुण संत कवियों की भक्ति भावना की समीक्षा की गयी है। इसी संदर्भ में संत रहस्य भावना और उस पर नाथपंथी प्रभाव का विवेचन है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पंचम अध्याय में नाथपंथी वाणियों एवं निर्गुण संत कवि और उनके काव्य पक्ष का अनुशीलन किया गया है। नाथों की वाणियाँ और उनका स्वरूप, संतों का भावनिरूपण तथा रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से समीक्षा करने के उपरान्त प्रतीक पद्धति पर विचार किया गया है। संत मत में नाथपंथी प्रतीक योजना और उसका साम्य तथा विभिन्नताएँ भी इसके भीतर आयी हैं। इस अध्याय के अन्त में संत-काव्य की शैली, वस्तुयोजना, नये काव्य रूपों की उद्भावना, भाषा, छन्द और अलङ्कार आदि काव्य-शास्त्रीय पक्ष पर विचार किया गया है।

षष्ठ अध्याय में नाथपंथी प्रवृत्तियाँ तथा शब्दावली और संत-काव्य का विवेचन है। वस्तुतः नाथ शब्दावली सिद्धों की शब्दावली से प्रभावित है अतएव सिद्ध शब्दावली और नाथपंथी प्रवृत्तियाँ तथा तत्पश्चात् संत-काव्य में नाथपंथी शब्दावली के विषयगत प्रयोग पर विस्तार से चर्चा की गयी है। नाथ पंथ के वाचक शब्दों को लेकर संत कवियों ने उन्हें किस रूप में ग्रहण किया है इस पर भी विचार किया गया है। इस अध्याय में शब्दावली के अतिरिक्त गुह्यवाणी और रूपक योजना तथा उलट-बाँसियों की भी चर्चा है।

सप्तम अध्याय प्रस्तुत प्रबन्ध का एक प्रकार से उपसंहार है। इस अध्याय में नाथ पंथ के संदर्भ में निर्गुण संत-काव्य की मूल चेतना पर चर्चा की गयी है। तदुपरांत नाथ पंथ के मूल सिद्धान्त एवं निर्गुण संत-काव्य के मूल स्वर का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। साथ ही संत-काव्य एवं प्रेमाख्यानक काव्य प्रवृत्ति तथा सगुण भक्ति काव्य की राम और कृष्ण भक्ति शाखा और सत-काव्य का दिग्दर्शन कराया गया है। नाथ पंथ के संदर्भ में संत-काव्य की सांस्कृतिक परम्परा और अन्त में हिन्दी साहित्य को संत कवियों की देन पर संक्षिप्त टिप्पणी दी गयी है।

नाथ पंथ की पृष्ठभूमि के लिए जितनी अस्त-व्यस्त सामग्री इस क्षेत्र में उपलब्ध थी तथा जितने सीमित साधन मेरे पास थे उसे देखते हुए मेरा यह शोध-कार्य कदाचित पूर्ण न हो पाता यदि मेरे गुरुवर तथा निर्देशक आचार्य गुरुप्रसादजी टण्डन, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, महारानी लक्ष्मी बाई कॉलेज, ग्वालियर की प्रेरणा, प्रोत्साहन तथा निर्देश मुझे प्राप्त न हुए होते। कार्य करने की प्रेरणा से लेकर उसके अनुकूल सामग्री और वातावरण का निर्देश कर उनके आद्योपांत निरीक्षण से मुझे सदैव ही बल मिला है, उनके प्रति मेरी विनम्र कृतज्ञता अर्पित है।

कोमलसिंह सोलंकी

ग्वालियर
मध्य-प्रदेश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

खण्ड १

पृष्ठभूमि तथा परिधि

१. **विषय-प्रवेश** १–५१

निर्गुण संत-काव्य के सम्बन्ध में विभिन्न स्थापनाएँ, काव्य की परिधि और संत कवि, संत-काव्य की लोकभूमि, अध्ययन की मूल सामग्री, इस अध्ययन का लक्ष्य।

२ **नाथ पंथ और उसका लोक प्रभाव** ५२–१३१

शैव मत, वैष्णव मत, अन्य धार्मिक साधनाएँ, उत्तरकालीन बौद्धधर्म तथा तान्त्रिक उपासना, मध्यकालीन धर्मसाधना और नाथ पंथ का सिद्धान्त पक्ष, नाथ पंथ की साधना पद्धति एवं उसकी लोक अभिव्यक्ति, नाथ पंथ की मूल प्रवृत्ति का विवेचन।

३. **निर्गुण संत-काव्य के अङ्गीभूत तत्त्व** १३२–१८०

आविर्भाव की परिस्थितियाँ, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक दार्शनिक पीठिका और उसकी व्यावहारिक परिणति, विविध मतों का उस पर प्रभाव, उनका अन्तिम रूप, संतों की लोकपरक भावना, उसके विकास सूत्र, नाथ पंथ और निर्गुण सत-काव्य।

खण्ड २

समीक्षा

४. **नाथ पंथ एवं संत-काव्य का सिद्धान्त पक्ष** १८३–२५३

नाथ पंथ का तत्त्वचिन्तन तथा साधना पद्धति, संतों का तत्त्वचिंतन, आध्यात्म सम्बन्धी विचार, ब्रह्म, जीव, जगत, माया और मायावाद,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाथ पंथ की प्रभावशीलता, संत मत पर विविध साम्प्रदायिक आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मतों का प्रभाव, साधना पद्धति, हठयोग, सहजसाधना, भक्ति का विवेचन, नाथपथी भक्ति का साम्प्रदायिक स्वरूप, निर्गुण संत कवियों की भक्ति भावना, संत रहस्य भावना और उस पर नाथपंथी प्रभाव ।

५. **नाथ पंथ, निर्गुण संत कवि और उनका काव्य पक्ष** २५४–३१५

नाथों की वाणियाँ और उनका स्वरूप, संतों का भाव निरूपण, रस, आलम्बन, अनुभाव, संचारी भाव, प्रतीक पद्धति, संत मत में नाथपंथी प्रतीक योजना और उसका साम्य तथा विभिन्नताएँ, शैली, वस्तु-योजना और नये काव्य रूपों की उद्भावना, भाषा, छन्द तथा अलंकार ।

खण्ड ३

प्रभाव एवं संस्कृति

६. **नाथपंथी प्रवृत्तियाँ तथा शब्दावली और संत-काव्य** ३१६–३५६

सिद्ध शब्दावली और नाथपंथी प्रवृत्तियाँ, संत-काव्य में नाथपंथी शब्दावली का विषयगत प्रयोग, नाथ पंथ के वाचक शब्द और संत कवि, गुह्यवाणी और रूपक योजना, उलटबाँसियाँ ।

७. **नाथ पंथ के सन्दर्भ में निर्गुण संत-काव्य की मूल चेतना** ३६०–३९२

निर्गुण संत-काव्य का मूल स्वर और नाथ पंथ, समकालीन प्रेमाख्यानक काव्य प्रवृत्ति, सगुण भक्ति काव्यधारा तथा संत कवि, संत-काव्य की सांस्कृतिक परम्परा, हिन्दी साहित्य को संत कवियों की देन ।

सहायक ग्रन्थ-सूची ३९३–३९७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रथम खण्ड

पृष्ठभूमि तथा परिधि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१

विषय-प्रवेश

निर्गुण संत-काव्य के सम्बन्ध में विभिन्न स्थापनाएं

हिन्दी का निर्गुण संत-काव्य भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि है। संतों के लोकपरक अनुभव रागातमक धारा में प्रायः जितने खंडित प्रतीत होते हैं, वैसे नहीं हैं और न उसकी अविच्छिन्न धारा इतनी वस्तुपरक है कि स्थूल रेखाओं के माध्यम से उसके महत्त्व की स्थापना की जा सके। भारतीय काव्यधारा की अध्यात्मपरक अनुभूतियों का मंथर प्रवाह अत्यन्त ही प्राचीनकाल से इस देश में चला आ रहा है।[१] निर्गुण संत कवि आध्यात्मिक[२] लोकधारा के कवि हैं। निर्गुण संत-काव्य से तात्पर्य उन संतों की वाणियों से है जिन्होंने जनभाषा हिन्दी के माध्यम से आत्मपरक भक्तिभावना

---

१ "भारतीय जीवन में संचार करने वाली आध्यात्मिक प्रवृत्ति की इस धारा के उद्गम अत्यन्त प्राचीनता के कुहरे में छिपे हुए हैं। युगयुगांतर को पार करती हुई यह धारा अबाध गति से बहती चली आ रही है। प्रवाह भूमि के अनुरूप कभी सिमटती, कभी फैलती, कभी बालुका में विलीन होती और फिर प्रकट होती हुई वह अनेक रूप अवश्य धारण करती आयी है परन्तु उसका प्रवाह कभी बन्द नहीं हुआ।"—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', पृ० १।

२ तुम जिनि जानौ गीत है, यह निज ब्रह्म विचार
केवल कह समुझाईया, आतम साधन सार रे!—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८९।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

का पोषण किया है तथा जो साधना के क्षेत्र में एक ओर नाथपंथी योगियों के प्रभाव से प्रभावित थे तो दूसरी ओर ईश्वर के सगुण रूप की अपेक्षा निराकार निर्गुण रूप के अनन्य उपासक। संतों की वाणियों में एक ओर परम्परागत साधना का संकेत है तो दूसरी ओर उनमें मुसलमानी आक्रांताओं और इस्लाम धर्म के स्पर्श की गंध भी है तथा सामाजिक वर्णव्यवस्था के प्रति गहरा आक्रोश भी, आत्मसाधना ही जिसका चरम लक्ष्य है।

संत-काव्य की इस अनेकरूपता के कारण संतों का चिंतन कहीं निर्गुणधारा[१] के नाम से अभिहित किया गया तो कहीं संतमत[२] के नाम से। कुछ विद्वानों ने संतों की कविता को निर्गुण सम्प्रदाय की 'ज्ञानाश्रयी शाखा[३] के अन्तर्गत माना है। जिस रूप में भी हो, यह तो सर्वसम्मत है कि भारतीय जन-जीवन में आध्यात्म की रागात्मक परिणति का नामकरण उसके अनुशंषकों एवं आलोचकों ने अपनी रुचि के अनुकूल कर लिया, किन्तु हमारे मत में आध्यात्मवादी अटपटी भावधारा को निर्गुण 'संत-काव्य' के ही रूप में स्वीकार करना उपयुक्त है। संत-काव्य के साधक कवि एक ओर सगुण भक्तों से अपने आप को पृथक मानते हैं, दूसरी ओर मुसलमान सूफी फकीरों से भी तथा तीसरी ओर साधनापरक नाथयोगियों से भी उनका मेल नहीं है। ऐसी स्थिति में जिज्ञासु अध्येता के सम्मुख समस्या उत्पन्न हो जाती है कि इस प्रकार के संतों के सम्बन्ध में विभिन्न समीक्षकों के क्या मत हैं इसे जाने तथा यह भी खोज सके कि स्वयं संत अपने विषय में क्या कहते हैं।

पृष्ठभूमि के रूप में यह भी जान लेना आवश्यक है कि निर्गुण संत-काव्य के सम्बन्ध में विभिन्न स्थापनाएँ क्या हैं तथा उनका औचित्य क्या है।

निर्गुण संत-काव्य की पृष्ठभूमि का विवेचन करने के लिए हमें इस क्रम में प्रचलित कुछ रूढ़ि शब्दों का विश्लेषण करना होगा। मूल रूप से हम 'संत' शब्द पर प्रथम विचार करते हैं।

संत शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। भारतीय आर्यभाषा में 'संत' शब्द वैदिक साहित्य में 'ब्रह्म' के लिए प्रयुक्त हुआ है। छांदोग्य उपनिषद में कहा गया है—आरम्भ में केवल एक अद्वितीय 'संत' ही वर्तमान था।[४] क्रांतिदर्शी ब्राह्मण उस अद्वितीय एवं अदैव 'संत' का वर्णन अनेक प्रकार से किया करते हैं।[५] गीता में 'सद्भावे साधु भावे च सदित्येत्प्रपुज्यते'[६] अर्थात् सद्भाव व साधुभाव

---

१ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १।

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १९३।

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७५।

४ 'सदेव सोम्येदमग्रे आसीदेक मेवा द्वितीयम्।'

—छान्दोग्य उपनिषद्, द्वितीय खण्ड, १।

५ ऋगवेद १०, ११४, ५।

६ गीता १७/२६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रखकर प्राणीमात्र से सहृदयभाव रखना, सर्व भूतहित रत रहना और रागद्वेष आदि द्वन्द्वों में न पड़ना भी 'संत' ही है। 'महाभारत' में संत शब्द का प्रयोग सदाचारी के लिए हुआ है। भागवत में 'संत' का प्रयोग पवित्रात्मा के अर्थ में हुआ है[१] और कालिदास ने बुद्धिमान के अर्थ में किया है।[२] संस्कृत साहित्य में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त 'संत' अथवा 'सत' शब्द हमारे प्रबन्ध की आलोच्यभूमि से भिन्न है। लोकवाणी से निःसृत इस रूढ़ि शब्द के सम्बन्ध में कुछ और विचार करना अभीष्ट है। डा० पीतम्बर दत बड़थ्वाल का मत है कि 'संत' शब्द की उत्पत्ति दो प्रकार से सम्भव है—वह 'सत' का बहुवचन हो सकता है, जिसका हिन्दी में एकवचन का प्रयोग हुआ है; वह शांत का अपभ्रंश रूप हो सकता है जैसा पाली भाषा में होता है। पहली व्युत्पत्ति से संत के माने होंगे—जो सत है अथवा जिसे सत की अनुभूति हो गयी है, दूसरी से जिसकी कामनाएँ शांत हो चुकी हैं। दोनों अर्थ संत पर ठीक उतरते हैं।[३]

श्री राहुल सांकृत्यायन संत शब्द का विवेचन संतों की परम्परा के आधार पर करते हैं। उनका कथन है—"ऐतिहासिक काल (बुद्ध के समय) से तो हमें संतों की परम्परा स्पष्ट दीख पड़ती है। वेद काल में इन्हीं को ऋषि कहा जाता था, फिर मुनि, जो कि उसी अर्थ में बुद्ध काल में भी मौजूद था। बहुप्रचार से शब्दों का मूल्य कम हो जाता है लेकिन यह बात रहस्यवादी क्षेत्र पर लागू नहीं होती। ऋषि चिरपरिचित और बहुप्रचलित शब्द है, लेकिन वह इतना ऊँचा समझा जाने लगा कि किसी योग्य से योग्य व्यक्ति के लिए उसका उपयोग मुश्किल हो पड़ा। मुनि के चोले में भी, वह बुद्ध काल में भी गिने-चुने लोगों के लिए प्रयोग होता था। पीछे उसका भी तल इतना ऊँचा हो गया कि उसके पास तक पहुँचना बड़े से बड़े मनीषी के लिए भी मुश्किल हो पड़ा इसलिए रहस्यवाद के विशेषज्ञों या महापुरुषों को सिद्ध कहा जाने लगा। चौरासी सिद्ध इसी पदवी से पुकारे जाते थे और चौरासी की सूची पूरी हो जाने पर दूसरों को उसमें शामिल नहीं किया जा सकता था। इस काल में तथा इसके पहले संत शब्द का उतना मूल्य नहीं बढ़ा था और उसे सत्पुरुष का ही वाचक समझा जाता था। यह स्मरण रखने की बात है कि अशोक और उसके एकाध शताब्दी के बाद तक 'सपुरिस' (सत्पुरुष) मुक्त या निर्वाणप्राप्त पुरुष को कहा जाता था। अस्तु संत पहले भले आदमी को किन्तु ऊँचे दर्जे के व्यक्ति को कहा जाता था। 'संत' शब्द का ही स्त्रीलिंग सती है यद्यपि वह असाधारण स्त्री के लिए ही प्रयुक्त होता था। लेकिन संत का मूल्य उसमें नहीं लाया जा सका, इसलिए जब महिला संतों के लिए जरूरत पड़ी तो संतनी कहा जाने लगा। इस प्रकार ऋषि,

---

१ भागवत स्क० १, अ० १६, श्लोक ८।

२ रघुवंश १/१०।

३ योग-प्रवाह, पृ० १५८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुनि, सत्पुरुष, सिद्ध, संत एक ही तरह के व्यक्तियों के नाम हैं जो रहस्यमय पुरुष समझे जाते थे।[१]

लोकधारा के इस क्रमिक विकास में संत शब्द जिन रहस्यवादी पुरुषों के लिए प्रयुक्त हुआ है, उनसे हमारे निर्गुण संतों की परम्परा तो आँकी जा सकती है किन्तु संतों तक आते-आते इतने प्रकार का भेद हमें मिलता है जिससे ऋषि अथवा सिद्धों से स्वयं संत अपने को पृथक मानने लगे। सिद्ध और नवनाथ भी उसे नहीं प्राप्त कर सके जो इन निर्गुण संतों को प्राप्त हो गया।[२] वे इसीलिए अपनी परम्परा का आदि स्रोत प्राचीनता में खोजते हुए भी अपने युग की उपज हैं तथा इसीलिए वे जयदेव और नामा[3] (नामदेव) से पूर्व श्रेष्ठ और रहस्यवादी साधकों को अपनी पंक्ति में बैठा हुआ नहीं मानते।

संत साहित्य की शोध से विदित होता है कि गोरखनाथ संत परम्परा में प्रमुख हैं तथा दूसरे संत 'भगत' अथवा सम्प्रदायों के नेता हैं जिनमें कबीर का स्थान अग्रगण्य है। इस 'भगत' वर्ग के संस्थापक रामानन्द हैं तथा साथ ही नामदेव भी प्रसिद्ध संत माने गये हैं।[४] 'संत' शब्द आज जिस रूप में प्रचलित है वह भगत अथवा भगतजी के रूप में लोकजीवन में प्रचलित रहा होगा और उसका कुछ न कुछ रूप अभी भी मिलता है परन्तु हमारा यह अनुमान है कि यह भगत शब्द साधारण भक्त शब्द से भिन्न अर्थ का द्योतक है। संतों के समुदाय में अथवा संतों की शाखा प्रशाखाओं में भगत रैदास, भगत सैन, भगत चरणदास आदि नाम में आया हुआ भगत विशेषण ठेठ संत भाव की व्यंजना करता है और भक्त शब्द प्रायः वैष्णवी भक्ति में दीक्षित भक्त के आशय को ध्वनित करता है।

कुछ विद्वान संत का सम्बन्ध उन भक्तों से मानते हैं जो विट्ठल अथवा वारकरी सम्प्रदाय के व्यक्ति थे जिनकी साधना मुख्यतया निर्गुण भक्ति साधना थी। कालान्तर में यही शब्द रूढ़ हो गया प्रतीत होता है। डा० रानाडे का मत है कि 'संत' शब्द का प्रयोग आगे चलकर उन्हीं भक्तों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो वारकरी सम्प्रदाय के मतानुयायी थे।[५] इसी आधार पर कतिपय विद्वानों का विचार है कि वारकरी

---

१ संत-दर्शन-भूमिका—राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ ३।

२ कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ३१८।

३ "गुरु प्रसादी जैदेउ नामा। भगति के प्रेमी इनही है जाना॥"

—संत कबीर, रागगउड़ी, पृ० ३६।

४ एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, खण्ड ११, पृ० ६०।

५ "'संत' शब्द अब विट्ठल सम्प्रदाय में एक विशेष अर्थ का बोध कराता है जिसका तात्पर्य यह है कि वही व्यक्ति संत है जो उस सम्प्रदाय का अनुयायी है। इस प्रकार दूसरे सम्प्रदायों के अनुयायी उस रूप में संत नहीं माने जाते।"

—श्री रानाडे, 'मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र', पृ० ४२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्प्रदाय के संतों जिनमें ज्ञानदेव, नामदेव एवं तुकाराम आदि उल्लेखनीय हैं, के साथ विचार सादृश्य के कारण कबीर तथा उनके पश्चात होने वाले अन्य निर्गुणियों के साथ भी संत शब्द व्यवहृत होने लगा।[१]

इस सम्बन्ध में डा० विनयमोहन शर्मा का कथन है कि हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में निर्गुण ब्रह्मोपासक को संत और सगुण ब्रह्मोपासक को 'भक्त' नाम से अभिहित करने की परिपाटी है जो व्यवहारिक मात्र ही कही जा सकती है। 'परम सत्य' का साधक चाहे अपने पिंड में उसके दर्शन करे, चाहे पिंड से बाहर सृष्टि के अणु-अणु में उसका स्पन्दन अनुभव करे, संत ही है। सगुण और निर्गुण में विभाजक रेखा खींचकर एक को भक्त और दूसरे को संत कहने से इतिहास लेखन में सुविधा हो सकती है, तथ्य ग्रहण में नहीं।[२] डा० विनयमोहन शर्मा का मत है कि जो आत्मोन्नति सहित परमात्मा के मिलन भाव को साध्य मानकर लोकमंगल की कामना करता है उसे हम संत की श्रेणी में रखते हैं।[3] मराठी और हिन्दी संतों की तुलना में संत शब्द की व्यापकता पर इस रूप में भले ही प्रकाश डाला जा सकता हो किन्तु हमारा आशय तो प्रकृत रूप में निर्गुण साधकों को संत नाम दिये जाने से है। वैसे तो हिन्दी के सगुण भक्त कवियों ने भी संत की परिभाषा दी है। तुलसीदास ने लिखा है—

संतन के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान विख्याता॥
संत असंतन के असि करनी। जिमि कुठार चन्दन आचरनी॥
काटई परस मलयसुनु भाई। निजगुण देह सुगंध बसाई॥[४]

किन्तु सामाजिक जीवन से विरत, योग की उलटी-सीधी अटपटी शब्दावली का प्रयोग करने वाले निर्गुण साधकों को जब 'संतों' शब्द में अपढ़ और निम्नवर्गीय जनता को सम्बोधन करते हुए हम पाते हैं तब न हम उसकी पूर्व-पीठिका में प्रयुक्त दार्शनिक आत्मसाधकों से उनका सम्बन्ध जोड़ पाते हैं और न पिंड के बाहर अणु-अणु में ब्रह्म की प्रतिमा पूजने वालों में ही।

संत-काव्य के आलोचकों में डा० बड़थ्वाल संत की निम्न परिभाषा करते हैं—"संत आध्यात्म विद्या का व्यवहारसिद्ध स्वरूप है। आध्यात्मवादी तत्त्व-चिंतक जिन महान सिद्धान्तों का अन्वेषण और निरूपण करते चले आये हैं, उनको उसे स्वयं अपने में अनुभूति हुई होती है। उनका उसे शास्त्रीय वाचनिक ज्ञान हो न हो, दर्शन अवश्य होता है। वह आध्यात्म का व्याख्याता चाहे न हो, आध्यात्मचेता होता है। वह द्रष्टा है।"[५] 'द्रष्टा' संत एकमात्र संतत्व को अपने में और अपने को

---

१ **संत-दर्शन**—डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, पृ० २।
२ **हिन्दी को मराठा संतों की देन**—डा० विनयमोहन शर्मा, पृ० ५५।
3 **वही**, पृ० ५६।
४ **रामचरितमानस**।
५ **योग-प्रवाह**—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० १५६।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

एकमात्र संतत्व में देखता है इसलिए वह संत है।[१] किन्तु संत निःकर्मी नहीं है, निःकामी अवश्य है।[२] वह किसी के सामने हाथ नहीं फैलाता। डा० बड़थ्वाल के मत से वह सामाजिक शृङ्खला को तोड़ना नहीं चाहता, समाज में प्रचलित अन्यायों और बुराइयों के विरुद्ध आवाज उठाने में वह बेशक नहीं हिचकता। विशेषकर ऐसे अवसर पर युग की आवश्यकताओं को देखते हुए सामाजिक नियम बेतरह अधूरे और निकम्मे पड़ जाते हैं, उस समय वह समाज के नियमों को आवश्यकता के अनुकूल ढालने में सहायता करता है।[३]

सामाजिक जीवन के सुधार का तथ्य भले ही संत का न रहता हो किन्तु उसके आध्यात्मपरक स्पष्ट और बलशाली व्यक्तित्व से भारतीय जीवन अवश्य प्रभावित हुआ है। यह तो हम संतों की सामयिक, राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से अनुमान लगा सकते हैं किन्तु यह अभिमत ठीक उसी रूप में स्वीकार नहीं है कि संत कवि एकान्त समाज सुधारक भी हैं। समाज सुधार उनका हेतु नहीं और न केवल कविकर्म ही उनका हेतु है किन्तु जहाँ काव्य और समाज अपने प्रकृत रूप में स्थित है उस अवस्था का प्रतिरूप संत है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी के मतानुसार संत शब्द, इस विचार से उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत् रूपी परमतत्त्व का अनुभव कर लिया हो और जो, इस प्रकार, अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो। जो सत्यरूप नित्यसिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो, अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो वही संत है।[४]

संत का यह स्वरूप 'आध्यात्मिक पुरुष' का ही स्वरूप है किन्तु प्रश्न यह है कि क्या संत सामाजिक, धार्मिक एवं साम्प्रदायिक प्रभावों से ऊपर उठकर मानव के स्थान पर महामानव की संज्ञा के भी अधिकारी हैं और संतों की तथाकथित खंडन-मंडन वृति[५] को क्या इस अखण्ड सत्य में कहीं स्थान मिल सकता है? प्रपति में आस्था रखने वाले विश्वात्मवाद की प्रतिष्ठा में विश्वासी होने पर भी अन्ततोगत्वा संत अस्थि-चर्म-मय मनुष्य ही हैं। यह तथ्य हमें नहीं भुला देना चाहिए। ऐसी स्थिति में अपरोक्ष की उपलब्धि के साथ मानवीय संकीर्णताओं से अपने को पृथक् रखने की क्षमता जिन मानवों में है, वे निश्चित ही संत की कोटि में आ जाते हैं।[६]

---

१ योग-प्रवाह—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० १५८।

२ "निरवेदी निःकामता सांई सेती नेह।" —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५०।

३ योग-प्रवाह—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० १६५।

४ उत्तरी भारत की संत परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १।

५ साखी सब्दी दोहरा कहि कीनी उपखान।
भगति निरूपहि भगत कवि निंदेहि वेद पुरान॥ —तुलसीदास।

६ कबहुक हौं यह रहति रहौंगो।
संत सुभाव गहौंगो॥ —विनयपत्रिका।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी का विचार है कि सच्चा संत इस संसार में रह कर भी इसके विकारों से परे है।[१] वह जल में कमल के पत्ते तथा जलपक्षी के समान है जो जल में रह कर भी भीगता नहीं।[२]

संत शब्द के सम्बन्ध में प्राप्त विभिन्न मतों के आधार पर कुछ विद्वान संत और कवि में एक साम्य की कल्पना भी करते हैं। राहुल सांकृत्यायन का कथन है कि शायद सारे संत वंश में वेद से लेकर आधुनिक काल तक कोई ऐसा संत नहीं मिलेगा जिसने पद न कहे हों। रहस्यवादी होने के साथ कवि होना संत के लिए आवश्यक है।[३] राहुलजी की इस उक्ति से यह ध्वनित होता है कि संत वस्तुतः निर्गुण मार्ग के विशेष वर्ग के व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। उनके मतानुसार संत के लिए पद रचना अनिवार्य ठहरायी गयी प्रतीत होती है। इससे भिन्न डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी उन में एक विवेकशील सचेष्ट व्यक्ति की कल्पना करते हैं तथा संतों को नीर-क्षीर विवेकी हंस और पाखण्डियों को बगुला की उपमा उपयुक्त समझते हैं।[४] हमारे मत से संतों के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई भी कथन उनके स्वयं के अनुभवों का परिचय प्राप्त किये बिना अधूरा ही रहेगा।

अभी तक संत शब्द के रूढ़ि प्रयोग तथा विद्वानों द्वारा उस पर की गयी आलोचना के विषय में ही हमने विचार किया, अब हम 'संतों की वानियों' में उन्होंने अपने स्वयं के विषय में क्या कहा है इसका दिग्दर्शन करेंगे।

संतों ने अपने विषय में जो कहा है वह कहीं-कहीं अत्यन्त चरम रूप में मिलता है, कहीं परस्पर विरोधी भी। किन्तु अंततोगत्वा 'संत' से सामान्य अर्थ को हम उससे ग्रहण कर सकते हैं। उनके मतानुसार 'सांई' और 'संत' दोनों एक हैं[५], माया संत की दासी है, संत को आशीर्वाद देती है[६], जिस दिन संत के दर्शन हो जायें वही दिन भला है, जिसके अंकस्पर्श से पाप दूर हो जाते हैं,[७] संत अपनी संतई नहीं छोड़ता चाहे

---

१ संत कवि दरिया : एक अनुशीलन—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, पृ० १५०।

२ वही, पृ० १५०।

३ संत दर्शन—राहुल सांकृत्यायन, भूमिका, पृ० ६।

४ संत कवि दरिया : एक अनुशीलन—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, पृ० १५२।

५ (अ) सांई सरीखे संत है, या में मीन न मेख।
परदा अंग अनादि है बाहर भीतर एक॥
(ब) संत और राम एक जानिये।
दूसरा भेद न तनिक आनै॥ —गरीबदास की वाणी।

६ माया दासी संत की ऊभी देई अशीष। —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३३।

७ कबीर सोई दिन भला जा दिन संत मिलांहि।
अंक भरे भर भेंटिया पाप सरीरौं जांहि॥ —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करोड़ों ही असन्त मिल जायें,[१] संत के दर्शन से साहिब का स्मरण हो आता है,[२] संत गठरी बाँध कर नहीं चलता है, जितना पेट के लिए आवश्यक है उतना ही लेता है, सदैव ही सांई के सामने रहता है जहाँ वह माँगता है वहीं मिलता है।[३] कबीर कहते हैं—

कबीर चेरा संत का दासन का परदास,
कबीर ऐसे व्है रह्या ज्यूँ पाँऊँ तल घास ॥[४]

स्वयं कबीर जिसका चेला बनने में सौभाग्य समझते हों वह संत कैसा होगा ? वह पंचेन्द्रियों को अपने वश में रखता है, मृत्यु का उसके लिए कोई भय नहीं है, साकत मर जाता है और संतजन तो जीवित ही रहता है। संत, उस अविनासी का, जो न उत्पन्न होता है और न जिसका नाश होता है, सुयश गाता रहता है।[५]

दरिया साहब (मारडाल वाले) ने संत के लक्षण इस प्रकार प्रकट किये हैं :

दरिया लच्छन साध का क्या गिरही क्या वेश।
निःकपटी निःसंक रहि, बाहर भीतर एक ॥[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर 'संत' के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूत्र उपलब्ध होते हैं :

१. संत स्वयं एक अद्वितीय पुरुष है जो साधारण संसारियों के मध्य रहकर भी उनसे पृथक रहता है।

२. वह आत्मविचार के माध्यम से नीर-क्षीर विवेक के पथ का अनुसरण करता है। उसकी कथनी और करनी एक होती है।

३. उसके लिए यह संसार असार और दुःख का कारण है। माया अनेक रूपों में असार संसार को समाप्त किये जा रही है, नारी भी उसके लिए माया की प्रतिनिधि है और इसलिए उसकी आलोचना की सामग्री भी।

४. वेद और किताब में जो लिखा है उससे अधिक अनुभव से उसने सब जान लिया है। संत तो सदैव राम के पास ही रहता है। वह पिन्ड में

---

१ संत न छाड़े संतहि कोटिक मिलहि असंत। —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५१।

२ कबीर दर्शन साधका, साहब आवैं याद।
लेखे में सोई घड़ी, बाकी के दिन बाद ॥

३ संत न बंधे गाँठड़ी, पेट समाता लेह।
सांई सू सम्मुख रहे, जहाँ माँगे तहाँ देइ ॥ —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५८।

४ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६५।

५ कोई एक देखै संत जन जाके पाँचू हाथि।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८१, १०२, १०३।

६ संत बानी संग्रह, भाग १, पृ० १२८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही ब्रह्मांड के दर्शन करता है। इसके लिए उसे सहज योग का भी सहारा लेना पड़ता है।

५. उसकी दृष्टि में सब मत बराबर हैं, सब जाति उसी राम की हैं, किन्तु जो बिना विचार के सर्वज्ञ ब्रह्म का रूप मानते हैं उनकी अज्ञानता पर संत को ग्लानि होती है। वे लोग मनुष्य का जन्म निरर्थक ही खो रहे हैं। जातिपाँति का संतों के लिए कोई आग्रह नहीं है।

६. धार्मिक चिंतन में उसका दृष्टिकोण उन खंडनात्मक विचारकों से मिलता है जो तर्क के माध्यम से आचार, ब्राह्मण और वेद की श्रेष्ठता स्वीकार नहीं करना चाहते।

७. समाज के निम्नवर्गों में सन्तों का आविर्भाव बहुत हुआ जिसका मुख्य कारण है सामाजिक हीनत्व की भावना। अभिजात्य वर्ग की श्रेष्ठता को ब्रह्म और उसके सामीप्य की श्रेष्ठता से मापने पर ब्रह्म की श्रेष्ठता को संतों ने प्रतिष्ठित किया।

८. आचार प्रधान साधनाओं के लिए संतों का विशेष आग्रह रहा है, सामाजिक चिन्तन की अपेक्षा व्यक्ति और आध्यात्म का आधार लेकर सन्तों ने अपने अनुभवों को प्रकट किया है।

९. उनकी रागात्मक अभिव्यक्ति में मार्जन का अभाव है, अटपटापन उनका स्वभाव बन गया और भक्ति उनकी आध्यातिमक प्रेरणा का आधार।

१०. सगुण निर्गुण से परे परात्पर ब्रह्म ही उनके 'आतमविचार' का आधार है।

११. आचारों की रूढ़ि स्थापना से सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई और संत अपने लक्षणों को छोड़कर एक वर्ग विशेष में परिणित हो गया, न जिसके लिए प्रचलित सामाजिक व्यवस्था में निष्ठा शेष रही और न सर्वात्मब्रह्म की अद्वैत एकरूपता में।

इस प्रकार जिन संतों ने संत-काव्य का सृजन किया वह एक ओर महत् आध्यात्म धारा के रागात्मक निर्झर के रूप में हुआ है तो दूसरी ओर धार्मिक और साम्प्रदायिक साजसम्हाल के रूप में भी। प्रायः संत कवि अपढ़ हैं किन्तु अनुभव में पढ़े-लिखों से आगे। प्रबन्ध का विषय संतों की उन रचनाओं से है जो काव्य की कोटि में आती हैं तथा जिनका आनन्द ब्रह्मानन्द सहोदर माना गया है।

संत सम्बन्धी विभिन्न स्थापनाओं का विश्लेषण करने के पूर्व संत-काव्य के साथ प्रयुक्त 'निर्गुण' शब्द पर भी विचार करना अभीष्ट होगा।

डा० पीताम्बर दत बड़थ्वाल ने अपने प्रबन्ध 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' में निर्गुण संत-काव्य के आविर्भाव के सम्बन्ध में लिखा है, "पन्द्रहवीं शताब्दी में इस धारा ने जो रूप धारण किया, वह किसी उपयुक्त नाम के अभाव में निर्गुण संत

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सम्प्रदाय कहलाता है ।"[१] उन्होंने प्रबन्ध की प्रस्तावना में अपने इस कथन को पुष्ट करते हुए लिखा है, "इस रचना के अंतर्गत उन हिन्दी कवियों की साम्प्रदायिक विचार-धारा को प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है जिन्हें यथोचित न होने पर भी साधारण-तया निर्गुण संत कवि कहा जाता है और इसी कारण इसके शीर्षक का स्पष्टीकरण हो जाना भी नितांत आवश्यक है ।"[२]

सन्त शब्द एक व्यापक अभिप्राय की सूचना देता है[3] किन्तु तुलसी, सूर, कबीर आदि कवियों को दादू, सुन्दर आदि कवियों के साथ संत कवि की कोटि में ला बिठाया जायेगा तो न यह सगुणोपासक कवियों के प्रति न्याय होगा और न ये नितान्त भिन्न विचारधारा के पोषक कवि ही अपनी काव्यधारा का प्रतिनिधित्व कर सकेंगे। 'निर्गुण' सगुण की पूरक स्थिति में भले ही प्रयुक्त हो किन्तु इन संत कवियों का आराध्य तो निर्गुण-सगुण दोनों से ही परे है।[४] ऐसी स्थिति में निर्गुण मत भी नितान्त उपयुक्त नहीं है । डा० बड़थ्वाल ने इन संतों को सगुण उपासना के स्थूल रूपों, जैसे मूर्तियों तथा अवतारों आदि, के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने के विरोध के कारण ही निर्गुणी कहा है ।[५]

श्री परशुराम चतुर्वेदी डा० बड़थ्वाल के 'निर्गुण सम्प्रदाय' प्रयोग के औचित्य को स्वीकार नहीं करते ।[६] उन्होंने इस सम्बन्ध में स्पष्ट किया है कि निर्गुण मत अथवा 'निर्गुण पंथ' प्रारम्भिक काल के प्रयोग हैं,[७] किन्तु इस धारा का प्रारम्भिक प्रयोगों के आधार पर ही निर्गुण संत-काव्य अपनी विशेष प्रवृतियों को लेकर हिन्दी साहित्य में अपना स्थान बनाये हुए है जिसका मूलरूप ब्रह्म, अग्नि के साधक एवं विश्वात्मा के उपासक नाथों के साहित्य में पाया गया है, दूसरी ओर भक्ति के माधुर्य रूप में जिसके बीज अंकुरित होते दिखाई पड़ते हैं । मात्र संत कवि से यथार्थ में हम इस सांस्कृतिक लोकधारा के पाँच शताब्दी के इतिहास को स्पष्ट नहीं देख पाते हैं जिसके कारण ये कवि, संत कवि होने के बाद भी निर्गुण काव्यधारा के पोषक हैं तथा जिनका लक्ष्य आत्मविचार के साथ-साथ भक्ति भी है । भक्ति ने सामयिक प्रभावों से योग की धारा को जो स्वरूप प्रदान किया वह वास्तव में निर्गुण भक्ति कही गयी, किन्तु संत शब्द भक्त के रूप में रूढ़ होगया, संत तुलसीदास और संत कबीर का प्रयोग सर्वप्रचलित

---

१ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १ ।
२ वही, प्रस्तावना 'ग' ।
३ वही ।
४ वही ।
५ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, प्रस्तावना 'घ' ।
६ वही, भूमिका, पृ० २० ।
७ उत्तरी भारत की संत परम्परा, भूमिका, टिप्पणी ३, पृ० ५ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है किन्तु 'संत' प्रयोग के पश्चात दोनों संत कवि दो धुरी केन्द्रों के आत्मचेता हैं। यही कारण है कि सगुण भक्ति के रूप में प्रचलित श्रद्धा के सूक्ष्म तंतुओं पर निर्गुणी संतों के आत्मविचारों ने जो प्रहार किये हैं वे मात्र संत होने के नाते नहीं किये प्रत्युत निर्गुण संत की पृष्ठभूमि के बिना सम्भवतः वे ऐसा न कर पाते। जब एक ओर योग धारा से ये संत अपने को पृथक मानते हैं और दूसरी ओर सगुण भक्ति के संतों से इनका कोई मेल नहीं है तो निष्कर्षतया हम इस धारा के कवियों को 'निर्गुण संत कवि' के नाम से अभिहित करेंगे।

निर्गुण संत कवि हमें भारतीय काव्य साहित्य के उन आदिस्रोतों तक पहुँचा देने में सहायक हैं जिनके प्रभाव और परिणामों का हमारे लोकजीवन के निर्माण में पूर्ण योग रहा है। अधिकांश संत कवि जनकवि अथवा लोककवि हैं।[१] लोकजीवन के गतिशील खन्ड प्रकारों से मिलकर उनके स्वरूप का निर्माण हुआ है, वहाँ न कला और रूप-निखार के लिए अवकाश है और न सामाजिक संगठन के सृजनात्मक अंग का बौद्धिक संघर्ष। आत्मविचार ही उनकी साधना का मुख्य अंग है। वे भक्ति की तन्मयता में परम सत्य का अन्वेषण करते हैं। कबीर कह उठते हैं—

हरि का नाम न जपसि गंवारा।
किया सोचहि बारम्बारा।।[२]

कहीं संतों की कविता में आत्मविचार की लहरें हैं, कहीं भावभगति का गुणानुवाद, कहीं नामस्मरण का महात्म्य और कहीं सहजशील की साधना।[३] फिर निर्गुण संत कवि अपने युग की विषमताओं से अछूते कैसे रह सकते थे? सामाजिक; धार्मिक, राजनीतिक प्रभावों की क्रिया-प्रतिक्रिया अनुकूल-प्रतिकूल रूप में उन पर भी पड़ी और अटपटी भाषा में जिस रूप में उनकी वाणी उसे प्रकट कर सकी वह हिन्दी के भक्ति काव्य के अन्तर्गत आने वाली रचनाएँ अपनी परम्परा में सुदृढ़ तथा चिन्तन में प्रायः मौलिक ही कही जायेंगी। यद्यपि कहीं संतों की वाणी में सहज प्रवाह है तो कहीं अटपटापन। कुछ विद्वान इनकी वाणियों को साहित्य की अमूल्य निधि मानते हैं[४] तो कुछ संत-काव्य के सांस्कृतिक और साहित्यिक मूल्य को स्वीकार ही नहीं करना

---

१ संत दर्शन—राहुल सांकृत्यायन, भूमिका, पृ० १।

२ संत कबीर, पृ० १३६।

३ कबीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ६६।

४ "दि सिस्टेमेटिक स्टडी आफ दि टीचिंग आफ दि निरगुन स्कूल हेल्प इन अन्डरस्टैंडिग दि डीप सीटेड कल्चर आफ इण्डिया। इट इज ए डेफीनिट लिंक इन दि चेन आफ अवर कल्चरल एवोल्यूशन।"—पी० डी० बड़थ्वाल, 'दि निर्गुन स्कूल आफ हिन्दी पोइट्री', भूमिका, पृ० ३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चाहते ।[१] विरोधों एवं प्रशस्तियों से अनुप्राणित हिन्दी का निर्गुण संत-काव्य ज्ञानधारा में एक ओर अपने को उस परम्परा से जुड़ा हुआ पाता है जिसका अनुभव शास्त्र के विधि-विधानों से ऊपर है तो दूसरी ओर लोक साहित्य की अलिखित परम्परा से जुड़ा हुआ है, न जिसके पास साहित्यिक भाषा है, न छन्द, न अलंकार । कविता की इस धारा के कवियों में एक ओर मानव के सम्पूर्ण जीवन का लक्ष्य है तो दूसरी ओर ऊपरी कलासज्जा एवं अलंकरण की ओर से उदासीनता ।

विचार एवं चिन्तन के क्षेत्र में विरोधी मतों की सम्भावना अधिक होती है । प्रत्येक दृष्टा अपनी कल्पना के अनुरूप ही अपना चित्र खींचना चाहता है और उसके मूर्तरूप की आशा भी करता है, यह कथन निर्गुण संत कवियों के सम्बन्ध में पूर्णरूपेण चरितार्थ होता है । हिन्दी साहित्य के विभिन्न इतिहासों में इस महत्त्वपूर्ण धारा का जिस रूप में वर्णन मिलता है उससे यह निष्कर्ष सहज ही निःसृत होता है कि कुछ इतिहासकारों ने अपनी पृष्ठभूमि के साँचे में इस वन्यकुसुम अथवा गंगा की भाँति प्रवाहित पयस्वनी को बाँधने का प्रयत्न किया है ।

डा० ग्रियर्सन द्वारा लिखित हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास के अध्याय 'पन्द्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण' शीर्षक में कुछ कवियों[२] का वर्णन मिलता है जो संत-काव्य सम्बन्धी स्थापनाओं पर सीधा प्रकाश नहीं डालता, केवल इन कवियों का परिचय मात्र देता है जो प्रामाणिक नहीं माना जा सकता ।[3]

डा० ग्रियर्सन के हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास के पश्चात् संत-काव्य पर अनेक विद्वानों ने विचार किया । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में निर्गुण संत-काव्य के आविर्भाव की परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "भक्ति के आन्दोलन की जो लहर दक्षिण से आयी उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्ति मार्ग की भावना कुछ लोगों में जगायी ।........महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव (सं० १३२८—१४०८) ने हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्तिमार्ग का भी आभास दिया । उसके पीछे कबीरदास ने विशेष तत्परता के साथ एक व्यवस्थित रूप में यह मार्ग 'निर्गुण पंथ' के नाम से चलाया ।"[४]

---

१ नगेन्द्र, सभापति का वक्तव्य, **निबन्ध गोष्ठी : भारती हिन्दी परिषद**, पन्द्रहवाँ अधिवेशन; प्रयाग, पृ० ९ ।

२ क्रमसंख्या १० से ३० तक के कवियों की सूची देखिए : **डा० ग्रियर्सन का हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास**, पृ० ६७ ।

3 डा० ग्रियसन : **हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास** (अनुवाद) प्रस्तावना, पृ० ४१ ।

४ **हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल**, पृ० ६४ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह निर्गुण पंथ जिसमें नानक, दादू, मलूकदास आदि संतों का होना उन्होंने माना है, सूफियों के प्रेमतत्त्व से प्रभावित है। कबीर के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए उन्होंने प्रकट किया है कि इस दृष्टि से यदि हम देखें तो कबीर का ज्ञानपक्ष तो रहस्य और गुह्य की भावना से विकृत मिलेगा पर सूफियों से जो प्रेमतत्त्व उन्होंने लिया वह सूफियों के यहाँ चाहे कामवासनाग्रस्त हुआ हो पर निर्गुण पन्थ में अविकृत रहा। यह निस्संदेह प्रशंसा की बात है।[1]

हिन्दी के निर्गुण संत-काव्य में अनेक विरोधी प्रवृतियों की ओर इंगित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि निर्गुणवाद वाले और दूसरे संतों के वचनों में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं योगियों के नाड़ी चक्र की, कहीं सूफियों के प्रेमतत्त्व की, कहीं पैगम्बर कट्टर खुदावाद की और कहीं अहिंसा-वाद की। अतः तात्त्विक दृष्टि से न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी, दोनों का मिलाजुला भाव इनकी वानी में मिलता है। इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति पद्धति का प्रचार था जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेदभाव का कुछ परिहार हो। बहुदेवोपासना, अवतार और मूर्तिपूजा का खण्डन ये मुसलमानी जोश के साथ करते थे और मुसलमानों की कुरबानी, (हिंसा) नमाज़, रोज़ा आदि की असारता दिखाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहदनाद, सृष्टि, प्रलय आदि की चर्चा पूरे हिन्दू ब्रह्मज्ञानी बन कर करते थे। सारांश यह है कि ईश्वर पूजा की उन भिन्न-भिन्न बाह्य विधियों पर से ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्म में भेदभाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वर प्रेम और सात्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे।[2]

संतों की ये लोकपरक अनुभूतियाँ शिक्षित समाज के लिए सदैव ही दूर की वस्तु रहीं। उसी प्रकार संतों ने भी अपनी अभिव्यक्तियों को साहित्य की संज्ञा से विभूषित नहीं किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी निर्गुणधारा को दो शाखाओं में विभाजित किया है—एक ज्ञानाश्रयी शाखा, दूसरी प्रेममार्गी शाखा। ज्ञानाश्रयी शाखा ही निर्गुण संत-काव्य की शाखा मानी गयी है। आचार्य शुक्ल ने ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों—संतों–की इस अभिव्यक्ति को बहुत ही अटपटी और असंस्कृत रूप में दर्शाया है। वे लिखते हैं कि 'पहली शाखा भारतीय ब्रह्मज्ञान और योग साधना को लेकर तथा उसमें सूफियों के प्रेमतत्त्व को मिलाकर उपासना क्षेत्र में अग्रसर हुई और सगुण गुण के खन्डन में उसी जोश के साथ तत्पर रही जिस जोश के साथ पंगम्बरी मत बहुदेवोपासना और मूर्तिपूजा आदि के खन्डन में रहते हैं। इस शाखा की रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं, फुटकर दोहों या पदों के रूप में हैं जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटाँग है। कबीर आदि दो एक प्रतिभासम्पन्न संतों को छोड़कर औरों

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६५।
२ वही, पृ० ७०।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

में ज्ञानमार्ग की सुनी-सुनायी बातों का पिष्टपेषण तथा हठयोग की बातों के कुछ रूपक यही तुकबन्दियों में हैं। भक्तिरस में मग्न करने वाली सरसता भी बहुत कम पायी जाती है। बात यह है कि इस पंथ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा, क्योंकि उसके लिए न तो इस पन्थ में कोई नई बात थी, न नया आकर्षण। संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता। पर अशिक्षित और निम्न-श्रेणी की जनता पर इन संत महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है। उच्च विषयों का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडम्बरों का तिरस्कार करके, आत्मगौरव का भाव उत्पन्न करके उन्होंने इसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया।[१]

आचार्य शुक्ल ने कबीर में रहस्यवाद का आभास वेदान्त और हठयोग की पारिभाषिक संज्ञाओं के आधार पर माना है किन्तु शुद्ध प्रेममार्गी सूफी कवियों के रहस्यवाद की कोटि में उन्हें संतों का रहस्यवाद फीका ही प्रतीत हुआ है।[२]

डा० श्यामसुन्दरदास अपने 'हिन्दी साहित्य' नामक ग्रन्थ में संत-काव्य की परम्परा का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि कबीर की निर्गुणशाखा वास्तव में योग का ही परिवर्तित रूप है जो सूफी, इस्लामी तथा वैष्णव मतों से भी प्रभावित हुई थी।[३] उपासना में निर्गुण की प्रतिष्ठा करके तथा परमार्थ सिद्धि में वेदों, पुराणों तथा कुरान आदि की गौणता दिखा कर इन संतों ने एक ऐसी भूमिका तैयार की जिस पर हिन्दू और मुसलमान दोनों समान भाव से खड़े हो सकते थे। इन संत कवियों ने लौकिक जीवन को भी अत्यन्त सरल, निर्मल और स्वाभाविक बनाने के उपदेश दिये तथा सदाचार आदि पर विशेष जोर डाला। इस सबका फल यह हुआ कि सामान्य भक्तिमार्ग उठ खड़ा हुआ, जिसका आधार परोक्ष सत्ता की एकता और लौकिक जीवन की सरलता हुआ।[४] संतों ने कविता के लिए कविता नहीं की है। डा० श्यामसुन्दरदास का मत है कि संतों की विचारधारा सत्य की खोज में बही है, उसी का प्रकाश करना उनका ध्येय है। उनकी विचारधारा का प्रवाह जीवनधारा के प्रवाह से भिन्न नहीं।[५]

श्री राहुल सांकृत्यायन संत-काव्य को भारतीय चिन्तन-धारा का अविच्छिन्न प्रवाह मानते हैं। उनका कथन है—"रामचन्द्र, कबीर, नानक, दादू आदि से राधा-

---

[१] हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७१।
[२] जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ०, १६२।
[३] हिन्दी साहित्य, दशम संस्करण, पृ० १३९।
[४] हिन्दी साहित्य, पृ० १४३।
[५] वही, पृ० १५५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वामी दयाल तक सभी संत इन्हीं चौरासी सिद्धों की टकसाल के सिक्के हैं। रामानन्द की कविताएँ दुर्लभ हैं। उनका तथा उनके शिष्य कबीर का चौदहवीं शताब्दी के अन्त का कविता प्रवाह जोड़ा जा सके तो सिद्ध और संत कविता प्रवाह के एक होने में आपत्ति नहीं हो सकती।[1]

डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का मत है कि निर्गुण सम्प्रदाय के प्रवर्तकों ने अपने सर्व जनोपयोगी उपदेशों के लिए जनभाषा हिन्दी को ही अपनाया था। इसलिए उसका प्रतिरूप हिन्दी के काव्य साहित्य में सुरक्षित है। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि अनेक कारणों ने मिलकर इस आन्दोलन के रूप में वह नवीनता और भाव की वह गहनता प्रदान की जो इसकी विशेषता है।[2]

डा० रामकुमार वर्मा हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में संत-काव्य की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि उत्तर भारत में मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया के रूप में निराकार और अमूर्त ईश्वर की भक्ति का जो रूप स्थिर हुआ वही साहित्य के क्षेत्र में 'संत-काव्य' कहलाया।[3]

भक्तिकाल की अनुक्रमणिका पर विचार करते हुए डा० रामकुमार वर्मा का कथन है—हिन्दुओं को शान्त करने के लिए मुसलमानों ने उन्हें अपनी संस्कृति से दीक्षित करने का भी प्रयत्न किया क्योंकि अब मुसलमान भी अपने को इसी देश का निवासी मानने लगे थे। शासकों की नीतिरीति शासितों को प्रभावित अवश्य करती है, इसी सिद्धान्त के अनुसार इस्लाम धर्म भी हिन्दुओं के धार्मिक विचारों में अज्ञान रूप से परिवर्तन लाने में व्यस्त था। हिन्दू धर्म पर आघात होते ही यद्यपि जनता विचलित हो उठी तथापि आत्मरक्षा के विचार से किसी अंश तक हिन्दुओं ने भी इस्लाम धर्म के समझने की चेष्टा की, फलतः धार्मिक विचारों में परिवर्तन होने का सूत्रपात एक ऐसे रूप में प्रारम्भ हुआ जिसने हमारे साहित्य में एक नवीन धारा की ही सृष्टि कर दी। यह नवीन धारा संत-काव्य के रूप में प्रवाहित हुई।[4]

डा० रामकुमार वर्मा ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि नाथपंथ का विकसित रूप संत-काव्य में पल्लवित हुआ जिसका आदि ऐतिहासिक सिद्धों के साहित्य में है। गोरखनाथ ने अपने पंथ के प्रचार में जिस हठयोग का आश्रय ग्रहण किया था, वही हठयोग संत-काव्य में साधना का प्रधान रूप हो गया। अतः सिद्ध साहित्य, नाथ पंथ और संत-मत एक ही विचारधारा की तीन परिस्थितियाँ हैं।[5]

---

१ **पुरातत्त्व निबन्धावली**, पृ० १६१।
२ **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**, पृ० २।
३ **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**, तृतीय संस्करण, पृ० २६३।
४ वही, पृ० १६३।
५ वही, पृ० २६८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका में संतों की रचनाओं को भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास माना है। उनका कथन है कि यदि कबीर आदि निर्गुण मतवादी संतों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्ध धर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथ पंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा सम्बन्ध है।[1] यद्यपि डा० हजारी प्रसाद संतों को सौ फीसदी भारतीय परम्परा से सम्बद्ध मानते हैं पर उनका मत है कि उनमें की आत्मा उनकी अपनी है, उसमें भक्ति का रस और वेदान्त का ज्ञान है।[2]

हिन्दी साहित्य के उपर्युक्त इतिहास ग्रन्थों में संत-काव्य के सम्बन्ध में प्राप्त उपर्युक्त विचार इस निमित्त प्रस्तुत किये गये हैं कि संत-काव्य की समीक्षा के साथ तुलनात्मक रीति से इन मतों पर भी यथासम्भव विचार हो सके। निर्गुण संत-काव्य के सम्बन्ध में विद्वानों की विभिन्न स्थापनाएँ मिलती हैं। प्रायः भक्तिकाल के अन्तर्गत संतों की रचनाओं को सगुण भक्त कवियों की तुलना में अंकित किया गया है जिसके आधार पर संत-काव्य पर कोई स्वतन्त्र मत स्थिर किया जाना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। वैसे किसी भी काव्य का मूल्यांकन उसके आंतरबाह्य पक्षों के उद्घाटन पर ही सम्भव है। मूलरूप से इस प्रबन्ध में नाथ पंथ की पृष्ठभूमि को लेकर संत-काव्य का अनुशीलन किया गया है। विस्तृत पृष्ठभूमि के अध्ययन के पूर्व काव्य की परिधि में संत-काव्य की क्या स्थिति है, इस पर भी विचार किया जाना उपयुक्त होगा।

काव्य की परिधि और संत कवि

काव्य मानव-जीवन की रागात्मक परिणति हैं। स्थूल के सूक्ष्म स्पन्दन का आभास प्रत्येक मानव-हृदय में होता है, अनुभूति की सीमाओं तक प्रत्येक मानव हृदय रागविकारों के स्पर्श से परिचित है, यह बात दूसरी है कि वह मुखरित न हो पाता हो। अभिव्यक्ति के माध्यम से ही रागविकार हमारे आनन्द के विस्तार में सहायक होते हैं। काव्य साहित्य के पर्याय में आत्मा का समग्र अनुभूत पक्ष है। "काव्य का स्वरूप बड़ा व्यापक है। जितना व्यापक है उतना ही सूक्ष्म भी। अतः इसे लक्षण की परिधि में बाँधना अत्यन्त कठिन कार्य है।"[3] आदिकाल से काव्य की आत्मा और उसके स्वरूप को स्पष्ट करने के सतत प्रयत्न होते रहे हैं फिर भी काव्य परिभाषा की सीमा में नहीं बँध पाता। देश और काल की सीमा को लाँघकर मानव-हृदय की रागात्मक तद्रूपता के दर्शन हमें काव्य में होते हैं, काव्य के प्रभाव से असफल और

---

[1] हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३१।

[2] वही, पृ० ४३।

[3] काव्यशास्त्र—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निराश हृदयों में आशा का संचार हो उठता है। वैयक्तिक सुख-दुःखों को साधारणीकरण द्वारा सामाजिक सुख-दुःख बना देना काव्य की ही तो विशेषता है।[1]

काव्य जीवन सापेक्ष्य है। वातावरण एवं परिस्थितियों के क्रोड़ में उसका जन्म होता है, संस्कृति उसका दिशानिर्देश करती है। काव्य का लोकमत और उसके प्रभाव के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। काव्य हमारे संस्कार बनाता है। हमारे भीतर स्नेह और मधुराई का विकास करता है। सौन्दर्य की दृष्टि प्रदान करता है। काव्यगत सौन्दर्य को जीवन में उतार कर ही हम इस सभ्यता की सीढ़ी पर चढ़ते चले आ रहे हैं। सौन्दर्य को देखकर आनन्द प्राप्त करना सहृदय का काम है और सौन्दर्य की सृष्टि और उससे प्राप्त आनन्द को सर्वसुलभ करना कवि का काम है। मानव-जीवन काव्य के बिना जी नहीं सकता।[2]

मानव इकाई की चेतना से लेकर समूह की जागृतिमूलक सर्जना काव्य की सीमा में आती है। काव्य मानव-जीवन की वह अमूल्य निधि है जिसका सम्बन्ध ज्ञानराशि की उस अनुभूति से है जो अपने मूल चारुत्व में हमारे अनुभव की मंजूषा बनी हुई है, भले ही हम उपयोगिता की तुला पर उसे न तौल पाते हों। काव्य के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण लक्षण आचार्यों एवं सहृदयों द्वारा दिये गये हैं जिनके प्रकाश में हम प्रस्तुत विषय का विवेचन करेंगे।

संस्कृत में काव्यशास्त्र के रूप में भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही सबसे पहली उपलब्ध कृति है। नाट्यशास्त्र के अनुसार काव्य की विशेषताएँ निम्नलिखित मानी जा सकती हैं—

(१) मृदु और ललित पदावली हो।
(२) शब्द, अर्थ दोनों में ही सौष्ठव हो।
(३) सरल और बोधगम्य हो।
(४) युक्तियुक्त भी हो।[3]

तत्पश्चात् अग्निपुराण में काव्य की निम्नलिखित परिभाषा मिलती है—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्ठार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्।[4]

[संक्षेप में, इष्ट अर्थ को प्रकट करने वाली पदावली से युक्त ऐसा वाक्य काव्य है जिसमें अलङ्कार प्रकट हों और जो दोषरहित और गुणयुक्त हो।]

---

१ **काव्यशास्त्र**—डा० भागीरथ मिश्र, पृ० ३।
२ **वही**, भूमिका।
३ **नाट्यशास्त्र**, १६/११८।
४ **अग्निपुराण**, अध्याय ३३७, श्लोक ६०७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काव्यालङ्कार में भामह का कथन है—

शब्दार्थो सहतौ काव्यम् ।[1]

[शब्द, अर्थ का संयोग काव्य है ।]

ये परिभाषाएँ काव्य के बाह्य स्वरूप को ही प्रकट करती हैं किन्तु इसके साथ ही संस्कृत के आचार्यों द्वारा काव्य की आत्मा को खोजने का प्रयत्न भी हुआ है जिसके फलस्वरूप (१) अलङ्कार, (२) रीति, (३) वक्रोक्ति, (४) ध्वनि, (५) औचित्य, (६) अनुमति, तथा (७) रस से सम्बन्ध रखने वाले काव्य सम्प्रदायों का विकास हुआ ।[2]

डा० गुलाबराय का मत है कि भारतीय समीक्षा क्षेत्र में लक्षण या परिभाषा का प्रश्न काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में उठाया गया है क्योंकि आत्मा ही सार वस्तु है । रस को काव्य की आत्मा कहने वाले आचार्य भावपक्ष को ही प्रधानता देते हैं । कुछ आचार्यों ने आत्मा का प्रश्न न उठाकर स्वतन्त्र रूप से भी परिभाषा दी है । काव्य में दो पक्ष रहते हैं—एक अनुभूति या भावपक्ष, और दूसरा अभिव्यक्ति या कलापक्ष । यद्यपि दोनों पक्षों का अपना-अपना महत्त्व है और दोनों ही एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं तथापि मुख्यता भावपक्ष को ही दी जाती है । रस को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य भावपक्ष को ही प्रधानता देते हैं । अलंकार और रीति को काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य अभिव्यक्ति को महत्त्व प्रदान करते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कुछ दार्शनिक शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं ।

संस्कृत अलङ्कारशास्त्र का एक वृहत् इतिहास है जिसे प्रस्तुत करना हमारा अभीष्ट नहीं है । यहाँ पर केवल यही विचारणीय है कि भारतीय समीक्षा क्षेत्र में जिस प्रश्न को उठाया गया है वह क्या है; और वह प्रश्न है कि काव्य की सार वस्तु क्या है ?

संस्कृत काव्य लक्षणों की सम्प्रदायगत सीमा से पृथक सूत्र रूप में निम्नलिखित परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं जिनसे काव्य का मार्मिक स्वरूप स्थिर किया जा सकता है—

(१) **'दोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थो काव्यम् ।**[3]

(२) **'वाक्यम् रसात्मकन् काव्यम् ।**[4]

[रसयुक्त वाक्य काव्य है ।]

(३) **रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।**[5]

[रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है ।]

---

[1] **काव्यालङ्कार**, १६, प्रथम परिच्छेद ।

[2] **काव्यशास्त्र**—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ५ ।

[3] **काव्यानुशासन**—आचार्य हेमचन्द्र ।

[4] **साहित्य दर्पणकार**—विश्वनाथ ।

[5] **काक माला**—रस गङ्गाधर, पृ० ४ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निष्कर्षतः संस्कृत काव्यशास्त्र की इन परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि काव्य वह रसयुक्त वाक्य है जिसके शब्द और अर्थ दोनों में रमणीयता अपेक्षित है। इसी प्रसङ्ग में पाश्चात्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्यगत सिद्धान्तों का उल्लेख कर देना उचित होगा।

अंग्रेजी काव्य समीक्षा के अनुसार काव्य की कतिपय परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं जिनके आधार पर हम काव्य के लक्षणों का स्वरूप निर्धारित कर सकते हैं—

(१) 'काव्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है।'[1] —अरस्तू

(२) 'काव्य सत्य तथा काव्य सौन्दर्य के सिद्धान्तों द्वारा निर्धारित उपबन्धों के अधीन जीवन की समीक्षा का नाम काव्य है।'[2] —मैथ्यू आर्नल्ड

(३) 'कविता प्रबल भावों का सहज उच्छलन है।'[3] —वर्ड्सवर्थ

(४) 'सामान्यतः कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।' —शैली[4]

(५) 'कल्पनात्मक आवेग का नाम कविता है।'[5] —ली हंट

(६) 'कविता वह कला है जो कल्पना की सहायता से युक्ति के द्वारा सत्य को आनन्द से समन्वित करती है।'[6] —डा० जॉनसन

3992

उपर्युक्त परिभाषाओं में प्रथम दो परिभाषाएँ वस्तुपरक हैं तथा अन्तिम चार व्यक्तिपरक। इनमें से कुछ परिभाषाएँ केवल व्याख्यात्मक ही हैं, तार्किक परिभाषा की कोटि में नहीं आतीं। काव्य में बुद्धि, राग, कल्पना तथा शैली का समावेश उसकी उत्कृष्टता का प्रतीक है। निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि काव्य, कल्पना और अनुभूति से गृहीत सत्य की रमणीय शब्दों में अभिव्यक्ति है।[7]

हिन्दी कविता अपने पूर्वापर क्रम में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की परवर्ती है अतएव हिन्दी काव्य लक्षणों पर संस्कृत काव्य लक्षणों का विशेष प्रभाव है। यथार्थ में हिन्दी के आदिकाल के काव्य का मूल्यांकन अभी हुआ ही नहीं है जिसके आधार पर हिन्दी काव्य लक्षण की अपनी परम्परा स्थापित हो सकती। हिन्दी काव्यशास्त्र को हम जिस रूप में पाते हैं उसके दो भाग किये जा सकते हैं। प्रथम भाग का सम्बन्ध रीति-

---

१ अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० २६।

२ दि स्टडी ऑफ पोइट्री इन एसेज एण्ड क्रिटिसिज्म इन सैकण्ड सीरीज।

३ प्रिफेस टू लिरीकल बैलडेस।

४ अरस्तू का काव्यशास्त्र।

५ वही।

६ लाइफ ऑफ मिल्टन।

७ काव्यशास्त्र—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कालीन युग से है तथा वर्तमान युग के काव्य समीक्षकों और कवियों की लक्षण सम्बन्धी रचनाओं को नवीन युग की संज्ञा दी जा सकती है। रीतिकालीन लक्षण संस्कृत अलंकारशास्त्र के ही अनुरूप हैं।

नवीन युग के आचार्यों एवं कवियों द्वारा निम्नलिखित लक्षणों का संकेत मिलता है—

(१) अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है।[1]
—महावीरप्रसाद द्विवेदी

(२) सत्त्वोद्रेक या हृदय की मुक्तावस्था के लिए किया हुआ शब्द विधान काव्य है।[2]
—आचार्य शुक्ल

(३) काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है।[3]
—जयशंकर प्रसाद

अतः हिन्दी काव्य लक्षणों के अनुसार काव्य हृदय की वह रसोद्रेकमयी अनुभूति है जिसका शब्द विधान रागात्मक हो। जिस समय संत-काव्य का सृजन हो रहा था उस समय काव्य समीक्षा की कसौटी संस्कृत का अलंकारशास्त्र था। लोकभाषा का न तो आदर ही था और न उसके रचयिताओं का मूल्यांकन ही हुआ था। फिर भी संत-काव्य में इन काव्य लक्षणों का अभाव नहीं है। देशी-विदेशी विभिन्न काव्य-शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित काव्य की परिभाषाओं से निम्नलिखित तथ्य ग्राह्य हैं—

(१) मानव-हृदय जीवन में व्याप्त सत्य (जीवनव्यापी अनुभव) का साक्षात्कार करने के लिए प्रयत्नशील है। काव्य उसी का एक प्रयत्न है।

(२) मानव का यह सत्य अनुभवजन्य तथा अभिव्यक्ति प्रधान है।

(३) उसकी यह अभिव्यक्ति लोकमानस को प्रफुल्ल करने वाली होती है।

(४) अलंकार उसकी शोभा को बढ़ा सकता है किन्तु कभी सत्य को ढक भी सकता है।

अतः हम कह सकते हैं कि काव्य की आत्मा सत्य की उपलब्धि है।[4] उसी को विभिन्न रूपों में व्यक्त किया गया है। यही सत्य भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति प्राप्त कर काव्य की संज्ञा को प्राप्त कर लेता है।

अब संत-काव्य के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों का निदर्शन कर देना युक्तिसंगत होगा।

---

[1] रसज्ञ रंजन, पृ० ५०।

[2] चिंतामणि, भाग १।

[3] काव्यकला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद, पृ० १७।

[4] काव्यशास्त्र—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काव्य की परिभाषा के विभिन्न तत्त्वों के अनुसार सत-काव्य का समुचित अनुशीलन अभी भी नहीं हो पाया है, सम्भवतः यह इसलिए हुआ कि भारत का मध्यकाल अनेक युगों तक अंधकार युग[१] के नाम से सम्बोधित होता रहा। आलोच्य काल के सम्बन्ध में समीक्षकों ने अत्यल्प सामग्री पर भी इतने प्रभावपूर्ण ढङ्ग से अपनी स्थापनाओं को प्रगट किया जिसके फलस्वरूप निर्गुण संत-काव्य पढ़े-लिखे[२] समुदाय में सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा गया, यद्यपि पढ़े-लिखे समुदाय की क्या परिभाषा हो सकती है यह भी कम विवादास्पद नहीं है। एक ओर कुछ समीक्षक सतह पर दिखने वाले प्रभावों को संकलित करने में दत्तचित्त थे तो दूसरी ओर कुछ आलोचकों ने गहराई में जाकर भारतीय धर्मसाधना और उसके विकास सूत्रों को संकलित करने का प्रयत्न भी किया। संत-काव्य के सम्बन्ध में विचार द्वन्द्वों का यही रूप हमें हिन्दी आलोचना में दिखाई पड़ता है। भारतीय संत-काव्य बिखरी हुई स्थिति में है, लोकमानस में बिखरी विभिन्न अनुभूतियों के सम्बन्ध में सहज ही कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। श्री राहुल सांकृत्यायन का विचार है कि संत-काव्य एक पूर्ण शरीर है जिसके एक अंग को देख कर हम उसका पूरा परिचय नहीं प्राप्त कर सकते।[३] डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का कथन है कि निर्गुणियों की काव्य रचना सम्बन्धी सफलता उनके रूपात्मक प्रेमसंगीत, विनय तथा आनन्दोद्रेक में देखी जाती है क्योंकि उन्हीं में उनकी आंतरिक अनुभूति का पता चलता है तथा सौन्दर्य, प्रेम एवं सत्य की त्रयी की अभिव्यक्ति भी उन्हीं में होती है।[४] संत-काव्य की परम्परा के स्रोत अत्यन्त प्राचीन हैं। इस काव्य की परम्परा तत्त्वतः उस काव्य रचना पद्धति की ओर संकेत करती है जो मानव-समाज की मूल प्रवृत्तियों पर आश्रित है।[५]

संतों की वाणी में कहीं सहज प्रवाह है तो कहीं अटपटापन। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संतों की अटपटी वाणी अथवा रहस्यभावना का स्वागत नहीं किया। उनका कथन है कि 'अज्ञान या परोक्ष तथ्य की व्यंजना की यह हवा कबीर आदि निर्गुण पंथी संतों की वाणी की है।'[६] डा० नगेन्द्र निर्गुण संतों की वानियों को शोध के अनुकूल सामग्री ही स्वीकार नहीं करते।[७]

---

१ **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १५।

२ **हिन्दी साहित्य का इतिहास**—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

३ **संत दर्शन, भूमिका**—श्री राहुल सांकृत्यायन, पृ० ४।

४ **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० ३४८।

५ **'आलोचना'** पत्रिका, इतिहास विशेषांक, पृ० ४९।

६ **चिंतामणि**, द्वितीय भाग—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६३; **हिन्दी साहित्य का इतिहास**, संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण के सम्बन्ध में दो शब्द 'आदि-काल'—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

७ "साहित्य के विद्यार्थी होने के नाते……धारा नहीं मानी जा सकती," —डा० नगेन्द्र सभापति का वक्तव्य, निबन्ध गोष्ठी, भारतीय हिन्दी परिषद का अधिवेशन, प्रयाग।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विरोधों एवं प्रशस्तियों से अनुप्राणित हिन्दी का निर्गुण संत-काव्य ज्ञानधारा में एक ओर अपने को उस परम्परा से जुड़ा हुआ पाता है जिसका अनुभव शास्त्र के विधि विधानों से ऊपर है जो गूँगे के गुड़ के समान स्वयं आस्वाद की वस्तु है तो दूसरी ओर लोकभाषा की अलिखित परम्परा से जुड़ा हुआ है, न जिसके पास परिमार्जित भाषा है, न छन्द, न अलंकार। निर्गुण भावधारा में एक ओर मानव के सम्पूर्ण जीवन का लक्ष्य है तो दूसरी ओर ऊपरी कलासज्जा एवं रूप निखार की ओर से उदासीनता। यह उदासीनता संत कवियों के उस दृष्टिकोण की परिचायिका है जिसके द्वारा वे सत्य के उद्घाटन में बाह्य अथवा स्थूल के प्रति पूर्णतया अवज्ञा करते हैं। परस्पर इन दो विरुद्ध मान्यताओं के मध्य इस विस्तार को देखकर निर्गुण संत-काव्य के सम्बन्ध में विज्ञप्त मंतव्य अतिरंजनायुक्त ही प्रतीत होते हैं। इन दोनों मंतव्यों के मध्य भी कुछ विद्वानों ने विचार किया है।

कबीर आदि संतों की कविता के सम्बन्ध में डा० हजारी प्रसाद ने विचार करते हुए प्रकट किया है कि 'मूलवस्तु चूँकि वाणी के अगोचर है इसीलिए केवल वाणी का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को अगर भ्रम में पड़ जाना पड़ा हो तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। वाणी द्वारा उन्होंने उस निगूढ़ अनुभवैकगम्य तत्त्व की ओर इशारा किया है, उसे 'ध्वनित' किया है। ऐसा करने के लिए उन्हें भाषा द्वारा रूप खड़ा करना पड़ा है और अरूप को रूप के द्वारा अभिव्यक्त करने की साधना करनी पड़ी है। काव्य शास्त्र के आचार्य इसे ही कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं। रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के जरिये अकथ्य का ध्वनन, काव्य शक्ति का चरम दिग्दर्शन नहीं तो क्या है? फिर भी वह ध्वनित वस्तु ही प्रधान है, ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं।[1] अभिप्राय यह कि काव्य संतों का लक्ष्य नहीं रहा, संतों ने अपने लक्ष्य की प्राप्ति में जो कुछ अभिव्यक्त किया, वह अनुभूति इतनी तीव्र और जनमानस को स्पर्श करने वाली हुई कि जनजीवन में संतों की अभिव्यक्तियाँ काव्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गयीं। अलंकार शास्त्रों में प्रयुक्त रस की सहजानुभूति ब्रह्मानन्द की सहोदर अनुभूति के रूप में संतों को प्राप्त हुई और अनुभूति पक्ष को जो आचार्य अभिव्यक्ति पक्ष से अधिक मूल्यवान मानते हैं उनकी दृष्टि में संत-काव्य उत्कृष्ट कोटि की भावानुभूति मानी गयी किन्तु जो आचार्य शब्द शिल्प, अलंकार और बाह्य रूप-सज्जा को ही काव्य का प्रमुख लक्षण मानते हैं उनकी दृष्टि में संतों की कविता काव्य की कोटि में स्थान नहीं पा सकती। विचारणीय प्रश्न यह है कि जो हेय है वह जगत के क्रियमाण प्रवाह में सूत बनकर बहुत दिनों तक नहीं चलता, यह हो सकता है कि रुचि की अनुकूलता के अभाव में व्यक्ति विशेष उसे स्वीकार न करे किन्तु संत-काव्य के अध्येताओं के सामने व्यक्तिगत रुचि-अरुचि का प्रश्न नहीं है। भारतीय अलंकार शास्त्र में काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में जो स्थापनाएँ प्राप्य

---

[1] कबीर, पृ० २२०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होती हैं उन्हीं के आधार पर हम यह देख सकते हैं कि संत-काव्य में उनमें से अधिकांश लक्षण प्राप्य हो जाते हैं किन्तु अलंकार शास्त्र की भी तो अपनी सीमा है। यदि अलंकार शास्त्र की मर्यादाओं का कोई भी सोपान जीवन के शाश्वत अनुभूत सौन्दर्य पर ध्वजा फहराने की चेष्टा करेगा तो मात्र उपहास की सामग्री बनकर रह जायगा। काव्य का सृजन अलंकार शास्त्र के लिए नहीं किया जाता। यह हो सकता है कि यदि प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति (कवि) लोकशास्त्र आदि का निरीक्षण कर अभ्यास के द्वारा काव्य रचना करता है[1] तो विद्वानों में उसका समादर होता है। डा० गुलाबराय काव्य के हेतु के संदर्भ में लिखते हैं कि हेतु का अभिप्राय उन साधनों से है जो कि कवि को काव्य रचना में सहायक होते हैं। कवित्व के लिए शक्ति अपेक्षित है वह दुर्लभ है। दण्डी विरचित काव्यादर्श में शक्ति या प्रतिभा को नैसर्गिकी अर्थात् जन्म-सिद्ध माना गया है, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को अर्जित।[2] कुछ विद्वान प्रतिभा को भी अर्जित ही मानते हैं, कुछ प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को समान ही महत्त्व देते हैं और कुछ आचार्य प्रतिभा को कारण तथा व्युत्पत्ति को उसका भूषण मानते हैं।[3] इन सब विभिन्न स्थापनाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि कवियों की रचना की उत्कृष्टता को ध्यान में रखकर प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास पर विचार हुआ पर मूल बात तो अनुभवजन्य सत्य की अभिव्यक्ति ही है, सत्य की अनुभूति के मार्मिक स्पर्श से पढ़े-लिखे और अनपढ़ दोनों ही अभिभूत हो जाते हैं। पाश्चात्य देशों में भी काव्य स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा हुई है, बुद्धि, भाव, कल्पना और शैली के रूप में काव्य के चार अंगों का निर्देश भी किया गया है।[4] किन्तु उनका विवेचन भी एकांगी ही प्रतीत होता है।

महाकवि तुलसीदास की निम्नलिखित चौपाई काव्य की पहुँच का अत्यन्त सुन्दरता से वर्णन करती है—

कीरति भणित भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहतिह होई।

—रामचरितमानस, बालकाण्ड

काव्य की परिधि में विद्वान और अविद्वान की कोई सीमा-रेखा नहीं मिलती। यह सीमा-रेखा काव्य समीक्षक के द्वारा खींची जाती है। संतों की वाणियाँ जनमानस को

---

१ **शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्**
काव्यज्ञशिक्षाया भ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।
—मम्मट, काव्य प्रकाश, १/३।

२ **नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतं च बहु निर्मलम्।**
अमन्दश्चा मियोगो स्याः कारण काव्यसंपदेः।—दण्डी, काव्य दर्श, १/१०।

३ **प्रतिभा कारणं तस्त्र व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।**
—वाग्भटालंकार, १/३।

४ **काव्य दर्पण**—विद्यावाचस्पति पं० रामदहिन मिश्र, पृ० १०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्पर्श करती हैं, इसके सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते, किन्तु हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के सम्बद्ध निर्गुणिये संतों की वाणी में साम्प्रदायिकता का आरोप कुछ समीक्षकों ने किया है और इसीलिए धार्मिक और साम्प्रदायिक रचनाओं की संज्ञा देकर उनके काव्यगत सौन्दर्य के प्रति उदासीनता के भाव हमें कुछ अंशों में प्राप्त होते हैं।[१] संत-काव्य का मूल स्वर आध्यात्मिक[२] अथवा धार्मिक है यह सर्वमान्य है किन्तु हिन्दी साहित्य के पूर्वोउत्तर मध्यकाल का मूलस्वर भी तो धार्मिक है, तब केवल इसीलिए हम संत-काव्य को काव्यों की परिधि से बाहर नहीं मान सकते।

काव्य जीवन सापेक्ष्य है और जीवन के संगठन तत्त्वों में बाह्य सौन्दर्य की कला सज्जा को भी स्थान है, तो नैतिक, धार्मिक, जातीय तथा आध्यात्मिक स्थापनाओं को भी। विद्वानों में आदर पाने वाली कला या उसके एक ही अंग की साधना जीवन का समग्र नहीं है। काव्य अथवा साहित्य पर परिस्थितियों का प्रभाव ही नहीं पड़ता, अपितु यदि काव्य को परिस्थितियों के पीछे भी चलना पड़ा हो तो आश्चर्य की बात नहीं।[३]

संत-काव्य की सांस्कृतिक महत्ता भी कम नहीं है। लोकभाषा हिन्दी के आविर्भाव के साथ हमें इस काव्य के बीज मिलते हैं। सिद्धों और नाथों की अनुभूतियों का सीधा सम्बन्ध संत-काव्य से ही जोड़ा जा सकता है। भारतीय जीवन के मध्ययुगीन चिन्तन में बौद्धों के परवर्ती रूप सिद्धों, तथा शैवों के परवर्ती रूप नाथों का महत्त्वपूर्ण योग है। उनकी रचनाएँ भी धार्मिक अथवा आध्यात्मिक कोटि में आती हैं। डा० धर्मवीर भारती ने सिद्धों के साहित्य की चर्चा करते हुए डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के मत का उल्लेख इस प्रकार किया है कि 'चर्चापद वास्तविक रूप में साहित्य नहीं कहे जा सकते। उनका अभिप्राय और उनका मर्म प्रमुखतः धार्मिक है, साहित्यिक सौन्दर्य से हीन है, उनका प्रमुख महत्त्व भाषात्मक और धार्मिक है फिर भी कहीं-कहीं उनमें ऐसे पद मिल जाते हैं जिनमें असाहित्यिक वातावरण के बावजूद शुद्ध काव्य की छटा दीख पड़ती है।[४] न केवल सिद्ध, वरन् उनकी परम्परा में माने जाने वाले नाथों और संतों के साहित्य के विषय में भी विद्वानों की यह सम्मति रही है कि उनमें काव्य गौण रहा है, धार्मिक विवेचन प्रमुख।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की स्थापना भी इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं, "हमारे साहित्य के इतिहास में एक गलत और बेबुनियाद बात यह चल पड़ी है कि

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १७।

२ हिन्दी साहित्य का आदिकाल—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ११।

३ "यह आश्चर्य की बात अवश्य है कि निर्गुणवाद ने सगुणवाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया यद्यपि होना चाहिए इसके विपरीत। किन्तु कबीर की निर्गुणधारा अधिकांश में परिस्थिति की आज्ञा थी और भक्ति तथा साकारवाद की असन्दिग्ध प्रारम्भिक स्थिति।"

—डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २४८।

४ सिद्ध साहित्य, पृ० २३७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लौकिक प्रेम कथानकों को आश्रय करके धर्म भावनाओं को उपदेश देने का कार्य सूफी कवियों ने प्रारम्भ किया था। बौद्धों, ब्राह्मणों और जैनों के अनेक आचार्यों ने नैतिक और धार्मिक उपदेश देने के लिए कथानकों का आश्रय लिया था। भारतीय संतों की यह परम्परा परमहंस रामकृष्ण देव तक अविच्छिन्न भाव से चली आयी है। केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रन्थों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो तुलसी की रामायण से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा और जायसी को भी दूर से दंडवत् करके विदा कर देना होगा।"[१] इसी बात को सूत्र रूप में व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं, "धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।"[२] युग के अनुसार काव्यगत सौंदर्य के मान बदलते रहे हैं, वर्तमान हिन्दी काव्य की पृष्ठभूमि पिछले युगों की पृष्ठभूमि से कितनी भिन्न है किन्तु उसी को संस्कृति निरपेक्ष मानकर अलंकार शास्त्र की प्रयोगशाला में रख सजाया-सँवारा गया तो वह रीतिकाल के शास्त्र-सम्मत वृत्त से अपने आपको बाहर ही पायेगा। ठीक यही बात संत-काव्य पर भी घटित की जा सकती है। किसी भी देश का साहित्य उसकी सांस्कृतिक धरोहर होता है, अतएव संत-काव्य भी हमारी सांस्कृतिक धरोहर है।

संस्कृति यद्यपि साहित्य के पर्याय रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती तथापि संस्कृति रहित अवस्था में साहित्य का सृजन सम्भव नहीं है। विश्व में प्रसिद्ध दार्शनिक डा० राधाकृष्णन् का मत है कि साहित्य में विगत की ध्वनि, वर्तमान की अभिव्यक्ति और भविष्य का संकेत निहित होना चाहिए।[3] डा० बड़थ्वाल ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि काव्य का काव्यत्व इसी में है कि वह अंतःजीवन की अभिव्यक्ति हो।[४] जीवन संस्कारों के अभाव में गठित नहीं होता। संस्कृति संस्कारों की परिणति है, जब कि काव्य आत्मा की अनुभूति। काव्य का सौन्दर्य संस्कृति के सौन्दर्य से निखरता है। संस्कृति अर्जित है, काव्य स्वयंप्राप्य अथवा नैसर्गिक।

साधारणतया लोकपरक अभिव्यक्तियाँ विशेष से साधारणोन्मुख होती हैं जबकि साहित्य विशेषोन्मुख साधारणीकरण माना गया है।[५] संत-काव्य किस कोटि में काव्य की संज्ञा से विभूषित किया गया और चाहने न चाहने पर भी असाहित्यिक भावभूमि में पला है, सन्त-काव्य क्यों सहृदयों के हृदय का हार बन गया, यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जिनके लिए काव्य एक कला है, ऊपरी साज-सज्जा है, आलंकारिक ध्वन्यात्मकता है उन्होंने जब संतों द्वारा व्यक्त वानियों का अनुशीलन किया

१ **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**, पृ० ११।

२ **वही**, पृ० ११।

3 **कण्टेम्पररी इण्डियन लिटरेचर**, भूमिका।

४ **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**, पृ० ३४५।

५ **"काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं।"** —आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'चिन्तामणि', प्रथम भाग, पृ० २२८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तो उनका हृदय भी उसमें अभिभूत हो गया किन्तु शास्त्र की परम्परा के बोझ से लदे उनके मस्तिष्क ने फिर भी उसे काव्य की संज्ञा का अधिकारी नहीं ठहराया। इससे पृथक सन्तों की कविता के सम्बन्ध में एक बात और द्रष्टव्य है, सम्प्रदायों के गठन होने के बाद से अधिकांश संतों की वानियाँ आध्यात्मिक पिष्टपोषण और साधनात्मक ऊहापोह से भरी पड़ी हैं। डा० हजारी प्रसाद संतों की वानियों की संकोचपूर्ण और द्विविधाग्रस्त स्थिति का कारण राजनीतिक और आर्थिक मानते हैं।[१] किन्तु यह तथ्य भी स्वीकार करना पड़ता है कि सम्प्रदायों के रूप में सीमाओं में बँधकर उत्तरकालीन संतों की वानियों का सृजन अनुभूतिजन्य सत्य का उद्घाटन न होकर साम्प्रदायिक और वर्गगत ही हुआ है।

संत कवियों की प्रमुख पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है। वे उस अलभ्य का अनुभव करते हैं जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। कबीर ने कहा है—

अविगत अकल अनुपम देख्या कहता कह्या न जाई।
सैन करे मन ही मन रहे सूँ गूँगे जानि मिठाई॥[२]

दर्शनों के सीधे सम्पर्क के अभाव में लोकपरक सहृदयता ने अपने ब्रह्म को तर्क और भक्ति के समन्वय में खोजा है। आत्मा की तद्जन्य पीड़ा ब्रह्मानुभव के पश्चात् चिरन्तन आनन्द मे लीन हो गयी। सहजानुभूति की स्थिति में संतों ने अपने आपको विस्मृत कर दिया। दादू ने कहा—

कैते पारिख पचि मुए कीमत कही न जाई।
दादू सब हैरान हैं गूँगे का गुड़खाई।[३]

काव्य में अनुभूति को प्रकट करने की कला का भी कम महत्त्व नहीं है। भाव और विचार के साथ कवियों का कला तथा शैली पक्ष भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। अभिव्यक्ति की कला 'साधन' ही है, साध्य नहीं। डा० नगेन्द्र कवियों की कला के सम्बन्ध में लिखते हैं कि वास्तविक रूप में तो किसी कवि की कला उसकी सम्पूर्ण आत्मा की अभिव्यक्ति होती है। विभिन्न अनुभूतियों से निर्मित उसका आत्म अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न करता हुआ सहज रूप में रंग, रेखा, शब्द आदि में बँधा जो आकार प्राप्त कर लेता है वही उसकी कला है।[४] इसी संदर्भ में उन्होंने लिखा है कि आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए शरीर का अध्ययन जितना महत्त्व रखता है उतना महत्त्व हमें इस बाह्य प्रयत्न को अवश्य देना पड़ेगा।[५] निर्गुण संतों के अभि-

---

१ **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**, पृ० ४१।
२ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० ६०।
३ **दादूदयाल की वानी**, 'सन्त सुधासार', पृ० ४६७।
४ **देव और उनकी कविता**, पृ० १७४।
५ **वही**।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यक्ति पक्ष के सम्बन्ध में विचार करते हुए डा० बड़थ्वाल लिखते हैं कि निर्गुण समुदाय के संत कवि सांकेतिक[१] भाषा में कथन किया करते थे। आध्यात्मिक क्षेत्र में पदार्पण करने वाले सभी कवियों को सांकेतिक भाषा की शरण लेनी पड़ती है। हमारे युग के दो प्रधान कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा कीट्स भी इसी भाषा का प्रयोग करते थे।[२]

आध्यात्म की पृष्ठभूमि में सृजन करने वाले कवियों के लिए गुह्य भाषा ही सत्य की अभिव्यक्ति को काव्य का स्वरूप प्रदान किया करती है। संत कवियों का उद्देश्य लोकोत्तर चिन्तन रहा है। काव्यात्मा का साक्षात्कार होने के बाद शरीर रूपी कला से प्रायः सभी संत कवि विरक्त से प्रतीत होते हैं। उनके लिए कविता किसी उद्देश्य का साधनमात्र है। वे सत्य के प्रचारक थे और कविता को उन्होंने सत्य के प्रचार का एक प्रभावपूर्ण साधन मान रखा था।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित सूत्र ग्रहण किये जा सकते हैं—

(क) सत-काव्य 'लौकिक'[३] काव्यशास्त्र की सुदृढ़ मर्यादा के निर्णय का मुखापेक्षी नहीं है।

(ख) सभी निर्गुण संतों की सभी वाणियाँ काव्य की कोटि में नहीं आतीं किन्तु आध्यात्मिक साधकों की सौन्दर्यमूलक शाश्वत अभिव्यक्ति को काव्य की संज्ञा से वंचित नहीं किया जा सकता।

(ग) काव्यगत सौन्दर्यबोध के प्रतिमानों का विश्लेषण शाश्वत एवं परिस्थिति सापेक्ष्य दोनों ही प्रकार से होना चाहिए। आत्मा की संकलात्मक अनुभूति तथा सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता के विन्यास के परिणामस्वरूप काव्य का विवेचन वस्तुपरक तो है ही किन्तु विषयपरक भी।

(घ) काव्य के तथ्यपरक और तत्त्वपरक अनुशीलन में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और भाषात्मक महत्त्व की स्थापनाएँ मौलिक क्षति की अपेक्षा मानव तत्त्वों के समस्त व्यापार विनिमय को समझने में सहायक होती हैं।

संत-काव्य की लोकभूमि पर विचार करने के पूर्व लौकिक काव्य के सम्बन्ध में संतों का अपना क्या दृष्टिकोण रहा है इस पर भी विचार करना उपयुक्त होगा।

सामान्यतः संतों ने कवियों[४] के सम्बन्ध में जिस भाव को प्रदर्शित किया है उससे यह अनुमान सहज ही निकाला जा सकता है कि उनका संकेत उस शास्त्रीय

---

१ सांकेतिक से तात्पर्य है प्रतीकात्मक अर्थात् गुह्य।

२ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ३३७।

३ "इसलिए उनके काव्य को लौकिक काव्यशास्त्र की कसट पर कसकर हम उसका सही मूल्यांकन नहीं कर सकते"—डा० धर्मवीर भारती, 'सिद्धसाहित्य' पृ० २३७।

४ कवि कवीनै कविता भूमे—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १९५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वरूप की कविता और उन सीमित वर्ग के कवियों के प्रति है जो मानव की विशुद्ध प्रकृत अनुभूति को कला के नकली निर्जीव ढाँचे में कसकर उसे अपनी आजीविका का साधन बनाये हुए थे। यदि ऐसा न होता तो कबीर यह न कहते—

तुम जिनि जानौ गीत है, यह निज ब्रह्म विचार।[१]
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे।

जो व्यक्ति गीतों को गाकर, भाषा को संगीत की स्वरलहरी प्रदान कर गेय बनाकर भी काव्य की अभिव्यक्ति को लोक आनन्द की कोट में पुनर्ज्जीवित कर रहे थे उनके लिए उच्चरित यह कथन कितना तथ्यपूर्ण है, किन्तु इससे प्रथक उस युग में ऐसे भी कवि थे जिन्होंने अपनी कविता के विषय में स्वयं ही कहा हो—

बालचन्द्र विज्जावइ भासा। दुहु नहिं लग्गई दुज्जन हासा॥[२]
औ परमेश्वर हर शिर सोहई। ई णिच्चई नाअर मन मोहई॥

उन अपने पूर्ववर्ती काव्यकर्मी कवियों को जो 'नाअर मन' को मोहित करने वालों के प्रति यदि संतों ने कुछ प्रकट भी किया हो तो वह उनके उद्देश्य की दृष्टि से अवश्य विचारणीय है। अन्य कवियों के उद्देश्यों और संतों के काव्य उद्देश्यों में अन्तर होना स्वाभाविक है। ऐसे कवि संसार के रागद्वेष, सुखभोग से स्वयं ही पीड़ित हैं, उनके प्रति भी संतों की भावना इस भवसागर में पीड़ित मानवों के समान ही है इसीलिए 'कोरे कवि कर्म' और सदा उसमें ही भूले रहने वाले कवि के प्रति कहा गया है—

कवि कवीनै कविता भूमे।[3]

डा० बड़थ्वाल का इस आधार पर संत कवियों के प्रति यह कथन है कि ये लोग प्रधानतः कवि नहीं थे। काव्य का कलात्मक सृजन उनका निश्चित उद्देश्य न था। ऐसे कवियों से उन्हें घृणा थी जो काव्य रचना को ही अपना कर्तव्य माना करते थे। कबीर ऐसे लोगों को अवसरवादी कहते हैं।[४]

संतों को अपने मनुभव पर गहन आस्था है। कबीर अपनी आँखों देखी कहते हैं, कागज पर लिखी हुई नहीं।[५] राजदरबारों में पली कविता की ऐसी भर्त्सना यदि संत कवियों ने की हो तो कोई आश्चर्य न होना चाहिए।

---

१ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० ८९।

२ **कीर्तिलता**, पृ० ४।

3 **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० १९५।

४ **कविजन जोगि जटाधर चले अपनी औसर सारि।**
—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ३३९।

५ **तू कहता कागज की लेखी। मैं कहता आँखों की देखी॥**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संत कवि साधक हैं. कविता उनका कर्म नहीं है, अनुभूति ही उनके लिए प्रधान है। विश्व साहित्य में अनुभूति की सूक्ष्म रागात्मक अभिव्यक्ति अप्रधान रूप से प्रवाहित ही नहीं हो सकती। काव्य अनुभूति की तीव्रता है, शास्त्र का बोझिल विस्तार खण्ड नहीं, अतएव जिन्होंने कविधर्म को ही प्रधान कर्म मान लिया है, उन्हें हम कलावादी कह सकते हैं, यथार्थ काव्य उनसे कोसों दूर है। इस मत से हम केवल यही निष्कर्ष ग्रहण कर सकते हैं कि संत-काव्य के आविर्भाव के समय[1] काव्य भौतिक जीवन की चकाचौंध और ऐश्वर्य विलास का एक कर्म समझा जाता रहा होगा। कवि 'काव्य शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमतान्' का अनुयायी ही रहा होगा। काव्यपीठ लोकमानस न होकर राजप्रासाद रहा होगा। संत कवियों की अनुभूतियों में जिस सत्य का उद्‌घाटन है उसमें और काव्यशास्त्र प्रणीत कवियों के कला विनोद में इसीलिए भी अन्तर है कि दोनों के हेतु भिन्न है। संतों का चिन्तन प्रथक कोटि का था, उनके अपने काव्यादर्श थे, उन्हीं पर चलकर 'मसि कागज छुओ नहीं' से लेकर संत सुन्दर दास के समान विद्वानों ने भी संत-काव्य का सृजन किया है। संत-काव्य की लोकभूमि उनसे इस दृष्टिकोण का बहुत अंशों में पोषण करती हुई प्रतीत होती है।

संत-काव्य की लोकभूमि

विद्वानों ने हिन्दी साहित्य में निर्गुण संत-काव्य का आविर्भाव काल पन्द्रहवीं शताब्दी माना है।[2] यद्यपि संत-काव्य की परम्परा का स्पष्ट स्वरूप संत कबीर के समय से ही मिलता है तथापि इसी पृष्ठभूमि में हमें संतों की वानियों का पूर्व रूप नाथ पंथियों की जोगेसुरी वानियों तथा सिद्धों के दोहों में भी उपलब्ध हो जाता है। इस प्रकार संत-काव्य को हम उस परम्परा से आबद्ध पाते हैं जो भारतीय लोकमानस में शताब्दियों से अपना स्थान बनाये हुए है। काव्य का शास्त्रसम्मत रूप कलात्मक माना जाय तो इस रूप में संत-काव्य प्रकृत काव्य है जिसके आविर्भाव की लोकभूमि अधिक सुदृढ़ और जनमानस के अधिक निकट है। डा० बड़थ्वाल का कथन है कि इस सम्प्रदाय के प्रवर्तकों ने अपने सर्वजनोपयोगी उपदेशों के लिए जनभाषा हिन्दी को ही अपनाया था। इसी लिए उसका प्रतिरूप हिन्दी के काव्य साहित्य में सुरक्षित है।[3]

---

१ **"संत कबीर साहब ने जब अपनी वानियाँ रचीं उस समय काव्य रचना की शास्त्रीय पद्धति का प्रचार कम न था। निपुण कवि शिष्ट समाज में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे और उन्हें सामन्ती दरबारों में बहुधा आश्रय मिला करता था।"**
—परशुराम चतुर्वेदी, 'संत-काव्य की परम्परा' नामक लेख, आलोचना विशेषांक, पृ० ४२।

२ **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० १।

३ **वही।**

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

संत-काव्य की लोकभूमि का परिचय हमें दो रूपों में प्राप्त होता है जिसके फलस्वरूप संत-काव्य अपने युग एवं अपनी परम्परा का लोकप्रतिनिधि काव्य है। प्रथम रूप का सम्बन्ध भारतीय चिन्ता के विकास युग में उपलब्ध जन आन्दोलन से है तथा दूसरे रूप का सम्बन्ध लोकभाषा के विकास से। श्री परशुराम चतुर्वेदी संत काव्य की लोकभूमि की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं—"संत-काव्य की लोकप्रियता उसके काव्यत्व की प्रचुरता पर निर्भर नहीं। वह जनसाधारण के अन्तर्गत कवियों व क्रांतिदर्शी व्यक्तियों की स्वानुभूति की यथार्थ अभिव्यक्ति है और उसकी भाषा जन-साधारण की भाषा है। उसमें साधारण जनसुलभ प्रतीकों के ही प्रयोग हैं और वह जनजीवन को स्पर्श करता है। वह सभी प्रकार से जनकाव्य कहलाने योग्य है जिस कारण उसकी परम्परा की छोरें अमित काल तक उपलब्ध समझी जा सकती हैं।"[1]

भारतीय चिन्ताधारा गत्यात्मक और विकासशील है, वैदिक साहित्य से लेकर संतों की अटपटी वाणियों के आविर्भाव तक अनेक क्रांतिदर्शी चिन्तकों ने समाज में प्रचलित रूढ़ियों और बन्धनों की अस्वाभाविकता को अनेक बार जड़मूल से हिला दिया है फिर भी प्रभाव को ग्रहण करता हुआ भारतीय लोकजीवन अपने अनुभवों में पुष्ट एवं अपनी अभिव्यक्ति में मुखर ही होता गया है। रूढ़ि स्थापनाओं के विरोध स्वरूप उठ खड़े होने वाले अनेक मतमतांतर अंततोगत्वा लोकमत[2] में ही विलीन हो गये। वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में बाह्य समुदायों द्वारा जो चिन्तन मुखर किया गया था उसी के फलस्वरूप जैन एवं बौद्ध मतों की धर्म साधना ने हिन्दू समाज में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। जीवन के आडम्बर और सुखपूर्ण अवसानों में संवेदना के लिए कोई स्थान शेष न रह गया था। बुद्ध धर्म सिद्धान्तों की दुरूहता से हटकर लोकसंवेदना का आधार बना। फलस्वरूप, उन दिनों हिन्दू समाज में लोग बौद्ध भिक्षुओं के उपदिष्ट देवताओं की कल्याण कामना से पूजा करते थे और उसके बनाये हुए ढंग से जाप आदि भी करते थे।[3] बौद्धों के परवर्ती महायान सम्प्रदाय का प्रभाव स्मार्त विचारों पर भी पड़ा। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि लोकजीवन एक साथ ही किसी विशेष मतवाद से अभिभूत हो उठा था। युगों से प्रवाहित भारतीय लोकमानस की क्रिया-प्रतिक्रिया ही वास्तविक रूप में संत साहित्य की पृष्ठभूमि है, राजनीतिक क्रान्तियों की तीव्रता के साथ ही सामाजिक और धार्मिक विश्वासों ने अपनी जड़ें उतनी ही मजबूती से जमायी हैं। यही कारण है कि भारत में विभिन्नत्व के मध्य लोकधर्मों में एक-सूत्रता के दर्शन हमें प्रत्येक चरण में दिखाई पड़ते हैं। संत-काव्य इसी लोकजीवन की वाणीगत अभिव्यक्ति है। हिन्दू और बौद्ध धर्मों के संघर्ष के फलस्वरूप भी लोकचिन्ता के स्वाभाविक विकास में कहीं कोई व्यतिक्रम नहीं

---

१ आलोचना, इतिहास विशेषांक, 'संत-काव्य की परम्परा' लेख, पृ० ४९।

२ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद, पृ० ८।

३ वही, पृष्ठ ४।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दिखाई देता। डा० रामकुमार वर्मा ने इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है— वैदिक धर्म का शास्त्रीय विवेचन जहाँ एक ओर आचार्यों का बुद्धि वैभव बनकर रहा वहाँ बौद्ध धर्म की महायान शाखा जनता की मनोवृत्तियों में परिव्याप्त होकर उनके जीवन के समानान्तर प्रवाहित होती रही। वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म में समय-समय पर संघर्ष होते रहे और जब शंकर और कुमारिल आदि आचार्यों की प्रतिभा से वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ तब भी बौद्ध धर्म के संस्कार जनता के हृदय पर वर्तमान ही रहे तथा बौद्ध धर्म के प्रभाव से चले हुए सम्प्रदाय जनता को अपनी ओर आकर्षित करते ही रहे।[१] ऐसे युग में भारतीय लोकजीवन की निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं : (१) अपने प्राचीन आचारों के प्रति दृढ़तापूर्वक आग्रह (२) निरन्तर परिवर्तन-शील परिणामों से नवीन आचारों की स्वीकृति (३) दूसरे धर्मों, मतों के प्रति सहन-शीलता की भावना। बौद्ध धर्म अपने चिन्तनों की दार्शनिक परिणति में जब लोक-मान्य नैतिक आदर्श से च्युत हुआ तभी सहजयान और मंत्रयान के रूप में उसका विकास अपने चरम पर हो गया। परिणामस्वरूप, बौद्ध और शैवों के संघर्ष ने लोक में बिखरी हुई अपढ़ किन्तु साधनोन्मुख जनता को दृढ़ता और संयम की ओर लौटाने का उपक्रम किया जिसने गोरखनाथ के समान व्यक्तित्व को जन्म दिया। मध्ययुगीन भारतीय जीवन गुरु गोरखनाथ के प्रभाव से आसेतु हिमाचल प्रभावित रहा है। डा० हजारी प्रसाद का यह विचार समीचीन ही प्रतीत होता है कि विक्रम की दसवीं शताब्दी में भारत के महान गुरु गोरखनाथ का आविर्भाव हुआ। शंकराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली और इतना महिमान्वित महापुरुष भारत में दूसरा नहीं हुआ। भारत के कोने-कोने में उनके अनुयायी आज भी पाये जाते हैं। भक्ति आन्दोलन के पूर्व सबसे शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन गोरखनाथ का योगमार्ग ही था।[3] लोक चिन्ता का यह विकास-क्रम नाथ सम्प्रदाय के प्रभावों से अपने आपको सम्बद्ध पाता है जिसमें एक ओर नैतिक दृढ़ता और व्यक्तिगत आदर्शों की छाप है तो दूसरी ओर शास्त्रसम्मत विधिविधानों को व्यवहार बुद्धि से पूर्ण करने की प्रेरणा। कहीं-कहीं लोकमत का इस प्रकार के सम्प्रदायों से स्पष्ट विरोध भी दिखाई पड़ता है। अत्यन्त प्राचीन ब्राह्मण धर्म अपने आपको लोकधर्म से पृथक रखने में सतत् ही प्रयत्नशील रहा है किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों के विस्फोटस्वरूप उत्पन्न बौद्ध धर्म अंततोगत्वा लोकधर्म में घुल-मिल कर भारतीय चिन्ताधारा को नवीन प्रेरणाओं से अनुप्राणित करता हुआ स्वयं निर्वासित हो गया। जैन धर्म भी ब्राह्मण धर्म के समान अपनी सीमाओं को नहीं तोड़ सका। उस युग में हीनत्व की भावना से धार्मिक सम्प्रदायों ने कट्टरता का रूप भी धारण किया। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्ययुग के जीवन पर साधनात्मक प्रयोगों

---

१ **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**, पृ० २८।

२ **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारी प्रसाद, पृ० ३।

3 **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद, पृ० ९६।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

का विशेष प्रभाव रहा है। संत-काव्य के आविर्भाव काल के बहुत पहले से ही अनेक प्रेरणा-स्रोत भारतीय जीवन में व्याप्त रहे हैं जिनका परिचय निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। भारतीय लोकचिन्ता के विकसित रूप का संक्षिप्त चित्र इसके द्वारा सामने आ सकता है जिसका विस्तृत परिचय बाद में दिया जायगा।

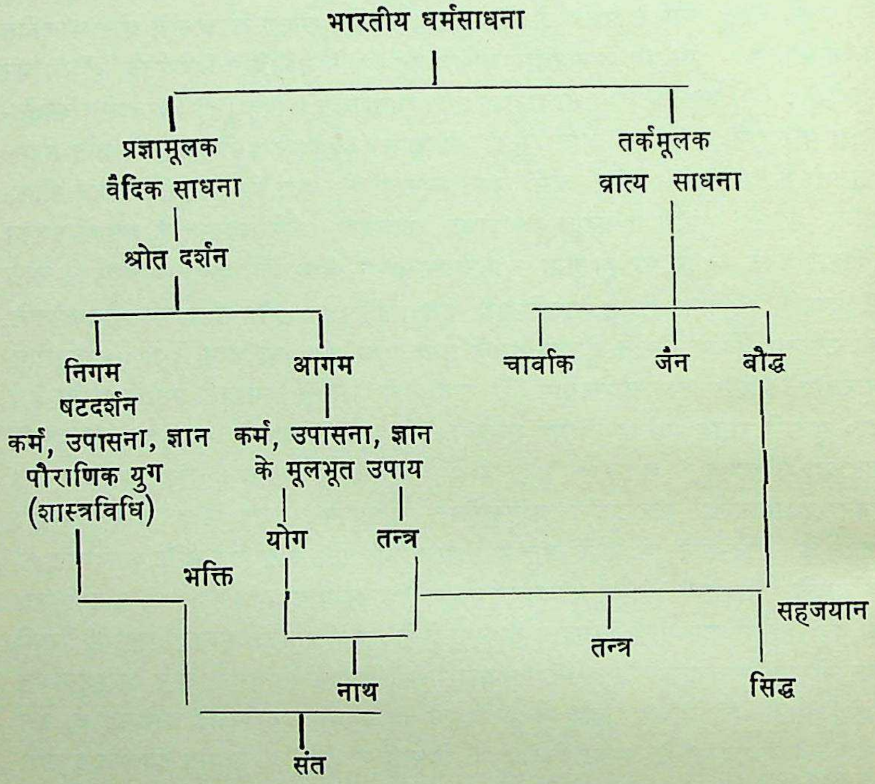

जन आन्दोलन की यह पृष्ठभूमि सामाजिक और सैद्धान्तिक क्षेत्र तक ही सीमित रह जाती यदि इस देश में विदेशी आक्रमणकारियों की धर्मसाधनाओं का प्रभाव न पड़ता। हमारी चिन्ताधारा का यह विकास स्वाभाविक रूप में हुआ है किन्तु मुसलमानी आक्रान्ताओं ने भी संत-काव्य की लोकभूमि को अपनी तरह से प्रभावित करने का कम प्रयत्न नहीं किया। यह बात दूसरी है कि यदि मुसलमानी आक्रान्ताओं ने इस देश पर आक्रमण न किया होता तो भी संत-काव्य की पृष्ठभूमि का

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

यही रूप होता[1] फिर भी सम्पर्कजन्य प्रभावों के कारण संत-काव्य नये उन्मेश के साथ जनकाव्य का रूप ग्रहण कर सका। डा० रामकुमार वर्मा तथा अन्य कुछ विचारक संत-काव्य की लोकभूमि के स्वाभाविक विकास को इतना महत्त्व न देते हुए मुसलमानी आक्रान्ताओं के प्रभाव के फलस्वरूप संत-काव्य के आविर्भाव को स्वीकार करते हैं[2] किन्तु जैसा कि भारतीय धर्मसाधना के हजार वर्ष के परिचय से ज्ञात होता है कि संत-काव्य के पल्लवित होने का बहुत कुछ श्रेय मुसलमानी धर्म को नहीं है। संत-काव्य भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास है, उसके सृजन के लिए केवल एक राजनीतिक घटना का ही आश्रय पर्याप्त नहीं है। मुसलमानों के आगमन के साथ यद्यपि सूफी विचारधारा का कुछ प्रभाव हमारे लोक-चिन्तन में अवश्य दिखाई देता है किन्तु जिन सूफी संतों ने भारतीय आख्यानों को लेकर प्रेमकाव्य का सृजन किया उसकी परम्परा भी मध्य देश में पूर्व से वर्तमान थी।[3] कबीर का मुसलमानी घर में उत्पन्न होना इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि संत-काव्य मुसलमानों और हिन्दुओं के मिले-जुले सांस्कृतिक मिश्रण की उपज है और उसका लोकधरातल कुछ भी नहीं है। स्वयं कबीर अपने आपको 'ना हिन्दु ना मुसलमान' कहते रहे हैं।[4]

भारतीय जन-आन्दोलन का यह क्रमिक विकास क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। अभिजात्य वर्ग की ऊँच-नीच की वृत्ति तथा पंडित-वर्ग की तत्त्व-ज्ञान सम्बन्धी अहं भावना ने इसके विकास को गति प्रदान की। भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था कर्म से हटकर जन्म से मान्य कर ली गयी। फलस्वरूप, सामाजिक विभेद ने जर्जर समाज की पदच्युत शक्तियों को अपनी-अपनी राह संगठित होने का अवसर दिया। कालान्तर में यही संगठित प्रयत्न महात्माओं और गुरुओं का आश्रय पाकर उनकी साधनाओं का पोषक बना और लोकभूमि को प्रभावित करने में सक्षम हुआ। सहजिया सिद्धों की वाणियाँ, जैन मुनियों के सुधारक सम्प्रदाय, नाथ योगी सम्प्रदाय, वैष्णव आचार्य भक्त, सूफी फकीर आदि ही मूलरूप में संत-काव्य की लोकभूमि के निर्णायक तत्त्व हैं जिनमें निम्नवर्गीय समाज के अधिकारों की तीव्र ध्वनि है, वेदान्त का व्यावहारिक ज्ञान

---

१ **इस प्रकार महायान सम्प्रदाय या यों कहिए कि भारतीय बौद्ध सम्प्रदाय सन् ईसवी के आरम्भ से ही लोकमत की प्रधानता स्वीकार करता गया। यहाँ तक कि अन्त में जाकर लोकमत में घुल-मिल गया। सन् ईसवी के हजार वर्ष बाद तक यह अवस्था सभी शास्त्रों और मतों की हुई। मुसलमानी संसर्ग से उसका कोई सम्पर्क नहीं।** —डा० हजारी प्रसाद, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ८।

२ **इस प्रकार संत मत के पल्लवित होने का बहुत कुछ श्रेय मुसलमानी धर्म को है।** —रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २१५।

३ **मैनासत प्रस्तावना**—श्री हरिहरनिवास द्विवेदी।

४ **कबीर**—डा० हजारी प्रसाद, पृ० ८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

है, तन्त्रों की—प्रभावपूर्ण योगधारा है और अनुभवजन्य सत्य की प्राप्ति की सहज लालसा भी।

डा० हजारी प्रसाद ने भारतीय जन-आन्दोलन की चर्चा करते हुए लिखा है कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दुओं के भीतर इस युग में जो विराट जन-आन्दोलन भक्तिवाद के रूप में बद्धमूल हो चला था वह प्राचीन धर्म का आश्रय लेकर ही चला था परन्तु शास्त्रगत सूक्ष्म विचारों और पांडित्य प्रवण चिन्ताओं का प्रभाव उस पर बहुत कम था।[१] संत-काव्य में भक्ति और साधना का चरमोत्कर्ष है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मध्ययुगीन काव्य की विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि मध्ययुग के साधक और कवियों ने हिन्दी भाषा में जिस भाव और रस का विस्तार किया है उसमें असामान्य विशेषता है। वह विशेषता यह कि उस रचना में उच्च श्रेणी के साधक और उच्च श्रेणी का सम्मिलन है। इस प्रकार का मिलन सर्वत्र ही दुर्लभ है।[२]

संत-काव्य की पृष्ठभूमि में जिस जन-आन्दोलन का संक्षिप्त परिचय पिछले पृष्ठों में दिया गया उसके विकासक्रम में भाषात्मक महत्त्व की स्थापनाएँ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। संस्कृत और प्राकृत साहित्य की कलात्मक अभिव्यक्तियों और हिन्दी के संत कवियों की 'अटपटी वानियों' में जो अन्तर है उसका कारण मध्ययुग का वह काल है जिसकी भाषा के सम्बन्ध में शैलीगत ज्ञान के अतिरिक्त अधिक कुछ सामने नहीं आया है। डा० हजारी प्रसाद संत-काव्य को जन-आन्दोलन की अभिव्यक्ति का साहित्य मानते हैं।[३] प्रत्येक जन-आन्दोलन लोकभाषा के द्वारा ही प्रभावशाली हुआ है इस रूप में प्रत्येक लोकभाषा का अपना साहित्य भी होता है। अपभ्रंश साहित्य का लोकभाषा के रूप में सर्वसाधारण में पूर्व से ही समादर था। यह कहना कठिन है कि अपभ्रंश का स्थान लोकभाषा हिन्दी ने कब ग्रहण किया किन्तु अपभ्रंश भाषा में काव्य की सर्जना चौदहवीं शताब्दी तक होती रही यद्यपि इसके बहुत पहले ही उसने नई भाषा को स्थान दे दिया था।[४] बौद्धों द्वारा लोकचिन्ता का माध्यम प्राकृत रहा और जैनों का अपभ्रंश। सिद्धों और नाथों की अभिव्यक्ति का स्वरूप तो लोकभाषा में उपलब्ध ही होता है किन्तु पंडित-वर्ग और राज्याश्रित कवियों ने लोक-

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद, पृ० ५७।

२ मध्ययुगेर साधक कविरा हिन्दी भाषाय जे भावरसेर एश्वर्य विस्तार करियाछेन ताहार मध्ये असामान्य विशेषत्व आछे। सेई विशेषत्व एइ जे साहादेर रचनामय उच्च अंगेर साधक एवं उच्च अंगेर कवि एकत्र मिलित होइयाछेन एमन मिलन सर्वत्रइ दुर्लभ। —सुन्दर ग्रन्थावली, प्राक्कथन।

३ हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ५७।

४ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद, पृ० २७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भाषा को अपना कर अभिव्यक्ति को जनसुलभ करने की चेष्टा भी की। डा० हजारी प्रसाद ने एक स्थल पर लिखा है कि विद्यापति ने पूर्व देश में एक ही साथ तत्काल प्रचलित लोकभाषा और अपभ्रंश दोनों में काव्य लिखा था[१] 'देसिल वयना सब जन मिट्ठा'[२] में विद्यापति ने लोकभाषा के सर्वप्रचलित होने तथा जनमानस को प्रिय होने की बात स्वीकार की है। संस्कृत आदि पांडित्वपूर्ण प्रभावों की भाषा की तुलना में विद्यापति ने अपनी भाषा के सम्वन्ध में जो गर्वोक्ति की है[3] वह तात्कालिक लोक-भाषा के प्रभाव की परिचायिका है। अपभ्रंश अथवा उसके पूर्ववर्ती भाषा-रूप के नाम के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य न भी हो तो भी संत-काव्य की पृष्ठभूमि में प्राप्त भाषा-रूप अपभ्रंश के प्रभावों के साथ संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रभाव से भी अनु-प्राणित हुआ है। कबीर के नाम से संस्कृत के सम्बन्ध में निम्नलिखित शब्द प्रचलित हैं :

संस्कीरत है कुपजल भाषा बहता नीर[४]

इसके सम्बन्ध में डा० बड़थ्वाल ने एक स्थल पर लिखा है कि निर्गुणियों के लिए काव्य का कोई मूल्य नहीं। उनके लिए कविता का उद्देश्य एक साधन मात्र है। वे सत्य के प्रचारक थे और कविता को उन्होंने सत्य के प्रचार का एक प्रभावपूर्ण साधन मान रखा था। वे केवल थोड़े से शिक्षितों के लिए ही नहीं कहते थे, उनका लक्ष्य उन सर्वसाधारण हृदयों पर अधिकार करना था जो जनता के प्रधान अंग थे। वे उन तक स्थानीय बोलियों के सहारे ही पहुँच सकते थे। संस्कृत और प्राकृत जो धर्मग्रन्थों तथा काव्य के लिए भी परिष्कृत भाषाएँ समझी जाती थीं, उनके सामने उपेक्षित बन गयीं।'[५] यहीं एक बात और द्रष्टव्य है कि हिन्दी के भक्ति काल में जिस भाषा-रूप का विकास हुआ है उसके स्रोत यद्यपि अपभ्रंश साहित्य में मिलते हैं तथापि संस्कृत का प्रभाव भी उस पर कम नहीं है। स्मार्त आचार्यों के धार्मिक पुनःजागरण का भाषात्मक प्रभाव संस्कृत के तत्सम शब्दों में हिन्दी के आदि काल में हुआ। कुछ आचार्य संतों की वानियों को 'सधुक्कड़ी भाषा' के नाम से अभिहित करते हैं।[६] किन्तु भारतीय चिन्ता के जन-आन्दोलन के विकासक्रम पर दृष्टि डालने से ऐसा प्रतीत होता है कि संत-काव्य तक आते-आते भले ही भाषा परि-ष्कृत न हो पायी हो किन्तु उसका विकासक्रम भी हमारी चिंताधारा की अभिव्यक्ति का

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद, पृ० २७।

२ देसिल वयना सब जन मिट्ठा। तें तैसन जंपओं अवहट्ठा॥ —विद्यापति

3 बालचन्द्र विज्जावई भाषा। दुई तहि लग्गई बुज्जन हासा॥—कीर्तिलता पृ० ४।

४ संतवानी संग्रह, भाग १, पृ० ६३।

५ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ३४०।

६ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही एक रूप है जो अनेक सम्पर्कों तथा प्रयोगों के पश्चात् मध्यदेश के लोकजीवन की अभिव्यक्ति का प्रभावी स्वर बन सका। भाषात्मक विकाससूत्र को देखते हुए भी यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि हिन्दी भाषा का यह स्वरूप विदेशी आक्रांताओं के ही प्रभाव का कारण नहीं है अपितु उसका अपना स्वाभाविक गत्यात्मक स्वरूप है जिसमें सम्पर्कजन्य प्रभाव ही थोड़े अंशों में स्वीकर किया जा सकता है।

अध्ययन की मूल सामग्री

यह अध्ययन संत कवियों पर नाथ पंथ के प्रभाव को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत किया गया है। नाथपंथी साहित्य की अपेक्षा संत-काव्य में काव्य के उदात्त गुणों का प्रकृत रूप दिखाई पड़ता है। नाथ पंथ शास्त्रीय रूपरेखा से पूर्ण सम्प्रदाय की अपेक्षा एक साधनात्मक मतवाद ही था तथा ऐसी स्थिति में उसके सिद्धान्त और साधना का मूलरूप लोकचिन्ता के माध्यम से जनभाषा में ही उपलब्ध हो सकता है। इस अध्ययन में मूलरूप से हिन्दी भाषा में उपलब्ध नाथपन्थी साधकों की रचनाओं तथा संतों की रचनाओं को आधार मानकर दोनों की समान उपलब्धियों एवं विशेष परिणतियों पर विचार किया गया है। संतों की रचनाओं का सदैव से ही लोकजीवन में स्वागत होता रहा है। ऐसी स्थिति में नाथपन्थी रचनाओं की अपेक्षा संत-काव्य की उपलब्धियों का विस्तार अधिक मिलता है जो अनुभूति की गत्यात्मकता का प्रेषक है। इस दृष्टि से संत-काव्य का विस्तृत अध्ययन भी हुआ है तथा और भी हो रहा है। नाथपन्थी सामग्री संत-काव्य की मात्रा में अत्यन्त अल्प ठहरती है।

नाथपन्थी साधकों की भाँति ही हिन्दी के निर्गुण संत कवियों ने अपनी अभिव्यक्तियों के भाषात्मक और कलात्मक स्वरूप को कभी सम्हाला और सहेजा नहीं है, फलस्वरूप जब-जब संत-काव्य के अनुशीलन का कार्य प्रारम्भ किया गया तब-तब आधार सामग्री के सम्बन्ध में विद्वानों को असमंजस का ही सामना करना पड़ा।[१] इस दृष्टि से हिन्दी के प्रारम्भिक युग की रचनाओं पर अभी कार्य होना शेष ही है। नाथपन्थी साधकों की रचनाएँ तथा संतों की वानियाँ मूलतः साधकों की उन अभिव्यक्तियों का संकलन हैं जो उनके शिष्यों, अनुयायियों तथा भक्तों द्वारा समय-समय पर लिपिबद्ध की गयी। संतों ने वस्तुतः इस बात को स्वीकार ही नहीं किया कि वे विद्या के ज्ञाता और शास्त्रज्ञ हैं[२] और न ही वे अभिव्यक्तियों को उनकी मौलिक कृति होने का दावा ही करते हैं, उनकी साखियाँ गुरुओं के कथन वाक्यों की साक्षी स्वरूप कही गयी हैं।

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २४६।

२ विदिया न पढ़हु वाद नहिं जानहु।—डा० रामकुमार वर्मा, संत कबीर वि० २।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संतों अथवा नाथपंथी साधकों की यह धारणा उनकी अंतमुंखी वृत्ति की पोषक प्रतीत होती है। अनुभव को प्रमुख स्थान देने के कारण उन्होंने कागज पर लिखी विद्या को अधिक महत्त्व नहीं दिया है और इसी कारण अनुभव की स्थूल एकरूपता के अभाव में नाथपन्थी साधकों की रचनाओं तथा संत कवियों की वानियों की प्रामाणिकता संदग्धि है। इन रचनाओं के प्रामाणिक न रह सकने के कुछ कारण निम्नलिखित माने जा सकते हैं :

(१) प्रायः नाथ तथा संत साधक अपनी साखियों और शब्दों को मौलिक रूप में अपने भक्तों को सुनाया करते थे, भक्तगण उन्हें अपने अनुरूप लिपिबद्ध भी कर लिया करते थे। बहुत कम संतों ने स्वयं अपनी रचनाओं को लिपिबद्ध किया है तथा जिन संतों ने स्वयं अपनी रचनाओं को लिपिबद्ध किया है अथवा किसी दूसरे संत की कृति की पांडुलिपि तैयार की है, तो प्रतिलिपियों में मूलवृत्ति के स्वरूप को वैसा ही रखा हो, यह प्रमाण आज कहीं उपलब्ध नहीं है। अनुभव का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है उसमें संकोच और विस्तार होना स्वाभाविक प्रतीत होता है किन्तु इससे उन रचनाओं की प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती है।

(२) साधकों की वानियों के लिपिबद्ध होते-होते उनके शिष्य किसी न किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध अवश्य रहे होंगे, ऐसी स्थिति में सम्प्रदायगत प्रभाव का होना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। साधनात्मक अथवा धार्मिक काव्य का साम्प्रदायिक स्वरूप उनके वास्तविक स्वरूप से बिलकुल ही प्रथक कोटि का बन पड़ा है जिसमें से प्रामाणिक साहित्य को उपलब्ध कर सकना सरल कार्य नहीं है। इस दृष्टि से अभी कार्य होना शेष ही है।

(३) प्रतिलिपिकारों ने भी इस प्रामाणिकता को संदिग्ध बना दिया है। लिपिकाल भी प्रायः कहीं-कहीं नहीं मिलता।

ऐसी स्थिति में नाथ पंथ और संत-काव्य की मूल सामग्री की प्रामाणिकता पर सन्देह किया जाना स्वाभाविक भी है किन्तु जिस रूप में आज नाथपन्थी रचनाएँ तथा संतों की वानियाँ उपलब्ध हैं उसको ही आधार माना जा सकता है। लोकचिन्ता के मध्य छन-छन कर जो रूप आज उपलब्ध है उसमें भी नाथपंथी साधकों तथा संतों के सिद्धान्त, साधना-भाव तथा अभिव्यक्ति का रूप सुरक्षित है। इस अध्ययन के हेतु उसी सामग्री का उपयोग किया गया है जो प्रकाशित हो चुकी है। मूल कृतियों की प्रामाणिकता आलोच्य विषय से सीधी सम्बन्धित भी नहीं प्रतीत होती। नाथपंथी साधकों तथा संतों की सम्पूर्ण प्रकाशित सामग्री का उपयोग इस अध्ययन में नहीं किया गया है। नाथ पंथ के प्रभाव के फलस्वरूप संत-काव्य का जो स्वरूप सम्मुख आया उसके अध्ययन में सम्प्रदायगत रचनाओं को आधार माना जाना उपयुक्त नहीं प्रतीत हुआ। वस्तुतः संत-काव्य की उपलब्धियों का नाथ पंथ के प्रभाव के फलस्वरूप

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जो भी रूप होगा उसमें काव्य का ही आग्रह प्रमुख है। ऐसी स्थिति में सम्प्रदायगत रचनाओं को प्रथक रखते हुए नाथों और संतों की अनुभूति प्रधान अभिव्यक्तियों को ही इस अध्ययन का मुख्य आधार माना गया है।

अध्ययन की दृष्टि से सम्पूर्ण आधार सामग्री को निम्नलिखित रूप में विभाजित किया गया है :

(क) मूल कृतियाँ, (ख) आलोचनात्मक ग्रन्थ।

(क) मूल कृतियाँ

इस प्रबन्ध में जिन मूल कृतियों के आधार पर नाथपंथी साधकों तथा संतों के सिद्धान्त निरूपण और काव्य एवं साधनात्मक प्रसंगों की अवतारणा की है उसके दो पक्ष हैं। प्रथम का सम्बन्ध नाथ सिद्धों की वानियों से है तथा द्वितीय का सम्बन्ध संतों की रचनाओं से। सबसे पहले उपलब्ध नाथ सिद्धों की वानियों पर विचार किया जाना उपयुक्त होगा यद्यपि उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है[1] फिर भी उनमें प्राचीनता के प्रमाण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं।[2]

इस संदर्भ में प्रथम प्रकाशित कृति गोरखवानी को ही लिया जाय।

(१) नाथ पंथ के प्रवर्तक गोरखनाथ की वानियों का प्रमाणित संकलन डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने सम्पादित किया है तथा जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन के द्वारा सं० १९९९ में प्रकाशित हुआ है। इस संकलन में गुरु गोरखनाथ के नाम से प्रचारित ४० छोटी-मोटी रचनाओं की सूची भी दी गयी है जिनकी प्रामाणिकता का विवेचन कर सुयोग्य विद्वान डा० बड़थ्वाल ने प्रथम १३ ग्रन्थों को निसंदिग्ध रूप से प्राचीन माना है। सूची निम्नलिखित है :

१. सबदी	२. पद
३. सिष्यादरसन	४. प्राणसंकली
५. नरवै बोध	६. आत्मबोध
७. अभै मात्रा जोग	८. पंद्रह तिथि
९. सप्तवार	१०. पंछीद्रं गोरखबोध
११. रोमावली	१२. ज्ञान तिलक

---

[1] इसलिए भाषा आदि की दृष्टि से ये सर्वथा अविश्वसनीय हैं और ये वानियाँ गोरखनाथ की ही हैं केवल समय के साथ इनमें परिवर्तन हो गया है, इस पर विश्वास करने का कोई आधार नहीं है।

—डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० ३३४।

[2] (क) गोरखवानी—डा० पीताम्बर दत्त, भूमिका भाग, पृ० २०।

(ख) नाथ सिद्धों का वानियाँ—डा० हजारी प्रसाद, भूमिका, पृ० २५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१३. पंचयात्रा
१४. ज्ञान चौंतीसा[१]
१५. गोरख गणेश गोष्ठी
१६. गोरखदत्त गोष्ठी
१७. महादेव गोरख गुष्टि
१८. सिष्ट पुरान
१९. दयाबोध
२०. जाती भौरावली
२१. नवग्रह
२२. नवरात्र
२३. अष्ट पारछ्या
२४. गृरास
२५. ज्ञानमाला
२६. आत्माबोध
२७. वृत
२८. निरंजन पुराण
२९. गोरखवचन
३०. इंद्री देवता
३१. मूलगर्भावली
३२. खाणी वाणी
३३. गोरखसत
३४. अष्टमुद्रा
३५. चौबीस सिधि
३६. षडक्षरी
३७. पंचअग्नि
३८. अष्टचक्र
३९. अबलि सिलूक
४०. काफिर बोध

सब रचनाएँ गोरखनाथ की होंगी इसमें विद्वानों को शंका ही है।[२]

डा० बड़थ्वाल ने गोरखवानी की भूमिका में लिखा है कि सबदी गोरख की सबसे प्रमाणित रचना जान पड़ती है। वह सब प्रतियों में मिलती है। परन्तु वह इतनी परिचित नहीं जितना कि गोरखबोध। सबसे पहले छपी प्रति (खंडित) भी जो मेरे देखने में आयी है, वह उसी की है और काशी की कार्माइकेल लाइब्रेरी में रखी है। उसे शिवराम शर्मा बुकसेलर, पूरब फाटक बनारस ने १९११ में प्रकाशित किया था। इसका एक अच्छा संस्करण लाहोर के डाक्टर मोहनसिंह ने भी सम्पादित किया है।[३] डा० बड़थ्वाल ने गोरखवानी में उक्त संकलन का समावेश किया है।[४] डा० रामकुमार वर्मा गोरखवानी में संकलित रचनाओं में 'अभैमात्रा जोग' को छोड़कर शेष १२ रचनाओं को प्रामाणिक मानते हैं।[५]

(२) दूसरी पुस्तक 'नाथसिद्धों की वानियाँ' के नाम से नागरी प्रचारिणी सभा काशी से सं० २०१४ वि० में प्रकाशित हुई, जिसका सम्पादन डा० हजारी

---

१ ज्ञान चौंतीसा समय पर न मिल सकने के कारण उनके द्वारा सम्पादित संग्रह में नहीं आ सका। —डा० हजारी प्रसाद, नाथ सिद्धों की वानियाँ, भूमिका, पृ० १।

२ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, पृ० ४०७।

३ गोरखवानी, भूमिका, पृ० १९।

४ गोरखवानी, प्रकाशक का वक्तव्य पृ० ६।

५ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ११०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रसाद ने किया है। इस संग्रह में निम्नलिखित २५ नाथ सिद्धों की वानियां संकलित हैं :

१. अजयपालजी	२. काणेरी (सती, पाव)
३. गरीबजी	४. गोपीचन्द्रजी
५. घोड़ाचौली	६. चरपटनाथ
७. चौरंगी नाथ	८. चौणकिनाथ (चुणकरनाथ)
९. जलन्ध्री पाव	१०. दत्तजी (दत्तात्रेय)
११. देवलजी	१२. धूंघलीमलजी
१३. नागार्जनजी	१४. पार्वतीजी
१५. पृथ्वीनाथ जी	१६. बालानाथजी
१७. बाल गुन्दाई	१८. मरधरी
१९. मच्छेन्द्रनाथजी	२०. महादेवजी
२१. रामचन्द्रजी	२२. लक्षमणजी
२३. सतवैतीजी	२४. सुकुलहंसजी
२५. हणवंतजी	

डा० हजारी प्रसाद ने संग्रह की भूमिका में यह स्पष्ट निर्देश किया है कि 'महादेव पार्वती और रामचन्द्र जी के नाम से प्राप्य रचनाओं के वास्तविक रचयिता कौन है, यह कहना कठिन है। इन पदों में किसी सिद्ध ने इन देवताओं के उपदेश देशी भाषा में लिख लिए होंगे, शेष में कुछ का पता विविध स्रोतों से चल जाता है।[1]

इसमें संगृहीत नाथ सिद्धों की वानियों का रचनाकाल १४वीं शताब्दी (ईसवी) के पूर्ववर्ती ही माना जा सकता है। कुछ चौदहवीं शताब्दी की वानियाँ हैं और बहुत थोड़ी उसके बाद की।[2]

इनकी भाषा के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए डा० हजारी प्रसाद लिखते हैं कि भाषा की दृष्टि से इन पदों का महत्त्व स्पष्ट है। यद्यपि इन वानियों के रूप बहुत कुछ विकृत हो गये हैं परन्तु भाषा का कुछ न कुछ पुराना रूप उनमें रह गया है।[3]

नाथसिद्धों की वानियों का संग्रह नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के आर्यभाषा पुस्तकालय में सुरक्षित हस्तलिखित पुस्तक संख्या ८७३, १४०८ एवं १४०९ के आधार पर किया गया इसके अतिरिक्त कुछ अन्य स्रोतों से प्राप्त रचनाएँ भी प्रस्तुत संग्रह में संकलित हुई हैं।[4]

---

[1] **नाथ सिद्धों की वानियाँ**, भूमिका, पृ० २०।

[2] **वही**, पृ० २५।

[3] **वही**, भूमिका पृ० २५।

[4] **वही**, पृ० २०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संतों की रचनाएँ—नाथपंथी साधकों की इन मूल कृतियों के पश्चात संतों की प्रकाशित एवं उपलब्ध रचनाओं पर भी विचार करना अभीष्ट होगा। संतकाव्य अनेक वर्षों तक अपनी शिष्य परम्परा में मौखिक रूप से प्रचलित रहा। साथ ही अनेक संत-कवि 'मसि कागद छुओ नहीं' वाली उक्ति के अनुरूप अपनी वानियों को स्वयं नहीं लिखते थे ऐसी स्थिति में हिन्दी में संतकाव्य की प्रामाणिक सामग्री का अभाव ही माना जायगा। फिर भी संतकाव्य के रूप में जो सामग्री उपलब्ध है उसका इस प्रबन्ध में उपयोग किया गया है ये रचनाएँ संतों की वानियों के रूप में उपलब्ध हुई हैं। सबसे पहले संतों की रचनाओं के सम्बन्ध में उपलब्ध संकलनों पर विचार किया जाता है। विद्वानों का मत है कि अनेक संतों की विभिन्न वानियाँ केवल अपने गुरुओं की वानियों का पिष्टपेषण मात्र है तथा साम्प्रदायिक आवरण से आच्छादित होकर काव्य के आधार रूप में उनका उपयोग कर सकना एक प्रथक ही विषय है फिर भी लगभग ६३ संत कवियों की वानियों का संकलन श्री परशुराम चतुर्वेदो ने संत-काव्य (प्रथम संस्करण) में सन् १९५२ में किया है।[२]

संत-काव्य के इस संकलन में विद्वान् लेखक ने संतों का परिचय तथा संत-काव्य की विस्तृत भूमिका देकर संतों की रचनाओं को एक स्थान पर एकत्रित कर एक अभाव की पूर्ति की है संतों की रचनाओं का दूसरा वृहत् संकलन संतसुधा सार (पहली बार १९५३) के नाम से श्री वियोगी हरि के सम्पादकत्व में प्रकाश में

---

१ **६३ संत कवियों के नाम निम्नलिखित हैं :**

संत जयदेव, सघना, वेणी त्रिलोचन, नामदेव, रामानन्द, संत नाई, कबीर साहब, पीपा, रैदास, कमाल, धन्नाभगत, जंमनाथ, नानक, फरीद, अंगद, अमरदास, सिंगाजी, भीषन, रामदास, धर्मदास, दादू दयाल, अर्जुनदेव, वसनाजी, बाबरी साहिब, बीरू साहब, गरीबदास, हरिदास, आनन्दघन, भीषजन, वाजिद, तेगबहादुर, मलूकदास, बबालाल, तुरसीदास, रज्जब, सुन्दरदास (छोटे), यारी साहब, धरनीदास, बूला साहब, गोविन्दसिंह, बुल्लेशाह, गुलाल साहब, जग-जीवन दास, दीनदरवेश, किताराम, दूलनदास, दरिया साहब, (मारवाड़) गरीबदास, दरिया साहब (बिहार) चरणदास, शिवनारायण, भीखा, सहजोबाई दया बाई, रामचरन, राम रहसदास, पलटू, तुलसीसाहिब, साधु निश्चलदास, शिवदयाल, सालिगराम, रामतीर्थ।

—संत-काव्य, स० परशुराम चतुर्वेदी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आया जिसमें ३७ संतों की वानियों का संकलन किया गया है।[१] जैसा कि विषय सूची से स्पष्ट है, संत सुधासार में सिद्ध, नाथ पंथी साधक तथा संत तीनों कोटि के साधकों की रचनाओं का संकलन किया गया है। इस संकलन का मुख्य आधार वेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित 'संतवानी पुस्तक माला' है।[२]

संत-काव्य के इन संकलनों के साथ ही हिन्दी में संतों के नाम से अनेक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं जिनकी प्रामाणिकता पर विद्वानों को संदेह है। जो प्रकाशित रचनाएँ सामान्यतः संत-काव्य के अध्ययन के हेतु उपलब्ध होती हैं उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण कबीर की रचनाओं की चर्चा आती है। कबीर के नाम से प्रचलित विभिन्न कृतियों की संख्या बहुत बड़ी है, कबीर पंथ के कतिपय अनुयायियों का विश्वास है कि सद्गुरु की वाणियों का कहीं अंत नहीं है।[३] किन्तु डा० त्रिगुणायन कबीर की मूल रचनाओं में 'कबीर ग्रन्थावली' और 'संत कबीर' को ही प्रामाणित मानते हैं।[४] 'कबीर ग्रन्थावली' डा० श्यामसुन्दर दास द्वारा संकलित एवं सम्पादित है तथा इसका प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हुआ है। इस ग्रन्थावली का संचयन दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया गया है। 'संत कबीर' डा० रामकुमार वर्मा द्वारा सम्पादित दूसरी प्रामाणित कृति है जिसका संकलन ग्रन्थसाहब में दी हुई वानियों पर से किया गया है। कबीर की वानियों के ये संकलन इस अध्ययन में आधारस्वरूप स्वीकार किये गये हैं। इनके अतिरिक्त कबीर की कतिपय अन्य रचनाओं को भी इस अध्ययन के मध्य देखने का अवसर आया है जिनमें कबीर बचनावली, सम्पादक पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध; कबीर दास की शब्दावली, वेलवेडियर प्रेस प्रयाग; कबीर के पद, सम्पादक श्री क्षितिमोहन सेन; और कबीर बीजक हैं। संत कबीर की रचनाओं के सम्बन्ध में तथा उनकी प्रामाणिकता-अप्रमाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभिन्नता है अतएव कबीर ग्रन्थावली, संत कबीर तथा वेलवेडियर की वानियों को ही आधारस्वरूप स्वीकार किया है।

---

१ सिद्ध सरहपाद, सिद्ध तिल्लोपाद, मुनिदेव सेन, मुनि रामसिंह, गोरखनाथ, नामदेव महाराज, कबीर साहब, रैदास, गुरु नानक देव, गुरु अंगद, गुरु अमरदास गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु तेगबहादुर, शैख फरीद, स्वामी दादूदयाल, स्वामी गरीबदास, रज्जबजी, बसनाजी, वाजिदजी, सुन्दरदास, धनीधरमदास, बाबा मलूकदास, घरनीदास, जगजीवन साहब, यारी साहब, दूलनदासजी, दरिया साहब (बिहार वाले), दरिया साहब (मारवाड़ वाले), गुलाल साहब, भीखा साहब, चरणदासजी, सहजोबाई, दयाबाई, लालनाथजी, पलटू साहिब, तुलसी साहब। —संत सुधासार'

२ संत सुधासार, दो शब्द—वियोगी हरि, पृ० ७।

३ कबीर साहित्य की परख—पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ६६।

४ कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायत, पृ० ५०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कबीर की रचनाओं के बाद वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित होने वाली धर्मदास, नामदेव, रैदास, दादू, मलूकदास, जगजीवनदास, पलटू साहब, दूलनदास, यारी साहब, बुल्लासाहब, गुलाल, भीखा साहब, चरनदास, दयाबाई, सहजोबाई, दरिया साहब बिहार वाले तथा मारवाड़ वाले, गरीबदास, तुलसी साहब की वानियों का भी यथास्थान उपयोग किया गया है।[१] इसके अतिरिक्त डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी के ग्रन्थ संतकवि दरिया : एक अनुशीलन के साथ दी गयी वानी को भी आधार स्वरूप माना गया है। सुन्दर ग्रंथावली (दो खण्ड) के नाम से प्रकाशित संत सुन्दर-दास की रचनाओं का भी उपयोग किया गया है।

संतों की ये रचनाएँ अप्रामाणित ही हैं, यह भी तो नहीं कहा जा सकता ऐसी स्थिति में लोकचिन्ता के विभिन्न रूपों को इन कृतियों के मूलस्वर के आधार पर अंकित करने का प्रयत्न किया गया है। नाथपंथी साधकों तथा संतों की इन मूल कृतियों की चर्चा के पश्चात् नाथपंथी साधकों की वानियों तथा संतों की रचनाओं पर उपलब्ध उन आलोचनात्मक ग्रंथों पर भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा जिनको इस अध्ययन में आधार स्वरूप मानकर उनकी स्थापनाओं पर विचार किया गया है।

(ख) आलोचनात्मक ग्रन्थ

(१) **नाथ पंथ विषयक**—हिन्दी में नाथ पंथ विषयक आलोचना ग्रन्थों में डा० हजारी प्रसाद द्वारा लिखित 'नाथसम्प्रदाय' (प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग) एक उत्तम कोटि का ग्रन्थ है जिसमें नाथ सम्प्रदाय विषयक विविध स्थानाओं पर लेखक ने विचार किया है तथा ऐसी तर्कपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है जिससे नाथ पंथ का लोकसुलभ रूप सामने आ जाता है। प्रस्तुत अध्ययन में डा० हजारीप्रसाद की इस पुस्तक को आधारस्वरूप माना गया है। उसके साथ ही गोरखनाथ पर उपलब्ध आलो-चनात्मक ग्रन्थों में जार्ज बोस्टन ब्रिग्स का गोरखनाथ एण्ड कनकटा योगीज (अंग्रेजी भाषा हैं) तथा डा० मोहनसिंह का गोरखनाथ एण्ड निडीवियल मिस्टीसिज्म, ग्रंथ भी कतिपय स्थल पर उपयोग में लाये गये हैं। इसके अतिरिक्त डाक्टर टी० एन० वी० आचार्य (रांगेय राघव) का शोधप्रबन्ध 'गोरखनाथ और उनका युग'[२] भी नाथपंथ पर एक उपयोगी ग्रन्थ है।

(२) **संत-काव्य विषयक**—संत-काव्य विषयक आलोचनात्मक ग्रन्थों को जिनको इस अध्ययन में आधारस्वरूप माना गया है, दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक भाग में वे शोधप्रबन्ध आते हैं जो किसी न किसी विश्वविद्यालय की उपाधि के निमित्त प्रस्तुत किये गये तथा दूसरे भाग में वे आलोचनात्मक कृतियाँ आती हैं जो

---

१ **इन संतों की वानियों के प्रकाशन वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से हुए हैं।**

२ **आगरा विश्वविद्यालय पी० एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत (अप्रकाशित)।**

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्वतन्त्र रूप से संतों के काव्य पर प्रकाश डालती हैं। इस अध्ययन में दोनों प्रकार के ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। प्रथम भाग की रचनाओं में निम्नलिखित मुख्य हैं :

हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय	—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
कबीर की विचारधारा	—डा० गोविन्द त्रिगुणायन
संतकवि दरिया : एक अनुशीलन :	—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
हिन्दी को मराठीसंतों की देन	—डा० विनय मोहन शर्मा
कबीर और उनके अनुयायी (अंग्रेजी)	—डा० एफ० ई० के०

इनके अतिरिक्त सन्तों पर जो शोधकार्य हुआ है वह प्रकाशित नहीं है, उसका अवलोकन करने के बाद भी उन्हें आधार रूप में नहीं लिया गया।

द्वितीय भाग की रचनाओं के अन्तर्गत मुख्यतः डा० रामकुमार वर्मा की पुस्तक कबीर का रहस्यवाद (१९३१), डा० हजारी प्रसाद की कृति, कबीर (१९४१), पं० परशुराम चतुर्वेदी की 'उत्तरी भारत की संत परम्परा तथा कबीर साहित्य की परख, संत-काव्य (भूमिका भाग) मुख्य हैं। संत-काव्य इतना विस्तृत है कि उस पर पृथक-पृथक रूप से कार्य किया जाना भी आवश्यक है किन्तु उसका समग्र रूप भी कुछ स्थलों पर मिल जाता है। संत-काव्य पर नाथ पंथ के प्रभाव की दृष्टि से उपर्युक्त सामग्री आधार रूप में ग्रहण की गयी।

इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के इतिहास विषयक ग्रन्थ[1] रहस्यवाद पर उपलब्ध हिन्दी तथा अंग्रेजी भाषा की कृतियों को भी आवश्यकतानुसार ग्रहण किया गया है। यद्यपि इस अध्ययन का आधार तो नाथपंथी साधकों तथा संतों की अनुभूतियों को ही माना गया है तथापि उस पर उपलब्ध विद्वानों के विचारों का विवेचन भी विषय के अनुरूप किया गया। इस अध्ययन के आधारस्वरूप जो सामग्री उपलब्ध हुई उसका उपयोग लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त ही हुआ, यही द्रष्टव्य ।

प्रस्तुत अध्ययन का लक्ष्य

किसी भी देश की भाषा और उसका साहित्य उसकी सांस्कृतिक धरोहर है। समाज के मस्तिष्क के रूप में साहित्य का क्रम विकास मानवता के इतिहास की इतनी सबल श्रंखला है कि उसके द्वारा हम मानव जीवन के वर्तमान स्वरूप और उसके भविष्य की कल्पना के सूत्रों को गठित कर सकते हैं। भारतीय जीवन के निर्माण की

[1] (क) हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
(ख) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा।
(ग) हिन्दी साहित्य की भूमिका तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास—डा० हजारी प्रसाद।
(घ) हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास—हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पृष्ठभूमि उसके साहित्य ने बनायी है, वही साहित्य जो युगों की परिस्थितियों के अनुसार पीछे छूटता जा रहा है। राजनीतिक अस्थिरता के फलस्वरूप ये सूत्र भारतीय इतिहास के अन्धकार युग में यत्रतत्र बिखरे हुए हैं। इसी कारण विद्वानों द्वारा हिन्दी के आविर्भाव काल अथवा आदि काल के सम्बन्ध में अनेक अनुमान भी लगाये गये तथा उसी के आधार पर किन्हीं अंशों में साहित्य का मूल्यांकन हुआ। साहित्य के आदिकाल तथा भक्तिकाल का विद्वानों द्वारा बहुत कुछ अनुशीलन हुआ है तथा हो रहा है। इस अध्ययन को प्रस्तुत करने में मेरा यही लक्ष्य है कि लोकमानस में आदर की दृष्टि से देखा जाने वाला संत-काव्य क्या है और उसके स्रोत कहाँ से प्राप्त होते हैं। संत-काव्य के विद्वानों द्वारा उत्तर मध्यकाल (भक्तिकाल) की उन रचनाओं के प्रति संकेत है जिनका निर्गुणिये संतों द्वारा सृजन किया गया था। भक्ति के भावयोग में इन संतों ने जनमानस में जिस नई चेतना का संचार किया है उसका रूप ठीक वही है जो नाथों अथवा सिद्धों की वानियों में मिलता है। यद्यपि भारतीय चिन्ता के विकास सूत्रों में परम्परा से प्राप्त एक ही तत्त्व के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर विचार वैविध्य भी उपलब्ध हैं फिर भी उसका स्वर सुधारवादी है, विद्रोही नहीं। इस रूप में लोकमानस ने समय-समय पर साहित्य के रूप में उन भावधाराओं का संचयन किया है जो देश और काल के अनुसार उसके अनुकूल थी तथा उन्हें छोड़ दिया जो उसके विकास के मार्ग में बाधक थीं। यह क्रम जिस रूप में उपलब्ध है उसकी अनेक दिशाएँ हैं तथा उन दिशाओं के अधिकारिक निर्देश की सदैव आवश्यकता रही है। सांस्कृतिक परिधान के बाद भी कबीर, दादू आदि संतों का स्वर भक्ति की जिस धारा का प्रतिनिधि है वह उसकी अपनी विशेषता है। इस प्रबन्ध में मैंने इन धाराओं के मूल उद्गमों तक पहुँचने का प्रयत्न किया है।

"किसी भी साहित्य के उद्भव और विकास के लिए दो तत्त्व आवश्यक हैं—एक तो उसका उद्गम स्थल, वातावरण तथा स्वगत अथवा सजातीय परिवर्तन की प्रवृत्ति एवं क्षमता, और दूसरा बाहरी सम्पर्क तथा प्रभाव।"[1] संत-काव्य में उसका उद्गम-स्थल तथा स्वगत अपने जिस रूप में उपलब्ध हैं तथा उसके बाहरी सम्पर्क और प्रभावों के सम्बन्ध में जो भी सामग्री उपलब्ध हुई हैं उसके द्वारा भारतीय चिन्ता के विकास के हजार वर्ष का इतिवृत्त सहज ही उपलब्ध हो जाता है। गत्यात्मक जन आन्दोलन की लोकाभिव्यक्ति कितने ही नये रूपों में होती है। विद्वानों को इस सम्बन्ध में भ्रम हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है फिर भी सत्य के उद्घाटन का बहुविध अनुशीलन आज अपेक्षित ही नहीं आवश्यक भी है। केवल सीमित अवस्थाओं में लोक-धारा के प्रवहमान संकेतों को निरुत्तर नहीं किया जा सकता अतएव चिंताधारा के अंतर्मुखी और बहिर्मुखी स्वरूपों को उसकी पृष्ठभूमि के साथ प्रस्तुत कर सकना ही इस प्रबन्ध का लक्ष्य है।

---

१ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग—डा० राजबली पांडेय, पृ० ५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वैसे नाथ पंथ तथा निर्गुण संत-काव्य पर प्रथक-प्रथक कार्य हुआ है किन्तु संतकाव्य पर नाथ पंथ के प्रभाव को लेकर एक सम्पूर्ण समीक्षा का अभी तक हिन्दी में अभाव ही था। नाथ पंथ के सम्बन्ध में भी विभिन्न स्थापनाओं के प्रति विद्वानों का आग्रह है तथा जिस रूप में हिन्दी की आदिकाल की इस काव्यधारा का परिचय प्राप्त होता है वह सम्पूर्ण देश की एकसूत्रता का प्रतिपोषक है। नाथ पंथ के महिमा-मय गुरु गोरखनाथ का व्यक्तित्व उत्तर से लेकर दक्षिण तथा पूरब से लेकर पश्चिम तक आसेतु हिमाचल परिव्याप्त है। शताब्दियों तक अनेक रूपों में उनके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन लोकजीवन में प्राप्त होता है। परवर्ती बौद्ध सिद्धों और नाथों के सम्बन्ध में यह अनुमान अपने साथ अधिक तर्क नहीं रखता कि सिद्धों का परवर्ती संस्करण ही नाथ पंथ है। प्रभाव के सम्बन्ध में भी स्पष्ट निर्देश अपेक्षित हैं। संत-काव्य की लोक-भूमि जिस संस्कृति और दार्शनिक चिन्ताधारा का उन्मेष करती है वह प्रतिक्रिया रहित होगी, इस पर भी विचार किया जाना अपेक्षित था।

संत-काव्य के वर्तमान समीक्षा सम्बन्धी स्वरूप पर भी विचार करना अभीष्ट होगा। संत-सम्प्रदाय, संत-मत, संत-परम्परा और सन्त-काव्य की भेदक दृष्टि के अभाव में संतों का विविध अध्ययन हुआ है किन्तु परिधि निर्देश की भी आवश्यकता अनुभव की गयी। काव्य की परिधि में संत कवियों का स्वरूप क्या हो यह प्रश्न एक ओर काव्यशास्त्र की रूढ़ि परम्परा से सम्बन्ध रखता है तो दूसरी ओर जीवन की सत्यानुभूति से भी। इसके अतिरिक्त सम्प्रदायों के जीवन में व्याप्त संतों के इस काव्य ने धार्मिक और साम्प्रदायिक परिधान पहनकर यह प्रश्न भी उपस्थित किया कि धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य भी है अथवा नहीं ? हमने संत-काव्य को संतों की अभिव्यक्तियों तक ही सीमित कर सम्प्रदाय, मत, और परम्परा के व्यापक क्षेत्र को अपनी सीमा में अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि काव्य परिस्थिति निरपेक्ष नहीं होता तथापि हमारे अनुशीलन का हेतु सम्प्रदायों अथवा मतों का विवेचन नहीं है। काव्य की भूमि प्रमुख है अन्य सब गौण। काव्य के अनुभूति पक्ष में संतों को प्रभावित करने वाले नाथों तथा उनको भी अनुप्राणित करने वाली धर्मसाधना का संक्षिप्त परिचय आवश्यक था, साथ ही काव्य के वर्ण्य विषयों में धार्मिक तथा आध्यात्मिक संज्ञा प्राप्त होने वाली कृतियों को केवल इसीलिए नहीं छोड़ा गया है कि वे धार्मिक कृतियाँ हैं। धार्मिक और साहित्यिक रचनाओं के विभाजन का कोई पुष्ट आधार नहीं है, काव्य की परिधि के लोकपक्ष की भूमि में तो किसी भी प्रकार ऐसा वर्गीकरण स्वीकार नहीं किया जा सकता। काव्य के माध्यम से मानव के चतुर्मुखी विकास के अनुशीलन की आवश्यकता को अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है अतएव इस बात को भी ध्यान में रखा गया है।

संत कबीर ने एक स्थल पर प्रगट किया है :

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हम वासी उस देश के जहाँ जातिवरन कुल नाँहि ।
शब्द मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाँहि ॥ [१]

शब्द की यह साधना संतों में केवल विचारात्मक रूप में ही है । संतों ने अपनी अभिव्यक्ति को 'ब्रह्मविचार' [२] की संज्ञा ही दी है तथापि उसका मर्म भक्ति ही था । डा० हजारी प्रसाद ने इसी संदर्भ में लिखा है "लोग कबीर आदि भक्तों को ज्ञानाश्रयी निर्गुनिये कहते हैं । वे प्रायः भूल जाते हैं निर्गुनिया होकर भी कबीरदास भक्त हैं और उनके 'राम' वेदान्तियों के ब्रह्म की अपेक्षा भक्तों के भगवान अधिक हैं ।' [३] सगुण निर्गुण मतवाद को लेकर स्मार्त संरक्षण एवं लोक संरक्षण के रूप में हिन्दी साहित्य में भक्ति की दो धाराओं का उन्मेश भले ही हुआ हो किन्तु संत-काव्य जनकाव्य है इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर उसके विकास सूत्रों को भारतीय चिन्ता-धारा में खोजा गया है । इन संतों के निर्माण में हिन्दी साहित्य के आदिकाल की अनेक परिस्थितियाँ सामने आती है । सन्त काव्य के निर्माण में इन सब परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है तथापि उसका विश्लेषण हमारा लक्ष्य नहीं है । इन संतों की कविताओं पर नाथ पंथ का क्या प्रभाव है, इसी सीमा-रेखा को अभिप्रेत मान कर अन्य समस्याओं को केवल स्पर्श भर किया गया है । यह प्रभाव जिस रूप में प्राप्य हुआ, काव्य की परिधि में रखकर उसका अध्ययन अपेक्षित था । संत-काव्य के व्यवस्थित अध्ययन का सांस्कृतिक मूल्यांकन आज के युग की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है, सामग्री की प्रामाणिकता के अभाव में समाजशास्त्र का आधार भी उसके विकास क्रम को खोजने में सहायक हुआ है ।

इसके अतिरिक्त राज्य संक्रमण तथा विदेशी आक्रांताओं के प्रभाव के सम्बन्ध में भी पृथक से अध्ययन किया जाना अपेक्षित है । संत-काव्य के निर्माण में जिन शक्तियों का हाथ है; उसमें कुछ विद्वान मुस्लिम प्रभाव को ही प्रमुख मानते हैं [४] किन्तु इस आग्रह के सूत्र प्रस्तुत अध्ययन में बहुत ही अल्प मात्रा में उपलब्ध होते हैं । प्रभाव की सीमा रेखा को स्पष्ट करने का हेतु भी सामने रखा गया है ।

---

१ सन्त कबीर की साखी, पृ० ६४, ६५ ।

२ जिन जानौ यह गीत है यह है ब्रह्म विचार केवल कह समुझायिया आत्म साधन सार रे—कबीर ग्रन्थावली पृ० ८९ ।

३ हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ६४ ।

४ संत-काव्य में मुसलमानी प्रभाव यथेष्ट पाया जाता है । कुछ तो राजनीतिक परिस्थितियों के कारण और कुछ मूर्तिपूजा की उपेक्षा के कारण । संत मत अधिकतर मुसलमानी संस्कृति से ही प्रभावित हुआ—डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास; पृ० २९८ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संत-काव्य और नाथ पन्थ की चिन्ताधारा के इस स्वरूप को 'मध्यदेशीय भाषा' ने जो अभिव्यक्ति प्रदान की है उस पर विद्वानों ने विचार किया है और इस प्रकार जिन काव्य रूपों के संकेत अपभ्रंश काल में हमें मिलते हैं उसका रूप भी स्थिर करने का प्रयत्न किया गया है। भाषा के सम्बन्ध में अवश्य ही प्रामाणिकता के अभाव में कुछ विचार किया जाना कठिन ही है तथापि नाथों और संतों की वानियों में कुछ न कुछ पुराना रूप अवश्य उपलब्ध होता है।

सिद्ध साहित्य[1] का अनुशीलन हिन्दी में प्रायः प्राप्त है तथा संतों की वानियों के समग्ररूप में एवं पृथक-पृथक रूपों में भी अध्ययन एवं समीक्षाएं उपलब्ध हैं किन्तु नाथ पन्थ का इन दो रूपों को जोड़ने में महत्त्वपूर्ण हाथ है।[2] नाथ सम्प्रदाय[3] तथा गोरखनाथ[4] के युग के सम्बन्ध में भी अध्ययन हुआ है किन्तु संत-काव्य के विविध स्वरूप को लेकर नाथ एवं संतों के सामान्य और असामान्य लक्षणों के अनुशीलन की पूर्ति करने का प्रयत्न इस सबन्ध में किया गया है। सांस्कृतिक चेतना के प्रभावों की कहानी बड़ी विलक्षण है। विचारों के क्षेत्र में सम्पर्क के प्रभावों में प्रतिक्रिया भी होती है, ऐसी स्थिति में नाथ पंथ और गोरखनाथ के सामयिक प्रभाव को भी यथार्थ-रूप में आंकने का प्रयत्न किया जाना उचित है जिसकी परम्परा अति प्राचीन है। भारतीय धर्म साधना में विदेशी और स्वदेशी का आग्रह कम है किन्तु लोकविरोधी प्रवृतियों का विरोध स्पष्ट है। यह विरोध एक सीमा में विदेशी विरोध से भी अधिक मालूम पड़ने लगता है किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त और योगपरक साधनाएँ सभी भारतीय धर्मसाधना के विभिन्न अंग हैं एवं लोक जीवन में कभी वे ग्राहय और कभी त्याज्य बनकर चले आ रहे हैं। दर्शन के रूप में यह धारा अति प्राचीन है। भारतीय दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान डा० बल्देव उपाध्याय ने एक स्थल पर प्रकट किया है:

"किसी देश का विचार-शास्त्र उस देश की सभ्यता और संस्कृति का सबसे मूल्यवान पदार्थ होता है। उस देश के धार्मिक तथा सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव विचार-शास्त्र की विभिन्न धाराओं पर निश्चित रूप से पड़ता है। अतः किसी देश में उत्पन्न होने वाले विचार-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय आपस में कुछ भेद भले ही दिखायें परन्तु वातावरण में समानता होने के कारण इन सम्प्रदायों के मतों में अनेक समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इसी कारण भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के भी अनेक सिद्धान्तों में एकता दृष्टिगोचर होती है।"[5] संत-काव्य में इन दर्शनों की

---

१ **सिद्ध साहित्य**—डा० धर्मवीर भारती।
२ **गोरखवानी**—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० ११।
नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी।
४ **गोरखनाथ और उनका युग**—अप्रकाशित प्रबन्ध, (आगरा विश्वविद्यालय)।
५ **डा० बल्देव उपाध्याय।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यावहारिक परिणति का स्वरूप परिलक्षित होता है। ज्ञान के ये स्रोत अंधविश्वासों के आवरण में कुछ का कुछ रूप ग्रहण कर लेते हैं। कबीर ने इसी सम्बन्ध में एक संकेत देते हुए प्रकट किया है :

थकता बकता सुरता सोई, आप विचारै सो ज्ञानी होई।[1]

और भी—

वेद कतेब कहो क्यूं झूठा, झूठा जो निविचारै।[2]

दार्शनिक चिन्तन का यही विचार प्रवाह प्रायः संतों को ग्राह्य है।

साहित्य का सम्बन्ध भाषा से भी उतना ही है जितना उसके भाव क्षेत्र से। नाथसिद्धों की वानियों की भाषा हिन्दी का प्राचीन रूप है, उसे पुरानी हिन्दी भी कहा गया है।[3] महापंडित राहुल सांकृत्यायन भाषात्मक अध्ययन के माध्यम से राष्ट्रीय एकता के स्वरूप को निर्धारित करने की सलाह देते है।[4] पुरानी हिन्दी में प्राप्त नाथसिद्धों की रचनाओं के माध्यम से अन्य प्रादेशिक क्षेत्रों में भी ऐसे ही साहित्य का सृजन हुआ होगा ऐसा इस अध्ययन से ज्ञात होता है, इस रूप में भारतीय जीवन के सांस्कृतिक सूत्रों को स्पर्श करते हुए यह भी लक्ष्य रहा है कि हमारी प्राचीन परम्परा के उन मूल स्रोतों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जा सके जो भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की एक महती आवश्यकता है तथा भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि हैं। हिन्दी के आदि काल तथा भक्ति काल के जिन महिमामय व्यक्तियों की वानियों का अनुशीलन इसमें किया है, वे हिन्दी साहित्य की निधि तो हैं ही, साथ ही हमारे देश के जन-आन्दोलन के अग्रज भी हैं। ऐसी स्थिति में यह अनुशीलन इस दिशा में बाल प्रयास ही माना जायगा। संत-काव्य पर नाथ पंथ के प्रभाव का समुचित मूल्यांकन सम्भवतः पूर्ण न हो पाता जब तक कि संत-काव्य की विशेषताओं को न प्रकट किया जाय इसीलिए तुलनात्मक पृष्ठभूमि में उन प्रसंगों पर भी विचार किया गया है जिनके आधार पर नाथ पंथ से सम्बन्ध होने के बाद भी संत-काव्य नाथ पंथ से पृथक कोटि की अभिव्यक्ति करने में सफल हुआ है। संत-काव्य के सृजन में जिन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का योग है नाथ पंथ का उस दृष्टि से विशेष स्थान है। इस संदर्भ में प्रस्तुत अध्ययन इस लक्ष्य की पूर्ति का एक प्रयत्न मात्र है।

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०२।

२ वही, पृ० १०७।

३ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, पृ० ४१३।

४ जब हम इन पुराने कवियों की भाषा को हिन्दी कहते हैं तो इस पर मराठी बंगला, उड़िया, आसामी, गोरखा, पंजाबी, गुजराती भाषा भाषियों को आपत्ति हो सकती है किन्तु हमारा यह अभिप्राय हरगिज नहीं है कि यह पुरानी भाषा मराठी आदि की अपनी साहित्यक भाषा नहीं है उन्हें भी उसे अपना कहने का उतना ही अधिकार है जितना हिन्दी भाषा भाषियों को।

—राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्य धारा, पृ० १२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२

नाथ पंथ और उसका लोक प्रभाव

नाथ पंथ के आविर्भाव की पूर्व पीठिका

नाथ पंथ भारतीय चिंताधारा के मध्य एक कड़ी के रूप में प्रस्फुटित हुआ जिसकी पृष्ठभूमि में एक ओर भारतीय वर्ण-व्यवस्था और कर्मकाण्ड है तो दूसरी ओर लोक जीवन में प्रचलित सामान्य विश्वास। मध्ययुग[1] में उसके प्रभाव को इसी आधार पर आंका जा सकता है कि प्रत्येक साधना अपने आपको गुरु गोरखनाथ और उनके पंथ से सम्बद्ध होकर गौरवान्वित होना चाहती हैं।[2] नाथ सिद्धों का लोक प्रभाव बड़ा व्यापक था। राजनीतिक संक्रमणों के फलस्वरूप लोक जीवन राज्याश्रय से विमुख होकर आदर्श और उच्च नैतिक जीवन का उद्घोष करने वाले साधकों, गुरुओं आदि की ओर मुड़ पड़ा, परिणामस्वरूप उसके सूत्र इतने विस्तार से व्याप्त हुए जिनके पृथक-पृथक क्रमिक विकास की रूपरेखा भारतीय धर्म साधना के इतिहास में प्रायः धुंधले रूप में ही उपलब्ध होती है।

हिन्दी प्रदेश में नाथ पंथ का आविर्भाव काल विक्रम की दसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।[3] नाथ पंथ के

---

१ मध्य युग 'उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमी विचारकों ने साधारणतया सन् ४७६ ई० से लेकर १५५३ ई० तक के काल को मध्ययुग कहा है।
मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० २।

२ मध्यकालीन धर्मसाधना—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ७४।

३ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, पृ० ४०६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आविर्भाव की परिस्थितियों में उन सभी भारतीय चिंताओं का योग है जिनका दार्शनिक और व्यावहारिक मंथन शताब्दियों से भारतीय साहित्य में होता चला आ रहा है। नाथ योगी परम्परा के सूत्र अत्यन्त प्राचीन काल में ही उपलब्ध होते हैं। नाथ योगी सम्प्रदाय की चर्चा करते हुए श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि योगियों की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आती है और योगसाधना का अस्तित्व किसी न किसी रूप में लगभग वैदिक युग से ही मान लिया जा सकता है। उस काल के प्राप्य लोगों के विषय में कहा गया है कि उनमें से कई एक रुद्र की उपासना करते थे तथा प्राणायाम को भी बहुत महत्व देते थे। उनके ध्यान की साधना वर्तमान योगाभ्यास से बहुत कुछ मिलती-जुलती है।[1]

साधना का स्वरूप और नाथ पंथ

भारतीय धर्म साधना के पूर्वापर विकास में इस पंथ का अनेक रूपों में प्रभाव परिलक्षित होता है किन्तु मूलरूप से इस पंथ (समुदाय) को साधनामूलक मतवाद ही स्वीकार किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में उसके आविर्भाव के सम्बन्ध एवं उसके लोकप्रभाव के सम्बन्ध में विभिन्न परस्पर विरोधी धारणाएँ प्राप्त हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। साधनामूलक मतवादों अथवा सम्प्रदायों का अपने सिद्धान्तों की पहुँच की अपेक्षा साधकों के अनुभव और उनके प्रयोगों के प्रति अधिक उत्साह प्रकट करना स्वाभाविक ही है। दार्शनिक चिंताधारा का वाह्य एवं व्यावहारिक साधना का आन्तरिक प्रभाव ही उनके स्वरूप को गठित करना है। ऐसी स्थिति में कार्य-कारण का विचार किये बिना साधनामूलक मतवादों के प्रति कोई धारणा बना लेना लोकभूमि को समझने में सहायक नहीं हो सकता। नाथ पंथ प्राचीन काल से चली आने वाली योग धारा का ही मध्यकालीन संस्करण है जिस पर मध्ययुगीन धर्मसाधना के अनेक प्रभाव स्पष्ट ही दिखाई पड़ते हैं। नाथ पंथ के स्वरूप को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वह बौद्ध धर्म के परवर्ती सिद्धों का ही एक रूप होगा[2] जिसमें बौद्ध वज्रयान के परिष्कार का प्रयत्न हो किन्तु योगधारा के जिस पक्ष को नाथ पंथ ने दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया है उसके अनुसार नाथ पंथ स्वतन्त्र रुप से पल्लवित होने वाली साधना का ही एक सम्प्रदायगत नाम है[3] तो उससे भिन्न शैवमत के भारतव्यापी प्रभाव को

---

१ उत्तरी भारत की संत परम्परा, भूमिका—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५५।

२ (अ) 'नाथ पंथ चौरासी द्धिसों से ही निकला है।'
(आ) इसमें चौरासी सिद्धों और नाथ पंथ के सम्बन्ध में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। विचारों में यद्यपि अब नाथ पंथ अनीश्वरवाद छोड़कर ईश्वरवादी हो गया है तथापि अब भी उसकी वानियों में छानबीन करने पर निर्वाण शून्यवाद और वज्रभाव का बीज मिलेगा।—राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १६३।

3 नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ७२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिन साधकों ने हठयोग की साधना के द्वारा पुष्ट किया है उनके अनुसार आदिनाथ द्वारा परिवर्तित यह पंथ शैवों का ही एक साधना पंथ है जिसका प्रभाव शैवमत के प्रभाव के साथ इस देश में फैला है[1] और शैवमत के प्रभाव की समाप्ति के पश्चात भी जो लोकजीवन को सदियों तक प्रभावित करता रहा है, जिसका हितकारी अथवा अनिष्ट प्रभाव किसी न किसी रूप में हमारे साहित्य, संस्कृति और चिंताधारा पर पड़ा है। इनसे पृथक अन्य अनेक मत हो सकते हैं जिनमें जातिगत विद्रोह और प्रतिक्रिया आदि को प्रमुख मान कर यह सिद्ध किया गया है कि इस प्रकार के साधनामूलक पंथ जन-आन्दोलन के ही विभिन्न स्वरूप हैं।[2] नाथ पंथ के सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में इस दिशा में क्रमबद्ध रीति से किसी मत विशेष पर तर्क प्रस्तुत नहीं किये जा सकते तथापि लोक जीवन के गत्यात्मक प्रवाह में चिंतन के क्षेत्र से लेकर साधना के व्यवहार निरूपण तक के अनेक प्रभावों का होना स्वीकार किया जा सकता है। द्रष्टव्य केवल इतना ही है कि ये साधना प्रणालियाँ मूलरूप से किसी विरोधी स्वर को लेकर ही परलक्षित हुई हैं और जब एक का प्रभाव दूसरे की अपेक्षा अधिक सबल हो गया है तब उस विरोधी साधना को भी उनमें से एक को अपनी ही साधना स्वीकार कर लेना पड़ा। इस विरोधी प्रवृत्ति को कभी-कभी किसी हीन प्रवृत्ति का नाम भी दिया गया है किन्तु वास्तव में यह तो विचार करने का एक दृष्टिकोण मात्र ही है। नाथ पंथ के सम्बन्ध में इतना तो निश्चित है कि इस पंथ का निर्माण किन्हीं विशेष परिस्थितियों एवं प्रभावों के फलस्वरूप हुआ था तथा यह साधना पद्धति मध्ययुग में इतनी लोकप्रभावी हुई है कि कभी विद्वानों ने उसे उत्तर बौद्ध काल की ही एक साधना माना तो कभी शैव साधना का ही एक स्वरूप। प्रस्तुत अध्याय में मध्ययुग में प्रचलित धार्मिक मतवादों और उनकी साधना प्रणालियों पर विचार किया जा रहा है जिसके आधार पर विद्वानों के मतों की समीक्षा करने में सुगमता होगी।

पूर्व मध्ययुग के सूत्र

उत्तर मध्ययुग (१०वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी वि०) के विविध मतों एवं साधनाओं की पृष्ठभूमि के रूप में पूर्व मध्ययुग (६ठी से १०वीं शताब्दी वि०) की चिंताधारा की परिस्थितियों पर भी विचार करना अभीष्ट होगा। नाथ पंथ के आविर्भाव काल तक आते-आते भारतीय धर्मसाधना तंत्र के प्रभाव से परिव्याप्त हो उठी थी। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि विक्रम की छठी शताब्दी के बाद जो तांत्रिक प्रभाव भारतीय साधना के ऊपर पड़ा वह परवर्तीकाल के संतों या

---

१ (अ) **श्री ज्ञानेश्वरी**, अध्याय ८, ओ० बी० १७५०, पृ० ४।
(आ) **हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन**—डा० हिरण्मय, पृ० ४६।

२ **सिद्ध साहित्य**—डा० धर्मवीर भारती, पृ० ७८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निर्गुणियों भक्तों की साधना के रूप में प्रकट हुआ।[1] तंत्रों का यह प्रभाव केवल ब्राह्मणों पर ही नहीं पड़ा अपितु जैन और बौद्ध सम्प्रदायों पर भी यह प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। बौद्ध धर्म का अंतिम रूप तो इस देश में तांत्रिक ही रहा। दसवीं शताब्दी के आते-आते इस देश की धर्मसाधना बिलकुल नये रूप में प्रकट होती है।[2] वैदिक साधनाओं के रूढ़ि विरोधी स्वर अनेक रूप धारण कर लोकजीवन में प्रकट हो रहे थे किन्तु भारतीय चिंताधारा कभी अपने समन्वयशील प्रभाव से अथवा कभी हीनत्व की भावना आरोपित कर सतत गतिशील ही रही तभी पूर्वमध्ययुग में जिसे कुछ विद्वानों ने पौराणिक युग भी कहा है[3], तांत्रिक पद्धति का प्रवेश प्रत्येक क्षेत्र में हुआ। श्री परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि पौराणिक युग की विशेष साधना तंत्रोपचार की पद्धति थी। यह तंत्र मूलक साधना प्राचीन समझी जाती है और कुछ लोगों के अनुसार तंत्र की चर्चा वेदों व उपनिषदों में भी मिलती है। फिर भी इतना निश्चित है कि तांत्रिक साधना को जितना पौराणिक युग ने अपनाया तथा इसके अंगों का जितना विस्तार किया उतना पहले कभी नहीं हुआ था।[4] इस युग में एक ओर वेद के प्रमाणों के प्रति प्रबल आग्रह है तो दूसरी ओर वेद विरोधी साधना का स्वर। जितनी एक की क्रिया थी उतनी ही तीव्र दूसरे के प्रतिक्रिया। ऐसी स्थिति में पूर्व मध्ययुग का लोक मानस वेद विहित और वेद बाध्य साधनाओं के परिशीलन में ही उलझा हुआ प्रतीत होता है। उस युग की यह एक विशेष प्रवृत्ति कही जा सकती है।

वेद के अनुसार साधना की स्थिति

भारतीय चिन्ताधारा में इस काल के सबल ब्राह्मण धर्मों ने विरोधी मतों को अवैदिक घोषित कर हेय सिद्ध करने का प्रयत्न किया। डा० द्विवेदी लिखते हैं कि दसवीं शताब्दी के आस-पास एक विशिष्ट मनोवृति का प्राधान्य भारतीय धर्मसाधना के क्षेत्र में स्थापित होता है यद्यपि वह नया नहीं है। कम से कम विक्रम की छठी शताब्दी से निश्चित रूप से इस प्रवृत्ति के रहने का प्रमाण मिलता है। विरोधी मतों को 'अवैदिक' कह कर हेय सिद्ध करना इस प्रवृत्ति का प्रधान स्वरूप है।[5] तो दूसरी ओर साधनापरक ग्रन्थों के द्वारा वेद और उपनिषद से अपना सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न भी इस काल में हुए हैं। फलतः इतने विविध साहित्य का सृजन इस युग में हुआ है कि मूल मतवाद अथवा साधना के सम्बन्ध में प्रमाणित सामग्री और आलोच्य सामग्री का विभाजन एक कठिन समस्या ही है। वैदिक कर्मकाण्ड अथवा ज्ञानधारा का विरोधी स्वर अनेक मतमतान्तरों तथा सम्प्रदायों के रूप में अनेक युगों में प्रकट हुआ

---

१ **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १६।
२ **वही**, पृ० ९।
३ **उत्तरी भारत की संत परम्परा**, पृ० २७।
४ **वही**, पृ० ३९।
५ **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १०।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

है तथापि लोकजीवन में वैदिक परम्पराओं से सम्बद्ध होने की प्रक्रिया भी भारतीय धर्मसाधना का एक प्रमुख अङ्ग है। इस युग में वेद को आधार मान कर धर्म का मोटा विभाजन दो प्रकार से हुआ है।[1] आस्तिक धर्म तथा दूसरा नास्तिक धर्म। आस्तिक की भी दो श्रेणियाँ हैं। 'एक वे जो वेद को प्रमाण मानते हैं और दूसरे वे जो वेद से अपने मत के समर्पित या असमर्पित होने की परवाह नहीं करते। ये नास्तिक तो नहीं पर वेद विरोधी अवश्य हैं।'[2] ईश्वर, वेद तथा परलोक को न मानने वाला मत पक्का नास्तिक है।[3] भारतीय धर्मशास्त्र और दर्शन का यह विभाजन अनेक विद्वानों को मान्य नहीं है फिर भी लोकमत के सृजन में इस प्रवृति का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इसके विविध विकास सूत्रों का विवेचन इस प्रबन्ध का विषय भी नहीं है। अभिप्राय केवल यही है कि ऐसी ही अनेक प्रक्रियाओं के बीच पूर्व मध्यकाल में अनेक मतवाद एवं धर्म साधनाएँ पल्लवित हुईं जिनका सम्बन्ध नाथ पंथ और निर्गुण भक्तिधारा से है।[4]

मध्य युग की विभिन्न साधनाएँ

इस युग की मुख्य साधनाओं का परिचय निम्नलिखित निकायों में प्राप्त होता है—

(१) शैव मत की साधना और उसके विभिन्न विकास।
(२) वैष्णव सम्प्रदाय।
(३) शाक्त मत, वाममारग तथा कापालिक सम्प्रदाय।
(४) जैन एवं आजीवक सम्प्रदाय।
(५) उत्तरकालीन बौद्ध साधना—वज्रयान एवं सहजयान।
(६) नाथ योगी सम्प्रदाय।

जैसा कि पूर्व में प्रकट किया गया है कि वैदिक एवं वेदेतर अथवा वेद विरोधी साधना के साम्प्रदायिक स्वरूप के मध्य भी भारतीय चिंताधारा एक सामान्य लोक भूमि की ओर ही उन्मुख हुई है तथा युग विशेष के प्रभावों और प्रतिक्रियाओं को अपने क्रोड़ में सहेजती अन्ततोगत्वा वह आदर्शवादी साधना ही प्रतीत होती है। सामाजिक धारणाओं के धार्मिक उत्थान और मतवादों के पतन के साथ ही साथ आलोच्यकाल में व्यक्तिगत साधना ने अपने चरम पर एक ऐसे सम्प्रदाय का गठन किया जिस में प्राचीन परम्परा का उन्मेश एवं तत्कालीन परिस्थिति की व्यापक ग्राह्य-

---

१ **भारतीय दर्शन**—डा बल्देव उपाध्याय, पृ० २७।

२ **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १४।

३ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० २९।

४ **यदि कबीर आदि निर्गुण मतवादी संतों की वाणियों को बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णत: भारतीय है और बौद्ध धर्म के अन्तिम सिद्धों आदि नाथपंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा सम्बन्ध है।**
—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बुद्धि दोनों का समावेश था। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने नाथ सम्प्रदाय के स्वरूप को लक्ष्य करते हुए एक स्थल पर लिखा है कि इस सम्प्रदाय ने निरीश्वरवादी बौद्ध सिद्धों एवं जैन मुनियों की प्रचलित साधनाओं तथा योग की परम्परागत क्रियाओं के साथ शंकराद्वैतवाद व शैव सम्प्रदाय की अन्य कतिपय बातों का मेल बिठाकर एक नवीन पद्धति चलाने के प्रयत्न किये जिसके परिणाम का प्रभाव चिरकालीन सिद्ध हुआ और आगे आने वाले अनेक धार्मिक आन्दोलनों ने इसके किसी न किसी अंश को अपना लेना आवश्यक समझा। स्वयं बौद्ध सिद्धों के भी कालचक्रयान नामक उप-सम्प्रदाय ने इसकी बहुत सी-बातें ग्रहण कर लीं जिससे उसके धार्मिक हिन्दू समाज में खप जाते देर न लगी। गुरु गोरखनाथ द्वारा निर्दिष्ट निर्गुण व निराकार की उपासना भक्ति व प्रेम का आधार पाकर आगे और भी लोकप्रिय बन गयी और उनके द्वारा निर्मित तत्त्व विचार एवं योग साधना का ग्रंथिबंधन आज तक भी प्रायः उसी रूप में वर्तमान समझा जा सकता है।[१] नाथ पंथ के स्वरूप निर्धारण में जिन साधनाओं का योग रहा है उनका संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना विषय के प्रतिपादन में सहायक होगा।

शैवमत

वैदिक युग

शैवमत का आविर्भाव—शैवमत के आविर्भाव के सम्बन्ध में विद्वानों की विभिन्न स्थापनाएँ हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि शिव या रुद्र की उपासना वैदिक काल से ही इस देश में प्रचलित है[२] रुद्र की आतंककारी शक्तियों के कारण ही अनेक प्रशसासूचक उपाधियाँ उन्हें दी गयीं[3] फलस्वरूप, रुद्र ही कालान्तर में महादेव तथा शिव कहलाये।[४] किन्तु पौराणिक शैवमत का स्वरूप, ठीक वही नहीं है जो वैदिक रुद्र का है। डा० यदुवशी का मत है कि पौराणिक शैव धर्म के उपर्युक्त प्रमुख अंशों के अतिरिक्त अनेक अप्रमुख अंश भी ऐसे हैं जिनका स्रोत भी इस प्रकार हम वैदिक रुद्र की उपासना में नहीं पा सकते। इस कारण उसका उद्‌भव और कहीं ढूँढ़ना पड़ता है।[५] डा० यदुवंशी ने शैवमत के अन्य रूपों को सिन्धु घाटी की लिंगोपासना के मध्य पाया है। आर्यों ने यह लिंगोपासना स्वीकार कर ली यद्यपि 'शिश्नदेवता' का प्रारम्भिक उल्लेख बड़े अपमानजनक ढङ्ग से किया गया है। उनका कथन है कि आर्यों ने इस प्रकार

---

१ **उत्तरी भारत की संत परम्परा**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ६६।

२ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ५७०।

3 **शैवमत**—डा० यदुवंशी, पृ० १३।

४ वही, पृ० १२, १३।

५ वही, पृ० २४।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

लिंगोपासना को स्वीकार तो कर लिया परन्तु शीघ्र ही उन्होंने उसके मूल स्वर को पलट दिया। अपनी मूल धार्मिक विचारधारा की पृष्ठभूमि न रहने के कारण और आर्य धर्म के प्रगतिशील विचारों के प्रभाव में आकर लिंगोपासना में कुछ न कुछ परिवर्तन तो आना ही था। यद्यपि पुरातनता के आदर से आर्यों ने उसके बाहरी आकार को तो बनाये रखा, तथापि धीरे-धीरे उसके सारे स्वरूप को बदल दिया। पुराने जननेन्द्रिय सम्बन्धी विश्वास और आचार मिटते गये, लिंगमूर्तियों का आकार भी यहाँ तक रूढ़िगत हो गया कि उनका मूलरूप पहचाना नहीं जा सकता था और अन्त में भगवान शिव का 'लिंग' एक प्रतीक मात्र होकर रह गया उनके निर्गुण स्वरूप का केवल एक संकेत।[१] वैदिक युग के समाप्त होते-होते रुद्र की उपासना का स्वरूप बदल गया और इस परिवर्तन के प्रतीक रूप में रुद्र अब शिव कहलाने लगे।[२] उपनिषद काल में रुद्र के अनेक नाम मिलते हैं जिनमें उन्हें ईश, महेश्वर, शिव और ईशान कहा गया है।[३] डा० यदुवंशी का मत है कि 'श्वेताश्वर उपनिषद' समय की दृष्टि से उपनिषद काल के मध्य में पड़ता है और उसमें जो रुद्र का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक उनका उत्कर्ष पूर्णरूप से हो चुका था। वह जनसाधारण के देवता ही नहीं थे अपितु आर्यों के सबसे प्रगतिशील वर्गों के आराध्य देव भी बन चुके थे।[४] सूत्रकाल में भी इस उपासना का स्वरूप बहुविध होकर मुखरित हुआ है।[५] उपनिषद एवं उसके अपर काल के शैवमत सम्बन्धी विकास के सम्बन्ध में डा० बल्देव उपाध्याय का मत है कि यद्यपि श्वेताश्वर में (३/११) भगवान् शिव सर्वानन शिरोग्रीव, सर्वभूत गुहाशय, सर्वव्यापी तथा सर्वगत माने गये हैं परन्तु इन उपनिषदों में तंत्रशास्त्र निर्दिष्ट पशुपति का स्वरूप उपलब्ध नहीं होता।[६]

रामायण महाभारत काल

बौद्ध ग्रन्थों एवं अन्य पूर्व महाभारतकालीन ग्रन्थों में शैवमत के सम्बन्ध में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है यद्यपि भारतीय चिन्ताधारा में इस काल तक शिव के के स्वरूप का महान उत्कर्ष मिलता है। रामायण महाभारत काल में आकर शैवधर्म अपने पौराणिक रूप में विकसित हुआ। विद्वानों द्वारा इस युग का प्रमुख स्वर भक्ति का ही स्वर माना गया है। इस युग में भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप का बहिष्कार

---

१ **शैवमत**—डा० यदुवंशी, पृ० ३२।

२ **वही** पृ० ५४।

३ **श्वेताश्वर उपनिषद्**, ३/११, ४/१०, ४/११, ५/१४।

४ **शैवमत**, डा० यदुवंशी, पृ० ३९।

५ **आश्वालिय गुह्य सूत्र**, २, १, २।

६ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ५७०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ। यह युग भारतीय चिन्ताधारा के नवीन उन्मेश का युग है। डा० बल्देव उपाध्याय ने एक स्थल पर लिखा है कि शिव तथा विष्णु के प्रधान देवता की कल्पना इसी युग की वस्तु है। 'कामना' नाम से जिस भक्ति प्रधान सम्प्रदाय का उल्लेख 'छान्दोग्य उपनिषद' में किया गया है उस पांचरात्र मत का अभ्युदय तथा विपुल प्रचार इस काल में आकर निष्पन्न हुआ। यादव वंशी क्षत्रियों में विशेष प्रचार होने के कारण इसे 'सात्वन' संज्ञा भी प्राप्त हुई। आस्तिक दर्शनों के अंकुर भी भारत की मस्तिष्क-मूमि में इसी काल में उगने लगे थे।[1] भक्ति युग में आकर ही रुद्र के भयानक रूप का परिष्कार हुआ। डा० भण्डारकर का कथन है कि शैव एवं वैष्णव मतों के लोक व्यापी प्रभाव में विष्णु का प्रभाव इसलिए भी अधिक प्रभावशाली हुआ कि जन-जीवन में रुद्र की भयानक कल्पना को अपने साथ बहुत दिनों तक रखने की स्फूर्ति लोकमानस में नहीं थी[2] किन्तु डा० यदुवंशी का मत इससे मेल नहीं खाता। महाभारत काल के शिव और शैवमत के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि उपनिषदों में हमने देखा था कि रुद्र को दार्शनिक रूप से परब्रह्म माना जाता था। भक्तिवाद के उत्थान के साथ उनके इस रूप का भी अधिकाधिक प्रचार हुआ। प्राचीन देव मण्डल का अब इतना ह्रास हो गया था कि वह प्रायः नगण्य था और उसके स्थान पर एक 'त्रिमूर्ति' का उत्थान हो रहा था। इस त्रिमूर्ति में भी ब्रह्मा प्रायः पीछे-पीछे ही रहते हैं और विश्व के सक्रिय संचालन और नियन्त्रण के कार्य में इनका स्थान त्रिमूर्ति के अन्य दो देवताओं 'विष्णु और शिव' की अपेक्षा कुछ घट कर है। जहाँ तक विष्णु और शिव का सम्बन्ध है, अभी तक इन दोनों के बीच कौन श्रेष्ठ है, इसके लिए कोई संघर्ष नहीं होता था।[3] रामायण में जितनी कथाएँ शिव के सम्बन्ध में उपलब्ध होती हैं उनसे सबसे अधिक ज्ञान हमें शिव के लोक प्रचलित रूप का ही होता है। शिव ही एक ऐसे देवता हैं जिन्हें देव और दानव एक साथ पूजते थे।[4] इस युग तक आते-आते रुद्र शिव की उपासना के दो रूप प्राप्त होते हैं : (१) दार्शनिक रूप, एवं (२) लोक प्रचलित रूप। दार्शनिक रूप में शिव का सम्बन्ध सांख्य से आता है— 'यः सांख्यमात्मना वेत्ति'[5] वह सांख्य को अपने द्वारा जानते हैं किन्तु महाभारत में हम देखते हैं कि उनका स्वरूप वेदेतरकालीन सांख्य के पुरुष की अपेक्षा वेदान्त के ब्रह्म से अधिक मिलता है, इसी कारण शिव का सांख्य के साथ जो प्राचीन सम्बन्ध था वह धीरे-धीरे क्षीण होता गया और अन्त में बिलकुल ही लुप्त हो गया।[6]

---

१ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ९३।

२ **शैविज्म, वैष्णविज्म एण्ड अवर माइनर रिलीजन,** कलेक्टिव वर्क्स ऑफ आर० जी० भण्डारकर, भाग ४, पृ० १५१।

3 **शैव मत**—डा० यदुवंशी, पृ० ५७।

४ वही, पृ० ६४।

५ **महाभारत कथा** २४, ६१।

६ **शैवमत**—डा० यदुवंशी, पृ० ६७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुराणेतर काल

दार्शनिक और लोक प्रचलित शैव धर्म—शैवसाधना के लोक प्रचलित रूप का आधार रामायण और महाभारत में प्राप्त वे कथाएँ हैं जिनमें कभी शिव को वैदिक मण्डल के एक प्रतिष्ठित देवता के रूप में स्वीकार किया गया है तो किन्हीं कथाओं में शिव और शैवमत का स्पष्ट विरोध है।[1] शैवमत ईसा सम्वत् के प्रारम्भ तक सम्पूर्ण देश में फैल गया था, उत्तर और दक्षिण के शैव सम्प्रदायों की पृष्ठभूमि के अनेक संकेत इस युग की लोक प्रचलित कथाओं में प्राप्त होते हैं। रामायण और महाभारत के समान ही पुराणों में शैवमत के इन्हीं दो रूपों का पूर्ण विकास उपलब्ध हो जाता है। लोकमानस में शैव और वैष्णव धर्मों की दार्शनिक पीठिका से भिन्न ये देवता अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लेते हैं जिनकी साधना ही इस युग की मुख्य साधना कही जा सकती है। पौराणिक युग में शिव के दार्शनिक रूप के साथ-साथ उनकी पत्नि के दार्शनिक रूप का विकास भी हुआ जिसका प्रभाव भारतीय धर्मसाधना के आगामी युगों पर बड़ी गहराई से पड़ा है।[2] पुराणेतर काल में शैवमत विभिन्न सम्प्रदायों में बँट गया किन्तु लोक प्रचलित रूप में उसकी प्रतिष्ठा जहाँ एक ओर घटी वहाँ सामान्य ब्राह्मण धर्म में उसका स्थान स्वतः ही बन गया। बौद्ध और जैन मतों के विरुद्ध ब्राह्मण धर्म की रक्षा करने का बीड़ा उठाकर शैव लोग बड़े उत्साह से इन मतों के सिद्धान्तों का खण्डन करने में लग गये। डा० यदुवंशी का मत है कि नास्तिकों आदि का तो इस देश में कभी कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ, परन्तु बौद्ध और जैन मतों के विरुद्ध शैवों ने जो निरन्तर युद्ध किया वह पुराणेतर काल में शैवमत के इतिहास का एक प्रमुख लक्षण है। इसी के फलस्वरूप बौद्धमत तो इस देश में लुप्तप्राप्य हो गया और जैनमत की ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध प्रतिद्वन्द्वी बनकर खड़े होने की शक्ति नष्ट हो गयी।[3]

उपासना का स्वरूप

नाथ पंथ के अविर्भाव काल के पूर्व शैवमत के अनेक सम्प्रदायों का परिचय प्राप्त होता है किन्तु शैवसाधना की इस साम्प्रदायिक सीमारेखा के मध्य भी यह तथ्य दृष्टि-ओझल नहीं किया जा सकता कि शिवभक्तों पर किसी एक रीति विशेष के अनुसार उपासना करने के लिए कोई दबाव नहीं डाला जाता था। अतः विभिन्न लोग जिस रूप में शिव की कल्पना करते थे उसी के अनुकूल उसकी उपासना भी करते थे,[4] फलस्वरूप, शिवोपासना के विविध रूप हो गये। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'मध्यकालीन धर्मसाधना' में शैव सम्प्रदायों के इसी प्रबल प्रभाव की ओर संकेत किया है।[5]

---

[1] **शैवमत**—डा० यदुवंशी, पृ० ८०।
[2] **वही**, पृ०१०१ (पुराणेतर काल ईसा की छठी शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक)।
[3] **वही**, पृ० १३८।
[4] **शैवमत**—डा० यदुवंशी, पृ० ७२।
[5] **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डा० हिरण्मय का कथन है कि तंत्रकाल तक पहुचते-पहुँचते शिवोपासना की कई शाखाएँ निकल पड़ीं और इन तंत्रों में प्रत्येक की साधना विधियों का बड़े विस्तार से निरूपण भी हो गया। इस शिवोपासना की शाखाओं का विकास विष्णु की उपासना के विकास के समानान्तर स्तर पर होता आया और इनमें परस्पर प्रतिद्वन्द्विता समय समय पर खूब रही और ये एक दूसरे से बहुत बातों में प्रभावित भी होती आयीं।[१] हिन्दी प्रदेश में शैव सम्प्रदायों के स्वरूप और उसके प्रभाव निरूपण के पूर्व उनका सम्प्रदायगत परिचय भी प्राप्त कर लेना उपयुक्त होगा।

सम्प्रदाय

वामन पुराण में शैवों के चार सम्प्रदायों का वर्णन है :[२] (१) शैव, (२) पाशुपत, (३) कालदमन अथवा कालामुख, और (४) कापालिक।

पुराणेतर काल में शैव सम्प्रदाय पृथक-पृथक रीति से पल्लवित हुआ। उत्तर और दक्षिण में उसके दो रूप स्पष्ट हो गये।[3] डा० बल्देव उपाध्याय का कथन है कि माहेश्वर तंत्रों की दार्शनिक दृष्टि के कारण तीन प्रधान भेद हैं : द्वैतपरक (शिव तंत्र, द्वैताद्वैतपरक (रुद्रतंत्र,) अद्वैतपरक (भैरवतंत्र)। पूर्वोक्त माहेश्वर मतों का प्रचार भिन्न-भिन्न प्रान्तों में था। पाशुपत मत का केन्द्र गुजरात और राजपूताना था, शैव सिद्धांत का प्रचार तामिल में और वीरशैव मत का प्रचार कर्नाटक प्रान्त में है। स्पन्द या प्रत्यभिज्ञा मत का केन्द्रस्थल कश्मीर देश है।[४] हिन्दी प्रदेश के संतों को शिवोपासना की साधनाओं ने किसी न किसी रूप में प्रभावित तो किया है[५] किन्तु सगुण भक्त कवियों का जैसा वैष्णव स्वरूप मध्ययुग में मिलता है वैसा कोई लोक-प्रचलित रूप अथवा दार्शनिक रूप हमें प्राप्त नहीं होता। शैव सम्प्रदाय तंत्र की पृष्ठभूमि पर आसीन होकर लोकाभिव्यक्ति से विमुख हो गया। शिव का सम्प्रदाय के रूप में जितना व्यापक प्रभाव भारतीय चिंताधारा में प्राप्य है उससे कहीं अधिक शिव का लोकमंगलकारी रूप—दानी और दयानिधि का रूप—उससे अधिक व्यापक हुआ। हमारे आलोच्यकाल में शिव का साम्प्रदायिक रूप कम एवं लोकव्यापी रूप अधिक मुखर हुआ। नाथ पंथ शैव सम्प्रदाय का ही एक साधना पंथ है। इस विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों ने नाथ पंथ को शैव साधना सम्प्रदाय माना है[६] जबकि कुछ विद्वान उसका स्वतन्त्र विकास एक योगी सम्प्रदाय के रूप में मानते हैं।

---

१ **हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन**—हिरण्मय, पृ० ४२।

२ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ ५७१।

3 **शैवमत**—डा० यदुवंशी, पृ० १३६।

४ **भारतीय दर्शन**—बल्देव उपाध्याय, पृ० ४७१।

५ **हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन**—हिरण्मय, पृ० ४२।

६ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्यत्र इस विषय पर विस्तार से कुछ कहा जा सकेगा। शैव के उस साम्प्रदायिक रूप का परिचय यहाँ अभीष्ट है जिसका विकास हिन्दी प्रदेश में हुआ था और कलान्तर में जिसका कुछ न कुछ प्रभाव भारतीय चिंताधारा के उस अंश पर पड़ा है जिसे नाथ पंथ कहा गया है।

पाशुपत पत

उत्तर भारत के मुख्य रूप से प्रचलित शैव सम्प्रदाय दो ही माने गये हैं: (१) पाशुपत मत, और (२) प्रत्यभिज्ञा मत।[१] यद्यपि उत्तर और दक्षिण में पल्लवित होने वाले मतों की सीमाएँ नहीं बाँधी जा सकतीं तथापि हिन्दी प्रदेश पर अन्य शैव सम्प्रदायों का भी प्रभाव पड़ा है। ऐसा प्रतीत होता है कि शैव सम्प्रदायों का विकास धीरे-धीरे हुआ है और धीरे-धीरे ये मत देशव्यापी होते गये तथा विदेशों में भी प्रसारित हुए।

पाशुपत मत का आविर्भाव—डा० भण्डारकर पाशुमत मत का आविर्भाव ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी मानते हैं।[२] 'लिंग पुराण' में पाशुपत मत की तीन शाखाओं का पता चलता है—वैदिक, तांत्रिक और मिश्र। तांत्रिक पाशुपत लिंग से तप्त चिन्ह और शूल धारण करते थे; वैदिक पाशुपत लिंग, रुद्राक्ष और भस्म धारण करते थे; और मिश्र पाशुपत समान भाव से पंचदेवों की उपासना करते थे।[३] महाभारत में इस सम्प्रदाय के संस्थापक के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया परन्तु पुराण ग्रन्थों में यह चर्चा आयी है कि एक 'लकुलिन' अथवा 'नकुलिन' ने लोगों को 'माहेश्वर' अथवा पाशुपत योग सिखाया था। इस 'लकुलिन' को भगवान शिव का अवतार और कृष्ण का समकालीन माना जाता था। 'लकुलिन' की ऐतिहासिकता पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं है यद्यपि उसके समय के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।[४] आठवीं शताब्दी तक पाशुपत मत दक्षिण तथा मध्यदेश में फैल चुका था।

पाशुपत मत का सिद्धान्त—इस मत में समस्त जीवों को पशु कहा गया है, शिव

---

१ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ५७१

२ **कलेक्टेड वर्क्स ऑफ श्री आर जी० भंडारकर**, भाग ४, पृ० १५६।

३ **तांत्रिकं वैदिकं मिश्रं त्रिधा पाशुमतं शुभम्।**
तप्ता लिंगाकशूला घिधारण तांत्रिक मतम्।
लिंगरुद्राक्षभस्मादि धारण वैदिक भवेत्।
रविं शंभुं तथा शक्ति विघ्नेश च जनार्दनम्॥
यजन्ति समभावेन मिश्र पाशुमत हि तत्॥
—मध्यकालीन धर्मसाधना, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३६।

४ **शैवमत**—डा० यदुवंशी, पृ० १५३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पशुपति हैं। पशुपति ने बिना किसी साधन या सहायता के इस जगत का निर्माण किया है। पशुपति ही समस्त कार्यों के कारण हैं।[1] इस मत के अनुसार पदार्थ पाँच हैं :

(१) कार्य — विद्या, कला, पशु (जीव)

पशु (जीव) — बोध, अबोध

(२) कारण

(३) योग

(४) विधि

(५) दुखान्त[2]

कार्य—उसे कहते हैं जिनमें स्वातंत्र्य शक्ति न हो। यह तीन प्रकार का होता है : विद्या, कला,और पशु (जीव)। जीवन और जड़ दोनों का अंतर्भाव कार्य में होता है क्योंकि दोनों परतन्त्र होने से परमेश्वर के अधीन हैं।

कारण—महेश्वर ही जगत की सृष्टि, संहार तथा अनुग्रह करने के हेतु कारण पद वाच्य है। इसकी शास्त्रीय संज्ञा पति है।

योग—चित्त के द्वारा आत्मा तथा ईश्वर के सम्बन्ध को योग कहते हैं। पातंजल योग का फल कैवल्य की प्राप्ति होता है परन्तु पाशुपत योग का फल दुःख की निवृत्ति के साथ परमैश्वर्य का लाभ है।[3]

विधि—महेश्वर की प्राप्ति कराने वाला साधक व्यापार विधि कहलाता है।

दुखान्त—दुःखों की आत्यन्तिका निवृत्ति या मोक्ष का तात्पर्य है दुःखान्त।

डा० बल्देव उपाध्याय का कथन है कि भगवान पशुपति के शरणागत होने से जब उनके नैसर्गिक प्रसाद का उदय होता है, तब जीव इस क्लेशबहुल संसार से सर्वदा के लिए मुक्ति लाभ करता है। किन्तु अन्य मतों में दुखात्यनिकी की निवृत्ति रूप ही मुक्ति है जबकि पाशुपत मत में मुक्ति परमैश्वर्य प्राप्ति रूप है।[4]

प्रत्यभिज्ञा मत

कश्मीर में शैव सम्प्रदाय की जो महत्त्वपूर्ण शाखा मानी गयी है उसके दार्शनिक मत को प्रत्यभिज्ञा क्रिया स्पन्द दर्शन कहते हैं। इस शाखा की तत्त्वविधा पर आगमों का प्रभाव है। इस मत का आविर्भावकाल विक्रम पाँचवी

---

१ मध्यकालीन धर्मसाधना—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३७।

२ शैवमत के सिद्धांत निरूपण में डा० बल्देव उपाध्याय के भारतीय दर्शन को आधार ग्रंथ के रूप में माना है।

३ भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ५८३।

४ वही, पृ० ५८५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शताब्दी माना जा सकता है ।[१] त्रिक दर्शन अद्वैतवादी दर्शन है जिसका साहित्य बड़ा विशाल है । त्रिक के मूल प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त (८०० ई० के आसपास) है । श्री भण्डारकर कश्मीर शैव मत को दो शाखाओं में विभक्त पाते हैं : (१) स्पन्दशास्त्र, (२) प्रत्यभिज्ञशास्त्र । डा० बल्देव उपाध्याय ने आचार्य वसुगुप्त से प्रारम्भ कर अद्वैतवादी त्रिक दर्शन की परम्परा निम्नलिखित मानी है । वसुगुप्त के दो शिष्य हुए कल्लट और सोमानन्द । कल्लट ने त्रिकदर्शन का और सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञ दर्शन का प्रतिपादन किया । सोमानन्द के शिष्य उच्यल हुए तथा उनके प्रशिष्य साहित्य एवं तंत्र शास्त्रों में प्रसिद्ध अभिनवगुप्त पादाचार्य हैं । श्री अभिनवगुप्त पादाचार्य के सम्बन्ध में डा० उपाध्याय ने लिखा है कि साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामंजस्य करने का श्रेय महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त पादाचार्य को है । सर्व तंत्र स्वतंत्र होने के अतिरिक्त ये एक अलौकिक पुरुष थे । ये अर्थ त्रयम्बकमत के प्रधानाचार्य शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदाय के एक सिद्ध कौल थे ।[२]

प्रत्यभिज्ञा मत का सिद्धान्त—परम शिव इस विश्व का उन्मीलन स्वयं करते हैं । उन्हें न तो किसी उपादान की आवश्यकता है और न किसी आधार की । प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र में जगत के उन्मीलन के सम्बन्ध में स्पष्ट है :

स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।[3]

शिव स्वयं कलानाथ हैं । आचार्य वसुगुप्त ने शिव के कलाविलास की ओर संकेत करते हुए लिखा है :

निरूपादानसंभारममितावेद तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मैं कलामाथाय शूलिने ।।

शिव की पाँच शक्तियाँ हैं—

(१) चित्, (२) आनन्द, (३) इच्छा, (४) ज्ञान, तथा (५) क्रिया ।

शक्ति प्रकाशरूपा है जिसके द्वारा परमशिव प्रकाश्यवस्तु के अभाव में भी स्वतः प्रकाशित होते हैं । वह शक्ति जिसके द्वारा परमेश्वर निरतिशय आनन्द का वाह्य वस्तु की बिना अपेक्षा किये स्वयं अनुभव करता है । स्वातंत्र्यरूपा **आनन्द** शक्ति है । अपने को स्वतन्त्र बोध करना तथा अविघात इच्छा सम्पन्न समझना **इच्छा** शक्ति है । **ज्ञान** शक्ति आमर्शरूपा है । आमर्श का अर्थ है वेध पदार्थ का साधारण ज्ञान ।

---

१ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ५६७ ।

२ **वही**, पृ० ५७८ ।

3 **प्रत्यभिज्ञाहृदय सूत्र** २ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सर्व आकार धारण करने की शक्ति का नाम क्रिया शक्ति है। इन्हीं पाँच शक्तियों के द्वारा परमशिव अपने को स्वभित्ति पर जगत रूप से परिणत करते हैं।"[१]

मूलरूप में यह दर्शन अद्वैतवादी है किन्तु अद्वैतवाद की सीमा से आगे जाकर इसे ईश्वराद्वैतवाद ही माना जा सकता है। तंत्रशात्र के अनुसार तत्त्वों की संख्या ३६ मानी गयी है जो निम्नलिखित हैं :

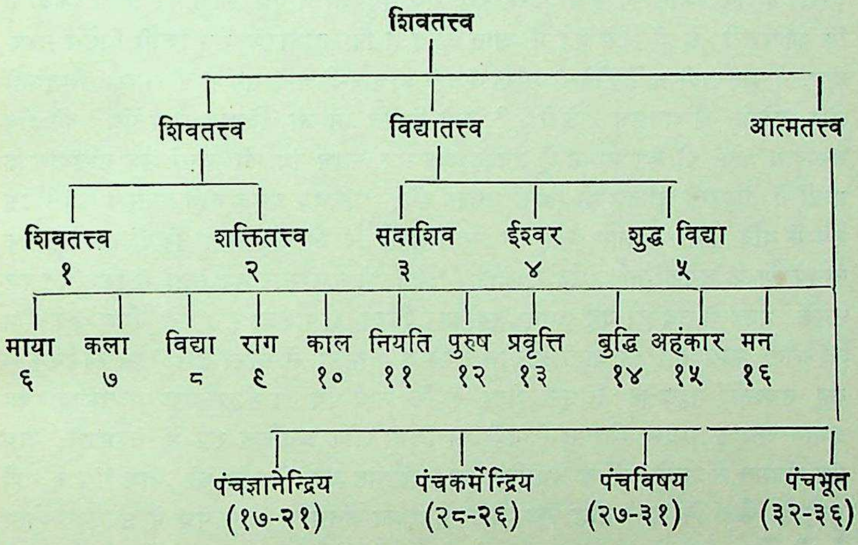

अन्य समुदाय

प्रत्यभिज्ञा दर्शन का शाक्त मत के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध है ऐसा विद्वानों का मत है किन्तु शाक्त मत[२] के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार शैव सम्प्रदायों के कापालिक मत का भी प्रभाव हिन्दी प्रदेश पर रहा है। नाथ पंथ के आविर्भाव काल तक हमें शैव और शाक्त साधनाओं के स्पष्ट भेद उपलब्ध होते हैं[३] किन्तु यह तथ्य तो स्वीकार किया जा सकता है कि विभिन्न मतवादों के पश्चात भारतीय लोक चिंता एक दूसरे से प्रभावित अवश्य रही है और समन्वयशील वृत्ति के कारण एक दूसरे से निश्चित ही कुछ न कुछ सम्बन्ध रहा है।

शैवमत का प्रभाव और नाथ पंथ

यह पहले प्रकट किया जा चुका है कि शैवमत के दो रूप भारतीय चिंताधारा में प्राप्त होते हैं। एक रूप है दार्शनिक, तथा दूसरा है लोक प्रचलित। निर्गुण संत-

---

१ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ६०४।

२ **शाक्त मत पर अन्यत्र विचार किया गया है।**

३ **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

काव्य के पूर्व की 'योगेसुरी' रचनाओं पर तथा हिन्दी के आदिकाल पर पड़े प्रभावों से यह बात स्पष्ट है कि शैवमत का प्रभाव एक समय में हमारे देश पर बहुत अधिक था। विक्रम की दसवीं शताब्दी के पूर्व ही शैवमत राज्याश्रय को प्राप्त कर चुका था[१] किन्तु उसका प्रभाव अपने लोक प्रचलित रूप में ठीक वैसा ही नहीं है जिस प्रकार का विकास साम्प्रदायिक एवं दार्शनिक मतवाद के रूप में हुआ है। सातवीं शताब्दी में भारत में शैव प्रभाव की चर्चा करते हुए डा० यदुवंशी ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि कादम्बरी से ही हमें यह भी ज्ञात होता है कि साधारण शैव किसी विशेष सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं होते थे और उनके आचार-विचार सर्वथा पौराणिक सिद्धान्तों और आदेशों के अनुकूल होते थे।[२] ऐसी स्थिति में जो विद्वान नाथ पंथ[3] को शैव सम्प्रदाय का ही रूप मानते हैं उनके अनुसार नाथ पंथ की चर्चा शैव सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मिलनी चाहिए थी किन्तु उसका कोई परिचय प्राप्त नहीं होता। केवल इस रूप में यदि हम मानना चाहें तो मान सकते हैं कि जैसे बिना किसी साम्प्रदायिक नामकरण के अनेक व्यक्ति शैव थे और वे शिव को परमेश्वर की संज्ञा से विभूषित कर उसके भक्त थे तब तो यह कथन स्वीकार किया जा सकता है। वैसे 'शिव' का योग एवं योगी सम्प्रदायों से बहुत प्राचीन सम्बन्ध विद्वानों ने माना है।[४] इस विवेचन से यह तथ्यतो सहज ही निःसृत होता है कि नाथ पथ का सैद्धान्तिक या सम्प्रदायगत प्रभाव अथवा सम्बन्ध शैवमत से नहीं था किन्तु लोक प्रचलित रूप में सम्भवतः नाथ पंथ शैवमत से सबसे अधिक प्रभावित था। शैवमत का अंतर्भाव भी नाथ पंथ में नहीं हुआ है जैसा कि अन्य बौद्ध एक शाक्त मतों का अंतर्भाव नाथ पंथ में उपलब्ध होता है।[५] जिन विद्वानों ने नाथ पंथ को शैवमत का ही एक सम्प्रदाय मानकर अपने विचार व्यक्त किये हैं सम्भवतः उनका इसी प्रकार के प्रभाव तथा मत की ओर संकेत माना जा सकता है। शैवमत का यह संक्षिप्त परिचय नाथ पंथ की सीमारेखा निर्धारित करने में सहायक होगा।

---

१ (अ) उज्जयिनी की सम्राज्ञी विलासवती एक इसी प्रकार की शैवभक्त थी, स्वयं कविवर वाणभट्ट भी ऐसे ही शैव थे।—डा० यदुवंशी, शैवमत, पृ० १५५।
(आ) हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ३७।

२ शैवमत—डा० यदुवंशी, पृ० १५५।

3 यह मत मूलतः शैवमत था। हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्मय, पृ० ४६।

४ आत्मसंयम और तपश्चर्या करने वालों के ध्यान का विषय होने के नाते, शिव का योग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनको स्वयं महायोग और योग विद्या का आचार्य माना गया है— डा० यदुवंशी, शैवमत, पृ० १००।

५ नाथ सम्प्रदाय, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वैष्णव मत

आविर्भाव

भारतीय चिंता का मूल स्रोत वेद है। वैदिक आर्यों ने प्रकृति की इनलीलाओं को समझने के लिए नाना देवताओं की कल्पना की है। इन्हीं देवताओं के अनुग्रह से जगत का समस्त कार्य-जाल संचालित होता है तथा भिन्न-भिन्न प्राकृतिक घटनाएँ इन्हीं के कारण संघटित होती हैं।[१] वैदिक लोकमंडल में विविध देवताओं का समावेश है। युग प्रवाह के अनुकूल लोक जीवन में जिन दो देवताओं को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त होती है वे हैं विष्णु तथा शिव। वैदिक धर्म की इस प्रकार दो प्रधान धाराएँ हो जाती हैं—एक है शैवमत, तथा दूसरा है वैष्णव मत।[२] उपनिषदों के ब्रह्मवाद से पृथक पुराणों के आविर्भाव काल में ये धर्म भक्ति एवं पौराणिक कथाओं से पुष्ट एवं पल्लवित हुए हैं। डा० बल्देव उपाध्याय का कथन है कि भक्ति का मूल स्रोत भी वेद ही है। वेद जिस प्रकार कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड का उद्‌बोधक ग्रन्थ है उसी प्रकार वह भक्तितत्त्व के रहस्यों का भी उद्‌घाटन करता है। वैष्णव धर्म का मूलाधार भूत प्रसाद (दया अनुग्रह) तत्त्व उपनिषदों में नितांत स्पष्ट शब्दों में अपनी अभिव्यक्ति पाता है।[3] श्री भण्डारकर महोदय ने भक्ति के आधारभूत देवताओं को वैदिक देवमंडल के ही देवता स्वीकार किया है।[४]

विकास

विष्णु के महत्त्व का विकास यद्यपि ब्राह्मण युग में हुआ था तथापि पुराण युग में वह अपनी चरमसीमा पर पहुँचा हुआ प्रतीत होता है। पुराणों का कथन है कि हरि और जगत में रंचक-मात्र भी भेद नहीं है। यह विशाल विश्व विष्णु की ही शक्तियों की नाना अभिव्यक्ति है।[५] वैष्णव मत के विकास के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। वैष्णव मत का कोई श्रृंखलाबद्ध इतिहास प्राप्त नहीं होता है और इसके प्रारम्भिक विकास की रूपरेखा कतिपय फुटकर प्रसंगों तथा अवतरणों के ही आधार पर निर्मित होती आयी है। इस धर्म का पूर्ववर्ती रूप भागवत, सात्वत और पांचरात्र मतों में पाया जाता है यद्यपि इन तीनों का विकास, विभिन्न कालों और परिस्थितियों में हुआ था तथापि अंततोगत्वा वे एक ही वैष्णव धर्म में विलीन होकर एकाकार होगये।[६]

---

१ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ४२०।

२ हिन्दी तथा कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्मय पृ० १२।

3 हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ४२०।

४ कलक्टेड वर्क्स ऑफ आर० जी० भंडारकर, भाग ४, पृ० ३।

५ हरिदेव जगत् जगदेव हरिः।
हरितो जगतो नहि भिन्नतनुः ॥—पुराण

६ हिन्दी तथा कन्नड में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्मय, पृ० १३।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रधानतया तंत्रयुग के पांचरात्र आगम में विष्णु की भक्ति का वर्णन मिलता है। पतंजलि ने महाभाष्य में विष्णु के नाना अवतारों की चर्चा की है। इसी आधार पर श्री भण्डारकर ने लिखा है कि वासुदेव की भक्ति का आविर्भाव पाणिनि के निर्देश के अनुरूप प्राचीनतम है। पुरातत्त्व के प्राचीन अवशेषों के आधार भी वासुदेव की भक्ति की प्राचीनता सिद्ध होती है। महाक्षत्रप शौडास (ई० पू० ८० से ५७ ई०) के समकालीन मथुरा शिलालेख का कहना है कि वस्तु नामक व्यक्ति ने महास्थान में भगवान वसुदेव के एक चन्द्रशाला मंदिर, तोरण तथा वेदिका की स्थापना की थी। वेस नगर के शिलालेख (२०० ई० ८०) में यवन 'हेलियो डोरा' के द्वारा देवाधिदेव वासुदेव की प्रतिष्ठा में गरुड़स्तम्भ के निर्माण का निर्देश इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि उस युग में भागवत धर्म की महती प्रतिष्ठा थी जिसमें विदेशी धर्मावलंबियों को भी वैष्णव धर्म में दीक्षित होने का अधिकार प्राप्त था।[1] श्री परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'वैष्णव धर्म' में लोकप्रचलित अनेक विचारधाराओं का समन्वय विष्णु की भक्ति में मान कर प्रकट किया है कि विष्णु को सभी अन्य देवताओं से इसके लिए अधिक उपयुक्त समझने का प्रधान कारण यह था कि पहले तो उनका नाम ही (विष व्यापना के कारण) सर्वव्यापकता का द्योतक था, दूसरे वैदिक काल के आरम्भ से ही उनका कार्य दुखों से पीड़ित मानवों की रक्षा करना समझा जाता था और वे असुरों के विरुद्ध देवताओं तक के सहायक थे।[2]

विष्णु तथा नारायण

वैष्णव मत में प्रारम्भ में विष्णु के साथ एक दूसरे उपास्यदेव का नाम आता है। वे हैं, 'नारायण'। नारायण का नाम वैदिक साहित्य के अंतर्गत भी आया है। देवताओं की विभूतियों के महत्त्व प्रतिपादन में कभी किसी देवता की महानता का वर्णन मिलता है तो कभी किसी का।[3] तैत्तिरीय आरण्यक में इस परमात्मस्वरूप नारायण को हरि भी कहा गया है जो शब्द पहले इन्द्र के लिए व्यवहृत होता रहा और आगे चलकर विष्णु का एक नाम हो गया।[4] विष्णु और नारायण के समान ही वैष्णव मत में वासुदेव और कृष्ण की उपासना के सूत्र भी मिलते हैं। वैष्णव मत हमारे आलोच्यकाल तक आते-आते जिस रूप में प्रकट हुआ है उसका स्वरूप अनेक युगों में पृथक-पृथक ही प्राप्त होता है। वैदिक उपासना से भिन्न धीरे-धीरे वैष्णव मत में भक्ति का समावेश हुआ। श्री परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि 'इस प्रकार का भक्तिभाव सर्वप्रथम उस समय परिलक्षित हुआ जबकि वैष्णव धर्म के विकसित रूप सात्वत व भागवत धर्म सम्बन्धी विचारों का प्रचार होने लगा।

---

[1] **हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास**, प्रथम खण्ड, पृ० ५०३।
[2] **वैष्णव धर्म**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४६।
[3] **अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि वैष्णव सेक्ट**—राम चौधरी, पृ० १८।
[4] **वैष्णव धर्म**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वासुदेव और कृष्ण

सात्वत धर्म के मुख्य उपास्यदेव वासुदेव कृष्ण थे और वे ही उसके मूल प्रवर्तक भी माने जाते हैं। परन्तु 'वासुदेव' और 'कृष्ण' ये दोनों नाम भी विष्णु एवं नारायण की भाँति पहले पृथक-पृथक प्रयुक्त होते थे और इनके संयुक्त प्रयोग का अवसर भी उसी प्रकार कालान्तर में ही उपस्थित हुआ। फिर भी आगे चलकर ये दोनों शब्द एक दूसरे के पर्याय बन गये और इनके द्वारा अभिहित किये जाने वाले 'वासुदेव' एवं 'कृष्ण' को दो भिन्न-भिन्न मानना न्यायतः असम्भव हो गया। अंत में वासुदेव कृष्ण भी विष्णु नारायण से मिल कर अभिन्न हो गये और वैष्णव धर्म इस प्रकार पूर्णतः संघटित हो गया।[1]

वासुदेव कृष्ण और सात्वत धर्म

वासुदेव कृष्ण के देवत्व के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं।[2] यदि देवकी पुत्र और वासुदेव कृष्ण को हम ब्राह्मण काल में होना मान लेते हैं जैसा कि श्री परशुराम चतुर्वेदी ने छांदोग्य उपनिषद और श्रीमद्भागवत् गीता के अंशों से तुलना कर प्रकट कर किया है तब वासुदेव कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में कोई संदेह नहीं रह जाता है और इस प्रकार वासुदेव कृष्ण का आविर्भाव ईसा पूर्व चौथी शताब्दी ठहरता है।[3] उनका कथन है कि उपर्युक्त सभी सामग्रियों के आधार पर इतना स्वीकार कर लेना कि वासुदेव कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, अनुचित नहीं कहा जा सकता। वे मथुरा प्रदेश के यादव कुल में उत्पन्न हुए एक क्षत्रिय महापुरुष थे, उन्हें घोर आंगरिस ऋषि के यहाँ शिक्षा-दीक्षा मिली थी। उन्होंने कंस को मारा था और महाभारत के प्रसिद्ध युद्ध में उन्होंने पांडवों की सहायता की थी। इसी के साथ इतना यह भी मान लिया जा सकता है कि अपने गुरु से ग्रहण किये गये विचारों को सिद्धांत का रूप देकर उन्होंने दूसरे लोगों में प्रचार किया और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके अनुयायी सात्वतों ने उन्हें अपना उपास्य देव भगवान तक स्वीकार किया। इसके सिवाय उनके जीवन काल से लेकर उनके पीछे तक उनके प्रति भक्ति एवं श्रद्धा प्रदर्शित की जाती रही। अंत में वे पूर्ण ब्रह्म परमात्मा तक के स्थानापन्न समझे जाने लगे। महाभारत ग्रन्थ के अंतर्गत श्रीकृष्ण दोनों रूपों में (अर्थात् महापुरुष एवं देवता स्वरूप) दिखाई पड़ते हैं।[4]

महाभारत काल तक पहुँचते-पहुँचते वैष्णव मत एक व्यवस्थित धर्म के रूप में प्रकट होता है, जिसे भागवत धर्म अथवा सात्वत धर्म भी कहते हैं। षट् ऐश्वर्य से

---

१ वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २२।

२ (अ) वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर रिलीजन्स सिस्टम्स।
(ब) वैष्णव धर्म, पृ० २७।

३ वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३२।

४ वही, पृ० ३२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्पन्न होने के कारण विष्णु ही 'भगवत' कहलाये और उनकी भक्ति करने वाले 'भागवत' के नाम से प्रसिद्ध हुए। विष्णु भक्तों के उपास्य धर्म के कारण इस धर्म का नाम 'भागवत धर्म' पड़ा। भागवतों के उपास्यदेव वासुदेव कृष्ण या कृष्ण जिस कुल में पैदा हुए थे उसका नाम था यादव वंश जिसे सात्वत वंश भी कहते हैं। इसी कारण सात्वत धर्म भागवत धर्म का दूसरा नाम माना जा सकता है।[१]

एकान्तिक धर्म

श्रीकृष्ण ने गीता में जिस धर्म का उपदेश दिया है वह 'भागवत धर्म' अथवा 'एकांतिक धर्म' कहलाता है। जिन परिस्थितियों में गीता का उपदेश दिया गया है, ऐसा प्रतीत होता है कि वह भारतीय चिंता का बड़ा विलक्षण निर्णय है। एक ओर युद्ध की विभीषिका सामने है तो दूसरी ओर भाई के सामने भाई रक्त का प्यासा खड़ा हुआ है। इस विकट प्रश्न की मीमांसा का उद्देश्य ही गीता के उदय का कारण है। इस प्रकार दार्शनिक और धार्मिक रूप में प्रचलित दो चिंतनधाराओं का समन्वय गीता में हुआ है। श्री परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि श्रीमद्भागवत को देखने से विदित होता है कि जिस समय उक्त उपदेश दिये गये थे उस समय यहाँ पर दार्शनिक और धार्मिक विचारों की दो प्रमुख धाराएँ प्रचलित थीं जिन्हें क्रमशः 'सांख्य' एवं 'योग' नामों से पुकारा जाता था और स्वीकृत पद्धतियों के अनुसार जिन्हें दूसरे शब्दों में ज्ञानयोग और कर्मयोग भी कहा जाता था[२] गीतों में निवृत्ति प्रधान सांख्य और प्रवृत्ति प्रधान योग का समन्वय है। 'सांख्य' का अर्थ है तत्त्वज्ञान, तथा 'योग' का अर्थ व्यवहार या कर्ममार्ग है।[३] डा० बल्देव उपाध्याय का मत है कि जिस प्रकार गीता में ज्ञानयोग और कर्मयोग का समन्वय है उसी प्रकार भक्ति गीता का हृदय है।[४] गीता के मुख्य प्रयोजन के सम्बन्ध में यद्यपि आचार्यों में मतभेद है[५] तथापि उसका चरम लक्ष्य एकांतिक भक्ति का निरूपण करना ही प्रतीत होता है। गीता में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है 'सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज'।[६] एकाग्रमन होकर जो श्रीकृष्ण की अतिशय श्रद्धा से उपासना करते हैं वे सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।[७] सभी कुछ एक सच्चा सीधा कर्तव्य मान कर करना और उसके फल को भगवान के हाथ की बात समझना हमें सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त कर

---

[१] **हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन**—डा० हिरण्मय, पृ० १४।

[२] **वैष्णव धर्म**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३४।

[३] **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ९६।

[४] वही, पृ० १०९।

[५] वही, पृ० १०३।

[६] **भगवद्गीता**, अध्याय १८, श्लोक ६६।

[७] वही, अध्याय १२, श्लोक २।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देता है। हमारे हृदय में एक अपूर्व आत्मविश्वास और आनन्द का भाव जाग्रत हो जाता है। श्रीकृष्ण ने इस उपदेश द्वारा दोनों प्रचलित मार्गों को एक प्रकार से मर्माहित कर उनका समन्वय कर दिया और एकमात्र भगवान पर भरोसा करने की भावना को महत्त्व देकर इस ज्ञानकर्म समुच्चय को एक नवीन प्रकार के कर्मयोग में परिणत कर दिया जो 'भागवतों' के बीच 'एकान्तिक धर्म' के नाम से प्रसिद्ध है।[1]

पांचरात्र धर्म

ईसा के पूर्व लगभग तीसरी शताब्दी में भागवत धर्म का एक और विकसित रूप पांचरात्र धर्म था। इस धर्म में भक्ति का समर्थन अनेक तन्त्रों एवं संहिताओं के आधार पर किया गया है। पांचरात्र मत के उद्भव के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। पांचरात्र के वैदिकत्व को लेकर अनेक आचार्यों ने बड़ी सूक्ष्म मीमांसा की है। किन्तु शंकराचार्य ने स्पष्ट शब्दों में इसे अवैदिक घोषित किया है।[2] कुछ विद्वानों ने भागवत अथवा सात्वत धर्म को भी वैदिक कर्मकाण्ड का सुधारवादी धर्म ही माना है तथा उसी के अनुसार उनका अनुमान है कि बौद्ध, जैन आदि सुधारवादी धार्मिक मतवादों के अनुरूप ही पांचरात्र धर्म ने तत्कालीन परिस्थितियों में कुछ नवीन बातों को अपनाया और कुछ काल के लिए एक विशिष्ट स्थान ग्रहण किया।[3] वैष्णव आचार्य इसका स्वरूप वेद की एकायन शाखा से मानते हैं। सबसे पहले शतपथ ब्राह्मण में पांचरात्र शब्द का उल्लेख मिलता है। उसमें बताया गया है कि नारायण ने समस्त प्राणियों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए 'पांचरात्र सत्र' किया था।[4]

डा० बल्देव उपाध्याय 'भारतीय दर्शन' में पांचरात्र के सम्बन्ध में लिखते हैं कि पांचरात्र का दूसरा नाम 'भागवत' या 'सात्वत' है। अतः ऐतिहासिक विद्वानों की सम्मति में यादवों में इसके विपुल प्रचार होने के कारण यह संज्ञा इस तन्त्र को दी गयी थी। परन्तु पाराशर की सम्मति में सात्वत भागवत का पर्यायवाची है। भगवान विष्णु के परम आराध्य होने के कारण इन नामों की अन्वर्थकता सिद्ध (स्पष्ट) ही है, पर पांचरात्र शब्द की व्याख्या भिन्न प्रकार से भी मिलती है। महाभारत के अनुसार चारों वेद तथा सांख्ययोग के समाविष्ट होने के कारण इस मत की संज्ञा पांचरात्र थीं। ईश्वर संहिता के कथनानुसार शाण्डिल्य, औपगायन, मौजायन् कौशिक तथा भारद्वाज ऋषि को मिलाकर पाँच रातों में उपदेश दिया गया था तथा पथ संहिता का कथन है कि इसके सामने अन्य पांचशास्त्र रात्रि के समान मलिन पड़ गये थे। अतः पांचरात्र नामकरण हुआ। नारद पांचरात्र के अनुसार इस नामकरण

---

१ **वैष्णव धर्म**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३६।

२ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ५५२।

३ **वैष्णव धर्म**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४१।

४ **हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक ?अध्ययन**—डा० हिरण्मय, पृ० १७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का कारण विवेच्य विषयों की संख्या है। रात्र का अर्थ होता है ज्ञान। परमतत्त्व, मुक्ति, भक्ति योग तथा विषय (संसार)—पंच विषयों के निरूपण करने से इस तन्त्र का नाम पांचरात्र पड़ा है।[१]

गोपाल कृष्ण

पांचरात्र मत के आराध्य वासुदेव हैं। आभीर देवता, गोपाल कृष्ण और वासुदेव कृष्ण की अभिन्नता के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। श्री भण्डारकर का मत है कि ईसा के पूर्व पहली शताब्दी तक के किसी प्रामाणित भागवत धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ में अथवा शिलालेख में गोपाल कृष्ण की चर्चा नहीं पायी जाती और न उसका परिचय ही मिलता है। गोपाल कृष्ण अथवा गोविन्द का सम्बन्ध किसी आमीर जाति से है जो पश्चिम के देशों से घूमती हुई आकार भारत में मथुरा प्रदेश के आसपास से लेकर सौराष्ट्र तथा काठियावाड़ के प्रान्तों तक के क्षेत्र में बस गयी थी। इस जाति की मुख्य जीविका गायों का रखना और उनको चराना था। इसका आराध्य देव भी एक बालक था जिसे ईसा की दूसरी शताब्दी तक वासुदेव कृष्ण में सम्मिलित कर लिया गया। क्राइस्ट के नाम साम्य के कारण बालक कृष्ण की अनेक लीलाएँ ईसामसीह की जन्मकथाओं के ढर्रे पर रच ली गयीं।[२] श्री भण्डारकर का यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। तामिल प्रदेश में अभीरों को अभर कहते हैं जिनके नाम का आकार गाय का अर्थ सूचित करने वाले शब्द 'आ' से बना सिद्ध होता है और जिनकी प्राचीन जातीय परम्पराओं से प्रकट होता है कि वे प्रसिद्ध पांड्यों के साथ ईसा से कई शताब्दी पहले यहाँ आये थे। दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह भी कही जा सकती है कि गोपाल कृष्ण की कल्पना तथा बहुत सी उनकी बाललीलाओं की कथाओं का मूलस्रोत वैदिक साहित्य के अन्तर्गत विष्णु देवता के प्रसङ्गों में ही वर्तमान है।[३]

वैष्णव धर्म का समन्वित रूप

इस प्रकार महाभारत काल तक आते-आते जिस वैष्णव धर्म का समन्वित रूप प्रकट हुआ उसमें चार आर्थिक विचारधाराओं का समावेश हुआ है जिनमें से प्रथम का मूलस्रोत वैदिक देवता विष्णु थे, दूसरी के देवता नारायण थे, तीसरी के ऐतिहासिक देवता वासुदेव थे और चौथी के आभीर देवता बाल गोपाल थे।[४] नवीन वैष्णव धर्म का मूल स्वर भक्ति का स्वर है। भक्ति न केवल 'परम प्रेम रूपा' और 'अमृत रूपा' है बल्कि जिसने भक्ति

---

१ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ५५३।

२ **कलेक्टेड वर्क्स ऑफ श्री आर० जी० भण्डारकर**, भाग ४, पृ० ४८ से ५४।

३ **वैष्णव धर्म**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४३।

४ **कलेक्टेड वर्क्स ऑफ श्री आर० जी० भण्डारकर**, भाग ४, पृ० ४९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को प्राप्त किया है वह सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है और तृप्त हो जाता है।[१] गीता में कहा गया है 'अनन्य भक्त को ही भगवान के दर्शन होते हैं, जो न वेद से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही सम्भव है।[२] भक्ति मार्ग को प्रमुख मान कर इस धर्म ने लोक जीवन में जिस अन्ध श्रद्धा युग की सृष्टि की वह अपूर्व है। इसके द्वारा सभी मतों एवं वर्गों का समन्वय होकर, एक सच्चे और वास्तविक दिव्य जीवन का आदर्श निश्चित हो गया जिसके आलोक में अपूर्व रूप धारण कर लेने के कारण वैष्णव धर्म क्रमशः और भी लोकप्रिय होने लगा।[3]

वैष्णव मत के सम्बन्ध में फिर चौथी शताब्दी तक कोई महत्त्वपूर्ण विवरण प्राप्त नहीं होता। गुप्तकाल में गुप्तवंश के प्रसिद्ध महाराज चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त एवं स्कन्धगुप्त ने (ई० सन् ४०० से ४६४ तक) अपनी मुद्राओं पर अपने को परम भागवत अंकित किया है। गुप्त साम्राज्य के ध्वंस के पश्चात वैष्णव धर्म का प्रभाव उत्तर में घटने लगा तथा बौद्ध एवं जैन धर्मों के राज्याश्रय के कारण वैष्णव धर्म अनेक साधारण सम्प्रदायों की भाँति किसी प्रकार चलता रहा। ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में शैव और वैष्णव मतों के सम्बन्ध भी अच्छे रहे[४] किन्तु बाद में साम्प्रदायिकता के आवेश में अनेक विरोध एवं समन्वय के रूप भी हमें दिखाई पड़ते हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य के आविर्भाव काल में भागवत धर्म का जो स्वरूप था उसका खण्डन 'पांचरात्र' कहकर किया गया है।

व्यूहवाद और अवतार चतुर्व्यूह

पंचरात्र मत में व्यूहवाद का बड़ा महत्त्व है। इस सिद्धान्त के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) की।[५] संकर्षण वासुदेव के ही रूप हैं और जीव मात्र के प्रतीक हैं। मनस्तत्त्व के प्रतीक प्रद्युम्न संकर्षण से तथा जीवात्मा के प्रतीक अनिरुद्ध प्रद्युम्न से निकले हैं। संकर्षण व्यूह में ज्ञान तथा बल गुणों की प्रधानता है। पांचरात्र के परंब्रह्म के उभय निर्गुण तथा सगुण भाव स्वीकृत हैं। परमात्मा त्रिविध परिच्छेदशून्य है,

---

१ मल्लद्धवा पुमान् सिद्धो भवति।
अमृतो भवति, तृप्तो भवति ।।४।। नारद भक्ति सूत्र।

२ नाहं वेदेने तपसा न रानेन न चेज्यया।
शल्प एवं विधो द्रष्टुं हष्टपानसि मा यथा ५३ ।।
भक्त्यात्वनन्ययाशल्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टु च परंतप ।। ५४ ।। अध्याय ११।

3 वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४७।

४ शैवमत—डा० यदुवंशी, पृ० १४९।

५ भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ५५२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह न भूत है, न वर्तमान है, न भविष्य। न ह्रस्व है, न दीर्घ। न स्थूल है, न अणु। न आदि है, न मध्य है, न अंत है। इस प्रकार वह सब द्वन्द्वों से विनिर्मुक्त, सर्व उपाधि से विवर्जित, सब कारणों का कारण षाड्गुण्य सम परब्रह्म है।[1] लक्ष्मी के सृष्टि काल में दो रूप हो जाते हैं—(१) क्रियाशक्ति, (२) भूतशक्ति। भगवान जगत के परम मंगल के लिए अपने आप चार रूपों की सृष्टि करते हैं–(१) व्यूह, (२) विभव (३) अर्चावतार, तथा (४) अंतर्यामी अवतार। भगवान का संकल्प अथवा इच्छा शक्ति का रूप अनन्य होने के बाद भी प्रधानतया पाँच प्रकार का होता है—उत्पत्ति, स्थिति, विनाशकारिणी, निग्रहरूपा एवं अनुग्रहस्वरूपा। जीव स्वभावतः सर्वशक्तिशाली व्यापक तथा सर्वज्ञ तो है, परन्तु सृष्टि काल में भगवान की तिरोधान शक्ति जीव के विभुत्व, सर्वशक्तितत्त्व और सर्वज्ञत्व का तिरोधान कर देती है।[2]

पांचरात्र धर्म में साधन मार्ग का विशेष महत्त्व है। शरणागति-प्रपत्ति ही भगवान की अनुग्रह शक्ति को प्रोप्रबुद्ध करने के लिए प्रधान उपाय है। यह शरणागति ६ प्रकार की होती है—(१) आनुकल्स्य संकल्प (भगवान के अनुकूल रहने का संकल्प), (२) प्रति कूल्यस्य वर्जनन् (भगवान के प्रतिकूलता का छोड़ना), (३) रक्षिष्य नीति विश्वास, (भगवान रक्षा करेंगे इसमें विश्वास), (४) गोप्तृत्व वरणं (भगवान को रक्षक मानना), (५) आत्मनिक्षेप (आत्मसमर्पण), और (६) कार्मव्य (नितांत दीनता)। यह शरणागति केवल एक मानसिक भावना नहीं है अपितु इसका व्यावहारिक अनुष्ठान भी वैष्णव भक्ति का प्रमुख लक्ष्य है। व्यूहवाद के प्रसंग के साथ भगवान के अवतार ग्रहण की चर्चा भी महत्त्वपूर्ण है। भागवत ग्रन्थों में अनेक अवतारों की चर्चा मिलती है जिनका पौराणिक वैष्णव मत के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग है।

वैष्णव मत के अनेक सम्प्रदाय कालान्तर में पल्लवित हुए। इन सम्प्रदायों का स्वरूप एवं साधना एक ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त की प्रतिक्रिया है जिसका आविर्भाव ईसा की ९वीं शताब्दी में इस देश में हुआ था। भारतीय चिंताधारा के उस संक्रमण युग में स्वामी शंकराचार्य का आविर्भाव हुआ था जबकि हमारा जीवन अनेक मत-मतान्तरों के मध्य विकृत उपासना मार्गों की ओर उन्मुख हो चुका था। धार्मिक ग्रन्थों, विशेषतया वेद आदि, के प्रभाव एवं उनके धर्म को छोड़कर साधारण जन एवं विशिष्ट आचार्य भी भूल-भुलैया में पड़े हुए थे। हिन्दू समाज के सुधारवादी सम्प्रदायों, विशेषतया बौद्ध एवं जैन मीमांसकों, के प्रत्युत्तर में ऐसे सबल एवं महिमामय व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जो भारतीय समाज को दिशा-निर्देश करता। स्वामी शंकराचार्य ने उस अभाव की पूर्ति की। स्वामी शंकराचार्य ने हिन्दू समाज को नई प्रेरणा से संगठित किया और 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि भारतीय दार्शनिक शब्दावली की

[1] भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ५५५।
[2] वही, पृ० ५६०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नई सम्पन्न मीमांसा की। फलस्वरूप, अद्वैत वेदान्त के सिद्धांतों को स्थिर कर एक ओर शुद्ध बुद्ध नित्ययुक्त परमात्मा की अद्वैत सत्ता का उद्घोष किया तो दूसरी ओर अवैदिक सम्प्रदायों के प्रभाव को क्षीणकर उन्हें निष्क्रिय बना दिया। उन्होंने 'प्रस्थान त्रयी' अर्थात उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र पर अपना नया भाष्य प्रस्तुत किया। उनके प्रयत्नों से उपरले स्तर के लोगों के मन पर से बौद्ध धर्म के युक्तिजाल की आस्था उठ गयी।[१] स्वामी शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त दर्शन के मंडल में अनेक मतों की आलोचना भी की थी। उनमें से एक भागवत धर्म भी था। इस धर्म का मूल्यांकन उन्होंने पांचरात्र कह कर किया। उनकी धारणा के अनुसार भागवतों का यह मत वैदिक सिद्धांतों के ठीक अनुकूल सिद्ध नहीं होता और कुछ अंशों तक अपूर्ण भी कहा जा सकता है।[२] वैष्णव धर्म का यह नवीन संस्करण इसी की प्रतिक्रिया माना जा सकता है।

भागवत भक्ति का स्वरूप अष्ठवार मत

पिछले पृष्ठों में जिस भागवत मत का संक्षिप्त परिचय दिया गया है उसके साथ ही लोक प्रचलित भागवत भक्ति के स्वरूप पर भी विचार करना अभीष्ट होगा। ऐसा प्रसिद्ध है कि भक्ति का आविर्भाव दक्षिण में हुआ है। भागवत धर्म ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग दक्षिण में फैल चुका था। 'पौराणिक' युग में जिस तंत्रोपचार विशिष्ट भक्ति का अधिक प्रचार था वह गुप्तकाल के समाप्त होते-होते उत्तरी भारत में कम दीख पड़ने लगी। वह क्रमशः दक्षिण भारत की ओर अग्रसर हुई और उसको अपनाने वाले सर्वप्रथम लोग निकले जो सम्भवतः बहुत शिक्षित नहीं थे। इन भक्तों में से अधिकांश व्यक्ति तमिल प्रांत के निवासी थे जिनका जीवन बहुत सरल था और जिनकी मुख्य साधना गीतों और भजनों के गान तक सीमित थी।[3] दूसरे शब्दों में, इसे हम भागवत प्रभाव का लोक प्रचलित रूप मान सकते हैं। मध्ययुग में धर्म सम्प्रदायों के लोक प्रभाव के सम्बन्ध में यह तथ्य विशेष रूप से दृष्टव्य है कि लोक मानस में शास्त्रों और आचार्यों के सिद्धान्तों का प्रभाव उतना नहीं हुआ जितना उसकी साधना पद्धति का। अतएव वैष्णव मत के सम्बन्ध में यहीं से दो धाराएँ हो जाती हैं। प्रथम वह लोक प्रचलित धारा है जिसे धर्म के शासकीय रूप की अपेक्षा साधनात्मक जीवन में अधिक आस्था है। प्रथम धारा के अंतर्गत अष्ठवार वैष्णव भक्त आते हैं। दूसरी धारा के प्रतिनिधि उन आचार्यों को माना जा सकता है जिन्होंने वैष्णव सम्प्रदाय को अपने पांडित्य से पुष्ट किया। इसी का लक्ष्य करते हुए श्री परशुराम चतुर्वेदी ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि आडवारों की मूल

---

१ **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५।

२ **वैष्णव धर्म**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ७०।

3 **उत्तरी भारत की संत परम्परा**, पृ० ८१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विचारधारा पर किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता का रंग नहीं चढ़ा था और उनकी उपासना बहुत कुछ स्वाभाविक जान पड़ती है किन्तु जिन आचार्यों ने उनके प्रबन्धों को विशेष महत्त्व दिया उनके विषय में भी यह बात नहीं कही जा सकती। वे आडवारों के भक्ति रस द्वारा प्रभावित अवश्य थे किन्तु उनमें अपने पांडित्य का भी बल था। वे स्वामी शंकराचार्य द्वारा उठाये गये उपर्युक्त प्रश्नों का पूरा समाधान कर देना भी अपना कर्तव्य समझा करते थे।[1] इन आडवार भक्तों की संख्या १२ है जिनका आविर्भावकाल विक्रम की दूसरी शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक माना गया है। इन्होंने अपने आध्यात्मिक अनुभवों के आधार पर पदों की रचना की जिनका संग्रह तमिल भाषा में प्रबन्धम् के नाम से संकलित हुआ है। प्रबन्धम् का संकलन १२वीं शताब्दी में वैष्णव आचार्यों द्वारा किया गया।

वैष्णव आचार्य

आडवार भक्तों की परम्परा में जिन आचार्यों ने स्वामी शंकराचार्य के मत के विरुद्ध अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की उन सभी में तीन बातें प्रधानतया प्राप्त होती हैं—(१) सभी आचार्यों ने वैदिक धर्म का आदर किया तथा उसका प्रचार किया है; (२) अवैदिक सम्प्रदायों का पूर्ण बहिष्कार किया है; तथा (३) प्रपत्ति अथवा शरणागति वाली भक्ति का उपदेश दिया है।[2] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि बारहवीं शताब्दी में जब भागवत धर्म ने नया रूप ग्रहण किया तो सबसे अधिक विरोध 'मायावाद' का किया गया। चार प्रबल सम्प्रदाय अद्वैतवाद के विरोध में आविर्भूत हुए जो आगे चलकर सम्पूर्ण भारतीय साधना के रूप को बदलने में समर्थ हुए। ये चार सम्प्रदाय हैं—रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय, मध्वाचार्य का ब्राह्म सम्प्रदाय, विष्णुस्वामी का रुद्र सम्प्रदाय, और निम्बार्काचार्य का सनकादि सम्प्रदाय। इन चारों सम्प्रदायों के दार्शनिक मत में भेद है परन्तु एक बात से वे सब सहमत हैं। वह बात मायावाद का विरोध है। दूसरी बात जो इन सब में एक है वह भगवान का अवतार धारण करना है।[3] इन सम्प्रदायों का प्रभाव हिन्दी के भक्तिकाल के सगुण साहित्य पर विशेष रूप से पड़ा है। इतना ही नहीं भारतीय चिंताधारा में वैष्णव धर्म के इन आचार्यों ने जिन स्थापनाओं को पुष्ट किया वे आज भी किसी न किसी रूप में उपलब्ध हैं। विषय की दृष्टि से इन वैष्णव सम्प्रदायों का केवल संक्षिप्त परिचय ही उपयुक्त होगा।

---

[1] वैष्णव मत, पृ० ७७।

[2] हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्मय, पृ० २५।

[3] हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४६, ४७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१) **श्री सम्प्रदाय अथवा विशिष्टाद्वैतमत**—वैष्णव आचार्यों की परम्परा में सर्वप्रथम नाम नाथमुनि का आता है। नाथमुनि का आविर्भाव नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध अथवा दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ काल में हुआ। ऐसा कहा जाता है कि सर्वप्रथम उन्होंने ही आडवार भक्तों के पदों का संकलन किया। इनकी परम्परा में पुण्डरीकाक्ष एवं राम मिश्र नामक दो अन्य आचार्य हुए। तत्पश्चात् यामुनाचार्य तथा प्रसिद्ध स्वामी रामानुजाचार्य इस सम्प्रदाय के आचार्य हुए। रामानुजाचार्य के पश्चात भी श्री सम्प्रदाय की परम्परा आगे चलती रही। इनकी चौथी या पाँचवी शिष्य परम्परा में सुप्रसिद्ध स्वामी रामानन्द हुए।[१]

आचार्य रामानुज के महान व्यक्तित्व के कारण श्री वैष्णव सम्प्रदाय की लोकप्रियता बहुत बढ़ी। उन्होंने स्वामी शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन किया तथा यह सिद्ध किया कि ब्रह्म की एकता अद्वितीय नहीं है अपितु वह चिन्मय आत्मा तथा जड़ प्रकृति से विशिष्ट है।[२] उनके मत में भी ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को माना गया है किन्तु तीनों गुणों से विशिष्ट रहने के कारण वह विशिष्टाद्वैत है। उनके अनुसार ब्रह्म पाँच रूपों में प्रकट होता है—परब्रह्म, व्यूह, वैभव, अर्चा या मूर्ति, तथा अंतर्यामी।[3] कुछ लोगों ने इस सम्प्रदाय को श्री सम्प्रदाय तथा श्री वैष्णव सम्प्रदाय नामक वर्गों में विभाजित किया है, जिनमें से दूसरे का विशेष प्रचार उत्तरी भारत के प्रान्तों में पाया जाता है।

(२) **ब्रह्म सम्प्रदाय अथवा द्वैतमत**—स्वमी शंकराचार्य के सिद्धान्तों के विरोध में माध्य सम्प्रदाय का भी प्रमुख स्थान माना गया है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आनन्दतीर्थ अथवा मध्वाचार्य थे। मध्वाचार्य के मत में न तो शंकराचार्य का अद्वैतवाद ठीक है और न रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद। उन्होंने दोनों मतों का खण्डन कर एक तीसरे मत अर्थात द्वैतवाद का प्रतिपादन और प्रचार किया। उनके द्वारा प्रवर्तित मार्ग का मूलाधार पंचभेद है। पंचभेद से तात्पर्य है—(१) ईश्वर का जीव से भेद, (२) ईश्वर का जड़ से भेद, (३) जीव का जड़ से भेद, (४) जीव का दूसरे जीव से भेद, तथा (५) एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद।[४] डा० हजारी प्रसाद का कथन है कि इस सम्प्रदाय से हिन्दी साहित्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। चैतन्य देव इसी सम्प्रदाय में पहले दीक्षित हुए थे यद्यपि बाद में प्रवर्तित उनका गौड़ वैष्णव मतवाद रुद्र सम्प्रदायान्तर्गत वल्लभाचार्य के मत से अधिक साम्य रखता है।'[५] मध्यकालीन धर्मसाधना में इस वैष्णव सम्प्रदाय की एक विशेषता यह मानी

---

[१] **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४७।

[२] **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ४६५।

[3] **स्वलीला दशादर्चा विभव व्यूह सूक्ष्मातर्यापि मेदेन**।—सर्वदर्शन संग्रह

[४] **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ५११।

[५] **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५२।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जा सकती है कि इसके अनुयायी शैव सम्प्रदाय वालों के साथ समान भाव रखा करते थे।

(३) **सनक सम्प्रदाय अथवा द्वैताद्वैत भाव**—जिन वैष्णव सम्प्रदायों ने शंकराद्वैतवाद का घोर विरोध किया था उनमें से स्वामी निम्बार्काचार्य का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। निम्बार्क स्वामी का सम्प्रदाय सनक सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा इसका दार्शनिक मतवाद द्वैताद्वैत भाव है। इसकी साम्प्रदायिक परम्परा की चर्चा करते हुए डा० बल्देव उपाध्याय का कथन है कि 'हरिगुरु स्तव माला' उल्लिखित गुरु परम्परा के अनुसार निम्बार्कमत के आद्य आचार्य हंस नारायण हैं, जो राधाकृष्ण की युगल मूर्ति के प्रतीक हैं। इन्होंने इस मत की दीक्षा सनत्कुमार को दी जो सनन्दनादि रूप से चतुर्व्यूहात्मक है। सनत्कुमार के शिष्य त्रेतायुग में प्रेमभक्ति के सर्वश्रेष्ठ उपदेशक नारदजी थे जिन्होंने इस तत्त्व को सुदर्शन चक्र के अवतार भूत निम्बार्क (सन् ११६४ के लगभग) को बताया।[1]

निम्बार्काचार्य का मत है कि जीव, जगत और ईश्वर यद्यपि तीनों भिन्न हैं तथापि जीव एवं जगत का व्यापार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है, स्वतंत्र नहीं है और परमेश्वर में ही जीव और जगत के सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं।[2] उत्तर भारत में इस सम्प्रदाय के भक्त पाये जाते हैं। इस सम्प्रदाय का एक नाममात्र का शारदा सम्प्रदाय राधावल्लभ है जिसे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि गोस्वामी हितहरिवंश ने प्रवर्तित किया था।[3]

(४) **विष्णुस्वामी सम्प्रदाय**—विष्णुस्वामी वास्तव में रामानुजाचार्य, निम्बार्क एवं मध्याचार्य इन तीनों से पहले ईसा की दशवीं शताब्दी में हुए थे परन्तु उनके सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद लक्षित होता है।[4] श्री भण्डारकर का कथन है कि वल्लभाचार्य (सन् १४७६ ई० से १५३० ई०) का वेदान्त मत विष्णु स्वामी के ही मत का अनुसरण करता है।[5] विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के मतानुसार ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है। माया ईश्वर के अधीन है। इनके सम्प्रदाय को रुद्र सम्प्रदाय भी कहा गया है।

वैष्णव मत, नाथ पंथ और संत-काव्य

वैष्णव मत के इन प्रमुख सम्प्रदायों के अतिरिक्त भी इनके अन्तर्गत अनेक मार्गों अथवा उपसम्प्रदायों का परिचय मध्ययुगीन धर्मसाधना में मिलता है जिनमें

---

[1] **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ५१२।
[2] **गीतारहस्य (हिन्दी)**—तिलक, पृ० १७।
[3] **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५४।
[4] **वैष्णव धर्म**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ६०।
[5] **वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजन**—भण्डारकर, पृ० ११०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से मुख्य हैं स्वामी वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग, चैतन्य देव का गौदीय वैष्णव सम्प्रदाय, शंकरदेव का महापुरुषिया सम्प्रदाय, स्वामी रामानन्द का रामदासी सम्प्रदाय, आदि। धर्म एवं मतों के सम्प्रदायों का वर्णन इस प्रवन्ध का हेतु नहीं है। दृष्टव्य केवल यही है कि वैष्णव भक्ति के रूप में लोकचिंता की धारा कितनी साम्प्रदायिकता एवं संकीर्णता के बाद भी जन मानस में श्रद्धा और आदर का भाव प्राप्त किये रही। इसी प्रभाव के फलस्वरूप दार्शनिक सम्प्रदायगत भक्ति भावना से पृथक अनेक पंथों एवं मतवादों का आविर्भाव मध्ययुग में हुआ, नाथ पंथ की विस्तृत पृष्ठभूमि में इनकी प्रतिक्रियाओं का विवेचन किया जा सकेगा। धार्मिक साधना ग्रहण और त्याग नीति के फलस्वरूप एक जीवित साधना मानी गयी है। जब आचारों एवं साधनाओं के साम्प्रदायिक रूढ़िवादी परम्पराओं में जन मानस खो गया था तभी कुछ एकाकी साधना को ही अंतिम लक्ष्य मानने वाले साधक ईश्वर प्राप्ति के लिए चित्तशुद्धि की आवश्यकता पर बल दे रहे थे जिसकी विस्तृत चर्चा पृथक से की जायगी। इन्हें हम नाथ पंथीय पृष्ठभूमि के जनक कह सकते हैं, किन्तु आगे चल कर योग की धारा से भिन्न जिस भक्तिवाद का स्वर संतों में मिलता है उस पर वैष्णव सम्प्रदायों का कितना प्रभाव है यह भी विचारणीय है। डा० द्विवेदी ने एक स्थल पर लिखा है कि दक्षिण में जब इस वैष्णव मूलक भक्ति का अभ्युदय हो रहा था तब उत्तर में एक शक्तिशाली योगमत का प्रादुर्भाव हुआ। आगे चल कर इस योग मार्ग का सम्बन्ध भक्ति मार्ग से हुआ और कबीरदास के द्वारा दोनों के समन्वय से एक नवीन साधना मार्ग का प्रादुर्भाव हुआ।[1]

अन्य साधनाएँ

शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों के संक्षिप्त परिचय के पश्चात् मध्ययुगीन धर्म-साधना को प्रभावित करने वाली अन्य साधनाओं पर भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा। उत्तरकालीन बौद्ध साधना का प्रभाव भारतीय चिंताधारा के निर्माण में विशेष रूप से पाया जाता है। नाथ पंथ के आविर्भाव की परिस्थितियों पर उसका अपना विशेष प्रभाव है। उस पर पृथक से विचार किया जायगा, किन्तु उत्तरबौद्ध धर्म से पृथक अनेक साधनाओं एवं मतवादों का परिचय भी मध्ययुग में मिलता है जिनका प्रभाव तात्कालिक परिस्थिति पर पड़ना स्वाभाविक है। प्रमुख रूप से वे साधना हैं—शक्ति, कापालिक तथा वामारग साधनाएं, जैन तथा आजीवक सम्प्रदाय, धर्म अथवा निरंजन मत के अनुयायी।

शाक्त, वामारग तथा कापालिक सम्प्रदाय

शाक्त—शैवमत के साथ ही शिव की सहचरी देवी की स्वतंत्र उपासना का विकास भी पुराण युग में हुआ है। डा० यदुवंशी ने अपने प्रबन्ध शैवमत में लिखा है कि रामायण महाभारत का निरीक्षण करते हुए हमने देखा था कि आर्यों से पूर्व-

---

[1] **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४०।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कालीन एक मातृदेवता का, रुद्र की सहचरी के रूप में स्वीकार किये जाने पर इस देवी के दो मुख्य रूप हो गये थे। एक ओर तो वह भक्तिवाद की सौम्यरूपा शिवपत्नि थी जिसकी उपासना भगवान शिव के साथ ही होती थी, और दूसरी ओर वह एक भयावह और शक्तिशाली देवी थी, जो उसका आदि रूप था।[१] शक्ति की उपासना अथवा शाक्त मत के उद्‌भव के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वान शाक्त मत का स्रोत वैदिक धर्म में ढूँढ़ते हैं। ब्राह्मण तंत्रों में जिस शाक्त मत की चर्चा है उसके सम्बन्ध में डा० बल्देव उपाध्याय का मत है कि शाक्त धर्म का ध्येय जीवात्मा की परमात्मा के साथ अभेद सिद्धि है। यह अद्वैतवाद का साधन मार्ग है। सच्चा शाक्त अपने को शक्ति के साथ सदा अभिन्न, शोकहीन, सच्चिदानन्द रूप तथा नित्य, मुक्त स्वभाव वाला मानता है। शक्ति का तत्त्व पूर्ण वैदिक है। 'ऋग्वेद के वागांमृणि सूक्त (१०। १२५) में जिस शक्तितत्त्व का संकेत है, शाक्त तंत्र उसी के भाष्य माने जा सकते हैं।[२]

परम्परा—किन्तु इस मत के विपरीत अनेक विद्वानों की राय है कि शाक्त या तांत्रिक मत का उद्‌भव वैदिक धर्म में ढूँढ़ने के लिए अनेक प्रयास किये गये हैं परन्तु इस सब का विफल होना अनिवार्य था, क्यों कि वैदिक धर्म में कोई ऐसी स्त्री देवता नहीं है जिसकी बाद के शाक्त मत की देवी से जरा भी समानता हो[3] 'शक्ति की उपासना का उद्‌गम अवैदिक है किन्तु धीरे-धीरे उसका सम्मिश्रण वैदिक आर्यों के साथ हो गया।[४] इस सम्बन्ध डा० यदुवंशी ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि सिन्धु घाटी के निवासियों का वैदिक आर्यों के साथ सम्भिश्रण हो जाने पर रुद्र ने सिन्धु घाटी के पुरुष देवता को आत्मसात कर लिया। इसके फलस्वरूप सिन्धु घाटी की स्त्री देवता का रुद्र की सहचरी अम्बिका के साथ तादाम्य हो गया और उसको रुद्रपत्नि माना जाने लगा। इस प्रकार भारत में देवी की उपासना आयी और शाक्तमता का सूत्रपात हुआ। शाक्तमत के सम्बन्ध में एवं अन्य धर्मसाधनाओं के सम्बन्ध में जो विवाद है वह हमारा हेतु नहीं। हमारे आलोच्य काल तक आते-आते शाक्तमत वेदोत्तर-कालीन ब्राह्मण धर्म का एक अंग बन गया था, फिर उपासना के क्षेत्र में जिस शक्ति देवता की पूजा होती थी उसका रूप अत्यंत भयानक ही मिलता है। वह क्रूर रक्त पीने वाली है तथा उसका रूप लगभग वैसा ही है जैसा कि आदिवासी जातियों द्वारा उपस्थित स्थानीय देवी-देवताओं का। उनको कभी-कभी नरबलि भी दी जाती थी।[५] श्री भण्डारकर महोदय शाक्त देवता के तीन स्वरूपों के सम्मिलित रूप को ही शाक्त-

---

१ **शैवमत**—डा० यदुवंशी पृ० ११६।

२ **हिन्दी साहित्य का** वृहत् इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० ५२४।

3 **शैवमत**—डा० यदुवंशी, पृ० ३३।

४ **वही**, पृ० ३४।

५ **वही**, पृ० ११६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मत की पृष्ठभूमि मानते हैं।[१] वे स्वरूप हैं, देवी का सामान्य रूप, भयानक रूप एवं भावित रूप। शाक्त तंत्रों में देवी की उपासना का हेतु मुख्य है। इन ग्रन्थों में देवी को सर्वश्रेष्ठ देवता माना गया है और उसी के इर्द-गिर्द शाक्तों की समस्त उपासना केन्द्रित है।

उपासना विधि

भिन्न-भिन्न तंत्रों में देवी की उपासना एवं उसके स्वरूप का वर्णन मिलता है। डा० यदुवंशी ने लिखा है कि शाक्तमत की उपासना विधि चक्रपूजा कहलाती थी, जो अपने विविध रूपों में शाक्त उपासना की सामान्य विधि थी। अपने मूलरूप में अतिशय आनन्दोप्रेम और उच्छृंखल मनविलास इस उपासना के प्रमुख अंग होते थे। इसका वर्णन कुलार्णव तंत्र में किया गया है। कालान्तर में भी इसका प्रचार शाक्त मत के वामपक्षीय अनुयायियों में बना रहा जो वामाचारी अथवा वाममार्गी कहलाते थे। इस उपासना में मैथुन को महत्त्व दिया गया है और पूजा के दौरान उपासक मदमत्त होकर उच्छृंखल विलास में लीन हो जाते थे।[२] इस उपासना पद्धति का सर्वसाधारण समाज में कभी सम्मान हुआ होगा यह एक विचारणीय प्रश्न है। प्रायः शाक्तों का लुकछिप कर अपने संस्कार करने का वर्णन मिलता है। इस अतिचार के विरोध में महानिर्वाण तंत्र में जिस परिष्कृत उपासना विधि का वर्णन है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिणाचार वाले शाक्तों का भी समाज में सम्मान हुआ है।[३]

आचार सिद्धान्त

शाक्तमत में तीन भाव तथा सात आचार हैं। भाव मानस अवस्था है तथा आचार बाहरी आचरण हैं। तीन भाव हैं—पशुभाव, वीरभाव तथा दिव्यभाव; तथा आचार हैं—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धांताचार तथा कौलाचार। भावों में साधक द्वैत से अद्वैत में प्रतिष्ठित होता है। पशुबद्ध जीव का प्रतीक है, वीर अज्ञात रज्जु को काटने वाला प्रयत्नशील साधक तथा दिव्य द्वैतभाव को मिटाकर अद्वैतानन्द का आस्वादन-कर्ता। आचारों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है:[४]

आचार	भाव
वेद, वैष्णव, शैव तथा दक्षिण	पशु
वाम तथा सिद्धांत	वीर
कौल	दिव्य

१ कलेक्टेड वर्क्स ऑफ श्री आर० जी० भंडारकर, भाग ४, पृ० २०६।

२ शैवमत—डा० यदुवंशी, पृ० १२१।

३ वही, पृ० १२२।

४ भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ५४६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भेद बुद्धि रहित अद्वैत साधक कौल कहलाता है।[१] कौलाचार का रहस्य अत्यंत गूढ़ है।

तांत्रिक आचार सम्प्रदायों की संख्या का ठीक-ठीक अनुमान करना एक दुष्कर कार्य है। तांत्रिक आचार मार्गों में दो आचार मार्ग प्रसिद्ध हैं। प्रथम है कौलाचार, तथा दूसरा है समयाचार। प्रथम की उपासना का आधार है मूलाधार चक्र या योनि की प्रत्यक्षरूपेण पूजा। कौलों के भी दो भेद हैं: (१) पूर्व कौल योनि की चित्रादि में पूजा करते हैं, तथा (२) उत्तर कौल सुन्दरी की प्रत्यक्ष योनि की पूजा करते हैं।[२] समयाचारी केवल उसकी भावना करने वाले उपासक हैं। इन तांत्रिकों की पूजा में पंचतत्त्व-साधन एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय है। इन पंचतत्त्वों में मकारादि पंचवस्तुओं की गणना है—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन। कुछ विद्वानों ने इन्हें सांकेतिक शब्द माना है जिनका अर्थ नितांत गूढ़ तथा रहस्यमय है। ये भौतिक पदार्थों के द्योतक न होकर आंतरभावों के सूचक हैं।[३] शाक्त पूजा के तीन केन्द्र हैं। काश्मीर, कांची तथा कामाख्या। काश्मीर, कांची श्री विद्या के प्रख्यात केन्द्र हैं तथा कामाख्या कौलमत का प्रधान पीठ है। शाक्त दर्शन तथा शैवों के त्रिक सम्प्रदाय के सिद्धांतों में बहुत समानता है। दोनों समन्वित अद्वैत के ही प्रतिपादक हैं।[४]

लोक प्रभाव

शाक्तमत के संक्षिप्त परिचय से उसके लोक प्रभाव की सहज कल्पना हो जाती है किन्तु उसकी साधना के अन्यान्य आचारों का प्रभाव मध्ययुगीन धर्मसाधना पर अधिक विलक्षण हुआ प्रतीत होता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की चतुर्मुखी साधना में काम का महत्त्व भी भारतीय जीवन में कम नहीं माना गया है।[५] किन्तु साधनामूलक मतवादों की व्यावहारिक एवं स्थूल परिणति का लोक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। सिद्धान्त रूप से शाक्तमत की अद्वैतवादी भूमि और उसकी तात्त्विक अनुभूति पर विचार करते हुए अनेक विद्वानों ने उसके महत्त्व की स्थापना की है। डा० बल्देव उपाध्याय का कथन है कि शिव शक्ति के मिलन का प्रयोजक और कार्यस्वरूप, वही आदि रस या श्रृङ्गार रस है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का शिव तथा शक्ति तत्त्व ही त्रिपुरा (शाक्त) सिद्धान्त में कामेश्वर तथा कामेश्वरी हैं तथा गौड़ीय वैष्णवमत में श्रीकृष्ण और राधा हैं। दोनों अभिन्न तत्त्व

---

१ कर्दपे चन्दने भिन्नं पुत्रे शमौ तथा प्रिये।
स्मशाने भवने देवि तथैद कांचने त्रणे।
न भेदो यस्य देवेशि स कौल परिकीर्तिमा ॥—भाव चूड़ामणि तंत्र (कलकत्ता)

२ कलक्टेड वर्क्स ऑफ श्री आर० जी० भंडारकर, भाग ४, पृ० २०६।

३ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० ५२५।

४ वही, पृ० ५२६।

५ काव्य कला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद, पृ० ३२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं। इसे ही शाक्तमत में सुन्दरी या त्रिपुरा सुन्दरी के नाम से अभिहित किया जाता है। उनके मत में त्रिपुरा, त्रिक तथा वैष्णव मतों का मौलिक सादृश्य है।[1] किन्तु सिद्धान्त रूप में जिस तत्त्ववाद का परिचय शाक्तमत में उपलब्ध है, अपने साधना-परक जीवन में वही तत्त्ववाद कितने अधिक स्थूल और भौतिक रूप में प्रकट हुआ है यह उसके व्यावहारिक स्वरूप से ज्ञात हो सकता है। यद्यपि युग के अनुसार आज शाक्त साधनाओं का वह स्वरूप नहीं मिलता जो मध्ययुग में प्राप्त होता है, किन्तु इसी सुखवाद और भौतिक भोगवाद की आचारहीन परम्पराओं को कभी भारतीय लोक मानस में श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखा गया। सिद्धान्त अथवा तत्त्ववाद का साधना अथवा आचार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रवृत्ति और निवृत्ति के गत्यात्मक प्रवाह में ये साधनाएँ स्थूल प्रवृत्तिवादी हैं जिनके परिष्कार की समय-समय पर आवश्यकता अनुभव हुई है। सामाजिक स्वास्थ्य के अनुरूप शाक्तों के अनेक मतों की भूरि-भूरि निन्दा हुई है। फलस्वरूप, इनके अनुयायियों की संख्या सदैव ही कम रही है तथा यही कारण है कि शाक्तमत विधर्मी और निन्दनीय समझा जाता रहा है।[2] फिर भी तन्त्र साधनाओं का विभिन्न सम्प्रदायों पर जो प्रभाव पड़ा है उसका परिचय भी प्रस्तुत प्रबन्ध के विषय को समझने में सहायक होगा।

वाममार्ग

वाममार्ग शाक्तमत का ही एक साधना पंथ माना जा सकता है। शिव के साथ सम्बद्ध होकर भी शाक्तमत के आचारों ने स्वतन्त्र रीति से अपना विकास किया है। लोक मानस में उन आचारों को निकृष्ट कोटि का समझा गया इसलिए 'वामाचार' एक रूढ़ि शब्द हो गया प्रतीत होता है जिसका तात्पर्य है अमानवीय तथा दूषित लक्षणों का आचरण। इसी मार्ग को 'वामारग' कहा गया। यह 'वामारग' शाक्त तन्त्र की सीमा को छोड़कर मध्ययुग में अधिकांश साधना पंथों के मोह का कारण हुआ। वामाचार का सम्बन्ध आचरण से तत्त्ववाद की ओर उन्मुख हुआ प्रतीत होता है। इस आचार में स्त्रियों के साथ अवाध संसर्ग मुख्य बात थी।[3] मध्ययुगीन धर्म-साधना में आचरण की शुद्धता पर विशेष लक्ष्य दिया गया है। सम्भवतः प्रत्येक साधना पंथ का साधक जब आचरण की शुद्धता का निर्वाह नहीं करता था तो उसे 'वामरगी' की उपाधि से विभूषित किया जाता था। आचरण की शुद्धता वाममार्ग की प्रतिक्रिया ही प्रतीत होती है। स्वयं शाक्तमत में जब वाममार्ग के आचरणों को समाज में निकृष्ट कोटि का देखा जाने लगा तब सुधार का प्रयत्न हुआ। शाक्तमत में सुधार करने और उसे ब्राह्मण धर्म के सिद्धान्तों और आचारों के अधिक अनुकूल बनाने के प्रयत्न पौराणिक काल में ही प्रारम्भ हो गये थे।[4] फलस्वरूप, पुराणेतर काल में

---

१ **हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास**, प्रथम खण्ड, पृ० ५२७।

२ **शैवमत**—डा० यदुवंशी, पृ० १६१।

३ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५२।

४ **शैवमत**—डा० यदुवंशी, पृ० १६०।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अधिकतर शाक्त लोग 'दक्षिणमार्गी' हो गये थे फिर भी शक्ति के उपासकों ने प्राचीन परिपाटी को नहीं छोड़ा और वे गुप्त रूप से अपनी आचारण साधना को पल्लवित करने लगे। अब इसकी परिधि केवल शाक्तमत तक ही सीमित नहीं रही। मानव की अबाध भोग प्रवृत्ति के माध्यम से रेंगती हुई समय-समय पर यह धारा शाक्तमत में तो प्रभावशाली हो ही गयी, साथ ही शैव, वैष्णव एवं अन्य ब्राह्मणेतर धर्म साधना में भी इसका प्रवेश हो गया। डा० यदुवंशी ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि वाममार्गी सिद्धान्तों से हमें पता चलता है कि जब एक दूषित मनोवृति के कारण किसी कुत्सित प्रथा को उच्च दार्शनिक सिद्धान्तों द्वारा प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है तो उसका क्या परिणाम होता है। एक सच्चे भक्त का आध्यात्मिक स्तर साधारण मनुष्यों से ऊँचा होता है। इस विश्वास को लेकर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि जो इनके मतानुयायी थे उन्हें किसी नियम संयम की अपेक्षा ही नहीं रह गयी थी, क्योंकि इनको तो सच्चा ज्ञान प्राप्त हो चुका था और ऐसे ज्ञानियों पर वह प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता नहीं रहती जो साधारण मनुष्यों के आचार-नियमन के लिए लगाये जाते हैं। अतः ये लोग चाहे जो कुछ भी करें, इन्हें पाप नहीं लगता। भक्तिजनों में वर्ण और नारी पुरुष का भेद किये बिना पूर्व समानता के सिद्धान्त को उन्होंने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में पूर्ण उच्छृङ्खलता का रूप दे दिया और उनकी उपासना का घोर से घोर अनाचार होने लगा।[१]

वाममार्गी साधना के सिद्धान्त सूत्र हमें प्रायः क्षीणरूप में तान्त्रिक धर्म में ही उपलब्ध होते हैं। डा० बल्देव उपाध्याय ने तान्त्रिक धर्म का विवेचन करते हुए एक स्थल पर लिखा है कि जीवन के प्रति तन्त्र की एक विशिष्ट दृष्टि है। तन्त्र मानव की सम्पूर्णता और समग्रता का पक्षपाती है। मनुष्य स्वभावतः युगल रूप है। न पुरुष नारी (या शक्ति या मुद्रा) के बिना पूर्णता पा सकता है और न नारी पुरुष के बिना। इन दोनों का सामंजस्य आध्यात्मिक विकास की पूर्णता के लिए तन्त्रों में अभीष्ट है। तांत्रिक भाषा में इनका नाम है युगनद्ध (अर्थात संयोजन, एकत्र)। तान्त्रिक पूजा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित है।[२] फलस्वरूप, यदि वाममार्ग अपने तत्त्ववाद से हटकर व्यवहारवाद की कोटि में पहुँचा तो उसने दो ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया होगा—(१) वर्णभेद का समूल नाश, तथा (२) यौनभेद को मिटाकर उच्छृंखल यौन सम्बन्धों का विधान। वाममार्ग की पृष्ठभूमि में शाक्तों के सामरस्य का आधार था अथवा बौद्धों के शून्यवाद का, इस सम्बन्ध में आज कोई निश्चित उत्तर प्राप्त नहीं है। वाममार्गी साधना का लोकव्यापी प्रभाव केवल किसी धर्माचार के सहारे ही सम्भव था किन्तु शाक्तमत के क्रमिक विकास को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस साधना का कभी स्वागत नहीं किया गया, इन साधकों ने अपनी साधना छिप-

---

१ शैवमत—डा० यदुवंशी, पृ० १६१।
२ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास—प्रथम खण्ड, पृ० ५०२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छिप कर करना प्रारम्भ की तथा गुह्य रूप में भी साधना करते रहने पर वाममार्गियों को सदैव ही विधर्मी और निन्दनीय समझा जाता था। बुद्ध धर्म के पतन के काल में तथा शैव और शाक्त सम्प्रदायों के विस्तार युग में वाममार्ग की साधना का प्रभाव कभी तीव्र एवं कभी प्रायः क्षणिक भी हुआ दिखाई पड़ता है। स्वामी शंकराचार्य से वाममार्गियों की भेंट हुई थी। विद्याख्य ग्रन्थ में जो वर्णन उपलब्ध हैं उनके अनुसार वे लोग पाखण्डी थे जो पार्वती की उपासना करने का बहाना करते थे परन्तु वे केवल सुरापान के वृती थे और द्विजों द्वारा बहिष्कृत थे।[१] आगे चलकर नवीं-दसवीं शताब्दी में गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के वाममार्ग से चले जाने की किंवदंतियाँ बहुप्रचलित रूप में उपलब्ध होती हैं तथा उनके शिष्य गोरक्षनाथ ने वाममार्ग से निकालकर पुनः सिद्ध मार्ग में उन्हें प्रविष्ठ किया था, यह लोक सामान्य विश्वास है।[२] डा० द्विवेदी का कथन है कि किंवदन्तियों से यह भी प्रगट होता है कि वाममार्गी लोग गोरक्षनाथ को भी अपने मार्ग में ले जाना चाहते थे किन्तु वे सफल न हो सके। गुरु गोरक्षनाथ की संयम और सदाचार की कठोर साधना ने वाममार्ग को पनपने न दिया किन्तु विद्वानों का मत है कि वर्तमान रूप में जिस नाथ पंथ से हमारा आशय है उसमें वाममार्ग को स्थान है। ब्रिग्स ने बताया है कि कनफटायोगी लिंग और योनि की पूजा करते हैं और विश्वास करते हैं कि वासना को दबाना साधन मार्ग का परिपंथी है, वे स्त्री को पुरुष का परिणाम मानते हैं और इसलिए वामाचार साधना को बहुत महत्त्व दिया जाता है। चक्रपूजा, जिसे मत्स्येन्द्रनाथ ने बार-बार कौलज्ञान निर्णय में विवृत किया है, अब भी वर्तमान है, सर्वत्र इस साधना को रहस्यमय और गोप्य समझा जाता है।[3] गोरक्षमत अथवा नाथ पंथ के संदर्भ में इस पर पृथक से विचार किया जायगा। संक्षेप में, वाममार्ग की साधना का यही स्वरूप मध्ययुग में था तथा भारतीय चिन्ता को प्रभावित करने में यह मार्ग भी अपना कुछ कम स्थान नहीं रखता है।

कापालिक मत

कापालिक मत शैवमत का ही एक साधना मार्ग है अथवा वज्रयानी बौद्ध साधना का एक प्रकार है, इस सम्बन्ध में विद्वानों के पृथक-पृथक मत हैं। डा० यदुवंशी का मत है कि महाभारत काल में ही हमें शिव की कापालिक रूप से आराधना करने के सम्बन्ध में कथाएँ मिलती हैं। कापालिक आराधना को साधारणतया निन्द्य समझा जाता था परन्तु लुके-छिपे शिव के कापालिक रूप के उपासकों में कुछ लोग इस प्रथा का अनुसरण करते थे।[४] कापालिक लोग शिव के 'कपाली' रूप की आराधना करते हैं। इस रूप में शिव की आकृति भयावह है। उनको 'किरात', 'रुद्र'

---

१ **शाक्तमत**—डा० यदुवंशी, पृ० १६१।

२ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५८।

३ **वही**, पृ० ७३।

४ **शाक्तमत**—डा० यदुवंशी, पृ० ७४।

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

और 'क्रूर' कहा गया है, उनकी जिह्वा और दंष्ट्र बाहर निकले हुए हैं और वे सब प्रकार से 'भीषण' हैं। वे सर्वथा वस्त्र विहीन हैं और इसी से उनको दिगम्बर की उपाधि मिली है। उनके समस्त शरीर पर भभूत मली हुई है। वे हाथ में कपाल का कमण्डल लिए विचरते हैं, उनके गले में नरमुण्डों की माला है। श्मशान उनकी प्रिय विहार भूमि है। शिव की इस रूप में आराधना करने वालों का एक निश्चित सम्प्रदाय बन गया, कालान्तर में जो कापालिक कहलाये।[१] कापालिक मत में छः मुद्राओं के धारण करने से अपवर्ग की उपलब्धि होती है—कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म, और यज्ञोपवीत। इनके साथ अनेक गुप्त क्रियाओं का विधान किया जाता है।[२] डा० द्विवेदी ने लिखा है कि अन्यान्य तान्त्रिकों की भाँति कापालिक लोग भी विश्वास करते थे कि परम शिव ज्ञेय हैं। उपास्य हैं, उनकी शक्ति और तद्युक्त अपर या सगुण शिव।[3] दसवीं शताब्दी के आसपास कापालिकों का जो वर्णन उपलब्ध है उसमें कहा गया है कि वे मद्यपान करते हैं, स्त्रियों के साथ विहार करते हैं और सहज ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। शैव कापालिकों के वर्णन तो मिलते हैं किन्तु तान्त्रिकों के प्रसिद्ध पीठ श्रीपर्वत पर एक साथ ही शैव, शाक्त और बौद्ध साधनाएँ पास ही पास फूल रही थीं, ऐसी स्थिति में बौद्ध कापालिक मत भी उस समय प्रचलित रहा होगा। डा० द्विवेदी का मत है कि वज्रयानी कापालिक मत निसन्देह ही नाथ पंथ का पुरोवर्ती होने योग्य है, आज जो साहित्य जालन्धरनाथ और कृष्णचन्द का उपलब्ध है वह सब वज्रयानियों की मध्यस्थता से प्राप्त हुआ है।[४]

उत्तर बौद्ध धर्म में यक्ष पूजा का क्या स्थान हो गया था तथा उसने बौद्ध साधना को किस सीमा तक प्रभावित किया इसका एक विस्तृत इतिहास है। वज्रयानी साधना में कापालिक शब्द की मूल व्युत्पत्ति इस प्रकार है। प्राणी वज्रधर है, जगत की स्त्रियाँ कपालवनिता हैं (अर्थात् कापालिनी हैं) और साधक हेरुक भगवान की मूर्ति हैं जो उससे अभिन्न हैं। स्त्री जन साध्य होने के कारण ही यह साधना कापालिक कही गयी है।[५] शैव और बौद्ध दोनों साधनाओं में स्त्री की सहायता आवश्यक थी ऐसा प्रतीत होता है। आगे चलकर इस साधना ने नाथ पंथ को प्रभावित किया है। नाथ पंथ के वज्रोली नामक मुद्रा सम्भवतः इसी की देन है किन्तु गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित योग मार्ग से यह साधना निश्चित पृथक है और नाथ पंथ में आगे चलकर जितने सम्प्रदाय मिले हैं, सम्भवतः इस साधना के सूत्र भी रेंगते हुए पहुँचे होंगे। इस

---

१ **शैवमत**—डा० यदुवंशी, पृ० १०७।

२ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ५८५।

3 **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४१।

४ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ८२।

५ **वही**, पृ० ८४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार कापालिक साधना के दो रूप उपलब्ध होते हैं। एक है शैव रूप तथा दूसरा है वज्रयानी रूप। गोरक्षनाथ के समकालीन सिद्धों में जालंधरपाद और उनके शिष्य कृष्णपाद वज्रयानी कापालिक साधक थे जो सहजानन्द और महासुखवाद के उपासक थे। डा० द्विवेदी का मत है कि यह सुखवाद शैव तांत्रिकों के सहजानन्द के बहुत नजदीक है इसलिए आश्चर्य नहीं कि जालंधरपाद को परवर्ती साहित्य में शैव सिद्ध मान लिया गया है।[१] मूलरूप में गोरक्षनाथ ने जिस कामोपयोग की साधना का तीव्र विरोध किया था वह वज्रयानी कापालिक साधना थी यद्यपि भावाभाव विमुक्तावस्था को अपनी साधना का चरम लक्ष्य मानने वाले नाथपंथी भी आगे चलकर उससे प्रभावित हुए। संक्षेप में, यहाँ कापालिक मत का इतना ही परिचय अपेक्षित है।

जैन तथा आजीवक सम्प्रदाय

आजीवक सम्प्रदाय--मध्ययुग की धर्मसाधना के मूल स्रोतों को अभी तक तांत्रिक प्रभावों; मुख्यतः शैव, वैष्णव, शाक्त; तथा उसकी साधना पद्धति से प्रभावित मतवादों में खोजने का प्रयत्न किया गया है किन्तु कर्मप्रधान वैदिक साधना के समानान्तर जिस श्रमण साधना का तथा अन्य आजीवक सम्प्रदायों का रूप प्राप्त होता है उसका परिचय भी प्राप्त कर लेना उपयुक्त होगा। मध्ययुग में तन्त्रों का प्रभाव समस्त भारतीय चिंताधाराओं पर समान रूप से पड़ा है। विद्वानों द्वारा जैन तन्त्रों को अब्राह्मण कोटि के तन्त्रों में ठहराया गया है।[२] किन्तु वैदिक हो अथवा अवैदिक, तंत्र साधना ने भारतीय जीवन को बहुत अधिक प्रभावित किया है यह निश्चित है।[३] जैन साधना का सम्बन्ध अनेक विद्वान् उन आजीवक तथा व्रात्य सम्प्रदायों से मानते हैं जो आर्यों के ही वंशज थे किन्तु जिन्होंने आत्मवाद और यज्ञ वाली विचारधारा को स्वीकार नहीं किया था।[४] ये आजीवक सम्प्रदाय कालान्तर में व्यवस्थित मतवादों में परिवर्तित हो गये। जैन मत का आजीवक सम्प्रदायों से क्या सम्बन्ध था यह पृथक विवेचन का विषय है, किन्तु जब महावीर स्वामी के द्वारा जैन मत का व्यवस्थित रूप प्रकट हुआ तब अनेक आजीवक सम्प्रदायों का परिचय प्राप्त होता है। इन आजीवक सम्प्रदायों को बुद्ध से प्रतिद्वन्द्विता भी करनी पड़ी, यह भी सर्वसम्मत है।[५]

आजीवक नियतिवादी सम्प्रदाय था, महावीर स्वामी के समकालीन इस सम्प्रदाय के आचार्य भक्खलिगोसाल हुए यह प्रसिद्ध है। इसका कोई साहित्य आज

---

१ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ९० ।

२ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ५४९ ।

३ **मध्ययुगीन धर्मसाधना**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २९ ।

४ **काव्य कला तथा अन्य निबन्ध**—जयशंकर प्रसाद, पृ० ३६ ।

५ वही, पृ० ३७ ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उपलब्ध नहीं है। महाभारत के शांति पर्व में इन आजीवकों के पाँच सिद्धान्त बताये गये हैं—सर्वसाम्य, अनायास, सत्यवाक्य, कर्म के प्रति नितांत उपेक्षा, और आत्मा आदि के ज्ञान के विषय में बौद्धिक प्रयत्न का भी परित्याग। ये सम्पूर्ण मानुषी प्रयासों का खण्डन करते थे। पंतजलि के अनुसार इनका मत था कर्म मत करो, बिलकुल कर्म मत करो, शांति से ही मोक्ष मिलेगा। ब्राह्मण दर्शन कर्म करने पर आधारित था। उन्होंने देखा था कि बिना कर्म किये शरीर-यात्रा ही नहीं चलती। आजीवकां ने इसी कर्म की मुक्ति के लिए कर्म का ही त्याग कर दिया।[1]

विश्वधर्म दर्शन में लिखा है कि विक्रम के अष्टम शतक में ये लोग अपना स्वतन्त्र सम्प्रदाय खो बैठे और धीरे-धीरे शैवों तथा वैष्णवों के सम्प्रदाय में घुलमिल गये।[2] आजीवक सम्प्रदाय के इस अत्यंत संक्षिप्त परिचय से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि भारतीय चिंताधारा में जहाँ सामाजिक और धार्मिक बन्धनों का प्राबल्य है वहाँ उससे मुक्त होने के प्रयत्न भी विद्यमान हैं यद्यपि इन प्रयत्नों का स्वरूप भी आगे चलकर किसी-न-किसी सम्प्रदाय में परिणत हो गया। अपने युग की धर्मसाधना को लोकाभिमुख करने में इनका भी कुछ-न-कुछ योग अवश्य रहा होगा।

जैनमत—कुछ विद्वानों की धारणा है कि कर्मप्रधान वैदिक साधना और संस्कृति के समानांतर एक निवृतिवादी श्रमण संस्कृति भी प्रारम्भिक युग से इस देश में प्रवाहित रही है। उस संस्कृति का प्राचीनतम संदेशवाहक है जैनधर्म तथा जैनदर्शन।[3] ऐतिहासिक आधारों पर इस मत का आविर्भाव काल विक्रम पूर्व अष्टम शतक स्वीकार किया जा सकता है। जैन मत के आविर्भाव की पृष्ठभूमि भी क्रिया-प्रतिक्रियावाद की पृष्ठभूमि ही प्रतीत होती है। वैदिक कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के प्रति जिन लोगों में तीव्र विरोध की भावना उत्पन्न हुई थी वे अक्रियावादी होते गये जैसा कि हमने आवीवक सम्प्रदाय के सम्बन्ध में विचार करते हुए प्रकट किया है। इसके उत्तर में जैनमत ने क्रियावाद का समर्थन किया तथा लोक जीवन को अपनी ओर आकृष्ट कर नये मतवाद की सृष्टि की। महावीर वर्धमान इस धर्म के अंतिम तीर्थंकर हुए तथा श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदाय आज भी विशेष प्रचलित माने जाते हैं।

अनात्मवाद को स्वीकार करते हुए भी विश्वप्रेम से जैनमत का अनात्मवाद अनुप्राणित है। जैनदर्शन स्याद्वाद अथवा अनेकान्यवाद पर टिका हुआ है। इसी को सप्त भंगीनय तथा सापेक्षवाद के नाम से सम्बोधित किया गया है। जैनमत के अनुसार प्रत्येक पदार्थ की सापेक्ष्य सत्ता होती है। जैनदर्शन ने अपनी चिंताधारा की गहराई तक स्पर्श किया है, फलस्वरूप, वस्तु, द्रव्य, जीव, अजीव, जिसके अंतर्गत पुद्गल, आकाश

---

[1] मध्य भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० २५२, २५३।
[2] विश्वधर्म दर्शन—श्री सांवलिया विहारी लाल वर्मा, पृ० ११८।
[3] हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० ४३६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तथा काल, धर्म और धर्म का सविस्तार परिचय प्राप्त होता है। मोक्ष के साधनों में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् चरित्र को रत्न त्रय की संज्ञा दी गयी है। वास्तव में जैनमत आरम्भ में धर्मसाधना का ही एक रूप होगा, उसके दर्शन पक्ष का विस्तार बाद में हुआ। उसके विस्तृत विवेचन की यहाँ आवश्यकता भी नहीं है। दृष्टव्य केवल यही है कि मध्ययुग तक आते-आते जैनमत पर भी तंत्र साधना का प्रभाव हुआ तथा उसके अनेक सम्प्रदायों ने उसे किसी-न-किसी रूप में स्वीकार कर लिया। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि आठवीं-नवीं शताब्दी में एक प्रसिद्ध जैन मार्गी संत हो गये हैं। उनकी अपभ्रंश की रचनाओं में वे सभी विशेषताएँ पायी जाती हैं जो उस युग के बौद्ध, शैव, शाक्त आदि योगियों और तांत्रिकों के ग्रंथ में प्राप्त होती हैं। वाह्याचार का विरोध, चितशुद्धि पर जोर देना, शरीर को ही समस्त साधना का आधार समझना और समरसीभाव से स्वसंवेदन आनन्द का उपभोग जिससे जीवन निष्कुंचुक होकर शिव हो जाता है, उस युग की साधना की विशेषताएँ हैं। अत्यंत कट्टर जैन साधक भी भिन्न मार्ग से चलते हुए इसी परमसत्य तक पहुँचे थे।[1]

जैनमत ने जिन अंशों में तात्कालिक परिस्थितियों को प्रभावित किया होगा उसी प्रकार जैनमत भी अनेक अंशों में प्रभावित हुआ है। कुछ विद्वानों का मत है कि मध्ययुग के जैन शाक्तमत के 'सारस्वत कल्प' को मानते हैं तथा षोडश विद्या व्यूह की मान्यता जैन धर्म में है, तांत्रिक दिगम्बरों की कल्पना कापालिकों के साथ भी की गयी है।[2]

उत्तरकालीन बौद्ध धर्म तथा तांत्रिक उपासना

बौद्ध सिद्धांतों का विवेचन—वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया ने अनेक आचार-मार्गी धर्मों को जन्म दिया तथा इन धर्मों की लोक-मंगला प्रवृत्ति के अनुसार भारतीय चिंताधारा ने नये उन्मेश के साथ जिन साधनाओं को अपनाया वे हमारी सांस्कृतिक धरोहर मानी जायेंगी। बौद्ध धर्म भी हिन्दू धर्म की एक इसी प्रकार की प्रतिक्रिया है। "इस धर्म के संस्थापक भगवान बुद्ध (४४८ ई० पूर्व) संसार की एक दिव्य विभूति थे तथा अपने युग की परिस्थितियों के अनुरूप उन्होंने जिस धर्म का चक्र प्रवर्तन किया वह इतना सजीव, इतना व्यावहारिक तथा इतना मंगलमय है कि उसकी शीतल छाया में करोड़ों प्राणी आज भी भवसंताप से मुक्ति पाते हैं, अपने जीवन को कल्याणमय बनाते हैं तथा मानव जीवन की कृतकृत्यता प्राप्त करते हैं।"[3] बुद्ध धर्म मुख्यतः आचार प्रधान धर्म है। बुद्ध की शिक्षाओं से गठित यह धर्म आगे चल कर कितने सम्प्रदायों और यानों में बदल गया, यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। लोक धर्म से अनुप्राणित होता हुआ भगवान बुद्ध का यह मार्ग हीनयान, महायान, सहजयान, वज्रयान, मंत्रयान

---

१ **मध्ययुगीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४४।

२ **हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास**, प्रथम खण्ड, पृ० ४४५।

३ **वही**, पृ० ४४६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आदि अनेक स्वरूपों को प्राप्त हुआ, यद्यपि युग विशेष की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कभी-कभी विद्वानों ने ऐसा अनुभव किया कि बुद्ध परवर्ती यह साधना बौद्धेतर ता नहीं है तथापि भारतीय चिंताधारा के विकास क्रम को देखते हुए उत्तरबौद्ध धर्म के बीज हमें मध्ययुग तथा उसके पूर्व ही स्पष्ट गोचर हो जाते हैं। नाथ पंथ के आविर्भाव की परिस्थितियों के निर्माण में बौद्ध धर्म का भी महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है अत-एवं बौद्ध चिंता का संक्षिप्त परिचय तथा उत्तरकालीन बौद्ध साधना के क्रमिक विकास के सम्बन्ध में भी विचार किया जाना आवश्यक है।

बुद्ध के उपदेश मौखिक ही होते थे इसलिए बुद्ध के निर्वाण काल में आचार दर्शन में विभिन्नता हो आना स्वाभाविक बात है। बौद्ध भिक्षुओं की प्रथम संगीति (सम्मेलन) राजगृह के निकट की पर्वत श्रृंखलाओं में सत्पन्ती की गुफा में महाराज बिंबसार के पुत्र अजातशत्रु के संरक्षण में हुई।[१] महाकाश्यप के सभापतित्व में होने वाली उस संगीति में उपलि द्वारा विनय के दस नियम, काश्यप द्वारा अभिधम्य भाग तथा आनन्द द्वारा सुत्त भाग उपस्थित किया गया। अवान्तरकाल में इन्हीं निम्न तीन पिटकों का संग्रह तथा निर्माण किया गया जो बौद्ध धर्म के सर्वस्व कहे जा सकते हैं।[२] वे हैं : (१) विनय पिटक, (२) अभिधम्म पिटक, तथा (३) सुत्त पिटक। विनय पिटक के अंतर्गत आचार सम्बन्धी ग्रंथ, अभिधम्म पिटक में दार्शनिक विषयों के विवेचनात्मक ग्रंथ तथा सुत्त पिटक में बुद्ध के उपदेश ग्रंथों का समावेश है।

भगवान बुद्ध ने आचार मार्ग के लिए वैराग्य, उपशम, अभिज्ञा (लोकोत्तर ज्ञान), संबोध (परम ज्ञान) तथा निर्वाण (आत्यान्तिकी दुःख निवृत्ति) के उत्पन्न करने में साधक न होने से उन्हें अव्यावृत (व्याकरण कथन के अयोग्य) बताया।[3] बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का उद्‌घाटन किया। वे हैं :(१) दुःख, (२) दुःख समुदय, (३), दुःख निरोध, (४) दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद्। डा० बल्देव उपाध्याय ने लिखा है कि सत्यों की संख्या अनन्त है परन्तु अत्यधिक महत्त्व रखने से ही सत्य चतुष्ट्य सर्वश्रेष्ठ हैं। चन्द्रकीर्ति के कथनानुसार इस सत्य को आर्य कहने का अभिप्राय यह है कि आर्य (विद्वज्जन) लोग ही इन सत्यों की तह तक पहुँचते हैं। पामर जन जीते हैं, मरते हैं तथा दुःखमय जगत का अनुभव प्रतिक्षण करने पर भी इन सत्यों तक नहीं पहुँच पाते।[४] दुःख की सत्ता है यह एक लौकिक सत्य है। दुःख के कारण अनेक है। बौद्ध आचार ग्रंथों में इसकी संज्ञा द्वादश निदान के रूप में उपलब्ध होती है। वे हैं :(१) जरामरण, (२) जाति, (३) भव, (४) उपादान, (५) तृष्णा, (६) वेदना, (७) स्पर्श, (८) षडायतन, (९) नामरूप,

---

१ सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, पृ० १०२।

२ भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० १७९।

3 वही, पृ० १८१।

४ वही, पृ० १८०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१०) विज्ञान, (११) संस्कार, (१२) अविद्या । द्वादश निदानों को 'प्रतीत्य समुत्पाद' भी कहा गया है । यह बुद्ध धर्म का मौलिक सिद्धांत माना जाता है । इसका अर्थ है प्रतीत्य (प्रति+इ) (जाना+ल्यप्) किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर, समुत्पाद अन्य वस्तु की उत्पत्ति अर्थात् आपेक्ष कारणतावाद । प्रतीत्य समुत्पाद बुद्ध सम्मत कारणवाद है ।[1] सब दुःखों का कारण अविद्या है । अविद्या का विद्या के द्वारा निरोध कर देने पर दुःखनिरोध हो जाता है । दुःखनिरोध ही निर्वाण है तथा दुःखनिरोध गामिनी प्रतिपद् अर्थात् निर्वाण मार्ग ही भवचक्र से निर्वाण का श्रेष्ठमार्ग है सुखवादियों एवं तपवादियों के मध्य दोनों छोरों को छोड़ कर भगवान बुद्ध ने 'मध्यम प्रतिपदा' की खोज की। इस प्रतिपद को 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' भी कहा गया है । आठ अंगों का विवरण निम्नलिखित रूप में प्राप्त होता है :

(१) सम्यक् ज्ञान (आर्य सत्यों का तत्त्वज्ञान) ।
(२) सम्यक् संकल्प (दृढ़ निश्चय) ।
(३) सम्यक् वचन (सत्य वचन) ।
(४) सम्यक् कर्मान्त (हिंसा, द्रोह दुराचरण हित कर्म) ।
(५) सम्यक् आजीव (न्यायपूर्ण जीविका) ।
(६) सम्यक् व्यायाम (बुराइयों को न उत्पन्न होने देना तथा भलाई के वास्ते सतत् उद्योग करना) ।
(७) सम्यक् स्मृति (चित्त, शरीर, वेदना आदि अशुचि, अन्यि रूप की उपलब्धि और लोभ आदि चिन्ता संताप से अलग हटना) ।
(८) सम्यक् समाधि (रोग-द्वेषादि द्वन्द्व के विनाश से उत्पन्न चित्त की शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रता) ।

इस अष्टांगिक मार्ग के यथार्थ सेवन से प्रज्ञा का उदय होता है और निर्वाण की सद्यः प्राप्ति हो जाती है ।[2] बौद्ध दर्शन में तीन साधनों पर विशेष बल दिया गया है : (१) शील, (२) समाधि और (३) प्रज्ञा । इस प्रकार भगवान बुद्ध की शिक्षा का एक मात्र दिशा चित्तपरिशोधन की तथा सम्यक् आचरण की प्रतीत होती है । बुद्ध वाणी एक आचार सूत्र में कहा गया है :

सब्ब पापस्य अकरणंकुलसलस्य उपसम्पदा ।
सचित परियोवपनं एतं बुद्धान सासनं ॥[3]

---

[1] भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० १८२ ।
[2] वही, पृ० १८३ ।
[3] धम्मपद ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समस्त पापों को न करना, पुण्य का संचय तथा अपने चित्त[1] की परिशुद्धि यही बुद्ध का अनुशासन है।

बुद्ध की इन आचार प्रधान शिक्षाओं के आधार पर दो दार्शनिक तथ्य विशेष रूप से विचारणीय हैं : (१) नैरात्म्यवाद (संभातवाद), तथा (२) परिणामवाद (संघातवाद)। नैरात्म्यवाद के अनुसार आत्मा का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान इन पंचस्कन्धों के अतिरिक्त आत्मा के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं किया गया है। भूत तथा भौतिक पदार्थ को 'रूप', किसी वस्तु के साक्षात्कार को 'संज्ञा', तज्जन्य सुख-दुःख तथा उदासीनता के भाव को 'वेदना', अतीत अनुभव के द्वारा उत्पाद्य और स्मृति के कारण भूत सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्ति को 'संस्कार' तथा चैतन्य को 'विज्ञान' के नाम से पुकारते हैं। व्यक्ति के इन्हीं पंचस्कन्धों का संभात होने से यह सिद्धांत संभातवाद या नैरात्म्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है।[2] विश्व में परिणाम ही सत्य है, इसी आधार पर परिणामवाद भी बुद्ध की आचार शिक्षा का प्रधान दर्शन है। वर्तमान मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक विद्वानों ने बुद्ध दर्शन के इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर अनेक स्थापनाएँ संसार के सामने रखी हैं ऐसा अनेक विद्वानों का मत है।

बौद्ध सम्प्रदायों का उदय

आचारों की जिस शुद्धता एवं कर्मकाण्ड की जिस कठोरता को लेकर बुद्ध की चिंताधारा लोक में प्रभावी हो रही थी उतना ही विद्रोह का स्वर श्रमणों के मध्य उठना प्रारम्भ हो गया था। संसार के इतिहास में नियमन और अनियमन के प्रयत्न की प्रतिक्रिया सतत् वर्तमान रहती है। ऐसा प्रसिद्ध है कि बुद्ध के जीवन काल में ही इन कठोर नियमों के उल्लंघन के प्रयत्न प्रारम्भ हो गये थे। बहुत-से स्थानों में ऐसे बौद्ध भिक्षु थे जो संघों के नियम का उल्लंघन कर पत्नियों, कन्याओं, तरुणियों और तरुण दासियों को पुष्पोपहार भेजते थे। उनके साथ आसन पर बैठते थे तथा मद्यपान करते थे, नृत्य करते थे, गीत गाते थे और वाद्य यंत्रों का प्रयोग करते थे। भगवान बुद्ध को जब यह ज्ञात हुआ तो वे बहुत दुःखी हुए। ऐसे भिक्षुओं को लोग आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे।[3] नियमों की कठोरता से जब मानव अपने आपको सम्बद्ध नहीं कर पाता तब स्वभावतः वह नियमों को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। बुद्ध के अनुयायी प्रारम्भ में जंगलों एवं गुफाओं में रहते थे, भिक्षा उनकी आजीविका हुआ करती थी और उन्हें भिक्षु कहा जाता था। विनयपिटक के अंतर्गत उनके विनय के १० नियमों का संग्रह किया गया।[4] प्रव्रज्या धारण करते समय में उन दस

---

[1] बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग—भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ४६२।

[2] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम खण्ड—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ४४८।

[3] सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, पृ० १०२।

[4] हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ इण्डियन पीपुल, भाग २, पृ० ३७५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नियमों का कठोरता से पालन करने का आश्वासन उन्हें भिक्षु संघ को देना पड़ता था तथा प्रति पन्द्रह दिन में 'उपोस्था' अथवा चर्चागोष्ठी में उपस्थित होकर प्रत्येक भिक्षु को अपने आचरणों के सम्बन्ध में स्वीकारोक्ति करनी पड़ती थी। नियमों के पालन न कर सकने की स्थिति में अधिकारियों द्वारा दण्ड की व्यवस्था भी थी।[1] ऐसी कठोर व्यवस्था में भिक्षुओं में विद्रोह के बीज उत्पन्न हो जाना तथा नियमों को उदार बनाने का विचार मन में आना स्वाभाविक ही माना जायगा। ऐसा विद्वानों का मत है कि विद्रोह का सूत्रपात वैशाली के वज्जि भिक्षुओं द्वारा किया गया था जिन्होंने १० नियमों के स्थान पर १० सिद्धांतों को बनाकर उसके अनुरूप सोना, चाँदी, रस आदि ग्रहण करने की स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी। नियमों के प्रति उदार भावना की इच्छा करने वाले लोकधर्मी भिक्षुओं तथा नियमों की रूढ़िवादिता को दृढ़ता से पालन करने वाले बौद्ध भिक्षुओं की विचार विभिन्नता के फलस्वरूप बौद्ध धर्म आगे चलकर अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। ई० पू० ३८६ में वैशाली में बुद्ध निर्वाण के सौ वर्ष पीछे द्वितीय संगीति हुई जिसमें वज्जि भिक्षुओं के नियम गर्हित माने गये तथा महास्थविरों की जीत हुई। उन्होंने इनको अधर्मवादी और पापभिक्षु के नाम से पुकारा। किन्तु फिर भी पूर्वीय भिक्षुओं की संख्या बहुत अधिक थी। वे महास्थविरों के निर्णय के आगे झुकने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। यहीं से बौद्ध धर्म के दो दल होगये जिनमें एक स्थविरवादी या थेरवादी और दूसरा महासांघिक कहलाने लगा। कुछ विद्वानों ने यह विवाद ट्यूरीनियन और भारतीय बौद्ध भिक्षुओं के मध्य माना है तथा उसी के आधार पर महायान धर्म के सूत्र खोजे हैं किन्तु उसके सम्बन्ध में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते।[2] बौद्ध संघ में फूट पड़ जाने के फलस्वरूप विभिन्न सम्प्रदाय उठ खड़े हुए और तृतीय संगीति (२४२ ई० पू०) जो मौर्य सम्राट् अशोक के राज्य-काल में राजपुत्र तिसमोग्गलि की अध्यक्षता में हुई थी उसमें बौद्ध धर्म का स्वरूप निर्धारित हुआ। उस समय तक बौद्धमत के १८ निकायों का उल्लेख मिलता है[3] जिनमें से दो सर्वप्रचलित मत महायान और हीनयान के नाम से उल्लेखनीय हैं।

महायान का उद्भव

अशोक की मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत में बौद्धों को राज्याश्रय प्राप्त न हो सका। इतिहासकारों का मत है कि बौद्ध धर्म के विरुद्ध जिस निर्मम दमन को तत्कालीन शुंग पुष्पमित्र ने अपनाया था उसके फलस्वरूप बौद्ध भिक्षु उत्तरभारत से

---

१ हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ इण्डियन पीपुल, भाग २, पृ० ३७५।

२ बौद्ध दर्शन तथा अय भारतीय दर्शन—भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ५४९।

३ वही, पृ० ५५०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भागकर दक्षिण में आन्ध्र देश तथा पचिमोत्तर में मिलिन्द के आश्रय में चले गये।[१] आन्ध्र के महासांघिक दल अनेक निकायों में बँट गये। उसी के एक वैपुल्यवादी और उसके आधारभूत निकाय अंधक निकाय से महायान का जन्म हुआ।[२] ईसा की पहली शताब्दी तक महायान शब्द का प्रचार हो चुका था। बौद्धों की चतुर्थ संगीति जो कनिष्क के समय में १४० ई० के लगभग हुई, उसमें अनेक महायान धर्मी भिक्षु सम्मिलित हुए थे। महायान धर्म के आविर्भावकाल की भारतीय चिन्ता की परिस्थितियाँ जैसा कि हमने विभिन्न मत एवं साधना पद्धतियों के परिचय में देखा है, एकसी ही हैं। साधना और आचारमूलक बौद्ध धर्म के ही अंगीभूत सम्प्रदाय 'वैपुल्यवादियों' ने ऐसे अनेक सिद्धान्त प्रचलित किये जिन्हें कुछ विद्वान क्रांतिकारी मानते हैं।[३] किन्तु वास्तव में उन सिद्धान्तों का सम्बन्ध केवल बौद्ध धर्म से न होकर मानव की उस प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति से है जिसके घात-प्रतिघात के परिणामों से मानव संस्कृति का निर्माण हुआ है। संयम और चित्तशुद्धि के स्थान पर वैपुल्यवादियों ने तीन सिद्धान्त प्रचारित किये: (१) संघ न दान ग्रहण करता है, न उसका परिशोधन करता है; (२) न बुद्ध ने अवतार लिया और न वे लोक में ठहरे; (३) विशेष परिस्थितियों में मैथुन सर्वथा उचित है।[४] इस प्रतिक्रिया में सम्प्रदायवादी रूढ़िवादिता की अपेक्षा लोक स्वभाव के विस्तार का आभास है। श्री भरतसिंह उपाध्याय ने महायान के स्वरूप निर्माण की निम्नलिखित प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया है:[५]

(१) बौद्ध संघ के भीतर की प्रवृत्तियों का स्वाभाविक विकास।
(२) भगवद्गीता और शैव सम्प्रदाय का प्रभाव।
(३) पारसी धर्म और संस्कृति का प्रभाव।
(४) ग्रीक कला का प्रभाव।
(५) अर्द्धबर्बर जातियों में धर्म प्रचार की आवश्यकताओं के कारण परिवर्तन।
(६) ईसाई धर्म का प्रभाव।

बौद्ध धर्म के स्वरूप निर्माण की इन प्रवृतियों के सम्बन्ध में तो हमें कुछ नहीं कहना है किन्तु यह निश्चित है कि युगजनित आवश्यकताओं ने ही महायान को जन्म दिया है। महायान के स्वरूप निर्माण में तत्कालीन भारतीय पौराणिक विचार-धारा और तांत्रिक प्रभाव ही विशेष सक्रिय प्रतीत होते हैं किन्तु भारत से बाहर के सम्पर्कजन्य प्रभावों से भारतीय लोक जीवन भी प्रभावित हुआ है। डा० हजारी प्रसाद

---

१ दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ३८२।
२ पुरातत्त्व निबन्धावली, पृ० १३१।
३ सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, पृ० १०५।
४ वही, पृ० १०५।
५ बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन—भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ५७५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्विवेदी ने इसी प्रसंग में एक स्थल पर प्रकट किया है—"ये बातें महायान सम्प्रदाय ने हिन्दू समाज में प्रवेश करायीं या हिन्दू समाज ने महायान में, दोनों बातें सम्भव हैं और असल में जीवित समाज के भावों के आदान-प्रदान इस प्रकार से होते हैं कि उनके भीतर लकीर खींचकर बता सकना कि यह अमुक की देन है और यह अमुक की लेन है, सदा कठिन हुआ करता है।[1] विशेष परिस्थितियों में घात-प्रतिघात के फलस्वरूप लोक मानस एक ऐसे मार्ग को स्वीकार करता है जिसमें दो छोरों के महत्त्वपूर्ण अंशों का समावेश हो सके। बौद्ध धर्म के साम्प्रदायिक विकास में प्रारम्भ से ही हीनत्व का आरोप और महायानभाव की प्रतिष्ठा का संकेत मिलता है। अनेक विद्वानों ने महायान और हीनयान सम्प्रदाय के अनन्वय भिन्न-भिन्न प्रकार से किये हैं जिनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि पुराने स्थविरवादी बौद्ध धर्म को हीनयान (छोटे रथ) का आरोही कहा गया और महायान को हीनयान से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए अनेक नई साधनाओं का अपने में समावेश कर अपने को महायान (बड़े रथ) का आरोही।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने महायान की निम्नलिखित विशेषताएँ मानी हैं[2] जिन्होंने भारतीय चिंताधारा को अनेक रूपों में प्रभावित किया है :

(१) सर्वभूतहितवाद में विश्वास रखना और समस्त जगत के प्राणियों के कल्याणार्थ प्रयत्न करना। स्वयं कष्ट सहकर भी, नरक भोगकर भी अन्य जीवों के उद्धारार्थ प्रयत्न करना।

(२) बोधिसत्वों में विश्वास रखना और यह भी विश्वास करना कि मनुष्य अपने सत्कर्मों और भक्ति के द्वारा बोधिसत्व प्राप्त कर सकता है।

(३) बौद्धों के लोकोतरत्व में विश्वास। यह भी विश्वास करना कि बौद्धगण काल और देश की सीमा में परिव्याप्त हैं।

(४) जगत को सारशून्य तथा नश्वर मानना।

(५) कर्मकण्ड की बहुलता तथा मंत्र-तंत्र में विश्वास।

(६) संस्कृत के ग्रन्थों में विश्वास, पाली में नहीं।

(७) बुद्ध में तथा विशेषकर अभिताभ बुद्ध में विश्वास और उनके नाम जाप से निर्वाण-प्राप्ति में विश्वास।

इसी क्रम में एक विशेष बात जो दृष्टव्य है वह यह कि बुद्ध में देवत्व का आरोप भारतीय चिंताधारा की एक सामान्य विशेषता है तथा उसी के परिणाम-स्वरूप बौद्ध दार्शनिक विवेचन प्रणाली का आगमन हुआ जिसे तंत्रयुग की एक परिपाटी ही माना जा सकता है। म० म० प० गोपीनाथजी कविराज ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि बौद्ध धर्म में जीवन के आदर्श के सम्बन्ध में प्राचीनकाल से ही दो मत

---

[1] हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६।

[2] वही, पृ० ८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं। ये दोनों मत उत्तरोत्तर अधिक पुष्ट होते गये। प्रथम मलिन वासना के क्षय का सिद्धान्त है। इसका स्वाभाविक फल मुक्ति या निर्वाण है। दूसरा वासना का शोधन है। इससे शुद्ध वासना का अविर्भाव होता है और देह-शुद्धि होती है। देह-शुद्धि के द्वारा विश्वकल्याण या लोककल्याण का सम्पादन किया जा सकता है। अन्त में शुद्ध वासना भी नहीं रहती। उसका क्षय हो जाता है और उससे पूर्णत्वलाभ होता है। इसे ये लोग बुद्धत्व कहते हैं।[१] बुद्धत्व अद्वय स्थिति का वाचक है। मुदगल नैरात्म्य सिद्ध होने पर समझना चाहिए कि क्लेश-निवृति हो गयी है, किन्तु द्वैत का भान नहीं छूटता।[२] उन्होंने आगे लिखा है कि श्रावक, प्रत्येक बुद्ध, और सम्यक् बुद्ध इन तीन प्रकार के साधकों के बीच महायान ही योगपथ है। यद्यपि उसमें अवान्तर भेद हैं फिर भी मुख्यतः दो ही धाराएँ हैं: (१) पारमितानय, और (२) मंत्रनय।[3]

महायान के अनेक पर्याय लोक में प्रचलित हैं। उनमें से एक गुह्ययान भी है। महायानियों का विश्वास था कि कुछ गुप्त संगीति स्वतः भगवान बुद्ध ने आयोजित की थी जिनमें वे अपने अलौकिक रूप में विराजमान थे। अधिकांश महायान सूत्रों का उपदेश ऐसी ही लोकोत्तर संगीतियों में हुआ जो गुह्य थीं।[४] इन गुह्य संगीतियों का सम्बन्ध आगे चल कर मंत्रयान की साधना से जोड़ लिया गया प्रतीत होता है। भारतीय चिंताधारा में जिस शून्यवाद की चर्चा है उसका विकास महायान धर्म के दर्शन पक्ष में उपलब्ध होता है। शून्यवाद तथा विज्ञानवाद की संज्ञा से अभिहित ये दर्शन उत्पत्ति, गति, दुःख, बन्धन, मोक्ष आदि के तर्कपूर्ण चिन्तन के परिणाम हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद आत्मविज्ञान आदि सिद्धांतों ने जिस विस्तार को लेकर बुद्ध साहित्य का निर्माण किया उसकी प्रतिक्रिया ही मानो मंत्रयान की जनक है। बुद्ध की भगवत्ता उस काल के बौद्ध अनुयायियों का चरम आदर्श थी।[५] म० म० प० हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है भागवत में भक्ति का जो स्थान है, बौद्धागम में करुणा का वही स्थान है। प्रज्ञापारमिता तथा करुणा के सामरस्य का तात्पर्य यह है—प्रज्ञा के प्रभाव से साश्रव धातुओं का अतिक्रम है तथा करुणा के प्रभाव से इनका निर्माण में प्रवेश नहीं होता प्रत्युत जगत कल्याण के निमित्त अनाश्रव धातु में स्थिति होती है।[६] स्वामी शंकराचार्य ने इसी शून्य नैरात्म्य पर विश्वात्मा की परिव्याप्ति कर अपने अद्वैत वेदान्त की

---

१ बौद्ध धर्म दर्शन, भूमिका, पृ० १४।

२ वही, पृ० १५।

३ वही, पृ० २१।

४ सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, पृ० १०५।

५ बौद्ध धर्म दर्शन, भूमिका, पृ० २५।

६ वही, पृ० २६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पृष्ठभूमि तैयार की थी सम्भवतः रूढ़िवादी सम्प्रदायों के आचार्यों ने तभी उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध भी कहा है। बौद्ध धर्म का यह विकास मंत्रयान तक ही सीमित नहीं रहा। धीरे-धीरे उसमें तान्त्रिक साधनाओं का विकास हुआ, त्रिकाया में वज्रकाया भी जोड़ दी गयी, शून्यता तथा विज्ञान के साथ महासुख का सिद्धांत विकसित हुआ। बोधि सत्वों की दशभूमि तथा पारमिताओं की साधना के बजाय प्रज्ञोपाय साधना का विकास हुआ। देवश्रृंखलाओं में अगणित देवताओं की वृद्धि हुई और हर देवता की एक शक्ति देवी रूप में परिकल्पित हुई, गुप्त साधनाओं का विकास हुआ और महायान का रूप तान्त्रिक हो गया और उसे वज्रयान के नाम से अभिहित किया जाने लगा।[१] रहस्य साधनाओं के साधक सिद्ध की उपाधियों से विभूषित हुए, इस प्रकार वज्रयानी सिद्धों ने भाषा और भाव की दृष्टि से जिस जनकाव्य की रचना की उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव नाथयोगियों की रचनाओं पर पड़ना स्वाभाविक ही है,[२] यह बात पृथक है कि नाथयोगियों का मूलस्वर वज्रयानी साधकों के स्वर से बिलकुल ही विरोधी प्रतीत होता हो तथापि कुछ विद्वान् नाथ पंथ को वज्रयानी सिद्धों की विकसित अवस्था मान कर प्रतिक्रिया रहित निर्वाह के पक्षपाती हैं।[३] इस सम्बन्ध में पृथक से विचार किया जाना अपेक्षित है। वज्रयान शाखा की एक धारा 'सहजयान' है। इस प्रकार उत्तर-कालीन बौद्ध धर्म का सम्बन्ध हम भगवान बुद्ध के धर्म के साथ नहीं जोड़ पाते। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि सन् ईसवी की पहली शताब्दी में महायान प्राचीन बौद्ध धर्म से अलग हो गया।[४] इसी प्रकार विशाल बौद्ध साहित्य, जिसने आधी से अधिक दुनिया को अप्रत्यक्ष भाव से प्रभावित किया था और जिसकी अमूल्य चिंताएँ अब भी भ्रांत मानव समाज को मार्ग दिखा सकती हैं, अपने अंतिम दिनों में धारणी, मंत्रों और यंत्रों का शिकार हो गया। वह जहाँ से निकला था, अन्त में उसी विशाल हिन्दू वाङ्मय में विलीन हो गया। संसार के इतिहास में उसका उद्‌भव, प्रसार और विलय तीनों ही अतुलनीय आश्चर्यजनक व्यापार हैं।[५]

तान्त्रिक उपासना का स्वरूप

उत्तरकालीन बौद्ध साधना में जिन अनेक तान्त्रिक आचार मार्गों की चर्चा है उनमें से कुछ आचार विद्वानों के मतानुसार अभारतीय कहे जा सकते हैं।[६]

---

१ सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, पृ० ११२।
२ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६।
३ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १०८।
४ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६।
५ वही, पृ० २१२।
६ बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन—भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ५७६।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शाक्त एवं शैव मतों के सम्बन्ध में विचार करते हुए अनेक रात्रों के वेद वाक्य तथा आर्येतर होने के सम्बन्ध में विद्वानों के मतों का उल्लेख हमने किया ही है। वास्तव में तान्त्रिक उपासना का स्वरूप अनेक परिस्थितियों और प्रभावों का परिणाम है तथा पंडितों द्वारा उन उपासना पद्धतियों की शास्त्रीय समीक्षाएँ बाद की प्रतीत होती हैं, उनमें से कुछ उपासनाओं को दार्शनिक आवरण देकर सृष्टि के रहस्य तक पहुँचने का प्रयत्न भी परवर्ती विद्वानों द्वारा किया गया है। इसीलिए मध्ययुग में भारत की प्रायः सभी मुख्य धर्म साधनाओं के तन्त्रग्रन्थ उपलब्ध होते हैं,[१] उनमें से जो सम्प्रदाय केवल आचारों तक ही सीमित रह कर गुह्य रूप से उपासना करते रहे तथा जिन्होंने अपने मूल आर्येतर आचारों को नहीं छोड़ा अपितु आर्येतर जीवन की कामोपासना को अपना मुख्य हेतु बनाये रखा वे सम्प्रदाय लोक जीवन में कभी भी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखे गये। 'वाममार्ग' सामान्यत: ऐसी ही प्रत्येक साधना मार्ग को कहा गया होगा चाहे वह साधना ब्राह्मण हो, बौद्ध हो अथवा जैन। विद्वानों ने इस बात को स्वीकार किया है कि आगम तंत्रों के पारिभाषिक शब्द ही एक नहीं है अपितु मूलस्वर सबका एकसा है।[२] इन साधना मार्गों की सामान्य तथा विशेष प्रवृतियों का संकेत करने के पूर्व भारतीय चिंता में व्याप्त यज्ञ पूजा के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना तांत्रिक उपासना के विकास को स्पष्ट करने में सहायक होगा। वैसे उस युग के सामान्य जीवन में भोग और त्याग के सम्बन्ध में जटिल समस्याएँ उठती होंगी यह तथ्य आज प्राप्य नहीं है फिर भी इन समस्याओं का चरमरूप गृहत्यागी भिक्षुओं और दार्शनिकों में ही प्रायः उपलब्ध होता है। मनस्तत्त्व के अनुसार इसे कुण्ठा की प्रतिक्रिया ही कहा जा सकता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल में इसकी चर्चा करते हुए एक स्थल पर प्रकट किया है कि हिमालय के पाददेश में कामरूप से लेकर हिंगलाज तक एक प्रकार की यज्ञ पूजा प्रचलित थी जो बौद्ध धर्म के पिछले दिनों में बौद्ध धर्म को प्रभावित करने में समर्थ हुई और वज्रयान नाम से अभिहित हुई।[३] यज्ञ पूजा और गुप्तकों की साधना का आविर्भाव कहाँ से प्रारम्भ हुआ इस पर यहाँ विचार न करते हुए हमें यह देखना है कि मध्ययुग तक आते-आते बौद्ध धर्म की तांत्रिक साधन का क्या स्वरूप था और परवर्ती नाथपंथी साधकों और संतों से उसका क्या सम्बन्ध हो सकता है। वज्रयानी सिद्धों की साधना को लक्ष करते हुए श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि वज्रयानियों ने महायान की शून्यता एवं करुणा को क्रमशः 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय' के नाम दे दिये और इन दोनों के मिलन को युगनद्ध की दशा बताकर उसे ही प्रत्येक साधक का अन्तिम लक्ष्य ठहराया। बोधिचित भी, जो पहले विशुद्ध चित्त एवं व्यापक कारुण्य भाव का द्योतक रहा, इस प्रकार 'वज्रसत्व' बन गया।

१ **भारतीय दर्शन**—डा० बलदेव उपाध्याय, पृ० ५४२।
२ **मध्ययुगीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २९।
३ **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रज्ञा का स्वरूप एक निर्विशिष्ट, किन्तु निष्क्रिय ज्ञान मात्र है, जिसे स्त्री रूप देते हैं और इन दोनों का अन्तिम मिलन शक्ति एवं शिव के मिलन के समान परमावश्यक समझा जाता है।[1] वज्रसत्व अथवा वज्रपाणि यक्ष ने बोधिसत्व का पद प्राप्त कर लिया तथा इन्हें सर्व तथागताधिपति भी सम्बोधित किया गया है। यह यक्ष कुल जिसमें अप्सराएँ, कामदेव और गंधर्वगण हैं, वज्रपाणि बोधिसत्व का उत्पत्तिस्थल बताया गया है।[2]

वज्रयान में अनेक विरोधी प्रवृत्तियों का सामंजस्य हुआ है किन्तु विरुद्धों के होते हुए भी जहाँ चित्तशुद्धि और फिर कायाशुद्धि के प्रति एक आकर्षण है, दूसरी ओर लिंगाग सामरस्य, रस रसायन और सिद्धियों के चमत्कार के प्रति उससे भी अधिक आग्रह है। वज्रयान की साधना इस काल में आकर 'महामुद्रा की साधना' तक ही सीमित रह गयी। दार्शनिक उपपत्तियों का इससे अधिक घृणित और अभिचार पूर्ण रूप सम्भवतः किसी भी धर्मसाधना में मान्य नहीं हो सकता। सिद्धांत और व्यवहार के इस चरम विरोध में वज्रयान सिद्धों को पुनः सहज प्रवृत्ति की ओर लौटना पड़ा जिसमें पुनः दार्शनिक शब्दावली के उथले अर्थों और अटपटे प्रयोगों की भरमार है। लोक पक्ष में ये साधनाएँ सम्मान के स्थान पर हेय दृष्टि से देखी जाने लगीं और अत्यन्त सीमित क्षेत्रों और पीठों में ही उनके प्रयोग अवशिष्ट रह गये। वज्रयान की यह साधना कापालिकों की चर्चा और वाममार्ग की पद्धति को अपने में मिलाकर ही खड़ी हुई होगी जिसमें कामोपासना का स्वर सबसे अधिक तीव्र है तथा साम्प्रदायिक आवरण अत्यन्त गहन। इसी साधना को वज्रयान में महामुद्रा की साधना कहा गया है। प्रत्येक साधक के लिए इसके अनुसार एक महामुद्रा के सम्पर्क में भी रहना परमावश्यक समझा जाने लगा। वज्रयान का अनुयायी साधक, सर्वप्रथम किसी नीच जाति की सुन्दर स्त्री को अपने लिए चुन लिया करता था और अपने गुरु के निकट जाकर उसके आदेशानुसार उसे अपनी महामुद्रा बना लेता था। तब से उसकी प्रत्येक साधना उस महामुद्रा के सहवास में रहकर ही चला करती थी।[3] ऐसे ही व्यभिचार परक आदेश मुख्य रूप से वज्रयान को लोक जीवन के स्वस्थ और गत्यात्मक प्रवाह से दूर ले गये। यद्यपि सहजयान के रूप में पल्लवित होने वाली विचारसरणि ने वज्रयानी सिद्धों को महासुख की लोकोत्तर और सांकेतिक पूर्व पीठिका से परिचित कराने का प्रयत्न किया किन्तु सामानान्तर चलने वाली योग धारा के प्रबल प्रवाह में उनकी चिन्ता अधिक समय तक टिकी न रह सकी और योग और भोग के सामरस्य को छोड़कर साधक को उनमें से एक को चुन लेने पर बाध्य होना पड़ा। यद्यपि कुछ विद्वानों का मत है कि सहजयान ही ईश्वरवाद से सम्बद्ध होकर महासुखवाद के रूप में प्रकट

---

१ उत्तरी भारत की संत परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३४, ३५।
२ हिन्दी साहित्य का आदिकाल—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४०।
३ उत्तरी भारत की संत परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३५।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हुआ और सहजयानी सिद्धों की वाणी ने उस युग में संजीवनी का कार्य किया[१] तथापि लोक प्रभाव की दृष्टि से वामाचार के समकक्ष हेय दृष्टि से देखा जाने वाला वज्रयान केवल अशिक्षित वर्ग को ही ज्ञानान्धकार में आशा का संचार कर सका होगा और सम्भवतः तांत्रिक परिपाटी पर चिंतन करने वाले पंडितों की व्याख्या को प्रचुर सामग्री मात्र दे सका होगा। यद्यपि सहजयानी सिद्धों की रहस्य भावना सम्प्रदायगत भावना न होकर लोक व्याप्त भावना के रूप में प्रकट हुई तथापि उसका स्वर युग की आवश्यकता के फलस्वरूप ही मुखर हुआ था, मात्र विकास की दृष्टि से उसका परिष्कार नहीं हुआ था।

इस प्रकार तंत्र युग की साधना ने ही हिन्दी के मध्ययुग की सामाजिक पृष्ठभूमि को गठित किया है। पिछले पृष्ठों के आधार पर तंत्र युग का सामाजिक धरातल प्रायः एकसा ही रहा प्रतीत होता है जिसके मुख्य तत्त्व निम्नलिखित माने जा सकते हैं :

(१) देवता, मंत्र और तत्त्व दर्शन की प्रतिष्ठा।
(२) साधना, क्रिया और चर्चा का दर्शन की अपेक्षा प्रमुख स्थान।
(३) जातिपाँति एवं वर्ण का अभेद।
(४) देवी के रूप में शक्ति की उपासना।
(५) योग एवं काया शोधन का महत्त्व।
(६) वेद वाह्य एवं वेद विरोधी स्वर तथा अभिजात्य धर्म का संरक्षण।
(७) मुक्ति एवं सिद्धि के प्रति कुतूहल और उसके प्रयत्न।

किन्तु बौद्धधर्म की परवर्ती धर्म साधना में तथा लोक दृष्टि में हीन जिन तत्त्वों का मतवादों में विशेष समावेश हुआ वे तत्त्व निम्नलिखित माने जा सकते हैं :

(१) साधना क्रिया और चर्चा की प्रमुखता, गुरु का महत्त्व अद्वयानुभूति एवं गुह्य आचार।
(२) लिंगाग सामरस्य एवं मिथुन परक व्याख्या।
(३) वेदों तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों का असम्मान।
(४) योग और भोग का सम्मिलन तथा उसका स्वतंत्र प्रतीक विधान।
(५) मंडन, चक्र, अनुष्ठानादि का आग्रह।

तांत्रिक प्रभाव को लोकमत ने ठीक इसी रूप में स्वीकार नहीं किया, भारतीय चिंता का नवीन स्वरूप योग और भक्ति के समन्वय में आगे चलकर नाथयोगियों और निर्गुण संतों के द्वारा निर्मित हुआ जिसका सम्बन्ध एक ओर भारतीय दर्शनों के व्यावहारिक पक्ष के साथ जोड़ा जा सकता है तो दूसरी ओर धर्मसाधना के खण्डनात्मक निरूपण के साथ। नाथ पंथ के आविर्भाव की सम्भावनाओं के आधार पर ही इस विषय का विस्तृत विवेचन सम्भव है।

---

[१] हिन्दी तथा कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्मय, पृ० ४२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि विश्व जीवन को प्रभावित करने वाली बौद्ध चिंता अपने प्रारम्भिक रूप में आचार प्रधान और लोक प्रभावी थी, वही अपने मध्यकाल में मंत्र-तंत्र की नई प्रणाली पर गठित होकर अनेक दर्शनों की सृष्टि करने में सहायक हुई तथा अपने परवर्तीकाल में वही तंत्रोपचार एवं गुह्य साधना से मिलकर आचारहीन, सिद्धिप्रवण एवं चर्चा प्रधान हो गयी। तंत्र युग की प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप गठित होने वाले साधना पंथों में नाथ पंथ को बौद्ध चिन्ता ने अनेक रूपों में प्रभावित किया है किन्तु इसके आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि नाथ पंथ बौद्ध साधना का ही विकसित स्वरूपमात्र है।

मध्यकालीन धर्मभावना और नाथ पंथ का सिद्धान्त पक्ष

धर्मभावना का स्वरूप

मध्यकाल की अनेक प्रवृत्तियों के पल्लवित होने तथा विकास प्राप्त करने के सूत्रों को स्पर्श करने की चेष्टा पिछले पृष्ठों में की गयी है। मध्ययुग का मूलस्वर धार्मिक समन्वय और सांस्कृतिक एवं साम्प्रदायिक बद्धमूलता का स्वर है। किन्तु इस काल में एक प्रबल राजनीतिक और धार्मिक घटना इस देश में घटी जिसने भारतीय चिंता को अनेक रूपों में प्रभावित किया।[1] यह घटना थी इस्लाम के अनुयायी मुसलमान विजेताओं का आक्रमण और उनका देश के भीतरी भागों तक प्रवेश। सम्पर्कजन्य प्रभावों को लेकर विद्वानों में इस सम्बन्ध में मतभेद है किन्तु इस्लाम का इस देश में आगमन ही भारतीय चिंता के आमूल नवीन स्वरूप के संगठन का मुख्य कारण है। यह तर्क भी लोक जीवन के स्वाभाविक विकास क्रम को देखते हुए बहुत सबल प्रतीत नहीं होता। इतने विशाल और प्राचीन देश की धर्मभावना को कोई घटना अपनी सीमा तक प्रभावित तो कर सकती है किन्तु आमूल परिवर्तित कर नया स्वरूप भी प्रदान कर सकती है, यह सांस्कृतिक इतिहास की परम्परा के अनुकूल नहीं है। तथ्य को तथ्य के रूप में स्वीकार किया जाकर ही हम उसकी यथार्थ मीमांसा कर सकते हैं।

स्वामी शंकराचार्य के पश्चात् दसवीं शताब्दी तक आते-आते भारतीय धर्म-साधना में लोकवाणी के माध्यम से एक नवीन सुसम्बद्ध प्रतिक्रिया के दर्शन हमें होते हैं जिसके प्रबल समर्थक और प्रचारक गुरु गोरखनाथ कहे जाते हैं। विद्वानों ने गोरख नाथ के पंथ को नाथ पंथ, नाथयोगी सम्प्रदाय, नाथसम्प्रदाय, योगमार्ग, सिद्धमत आदि अनेक नामों से अभिहित किया है। डा० बड़थ्वाल का कथन है कि गोरखनाथजी के काल से बराबर बहुत समय तक योग की कविता का प्रवाह हिन्दी साहित्य में बहता रहा। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने भक्तिधारा की दो शाखाओं के दर्शन कराये हैं, एक निर्गुण शाखा, और दूसरी सगुण शाखा। निर्गुण शाखा वास्तव में योग का ही

---

[1] हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिवर्तित रूप है। भक्तिधारा का जल पहले योग के ही घाट पर बहा था। गोरखनाथ का हठयोग केवल ईश्वर प्राणिधान में बाहरी सहायक मात्र है।[१] गोरखनाथ ने नाथसम्प्रदाय को जिस आन्दोलन का रूप दिया वह भारतीय मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ। उसमें जहाँ एक ओर ईश्वरवाद की निश्चित धारणा उपस्थित की गयी वहाँ दूसरी ओर धर्म को विकृत करने वाली समस्त परम्परागत रूढ़ियों पर कठोर आघात भी किया गया। जीवन को अधिक से अधिक संयम और सदाचार के अनुशासन में रखकर आध्यात्मक अनुभूतियों के लिए सहजमार्ग की व्यवस्था करने का शक्तिशाली प्रयोग गोरखनाथ ने किया।[२] नाथ पंथ के निर्माण में अनेक परिस्थितियों का निर्देश विद्वानों ने किया है। भारतीय धर्मसाधना के विकास क्रम में हमने अभी तक अनेक परवर्ती साधनाओं की चर्चा की है, उनमें से मुख्य हैं स्मृति अथवा वैदिक धर्म से अनुप्राणित आस्तिक मतवाद, वेदविरोध नास्तिक साधनाएँ, जैन और आजीवक सम्प्रदाय तथा उत्तर बौद्धमत की निरीश्वरवादी प्रक्रियाएँ। श्री परशुराम चतुर्वेदी गोरखनाथ द्वारा संगठित नाथयोगी सम्प्रदाय को इनसे पृथक एक चौथा आन्दोलन मानते हैं जो बहुत कुछ बौद्धों का अनुसरण करता हुआ भी ईश्वरवादी था।[3]

नाथ पंथ के सम्बन्ध में यद्यपि विद्वानों ने अनेक अनुमान लगाये हैं फिर भी उत्तर मध्ययुगीन चिन्ता के स्वरूप का स्पष्ट निर्देश अनेक सूत्रों के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। आन्दोलन की पृष्ठभूमि में केवल एकाध घटना का विशेष महत्त्व नहीं होता किन्तु कोई एक घटना ही उसके विस्फोट का कारण भी बन जाती है। पौराणिक एवं तंत्र ग्रन्थों के प्रभाव से अनुप्राणित भारतीय समाज अनेक दिशाओं की ओर उस समय उन्मुख हुआ था, यह तथ्य भी हमारे सामने है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है कि महायान सम्प्रदाय का हमारे आलोच्य साहित्य पर जितना कुछ भी प्रभाव क्यों न हो, वह सामाजिक आचार विचारों का मेरुदण्ड नहीं है, मेरुदण्ड तो ये स्मार्त विचार ही हैं।[४] सिद्धनाथ और संत साहित्य की परम्परा में नाथ पंथ अपनी अभिव्यक्ति और व्यंजना में वज्रयानी सिद्धों की परम्परा का निर्वाह करता हुआ अवश्य प्रतीत होता है,[५] किन्तु जिस प्रकार अनेक विद्वानों ने नाथपंथी साधना और संतों की साधना में, मूल स्वर की विभिन्नता को स्वीकार

---

१ **योग प्रवाह**—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, प्रथम संस्करण, पृ० ९५।

२ **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ११७।

3 **उत्तरी भारत की संत परम्परा**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५४।

४ **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ८।

५ **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १०२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया है[१] उसी प्रकार हम भी तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर यह देख सकते हैं कि आकार रूप में समवेत दिखने वाली नाथों की साधना भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास की ही एक धारा है जिसने एक ओर वज्रयानी सिद्धों तथा कापालिक गुरुओं को हेय दृष्टि से देखा है तो दूसरी ओर शाक्त कौल मार्ग का भी मार्ग निर्देशन किया है, यह साधना कर्मकाण्डों के प्रभाव को स्वीकार करने में पिछली परम्परा की पोषक है किन्तु जिसके पास काया और चित्त को शुद्ध करने की अपनी स्वयं की, दर्शन प्रणीत योग साधना है। भारतीय साहित्य में अत्यन्त प्राचीनकाल से योग साधना की चर्चा मिलती है। योगमार्ग का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में मध्ययुगीन साधनाओं के साथ रहा है यह भी सर्वप्रचलित मत है, किन्तु लोक धर्म का आश्रय पाकर ही योगमार्ग फला और फूला है इसीलिए कभी उसका निकट सम्बन्ध शैव साधना से मान लिया जाता है तो कभी वज्रयानी बौद्धों से, तो कभी उसकी स्वतन्त्र परम्परा के प्रति विद्वानों का आग्रह है। मध्ययुग में गोरखनाथ ने ही योग मार्ग के इस अभिनव रूप को प्रतिष्ठित किया[२] इसमें दो मत नहीं हो सकते।

नाथ पंथ के आविर्भाव की परिस्थितियाँ

नाथ पंथ के प्रारम्भिक इतिहास का कोई प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं होता है। लोकमत के अनुसार तथा साधकों की गुरु परम्परा के अनुसार भी नाथ पंथ के आदि प्रवर्तक आदिनाथ शिव ही कहे जाते हैं।[३] नाथ पंथ का वर्तमान स्वरूप अनेक पंथों और सम्प्रदायों का मिश्रण ही कहा जा सकता है, उसके तत्त्व चिन्तन तथा साधना प्रणाली में काल-क्रमानुसार कितना वाह्य समावेश हुआ है और कितना वह अपने मूल रूप में है, इसकी विभाजक रेखा खींचना एक दुष्कर कार्य है। गोरखनाथ ने जिस पंथ का प्रवर्तन किया, उसके स्वरूप का परिचय तात्कालिक परिस्थितियों और धर्मसाधना की संक्रमक स्थितियों से ही लगाया जा सकता है। डा० द्विवेदी का कथन है कि गोरक्षनाथ का जिस समय प्रादुर्भाव हुआ वह काल भारतीय धर्मसाधना में बड़े उथल-पुथल का काल है। एक ओर मुसलमान लोग भारत में प्रवेश कर रहे थे और दूसरी ओर बौद्ध साधना क्रमशः मंत्रतंत्र और टोने-टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी। दसवीं शताब्दी में यद्यपि ब्राह्मण धर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था तथापि बौद्धों, शाक्तों और शैवों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद के प्राधान्य को नहीं मानता था।[४] उन्हें उस समय न हिन्दू कहा जा सकता था और न मुसलमान ही। गोरक्षनाथ के नेतृत्व में संगठित होने वाले अनेक सम्प्रदाय

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४३।

२ वही, पृ० ६१।

३ नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १।

४ वही, पृ० १४६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूर्व से ही अपनी विभिन्न परम्पराओं के अनुयायी थे किन्तु बाद की परिस्थितियों के कारण वे गोरखनाथ अथवा नाथ पंथ के अनुयायी हो गये और अपनी परम्पराओं का निर्वाह भी करते रहे। गोरखनाथ के प्रभाव को स्वीकार कर लेने पर उनके विषय में खोजबीन की फिर सम्भवतः आवश्यकता ही न रहती हो। नाथ पंथ में जिस प्रकार के सम्प्रदायों का समावेश हुआ है वे दो प्रकार के माने जा सकते हैं : (१) वे जो योगमार्ग के अनुयायी थे परन्तु शैव या शाक्त नहीं थे, (२) वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे, शैवागमों के अनुयायी थे परन्तु गोरक्ष सम्मत योगमार्ग के उतने नजदीक नहीं थे। इन में से जो लोग गोरक्ष सम्मत मार्ग के नजदीक थे उन्हें उन्होंने योगमार्ग में स्वीकार कर लिया, बाकी को अस्वीकार कर दिया।[१] विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं जिनके आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि धार्मिक संक्रांति के उस युग में अनेक पंथों ने अपने आपको नाथ पंथ में समाविष्ट कर लिया और इसीलिए उसके स्वरूप को देखकर बहुधा नाथ पंथ को ही विदेशी विद्वान् कापालिक, वाममार्ग आदि कह देते हैं जो सर्वथा अनुपयुक्त है। डा० द्विवेदी का कथन है कि गोरखनाथ अपने काल के इतने प्रसिद्ध महापुरुष थे कि उनका नाम अपने पंथ के पुरोभाग में रखे बिना उन दिनों किसी को गौरव मिलना सम्भव नहीं था। जो लोग वेद विमुखता और ब्राह्मण विरोधता के कारण समाज में अगृहीत कहे जाते वे उनकी कृपा से ही प्रतिष्ठा पा सकते थे।[२]

नाथ पंथ के आविर्भाव की परिस्थितियों के सम्बन्ध में दो ही मुख्य विचार-धाराएं उपलब्ध हैं। कुछ विद्वानों ने नाथ पंथ को बौद्ध वज्रयानी परम्परा का ही एक रूप माना है तथा गोरखनाथ को वज्रयानी साधक। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि गोरखनाथ का बौद्ध (वज्रयानी) नाम रमण वज्र था।[3] इसी प्रकार ब्रिग्स का भी अनुमान है कि गोरक्षनाथ पहले वज्रयानी साधक थे, बाद में शैव हुए।[४] डा० बड़थ्वाल ने एक स्थल पर लिखा है कि भगवान की नाथ-रूप में भावना नाथ पंथ की विशेषता है, परन्तु उसका आरम्भ बौद्ध तंत्रों में ही हो गया था।[५] किन्तु आगे चलकर नाथ पंथ वज्रयानी प्रभाव से पृथक एक सम्प्रदाय बन गया। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि तिब्बती परम्पराएँ जिनके आधार पर गोरक्षनाथ और बौद्ध वज्रयानी साधकों का सम्बन्ध स्थापति किया गया है वे बहुत परवर्ती हैं और

---

१ **मध्ययुगीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ७३।

२ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १६३।

३ **योग प्रवाह**—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० २१८।

४ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ९७।

५ **योग प्रवाह**—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० २१६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विकृत रूप में उपलब्ध हैं।[1] बौद्ध धर्म के पराभव और ब्राह्मण धर्मों के अभ्युत्थान के फलस्वरूप यदि इस प्रकार की साम्प्रदायिक किंवदंतियों का सहारा लिया गया तो किसी भी पंथ की वस्तुस्थिति का परिचय प्राप्त नहीं हो सकता। गोरखनाथ की रचनाओं में उपलब्ध स्वर इस बात की पुष्टि नहीं करता कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद में शैव हुए। दूसरा मत विद्वानों का यह है कि नाथ पंथ शैव सम्प्रदाय की ही एक शाखा है।[2] इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि नाथपंथी अपनी परम्परा भगवान शिव से ही मानते हैं। उनके मतानुसार शिव ही आदिनाथ हैं। इस सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से दृष्टव्य है। वह यह कि शैवमत के अध्ययन में हमने इस बात पर विचार किया था कि शैवमत का एक सिद्धान्त और शास्त्र अथवा दर्शन सम्मत रूप था, दूसरा लोक सम्मत रूप; लोक प्रभाव के आधार पर बिना साम्प्रदायिक आवरण के उस युग में अनेक व्यक्ति अपने को शैव मानते थे तथा शिव को आदि ईश्वर के रूप में मान कर उपासना करते थे, उसी प्रकार यदि नाथ पंथ में शिव का रूप ग्रहित किया गया हो तब इस बात को मानने में कोई विशेष अड़चन नहीं है। शैव सम्प्रदायों के अनेक भेदों में नाथ पंथ को बाद के विद्वानों ने गिन लिया हो। यह बात दूसरी है पर नाथ पंथ वास्तव में शैव सम्प्रदाय की शास्त्र सम्मत शाखा नहीं है। उसी प्रकार गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के संदर्भ में अनेक महानुभाव गोरखनाथ के मत को मत्स्येन्द्रनाथ के योगिनी कौलमार्ग से सम्बन्धित पाते हैं, वास्तव में शाक्त तंत्रों के प्रभाव ने उस समय प्रत्येक धर्मसाधना को प्रभावित किया था। प्राप्य सामग्री के आधार पर हमारा यह विचार है कि नाथ पंथ में आदिनाथ शिव का स्थान लोक प्रभाव के कारण और गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का स्थान तंत्रशास्त्र के मर्मज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। वास्तव में गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथ पंथ एक योग मार्ग था। डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि गोरक्षनाथ ने योगमार्ग को एक बहुत ही व्यवस्थित रूप दिया। उन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धांतों के आधार पर बहुधा विश्वस्त कायायोग के साधनों को व्यवस्थित किया है, आत्मानुभूति और शैव परम्परा के सामंजस्य से चक्रों की संख्या नियत की। उन दिनों अत्यन्त प्रचलित वज्रयानी साधना के पारिभाषिक शब्दों के सांस्कृतिक अर्थ को बलपूर्वक पारमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण उद्गम से उद्भूत और सम्पूर्ण ब्राह्मण विरोधी साधनामार्ग को इस प्रकार संस्कृत किया कि उसका रूढ़िविरोधी स्वर ज्यों का त्यों बना रहा परन्तु उसकी अशिक्षा जन्य प्रमादपूर्ण रूढ़ियाँ परिष्कृत हो गयीं।[3] इस प्रकार गुरु गोरखनाथ ने अपने सम्प्रदाय का संगठन किया। पंथ के रूप में उसमें अनेक बातों का समावेश हुआ।

---

१ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ९७।

२ वही, पृ० ३; **हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन**—डा० हिरण्मय, पृ० ४६।

३ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ९८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके प्रभाव का विस्तार भी हुआ और आगे चल कर हिन्दी का परवर्ती भक्ति काव्य भी नाथ पंथ से प्रभावित हुआ हो यह कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है। धर्मसाधना और उसके साहित्य ने गोरखनाथ को सम्मान दिया किन्तु नाथ पंथ का स्वागत लोकमत में न हो सका। नाथ पंथ के महिमामय प्रवर्तक गुरु गोरखनाथ के सम्बन्ध में जो भी सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर उनके पंथ का परिचय प्राप्त कर लेना अनुपयुक्त न होगा।

गोरखनाथ और उनका समय

डा० द्विवेदी ने एक स्थल पर लिखा है कि भक्ति आन्दोलन के पूर्व सबसे शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन गोरखनाथ का योगमार्ग ही था। भारत की ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें गोरखनाथ सम्बन्धी कहानियाँ न पायी जाती हों। इन कहानियों में परस्पर ऐतिहासिक विरोध बहुत अधिक है फिर भी इनसे एक बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि गोरखनाथ अपने युग के सबसे बड़े नेता थे। उन्होंने जिस धातु को छुआ वही सोना हो गया। दुर्भाग्यवश इस महान् धर्मगुरु के विषय में ऐतिहासिक कही जाने वाली बातें बहुत कम रह गई हैं।[1] गोरखनाथ के आविर्भाव काल के सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं। गोरखनाथ के नाम पर संस्कृत तथा हिन्दी में अनेक ग्रन्थ मिलते हैं किन्तु उनमें से अनेक तो निश्चित रूप से परवर्ती ही हैं। वर्षों तक साधकों के प्रभाव को बचाती हुई यदि उनकी ऐसी कुछ रचनाएँ हुई भी तो उनके आधार पर गोरखनाथ के समय का निर्णय कर सकना कठिन है। डा० बड़थ्वाल ने 'गोरखवानी' की भूमिका में लिखा है कि नाथ परम्परा में इनके कर्त्ता प्रसिद्ध गोरखनाथ से भिन्न नहीं समझे जाते। मैं अधिक सम्मत समझता हूँ कि गोरखनाथ विक्रम की ११वीं शती में हुए। ये रचनाएँ जैसी हमें उपलब्ध हो रही हैं ठीक वैसी ही उस समय की हैं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु इनमें भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं, जिससे कहा जा सकता है कि सम्भवतः इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शती ही में हुआ हो।[2] अन्य विद्वानों ने इन्ही रचनाओं के आधार पर कभी उनका समय १४वीं शताब्दी माना है तो कभी १७वीं शताब्दी। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि इन पुस्तकों पर से कई विद्वानों ने गोरखनाथ का स्थान और काल निर्णय करने का प्रयत्न किया है किन्तु वे सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए हैं। कबीरदास के साथ गोरखनाथ की बातचीत हुई थी और बातचीत का विवरण बताने वाली पुस्तक उपलब्ध है। इससे एक बार ग्रियर्सन तक ने अनुमान किया था कि गोरखनाथ चौदहवीं शताब्दी के व्यक्ति थे। गुरु नानक के साथ उनकी बातचीत का विवरण मिल जाता है। और तो और १७वीं

---

[1] **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ९६।

[2] **गोरखवानी**, भूमिका, पृ० २०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शताब्दी के जैन दिगम्बर संत बनारसीदास के साथ शास्त्रार्थ होने का प्रसङ्ग भी मैंने सुना है।[१] इन रचनाओं से हम गोरखनाथ का समय निर्धारित नहीं कर सकते किन्तु यह बात अवश्य दृष्टव्य है, कि इस प्रकार की रचनाएँ केवल सम्प्रदायगत प्रभाव की ही सूचक हैं। रचयिता के मनस्तत्त्व से हम धर्मसाधना की तात्कालिक परिस्थिति से परिचित हो सकते हैं।

अन्य विद्वानों ने किंवदंतियों के आधार पर गोरखनाथ का समय निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। प्रसिद्ध है कि वे मत्स्येन्द्रनाथ के प्रतिद्वन्द्वी थे तथा गोरखा राज्य के संरक्षक संत थे। मत्स्येन्द्रनाथ से रक्षित नेपाल राज्य को गोरखनाथ अनेक वर्षों के परिश्रम के बाद अपने संरक्षण में ला सके। इसके बाद उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया। तिब्बती दंतकथा के अनुसार गोरक्षनाथ एक बौद्ध बाजीगर थे और उनके सारे कनफटे शिष्य भी प्रारम्भ में बौद्ध ही थे किन्तु बारहवीं शती के अन्त में सैनवंश के नाश होने पर ये शैवमत में हो गये।[२] निश्चित ही यह दंत कथा सम्प्रदायगत प्रभाव का परिचय देती है किन्तु इसके आधार पर हम गोरखनाथ का समय निर्धारित नहीं कर सकते। इतना तो सर्वसम्मत है कि इन्होंने नेपाल को महायान बौद्धमत से शैवमत में परिवर्तित किया था और ये कभी बौद्ध नहीं थे।[३]

डा० बड़थ्वाल गोरखनाथ का समय संवत् १०५० के आस-पास मानते हैं,[४] जबकि डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार तेरहवीं शताब्दी में गोरखनाथ का आविर्भाव हुआ था।[५] डा० वर्मा ने अपने मत का आधार पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पेंगारकर की मराठी पुस्तक श्री ज्ञानेश्वरी चरित्र माना है, साथ ही एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका का आधार लेकर उन्होंने अपना मत निर्धारित किया है, किन्तु यह मत भी अनेक विद्वानों द्वारा स्वीकार नहीं किया जा सका। हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में उन्होंने विभिन्न मतों की समीक्षा करते हुए लिखा है कि श्री ज्ञानेश्वरी का प्रमाण अधिक विश्वसनीय ज्ञात होता है यद्यपि अनेक विद्वानों ने गोरखनाथ के आविर्भाव के सम्बन्ध में अपनी विवेचना और तर्क के आधार पर विविध संवत निर्दिष्ट किये हैं। डा० शहीदुल्ला गोरखनाथ का आविर्भाव सं० ७२२ में मानते हैं। राहुल सांकृत्यायन ने उनका समय सं० ९०२ निर्धारित किया है। डा० मोहनसिंह के मतानुसार गोरखनाथ का समय विक्रम की नवीं और दशवीं शताब्दी है। डा० बड़थ्वाल ने यह समय सं० १०५० निश्चित किया है। डा० फर्कहार गोरखनाथ का

---

१ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ९७।

२ **एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स**—जेम्स हेस्टिंग्स, भाग ६, पृ० ३२८।

३ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४२।

४ **योग प्रवाह**—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० ६२।

५ **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १०७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समय सं० १२५७ मानते हैं।[१] श्री ज्ञानेश्वरी चरित्र में ज्ञाननाथ की गुरु परम्परा निम्नलिखित मानी गयी है :

- आदिनाथ
  - मत्स्येन्द्रनाथ
    - गोरक्षनाथ
      - गैणीनाथ
        - निवृतिनाथ
          - ज्ञाननाथ (ज्ञानेश्वर)
  - जालन्धरनाथ
    - कानिफानाथ
    - मैनावती (गोपीचन्द्र की माता)

इस पुस्तक के आधार पर गोरखनाथ ज्ञानेश्वर के प्रपितामह श्री त्र्यम्बक पंत के समकालीन थे। स्वयं त्र्यम्बक पंत गोरखनाथ की शरण में गये थे। त्र्यम्बक पंत का शिष्यस्त्रग्रहण का समय सं० १२७० लेखक ने माना है किन्तु महिमामय पुरुषों की शरण में प्रत्यक्ष जाने की अनुभूति का आधार यह नहीं माना जा सकता कि उस काल में गोरखनाथ थे ही। गोरखनाथ के प्रभाव के सम्बन्ध में अवश्य ही यह परम्परा एक पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती है। इसके आधार पर यह माना जा सकता है कि १६वीं शताब्दी तक गोरखनाथ एक अलौकिक व्यक्ति के रूप में पूजित होने लगे थे।

डा० बड़थ्वाल ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए तथा डा० फर्कहार के मत की समीक्षा[२] करते हुए एक स्थल पर लिखा है कि डा० फर्कहार ने ज्ञानेश्वर के कथन को आधार मानकर अपना मत निर्धारित किया है। ज्ञानेश्वर भी नाथपंथी योगी थे। उन्होंने अपने अमृतानुभव और ज्ञानेश्वरी नामक ग्रन्थों में अपनी गुरु परम्परा दी है। उनके अनुसार उनकी गुरु परम्परा यह थी : (१) आदिनाथ, (२) मत्स्येन्द्रनाथ, (३) गोरखनाथ, (४) गहनीनाथ, (५) निवृतिनाथ, और (६) ज्ञानेश्वर। इसके अनुसार गहनीनाथ गोरखनाथ के शिष्य ठहरते हैं।[३] महाराष्ट्र में प्रचलित कथाओं में तथा निवृतिनाथ के अभङ्गों में भी प्रायः यही बात प्रकट हुई है। डा० फर्कहार ने इसी आधार पर विक्रम संवत १२५७ गोरक्षनाथ का समय माना है किन्तु डा० बड़थ्वाल ने इस तिथि के मानने में अड़चन अनुभव की है। उनका कथन है कि ग्यारहवें शतक के

---

१ **श्री ज्ञानेश्वरी चरित्र**—पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पेंगारकर (हिन्दी अनुवाद : श्री गर्दे), पृ०४०।

२ **डा० फर्कहार के मतानुसार गोरखनाथ का समय सम्वत् १२५७ है।**

३ **योग प्रवाह**—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० ५५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आरम्भ के लिखे हुए बौद्ध तन्त्रों में गोरखनाथ का उल्लेख मिलता है। अब यदि तेरहवें शतक के मध्य को गोरखनाथ का समय मानें तो इतने पहले गोरखनाथ के उल्लेख का कोई समाधान नहीं हो सकता। अतएव यह मत भी ठीक नहीं जँचता। जान पड़ता है कि गहनीनाथ ने केवल अपने पंथ के प्रवर्तक होने के नाते गोरखनाथ को गुरु कहा है। गुरु ईश्वर का पर्याय भी होता है और इसमें तो सन्देह नहीं कि गोरखनाथ उस समय तक ईश्वर माने जाने लगे थे।[1] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार गोरखनाथ का आविर्भाव विक्रम सम्वत की दसवीं शताब्दी में हुआ।[2] डा० द्विवेदी ने गोरक्षनाथ तथा उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के सम्बन्ध में प्रचलित लोक कथाओं का विश्लेषण कर कुछ तथ्यों का संकलन किया है तथा अन्य आधारों को भी सामने रख कर अपना मत स्थापित किया है जो समीचीन प्रतीत होता है। उनके निष्कर्ष निम्नांकित हैं :

(१) मत्स्येन्द्रनाथ और जालंधरनाथ समसामयिक थे।

(२) मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु थे और जालंधरनाथ कानुपा या कृष्णपाद के गुरु थे।

(३) मत्स्येन्द्रनाथ कभी योगमार्ग के प्रवर्तक थे फिर संयोगवश एक ऐसे आचार में सम्मिलित हो गये थे जिसमें स्त्रियों के साथ अबाध संसर्ग मुख्य बात थी।

(४) मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ की साधना पद्धति जालंधरनाथ तथा कानिफा की साधना पद्धति से भिन्न थी।[3]

इनमें से यदि एक का समय भी निश्चित हो जाय तो गोरखनाथ का समय निश्चित किया जा सकता है। मत्स्येन्द्रनाथ का समय सुप्रसिद्ध कश्मीरी आचार्य अभिनवगुप्त के पूर्व ही होना निश्चित होता है। अभिनवगुप्त ने अपने तंत्रलोक में मछन्दविभु को नमस्कार किया है। डा० बल्देव उपाध्याय का मत है कि अभिनवगुप्त (११वीं शती) के द्वारा 'तंत्रलोक' में नमस्कृत तथा सांकेतिक 'मच्छंविभु' मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्न ही प्रतीत होते हैं। कौलज्ञान विनिर्णय के अनुसार मत्स्येन्द्र कौलमार्ग के आद्यवर्तक स्वीकार किये गये हैं। तंत्रालोक के व्याख्याकार इन्हें सकल कुल शास्त्र का अवतारक मानते हैं। इनका आविर्भाव काल नवम शतक का मध्यभाग था[4] और अनेक प्रमाणों के आधार पर जो अर्द्ध ऐतिहासिक घटनाक्रम के ही रूप में उपलब्ध हैं, गोरखनाथ का समय विक्रम की दसवीं शताब्दी निश्चित होता है और नाथ पंथ के आदि प्रवर्तकों का समय ९वीं शताब्दी

---

[1] योग प्रवाह—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० ५६।

[2] नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ९६।

[3] वही, पृ० ५२।

[4] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० ५२८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का उत्तरार्द्ध माना जा सकता हैं।[१] इससे अधिक नाथ पंथ और उसके सबल संगठक के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

नाथ पंथ के चार आचार्य

नाथ पंथ के विस्तृत स्वरूप और प्रभाव को देखकर विद्वानों ने इस पंथ के ऐतिहासिक प्रचारकों तथा प्रतिष्ठापकों में मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, जालंधरनाथ तथा कृष्णपाद (कानुपा) को विशेष स्थान दिया है।[२] इनमें से जालंधरनाथ तथा उनके शिष्य कृष्णपाद का सम्बन्ध कापालिक मत से है जो बौद्ध वज्रयान तथा शैव कापालिक मत के समन्वय का ही एक रूप माना जा सकता है तथा जिस पर पिछले पृष्ठों में विचार भी किया जा चुका है। कालांतर में कृष्णपाद का कापालिक मत भी नाथ पंथ में अंतर्युक्त हो गया। विद्वानों का मत है कि वाममार्ग का सम्बन्ध कानिफा पंथ से था तथा कापालिक मार्ग का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी रहा होगा जो बाद में जाकर गोरख पंथी साधुओं में अन्तर्युक्त हो गया है।[3] श्री गोरखनाथ तथा मत्स्येन्द्रनाथ के सम्बन्ध में यह प्रायः निश्चित ही माना गया है कि मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु थे तथा मत्स्येन्द्रनाथ कौलमार्ग के आदि प्रवर्तक भी माने गये हैं, तब गोरखनाथ द्वारा उपदिष्ट मार्ग क्या उनके गुरु द्वारा प्रवर्तित कौलमार्ग ही है अथवा उससे भिन्न है यह भी विचारणीय प्रश्न है। गोरखनाथ ने जिस योगमार्ग को नाथ पंथ की आधार भूमि बताया था, क्या उसका स्वरूप ठीक वही है जो मत्स्येन्द्रनाथ के योगिनी कौलमार्ग का है? इस सम्बन्ध में विद्वानों के मतों का उल्लेख भी नाथ पंथ के सिद्धान्त पक्ष को प्रकट करने में सहायक होगा।

मत्स्येन्द्रनाथ का योगिनी कौलमार्ग

लोक कथाओं में एक कथा प्रसिद्ध है कि कामरूप में रहकर गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने अपनी साधना की थी। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि तंत्रालोक की टीका तथा कौलज्ञान निर्णय से यह स्पष्ट है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने कामरूप में ही कौल-साधना की थी। इसलिए कदलीवन या स्त्रीदेश से वस्तुतः कामरूप ही उद्दिष्ट है।[४] दन्तकथाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस साधना का सम्बन्ध शाक्त मत की किसी शाखा से था। कहा जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ अपना असली मत छोड़-कर कदली देश की स्त्रियों की माया में फँस गये थे। ये कदलीदेशनी स्त्रियाँ स्वयं योगिनी थीं तथा कामरूप की योगिनियों के घरों में उस समय जिस साधना का

---

१ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५४।

२ **हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास**, प्रथम खण्ड, पृ० ५२८।

3 **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ७।

४ **वही**, पृ० ५५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रचार था, मत्स्येन्द्रनाथ ने उसे अनायास ही प्राप्त कर लिया और उसका संकलन कर लिया। इसके आधार पर विद्वानों का मत है कि मत्स्येन्द्रनाथ कामरूप में वाममार्गी साधना में प्रवृत्त हुए तथा वहाँ से कौल ज्ञान अवतारित किया। वास्तव में पहले मत्स्येन्द्रनाथ सिद्धमत के ही साधक थे किन्तु अपने मध्यवर्ती जीवन में वे जिस मार्ग के अनुयायी हो गये थे, उनके शिष्य गोरक्षनाथ ने उन्हें पुन योगमार्ग में लौटाया था। योगिनी कौलमार्ग का संक्षिप्त परिचय ही यहाँ आवश्यक है क्योंकि जिस संयमित जीवन की ओर गोरखनाथ का लक्ष्य है उसमें मत्स्येन्द्रनाथ की इस वाममार्गी साधना के लिए कोई स्थान नहीं है। यह अवश्य हो सकता है जैसा कि अनेक परवर्ती सम्प्रदायों में होता है कि बाद में मत्स्येन्द्रनाथ की वाममार्गी साधनाएँ भी कुछ सम्प्रदायों के साधकों ने अपना ली हों। परवर्ती नाथ पंथ में 'वज्रोली' और 'चक्रपूजा' का समावेश भी होगया है[1] जो गोरखनाथ के उपदिष्ट मार्ग से कहीं मेल नहीं खाता।

कौलज्ञान निर्णय में निम्नलिखित विषयों का विस्तार है—सृष्टि प्रलय, मानसलिंग का मानसोपचार से पूजन, निग्रह, अनुग्रह क्रापण हरण, प्रतिमाजल्पन, घट पाषाणस्फोटन आदि सिद्धियाँ, भ्रांतिनिरसत ज्ञान, जीव स्वरूप जरामरण, पलित (केशों का पकना) का निवारण, अकुल से कुल की उत्पत्ति तथा कुल का पूजनादि, गुरु पंक्ति, सिद्ध पंक्ति और योगिनी पंक्ति, चक्रध्यान, अद्वैत चर्चा, पात्र चर्चा, न्यास विधि, शीघ्र सिद्धि देने वाली ध्यान मुद्रा, महाप्रलय के समय भैरव की आत्मरक्षा, भक्ष्यविधान तथा कौलज्ञान का अवतारण, आत्मवाद, सिद्धपूजन और कुलदीपविज्ञान, देहस्थ चक्रस्थित देवियाँ, कपाल भेद, कौलमार्ग का विस्तार, योगिनी संचार और देहस्थ सिद्धों की पूजा।[2] मुख्य बात है कुल और अकुल, शिव और शक्ति के अद्वैत भाव की परिणति। मत्स्येन्द्रनाथ की बाद की रचनाओं में 'कुंडलनी' तथा 'सामरस्य' दोनों का प्रयोग हुआ है, तदनुसार सहज साधना और दुःसह साधना के भेद भी मिलते हैं। इसी सहज भावना को लेकर अनेक विद्वानों ने मत्स्येन्द्रनाथ को बौद्ध वज्रयानी साधक माना है। मत्स्येन्द्रनाथ तिब्बती परम्परा में बहुत बड़े सिद्ध माने जाते हैं और नेपाल के बौद्ध तो उन्हें अवलोकितेश्वर का अवतार ही मानते हैं।[3] किन्तु डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि कौलज्ञान निर्णय में जो परम्परा बतायी गयी है वहाँ शिव (भैरव) के विभिन्न युग के कई अवतारों का उल्लेख तो है पर कहीं भी बुद्ध या बोधिसत्व अवतार का नाम नहीं है। अवलोकितेश्वर के अवतार का भी उसमें पता नहीं है। इसके विरुद्ध सहजयानी सिद्धों की पोथियों में बराबर तथागत का नाम आता है और वे अपने को शायद कहीं भी कौल नहीं कहते। मत्स्येन्द्रनाथ ने जिस

---

[1] **गोरक्ष पद्धति**, पृ० ४८।

[2] **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५६।

[3] **योग प्रवाह**—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ६७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन कौलमार्ग की चर्चा की है वह निश्चय ही शाक्तमत था, बौद्ध नहीं।[1] शाक्त मत के सम्बन्ध पूर्व में ही विचार किया चुका है, शक्ति के बिना शिव असमर्थ ही रहते हैं इसीलिए शक्ति ही उपास्य है, इसकी साधना का स्वर अद्वैतवादी है। ज्ञान, अज्ञान, धर्म-अधर्म सबसे ऊपर ब्रह्म और ब्रह्म की शक्ति का विलास है। ज्ञान बन्धन का कारण है। कौलमार्गी अपने को मुक्त अनुभव करता है। वह अपनी साधना का मर्म किसी को नहीं बताता। उसका रहस्य साधारणतया जाना नहीं जा सका। भीतर से शाक्त, बाहर से शैव और लोक में वैष्णव होकर ही वह अपना आचार करता है।[2]

दार्शनिक भूमिका में मत्स्येन्द्रनाथ का कौलमार्ग शाक्त तंत्रों का अनुयायी है, वह सत्कार्यवादी है, जो वस्तु कभी थी ही नहीं वह कभी हो नहीं सकती, कार्य की अव्यक्तावस्था का नाम ही कारण है और कारण की व्यक्तावस्था का नाम ही कार्य, किन्तु कौल साधना और गोरक्षनाथ की योग साधना में अंतर है। यद्यपि यह माना जाता है कि योगी और कौल साधक का लक्ष्य एक है तथापि योगी लोग योगवर्जन पूर्वक यम नियमादि की कठोर साधना द्वारा अष्टांग योग साधन करके समाधि के अंत में व्युत्थान अवस्था में निर्विकल्प आनन्द अनुभव करते हैं।[3] किन्तु कौलमार्गी कुलसाधना के विहित विधि से कुलद्रव्य, मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा और मैथुन का संस्कार कर सेवन करते हैं और सिद्धि प्राप्त करते हैं। यद्यपि कुलद्रव्यों की आध्यात्मिक व्याख्या ही कौलमार्ग का हेतु प्रतीत होता है फिर भी साधकों की मानवीय दुर्बलताओं ने उसको विकृत अवश्य किया है। 'पंच पवित्र' के रूप में प्रयुक्त विष्टा, धारामृत, शुक्र, रस और मज्जा ने आगे चल कर 'पंचमकार' का स्वरूप धारण कर लिया और उसका प्रभाव अनेक रूपों में भारतीय साधना के क्षेत्र में होता रहा। अभेद भाव के साधक को जिन परिस्थितियों की ओर मोड़ दिया, वे नाथ पंथ के सम्प्रदायों में कभी आध्यात्मिक और साधनात्मक ढंग से प्रयुक्त हुईं तो कभी हेय दृष्टि से भी देखी गयीं। जिस वज्रोली मुद्रा तथा चक्रपूजा की चर्चा मत्स्येन्द्रनाथ के मार्ग में मिलती है वह आगे चल कर नाथ योगी की साधना का लक्ष्य भी बन गयी है। सुलभ और सहज साधना के नाम पर वशवर्ती स्त्री की साधना और भोग के उपकरों की लालसा ही शेष रह गयी। प्रतीत होता है, यह वही साधना है जिसमें मत्स्येन्द्रनाथ भटक गये थे और गोरक्षनाथ ने उनका उद्धार किया था।

गोरक्षनाथ का उपदिष्ट मार्ग

गोरक्षनाथ के नाम से अनेक ग्रंथ प्रचलित हैं, कुछ संस्कृत भाषा में हैं तथा

---

१ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६१।

२ **वही**, पृ० ६३।

३ **वही**, पृ० ६९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुछ हिन्दी में।[१] यद्यपि यह कहना बहुत कठिन है कि गोरखनाथ द्वारा रचित ग्रन्थ कौनसे हैं, फिर भी इनके ही आधार पर गोरखनाथ द्वारा उपदिष्ट योग मार्ग का विवेचन विद्वानों ने किया है। इन ग्रन्थों के अवलोकन से पता चलता है कि गोरक्षनाथ ने योग मार्ग को बहुत ही व्यवस्थित रूप दे दिया था। विद्वानों का मत है कि इन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों को आत्मसात् कर स्वामी शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त को ही अपनी साधना का आधार माना था यद्यपि शंकर वेदान्त से अपना भेद बताने के लिए नाथ पंथ के साधक अपने को 'द्वैताद्वैत विलक्षणवादी' कहते हैं।[२] भारतीय धर्मसाधना में जिस वामाचार का समावेश हो गया था, उसमें संयम और शील की स्थापना ही गोरखनाथ का हेतु प्रतीत होता है इसलिए उनके मार्ग में सिद्धान्तों की अपेक्षा साधना पर अधिक बल दिया गया है। सामान्यतः गोरखनाथ ने अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आने वाली योग साधना का आश्रय लिया था। उनके मार्ग को 'हठयोग' कहा गया है। हठयोगी के लिए कायाज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है, कुण्डलनी शक्ति में ही इस शरीर की सबसे कार्यकारिणी शक्ति है। परमशिव की सृष्टि रचने की इच्छा (सिस्टक्षा) ही शक्ति है और यह शक्ति पाँच अवस्थाओं–निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डलिनी–से निकलती हुई स्फुटित होती है। शिव ही अपनी सिस्टक्षा रूपा शक्ति के कारण इस जगत के रूप में बदल गये हैं। संसार में जो कुछ भी पिण्ड है वह वस्तुतः उसी प्रक्रिया से गुजरता हुआ बना है जिस अवस्था में से यह समूचा ब्रह्मांड बना है। गोरक्षमत में प्रथम सिद्धांत यह है कि जो कुछ भी ब्रह्मांड में है, वह सभी पिण्ड में है, पिण्ड मानो ब्रह्मांड का संक्षिप्त संस्करण है।[3] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि गोरक्षनाथ का योग मार्ग साधनापरक मार्ग है इसलिए केवल व्यावहारिक बातों का ही विस्तार उसमें दिया हुआ है। मनुष्य शरीर को ही प्रधान पिण्ड मान कर इसकी व्याख्या की गयी है। बताया गया है कि मनुष्य के किस-

---

१ **संस्कृत ग्रंथ : (१) अमनस्क, (२) अमरौधशासनन्, (३) अवधूत गीत, (४) गोरक्षकल्प, (५) (गोरक्ष) कौमुदी, (६) गोरक्षगीता, (७) गोरक्ष चिकित्सा, (८) गोरक्ष प्रपंच, (९) गोरक्ष पद्धति, (१०) गोरक्षशतक, (११) गोरक्षशास्त्र, (१२) गोरक्षसंहिता, (१३) चतुरशीत्यासन, (१४) ज्ञान प्रकाश शतक, (१५) ज्ञान शतक, (१६) ज्ञानामृत योग, (१७) नाड़ी ज्ञान प्रदीपिका, (१८) महार्थ संहिता, (१९) योग चिंतामणि, (२०) योगमार्तण्ड, (२१) योगबीज, (२२) योगशास्त्र, (२३) योग सिद्धासन पद्धति, (२४) विवेक मार्तण्ड, (२५) श्रीनाथसूत्र, (२६) सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, (२७) हठयोग, (२८) हठ संहिता।**
(डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के ग्रन्थ 'नाथ सम्प्रदाय' के आधार पर, हिन्दी ग्रन्थों की सूची के लिए देखिए पृ० ९८।)

२ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १११।

3 **वही, पृ० ११०।**

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

किस अंग में ब्रह्मांड का कौन-कौनसा अंश है। पाताल कहाँ है, स्वर्ग कहाँ है, साधन मार्ग के तीर्थस्थान कहाँ हैं, गंधर्व, यज्ञ, उरग, किन्नर, भूत-पिशाच आदि के स्थान कहाँ हैं ?[१]

इस काया को जाने बिना मोक्ष कैसे सम्भव है ? मोक्ष का दान वही दे सकता है जो स्वयं मुक्त हो। योगी ही मुक्त हो सकता है। पतंजलि मुनि ने जिस योग विद्या का उपदेश दिया है, गोरक्षनाथ का मार्ग भी उसी का अनुकरण करता हुआ प्रतीत होता है। चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा गया है।[२] गोरक्षनाथ द्वारा गृहीत सिद्धांतों की चर्चा करते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने एक स्थल पर लिखा है कि वैराग्य की भावना जब हृदय में दृढ़ता से उत्पन्न हो जाती है तब वह अपनी अभिव्यंजना में तीन मार्ग ग्रहण करती है। पहला मार्ग **इन्द्रियनिग्रह** का है, दूसरा **प्राण-साधना** का और तीसरा **मन-साधना** का। पहला मार्ग सबसे प्रमुख है। नाथ सम्प्रदाय में इन्द्रियनिग्रह पर बड़ा जोर दिया गया है।[3] इसी तथ्य को दूसरे रूप में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है : शरीर में तीन शक्तियाँ अत्यन्त शक्तिशाली और चंचल हैं--(१) पिण्ड अर्थात शुक्र, (२) वायु, और (३) मन। ब्रह्मचर्य को सिद्धांत और साधना दोनों ही रूपों में गोरक्षमत में विशेष स्थान दिया गया है। तत्कालीन भारतीय चिंता के तांत्रिक और कामोपभोग की प्रतिक्रिया के रूप में अथवा जीवन के शाश्वत सत्य के रूप में नाथ पंथ ने संयम को अत्यधिक महत्त्व दिया है, यह तथ्य नाथ पंथ के सिद्धांत निरूपण में विशेष रूप से दृष्टव्य है। इन्द्रियनिग्रह में नारी का संग सबसे अधिक बाधक है। जो साधक इन्द्रियनिग्रह कर और चित्त में कामनी की इच्छा नहीं रखता उसकी वंदना तथा सेवा शिव और पार्वती भी करते हैं। गोरखवानी में इसी आशय को लेकर निम्नलिखित सबदी दृष्टव्य है :

अजपा-जपै सुनि मन धरै। पाँचौं इन्द्री निग्रह करै ।।
ब्रह्मअग्नि में होमे काया। तास महादेव वंदे पाया ।।
धन जोवन की करे न आस। चित्त न राखे कामनि पास ।।
नाथबिन्दु जाकै घट जरै। ताकी सेवा पारवती करै ।।[४]

गोरखनाथ के अथवा नाथ पंथ के सिद्धांत ग्रन्थों में सबसे पहले गुरु के माहात्म्य पर प्रकाश डाला गया है। एकमात्र **अवधूत** ही गुरु हो सकता है, अवधूत जिसके प्रत्येक वाक्य में वेद निवास करते हैं, पद-पद में तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टि में कैवल्य विराजमान हैं, जिसके एक हाथ में त्याग है और दूसरे में भोग है, और फिर भी जो त्याग और भोग दोनों से अलिप्त है।[५] इन ग्रन्थों में पुस्तकी विद्या का विनोद किया गया

---

१ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ११०।
२ **राजयोग**—स्वामी विवेकानन्द, पृ० १२६।
३ **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ११२।
४ **गोरखवानी**, सबदी, १८, १६ पृ० ७।
५ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। वेद भी दो प्रकार के माने गये हैं—स्थूल, तथा सूक्ष्म। स्थूल वेद से योगियों का कोई सम्वन्ध नहीं है। ओंकार ही सूक्ष्म वेद हैं और मुक्ति भी नाथ रूप में अवस्थान होना ही है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने नाथ पंथ के सिद्धांतों की चर्चा करते हुए एक स्थल पर लिखा है कि गुरु गोरखनाथ के दार्शनिक सिद्धांत वेदान्तपरक जान पड़ते हैं और उनकी योग सम्बन्धी रचनाओं के अंतर्गत भी अद्वैत सिद्धांत का ही प्रतिपादन लक्षित होता है। परन्तु मोक्ष-प्राप्ति के साधन भेद द्वारा वेदान्त निर्दिष्ट साधना एवं नाथ पंथ की साधना में महान अंतर है।[१] नाथ पंथ की साधनापद्धति पर पृथक से विचार किया ही जायगा, सिद्धांत रूप से गोरक्षनाथ के द्वारा संगठित नाथ पंथ भारतीय धर्मसाधना का एक ऐसा समन्वित साधना मार्ग है जिसमें एक ओर वेदांत का स्वर है तो दूसरी ओर योग का आत्मचिंतन, और साथ ही सांख्य का प्रकृति और पुरुषवाद। मध्ययुगीन धर्मभावना में नाथ पंथ के सिद्धांतों ने जो आमूल परिवर्तन करने का उद्‌घोष किया उसमें कठोर ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आंतरिक शुद्धि और मद्यमांसादि के पूर्ण बहिष्कार पर विशेष बल है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि शुद्ध जीवन, सात्विक वृत्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम सीमा तक पहुँच चुकी थी। गोरक्षनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया।[२] उनके सिद्धांत केवल बुद्धि विलास नहीं हैं अपितु साधना की वस्तु हैं, अनन्त साधना के बाद लक्ष्य की प्राप्ति होती है। लोकपक्ष में नाथपंथी साधना पद्धति ने किस मार्ग को प्रश्रय दिया और उसका प्रभाव किस रूप में हिन्दी के निर्गुण संत कवियों पर अग्रसर होकर उसके सूत्रों पर पड़ा इसी के साथ विचार करना उपयुक्त होगा।

नाथ पंथ की साधना पद्धति एवं उसकी लोकाभिव्यक्ति

नाथ पंथ की साधना को 'हठयोग' की साधना कहा गया है। हठयोग की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न स्थापनाएँ है। साधारणतया प्राणनिरोध प्रधान साधना को ही हठयोग की साधना कहा जा सकता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि हठयोग का मूल अर्थ यही जान पड़ता है कि कुछ इस प्रकार अभ्यास किया जाता था जिससे हठात् सिद्धि मिल जाने की आशा की जाती थी।[3] गोरखनाथ के आविर्भाव से पूर्व भी हठयोग की साधना प्रणाली प्रचलित थी जिसके आधार पर कुछ विद्वान गोरक्षनाथ द्वारा उपदिष्ट योगमार्ग तथा पूर्ववर्ती हठयोग साधना में भेद मानते हैं। इस भेद का मुख्य आधार है षडंगयोग तथा अष्टांग योग। किन्तु नाथपंथी ग्रन्थों में इन दोनों की चर्चा मिलती है।

---

१ उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० ६०।

२ नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १८८।

3 वही, पृ० १२३।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नाथपंथी साधना जिसे हठयोग के नाम से अभिहित किया गया है, योग दर्शन का ही एक प्रकार है। योग दर्शन पातंजल दर्शन के नाम से प्रख्यात हुआ है। यह एक ऐसी विद्या है जिसमें वादविवाद के लिए बहुत ही कम स्थान है। डा० बल्देव उपाध्याय का कथन है कि योग के अनेक प्रकार हैं। बुद्ध धर्म के पाली त्रिपिटकों तथा संस्कृत ग्रन्थों में योग की प्रक्रिया का विशिष्ट वर्णन है। महावीर स्वयं योगी थे और जैन धर्म में योग का विवेचन पर्याप्त मात्रा में किया गया है। तंत्रों में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान प्रसिद्ध ही है। गोरक्षनाथ के नाथ सम्प्रदाय में योग का इतना आदर है कि उस सम्प्रदाय को 'योगी' सम्प्रदय के नाम से पुकारते हैं। नाथपंथी सिद्ध हठयोग के परमाचार्य थे। मंत्रयोग, लययोग आदि योग प्रसिद्ध ही हैं।[१] हठयोग की साधना प्रणाली पर विचार करने के पूर्व संक्षेप में पातंजल योग पर एक दृष्टि डाल लेना उपयुक्त होगा।

कुछ विद्वान योग साधना को आर्येतर साधना मानते हैं।[२] किन्तु ऐसे कोई प्रमाण नहीं मिलते जिसके आधार पर यह बात स्वीकार की जाय। योग की आध्यात्म प्रक्रिया बहुत ही प्राचीन है। संहिताओं में, ब्राह्मणों में, तथा उपनिषदों में इसका कहीं तो संकेत है और कहीं इसका सुन्दर विवेचन है। यह सांख्य के द्वारा उद्धृत तत्त्व मीमांसा को अपनाता है परन्तु ईश्वर की सत्ता मानकर उसे छब्बीसवें तत्त्व के रूप में मानता है।[3] मूल पातंजल दर्शन चार भागों में विभक्त है :

(१) समाधि पाद, (२) साधन पाद, (३) विभूति पाद, और (४) कैवल्य पाद। पातंजलयोग का द्वितीय सूत्र है योगश्चित्तवृत्तिनिरोध[४] अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा गया है। चित्त की पाँच भूमि या अवस्थाएं होती हैं : (१) क्षिप्त, (२) मूढ़, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र, और (५) निरुद्ध। इन पाँच भूमियों में प्रथम तीन समाधि के लिए नितान्त अनुपयोगी हैं, परन्तु अन्तिम दोनों भूमियों में योग का उदय होता है। इन भूमियों के अनुरूप चित्त के चार प्रकार के परिणाम होते हैं। क्षिप्त और मूढ़ भूमियों में व्युत्थान, विक्षिप्त में समाधि प्रारम्भ, एकाग्र में एकाग्रता तथा निरुद्ध में निरोध लक्षण परिणाम होते हैं।[५] किन्तु सभी प्रकार के निरोध को योग नहीं कह सकते। सूत्रकार का तात्पर्य उस प्रकार के निरोध से है जिसके होने से अविद्या आदि क्लेशराशि नष्ट होती है, बुद्धि के लिए सात्विक निर्मलभाव की वृद्धि होती है और वह सहजावस्था प्राप्त होती है जो वास्तविक चित्तवृत्ति निरोध है।[६] समाधि के दो भेद हैं :

---

१ भारतीय दर्शन—डा० बल्देवउपाध्याय, पृ० ३६६।
२ हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० ३०७।
३ भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ३६७।
४ राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, पृ० १२६।
५ भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ३७१।
६ नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ११५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१) संप्रज्ञात, और (२) असंप्रज्ञात। संप्रज्ञात समाधि में सब वृत्तियों का निरोध नहीं होता है जबकि असंप्रज्ञात समाधि में सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध हो जाता है। समाधि के लिए आलम्बन आवश्यक है। उसकी तीन कोटियाँ होती हैं—ध्याता, ध्येय, और ध्यान। आलम्बन जब बहुत काल तक विद्यमान रहता है, उस दशा की समाधि का नाम है संप्रज्ञात समाधि और जब आलम्बन धीरे-धीरे क्षीण हो जाता है और चित्त अपने विशुद्ध निरालम्ब दशा में उपनीत होता है तब असंप्रज्ञात समाधि होती है। यह निरालम्ब दशा (१) स्थूल ग्राह्य अर्थात् पंचभूत, फिर (२) सूक्ष्म ग्राह्य अर्थात् पचंतन्मात्रा, फिर (३) ग्रहण अर्थात् इन्द्रिय, और फिर अंत में (४) आस्मिता को आलम्बन करके एकाग्रता की साधना है।[1]

सांख्य और योगदर्शन का तत्त्ववाद प्रायः एक ही है, केवल सांख्य ईश्वर को नहीं मानता, योगदर्शन मानता है। योग में सूक्ष्म, ग्राह्य और ग्रहण की व्याख्या सांख्य तत्त्ववाद पर आधारित है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही विश्व की सृष्टि होती है, पुरुष अनेक हैं, वह विशुद्ध चेतनस्वरूप, उदासीन और ज्ञाता है, प्रकृति जड़ है, उन्हें अपने जाल में बाँधती है। यह जगत प्रकृति का ही विकास है। पुरुष व प्रकृति के साहचर्य से ही जड़ प्रकृति में विक्षोभ होता है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। सत्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है। सांख्य दर्शन के अनुसार २५ तत्त्व होते हैं जिसके जानने से किसी भी आश्रम का पुरुष, चाहे वह ब्रह्मचारी हो, संन्यासी हो या गृहस्थ हो, दुःखों से अवश्यमेव मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[2] दृश्यमान जगत को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा गया है—(१) प्रकृति, (२) प्रकृति विकृति, (३) विकृति, (४) न प्रकृति न विकृति। सृष्टि के विकास का सूत्र सांख्य में इस प्रकार आँका गया है। प्रलय दशा में प्रकृति साम्यावस्था में रहती है। उसके तीनों गुण समभाव से रहते हैं। पुरुष के साथ संयोग होते ही इन गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है, तब प्रकृति न रहकर विकृति का रूप धारण करने लगती है। प्रकृति से महत् तत्त्व या बुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है, महततत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार के गुणों की विषमता के कारण उसके तीन रूप होते हैं—सत, रज, तम।

तैजस अहंकार सात्विक और तामस अहंकारों का प्रवर्तक होता है। सात्विक अहंकार से ११ इन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ ज्ञानेन्द्रिय, १ मन, तथा तामस अहंकार से पंचतन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) और विकृति से—पंच महाभूत (पृथ्वी, जल तेज, वायु और आकाश से यह सृष्टि बनी है। सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया इस प्रकार है :

---

[1] **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ११५।

[2] **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ३२९।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

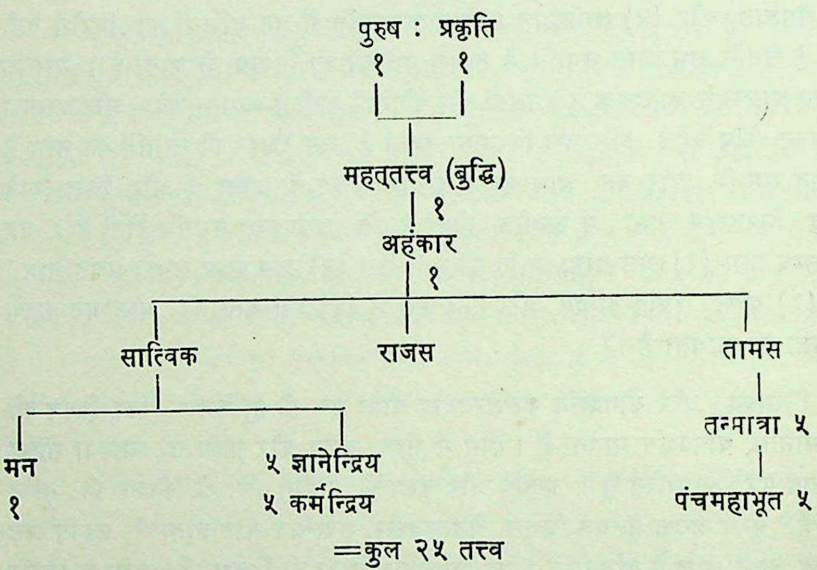

योग में चित्त शब्द अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि और अहंकार के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पुरुष (आत्मा) स्वभावतः शुद्ध और निर्विकार है परन्तु अज्ञान के कारण अपने को चित्त से अभिन्न समझता है। किन्तु चित्त असल में प्रकृति का परिणाम होने के कारण जड़ है, चेतन पुरुष की छाया पड़ने के कारण वह चेतन की भाँति जान पड़ता है।[1] चित्त की वृत्तियाँ असंख्य हैं। उन्हें पाँच मोटे भागों में बाँटा गया है—(१) प्रमाण, (२) विपर्यय, (३) विकल्प, (४) निद्रा, और (५) स्मृति। चित्त की ये वृत्तियाँ रागद्वेष और मोह से अनुविद्ध होकर क्लेश का कारण होती हैं। मोक्ष की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को इनका निरोध करना चाहिए। इसके दो साधन हैं अभ्यास, और वैराग्य। असप्रज्ञात समाधि कठोर साधना का परिणाम है। इसके उत्कृष्ट उपाय हैं श्रद्धा, दीर्घ स्मृति और योगांग। असंप्रज्ञात समाधि की दशा में पहुंचने पर आत्मा (पुरुष) विशुद्ध चैतन्य रूप में प्रतिष्ठित होती है और वह सब वस्तुओं में पृथक होकर अपने आप में स्थित हो जाती है अर्थात् वह केवल असंपृक्त रूप में विद्यमान होती है। इसी दशा का नाम है 'कैवल्य'। योग का यही ध्येय है।[2]

चित्त अनेक क्लेशों का भाजन है। क्लेश पाँच प्रकार के माने गये हैं : (१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष, और (५) अभिनिवेश। इनमें से प्रथम चार क्लेशों का कारण अविद्या है। क्रिया योग की सहायता से क्लेश क्षीण किये जा सकते हैं। योग

---

[1] **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ११६।

[2] **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ३७८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दर्शन में समूचे शास्त्रार्थ को चार भागों में विभक्त करके समझाया गया है—(१) हेय, (२) हेय हेतु (३) हान, और (४) हानोपाय। जितने दुःख हैं और उन दुःखों को उत्पन्न करने वाले जितने पदार्थ हैं वे सभी हेय अर्थात् त्याग योग्य हैं, योग्य भोक्ताभाव रूप संयोग है, वही हेयहेतु है। अविद्या के उच्छेद से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है, यही हेय हान है। योग का यही चरम लक्ष्य है।

जब तक विवेक ख्याति नहीं हो जाती तब तक योगांगों के अनुष्ठान से चित्त को विशुद्ध करने का उपदेश शास्त्रकार ने दिया है। ये आठ हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान, और समाधि।[1]

(१) बाहरी और भीतरी इन्द्रियों के संयमन (वृत्तिसंकोचन) को यम कहते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—पाँच प्रकार के यम माने गये हैं।

(२) संयमों की उपलब्धि के लिए पाँच प्रकार के नियम बनाये गये हैं—शौच (पवित्रता), संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान।

(३) आसन से तात्पर्य है हाथ-पैर आदि का विशेष ढंग से सन्निवेश। आसन अनेक हैं किन्तु सुखकर और स्थिर आसन को ही योगसाधन का उत्कृष्ट उपाय माना गया है।

(४) श्वास को भीतर भरना (पूरक), उसे देर तक भीतर ही आबद्ध रखना (कुम्भक), और फिर बाहर निकालना (रेचक) प्राणायाम कहा जाता है।

(५) वाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्पर्क हटाकर चित्त का सम्पूर्ण रूप से अनुकरण प्रत्याहार है।

(६) चित्त को बलपूर्वक, किसी एक ही वस्तु को बलपूर्वक बाँधने को धारणा कहते हैं।

(७) धारणा से जब चित्त स्थिर हो जाता है तो उस विषय की एकाकार चिंता को ध्यान कहते हैं।

(८) समाधि की अवस्था में संयम का विनियोग करना होता है।

योग के इन आठ अंगों में पाँच वहिरंग और तीन अंतरंग हैं। योग का अभ्यास करने से साधक की अवस्था में विशेष विशिष्टता लक्षित होती है और उसे अधिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, ऐसा विद्वानों का मत है। योग दर्शन में गुरु और ईश्वर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ज्ञान गुरु से उपलब्ध होता है। आदिगुरु को ज्ञान देता है वह कौन हो सकता है, फलतः परम निधि होने की योग्यता जिस व्यक्ति में है वही ईश्वर है। डा० द्विवेदी का कथन है कि पुरुष के प्रति दोनों प्रकार के करणीय कर्म सिद्ध हो जाने से प्रकृति भी कृतकृत्य हो जाती है और अनादिकाल का लिंगशरीर चूँकि प्रकृति

---

[1] **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ३७९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का परिणाम होता है इसलिए वह भी विरत हो जाता है। यही योग का परम प्रतिपाद्य है।[१]

पातंजल दर्शन विचारप्रधान दर्शन ग्रन्थ है जबकि मध्ययुग की हठयोग साधनाएँ प्रक्रिया प्रधान हैं।[२] हठयोग के अभ्यासी को काया ज्ञान होना आवश्यक है। मेरुदण्ड जहाँ सीधे जाकर वायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहाँ एक स्वयंभूलिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है। इसे अग्नि चक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्नि चक्र में स्थित स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेट कर सर्पणी की भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। यह ब्रह्मभाव में व्याप्त महाकुण्डलिनी रूपी शक्ति का पिण्ड में व्यक्त रूप है। इस शक्ति को जगाकर शिव से समरस करना योगी का चरम लक्ष्य है।[३] कुण्डलनी के उद्‌बोधन से मोक्ष द्वार हठात् ही खुल जाता है, इसी कारण इस योग को **हठयोग** कहते हैं। हठयोग मूलतः अपने आप में साध्य नहीं है, राजयोग का सोपान ही बताया गया है किन्तु पक्का हठयोगी इसके सिवाय किसी अन्य योग की बात सुनना ही नहीं चाहता। कुण्डलिनी योग और हठयोग को अनेक विद्वान् पृथक-पृथक मानते हैं तथा गोरक्षमत में कुण्डलिनी की विशेष चर्चा लोकभाषा के ग्रन्थों में नहीं है फिर भी नाथपंथी साधना पद्धति में संस्कृत के अनेक ग्रन्थों में कुण्डलनी योग को स्वीकार किया गया है।

सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में 'ह' का अर्थ सूर्य बताया गया है और 'ठ' का अर्थ चन्द्र। इस प्रकार सूर्य और चन्द्र के योग को हठयोग कहा गया है।[४] इसी बात की व्याख्या नाना भाव से की गयी है। सूर्य से तात्पर्य प्राण वायु का है और चन्द्र से अपान वायु का। इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का निरोध करना ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या यह है कि सूर्य इड़ा नाड़ी को कहते हैं और चन्द्र पिंगला को। इसलिए इड़ा और पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्ना मार्ग से प्राण वायु को संचारित करने के मार्ग को हठयोग कहते हैं।[५]

काया साधना के लिए शरीर में जो तीन अत्यन्त शक्तिशाली स्रोत हैं उन्हें योगी को अपने अधिकार में करना पड़ता है। उनमें से प्रथम है विंदु अर्थात् शुक्र, दूसरा है प्राण, और तीसरा है मन। यदि योगी किसी एक को स्थिर कर ले तो अन्य दो स्वयं ही उसके अधीन हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य और प्राणायाम के द्वारा विन्दु को

---

१ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १२२।

२ **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६५।

३ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १२४।

४ **हकार कथित : सूर्यष्ठकारश्च उच्यते।**
सूर्याचन्द्र यसोर्योगात हठयोगो निगद्यते॥

५ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १२३।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्थिर और ऊर्ध्व मुख किया जा सकता है। इन्द्रिय निग्रह के बिना नाथपंथी साधना सम्भव नहीं है।[1] इसीलिए नाथ पंथ में नारी को दूर रखने के अनुशासनपूर्ण आदेश दिये गये हैं। कामोपयोग के साधनों का निरोध ही इसका मुख्य हेतु है। ब्रह्मचर्य और प्राणायाम के साथ-साथ नाथपंथी साधना में यह भी आवश्यक समझा गया कि नाड़ियों को शुद्ध कैसे किया जाय। हठयोग में षटकर्म का विस्तृत विधान है, साधन ग्रन्थों में इन्हें धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौद्धि, कपालभाति कहा गया है। नाड़ी के शुद्ध होने से पिण्ड स्थिर हो जाता है, सुषुम्ना का मार्ग साफ हो जाता है, प्राण और मन क्रमशः अचंचल होते हैं और प्रबुद्ध कुण्डलिनी परमेश्वरी सहस्रार चक्र में स्थित शिव के साथ समरस हो जाती है और योगी चरम प्राप्तव्य पा जाता है।[2] इसी साधना के लिए वज्रोली मुद्रा का अभ्यास नाथयोगी सम्प्रदाय में बाद में स्वीकृत हो गया यद्यपि गोरखनाथ के मत में उसका कोई उल्लेख नहीं है। सुषुम्ना मध्य नाड़ी है, इड़ा दक्षिणांग में व्याप्त सूर्य नाड़ी है तथा पिंगला वामांग में व्याप्त चन्द्र नाड़ी। योगी सूर्य और चन्द्र मार्गों को अभ्यास के द्वारा बन्द कर देता है और इस प्रकार योनिकंद के मूल में स्थित सुषुम्ना के मुख को खुला पाकर कुण्डलिनी ऊर्ध्व मुख होती हैं। उद्‌बुद्ध कुण्डलिनी नामक शक्ति षट् चक्रों को भेदती है। वे हैं : (१) मूलाधार चक्र, (२) स्वाधिष्ठान चक्र, (३) मणिपूरक, (४) अनाहत (५) विशुद्धाख्य चक्र, और (६) आज्ञा चक्र। अधोमुखी कुण्डलिनी षट् चक्रों का भेदन करती हुई तालु मूल से सिर तक स्थित सहस्रार के ब्रह्मरन्ध्र का स्पर्श करती है।[3] प्राणवायु के निरोध से इस पिण्ड में ही ब्रह्मांड की सार्थकता योगी अनुभव करता है। षट् चक्र की विस्तृत तालिका का परिचय डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने निम्नलिखित रूप में दिया है (षट् चक्र की तालिका पृ० १२२ पर देखिए) :

कुण्डलिनी के उद्‌बुद्ध हो जाने पर साधक अनाहत ध्वनि या अनहद नाद को सुनने लगता है। कुछ विद्वानों ने इसी को सुरत शब्द योग कहा है।[4] षट् चक्र के साथ-साथ योगी को सोलह आधार, दो लक्ष्य और पंचव्योम का ज्ञान भी होना चाहिए।[5]

---

[1] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ११३।

[2] नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १२५।

[3] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ११३।

[4] वही, पृ० ११४।

[5] सोलह आधार तीनों सृष्टि को स्थिर करने वाले—(१) पदांग्रष्ठ, (२) मूलाधार, (३) गुह्याधार, (४) पिण्ड चक्र, (५) नाड्याधार, (६) नाभिमूमण्डलाधार, (७) हृदयाधार, (८) कंठाधार, (९) क्षुद्रघण्टिकाधार, (१०) तालपन्ताधार, (११) रसाधार, (१२) ऊर्ध्वंदण्तमूलक, (१३) नासिकाग्र, (१४) नासामूल, (१५) भ्रूमध्याधार, (१६) नेत्राधार। दो लक्ष्य : (१) वाह्य लक्ष्य, (२) आन्तर लक्ष्य। पाँच आकाश—(१) स्वेत वर्ण, (२) रक्त वर्ण, (३) धूम्रवर्ण, (४) नीलवर्ण, (५) सूर्याकाश।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

षट् चक्र[1]

चक्र	स्थान	दल संख्या	वर्ण	तत्त्व और गुण	तत्त्व का रंग	मंडल का आकार	बीज और वाहन	देवता और वाहन	धातु शक्ति	लिंग और योनि	अनन्य तत्त्व और इन्द्रिय	पीठ
१. मूलाधार	रीढ़ के अधोभाग में पादु और मुष्क मूल के मध्य	४	व,श,ष,स	पृथ्वी आकर्षण गन्ध	पीत	वर्गाकार	लं, एरावत	ब्रह्मा, हंस	डाकिनी	स्वयंभू त्रैपर त्रिकोण	गंधतत्व घ्राणेन्द्रिय पैर	कामाख्या
२. स्वाधिष्ठान	मेरुदण्ड में पेढ़ू के ऊपर	६	ब,भ,म, य,र,ल	जटा, संकोचन रस	स्वेत	अर्धचन्द्र	व मकार	विष्णु, गरुण	राकिनी	....	रस तत्त्व रसना हाथ	
३. मणिपुर	मेरुदण्ड में नाभि के पास	१०	ड,ढ़,ण,न, त,थ,द,ध, प,फ	तेज प्रसरण रूप	लाल	त्रिभुज	रं मेष	रुद्र, वृषभ	लाकिनी	....	रूप तत्त्व चक्षु पादु	
४. अनाहत	हृदय के पास	१२	क,ख,ग,घ, ङ,च,छ,ज, झ,ञ,ट,ठ	वायु गति स्पर्श	धूम्र	षटकोण	या कृष्ण मृग	ईश	काकिनी	वाण त्रिकोण	स्पर्श त्वचा उपस्थ	पूर्णगिरि
५. विशुद्धारज्य	कण्ठ के पास	१६	अ,आ,इ,ई, उ,ऊ,ऋ,ॠ, लृ,ए,ऐ,ओ, औ,अं,अः	आकाश अवकाश शब्द	स्वेत	वृत	ह स्वेत हस्ती	सदा शिव	शाकिनी	....	शब्द कान	जालंधर नाक
६. आज्ञा	भुवों के बीच में	२	होक्ष मन		....	....	ओं	शंभु	हाकिनी	इतर त्रिकोण	महत सूक्ष्म प्रकृति	उड्डियन

[1] नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १२८ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाथपंथी साधना में वाद-विवाद के लिए स्थान नहीं है। गोरखनाथ का कथन है कि :

सारमसारं गहर गम्भीरं गगन उछलियानावं।
मानिक पाया फेरि लुकाया झूंठा वादविवावं ॥[1]

नाथपंथी साधना अत्यन्त जटिल है उसके लिए सद्गुरु की आवश्यकता होती है। इस साधना का हेतु चरित्रगत दृढ़ता और पवित्रता ही माना जायगा। पातंजलि-योग की मुख्य देन उसकी साधना पद्धति है जो भारतीय चिंता में अत्यन्त प्राचीनकाल से परिव्याप्त रही है। यही योग की साधना विकसित होती-होती हठयोग में परिणित हुई। 'चित्त निरोध' और 'काया साधना' के विभिन्न मार्ग महिमामय गुरुओं द्वारा आविष्कृत किये गये। नाना चक्रों की सृष्टि हुई। मुद्राओं का प्रयोग होता रहा। योग साधना का यह रूप किसी युग विशेष में कामोपयोग में भी प्रयुक्त हुआ जैसा कि हमने उत्तरकालीन बौद्ध साधना पर विचार करते हुए देखा है, किन्तु नाथ पंथ में उसकी प्रक्रिया वज्रयानी साधना से भिन्न चरित्र की दृढ़ता में प्रकट हुई। कुछ विद्वानों का मत है कि नाथपंथी साधना पद्धति पातंजलि योग साधना का ही विकसित रूप है उसका दार्शनिक अंश छोड़कर हठयोग जोड़ देने से नाथपंथी साधना पद्धति हो जाती है।[2]

लोकाभिव्यक्ति

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक स्थल पर लिखा है—"ऐसा जान पड़ता है कि उत्तर मध्यकाल में इन योगांगों को लोकभाषा में लिखने की परिपाटी दीर्घकाल से चली आती हुई परम्परा का अन्तिम रूप है। यह परम्परा लोकभाषा में थी और लोकहित ही उसका प्रधान लक्ष्य था। धीरे-धीरे उसका नैतिक स्वर भी प्रबल होता गया और साधनात्मक रूप मद्धिम पड़ता गया। निर्गुणियों और निरंज-नियों की वाणियों में इनका यही नैतिक रूप बचा रह गया है।"[3] भारतीय धर्मसाधना में दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में जिन विभिन्न साधनाओं का बोलबाला था उनमें नाथ पंथ की साधना पद्धति का स्वर अत्यन्त प्रभावशाली कहा जायगा। विद्वानों का अनु-मान है कि नाथपंथी साधना पद्धति में एक ओर बौद्ध सहजयान का विकास क्रम उपलब्ध होता है तो दूसरी ओर उससे विद्रोह कर स्वतन्त्र साधना की स्थापना मिलती है।[4] हमारा ऐसा मत है कि गोरक्षनाथ का स्वर समन्वय का स्वर नहीं था। स्वामी शंकराचार्य ने जिस समन्बयशील चिंता से बौद्ध धर्म के तात्त्विक प्रभाव को भारतीय धर्मसाधना से स्थानच्युत किया था उससे आगे गोरक्षनाथ का हेतु ऐसी ईश्वरवादी एवं नैतिक कठोर योग साधना के प्रवर्तन से था जो अपने विशुद्ध रूप में युगों से इस देश में प्रचलित थी। इसकी लोकाभिव्यक्ति शारीरिक शुद्धि और मन के सम्मार्जन में

---

1 **गोरखवानी १२**, पृ० ५
2 **हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि**, पृ० ३२६।
3 **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६८।
4 **योग प्रवाह**—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० २१७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निहित होकर मुखरित हो उठी। आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्डी जीवन के प्रति लोकमत का तत्कालीन प्रभाव इस साधना पद्धति पर भी पड़ा। गृहस्थ जीवन के प्रति परम्परागत उपेक्षा भाव भी नाथपंथी साधकों की रचनाओं में उपलब्ध होता है। दर्शन की कोटि में सूक्ष्म पातंजल योग की साधना को लोकमत में मुखरित होने का अवसर मिला, साधारण जनमानस में योगदर्शन की अपेक्षा उसकी प्रक्रिया प्रधान साधना का विशेष प्रचार हुआ और यही कारण है कि नाथपंथी योगियों ने लोकभाषा में अपनी साधनाओं को अभिव्यक्त किया। डा० पीतम्बर दत्त बड़थ्वाल का कथन है कि गोरखनाथजी अपने ढर्रे के केवल एक ही कवि नहीं हुए बल्कि वे हिन्दी कविता पर अपनी छाप लगा गये थे, उनके बहुत काल बाद तक उनके अनुयायी योग विषयक कविता रचते रहे।[१] उत्तर मध्ययुगीन हिन्दी कविता में जिसे संत साहित्य कहा गया है यही लोकाभिव्यक्ति अपने नैतिक रूप में मुखर हुई। योगमार्गी अभिव्यक्तियाँ साहित्य की कोटि में स्थान न पा सकीं किन्तु उन्होंने साहित्य को बहुत दूर तक प्रभावित किया है, यह तथ्य सर्वसम्मत है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि नाथपंथी रचनाओं में ब्रह्मचर्य, मधुर भाषण, संयम, सत्य की महिमा का वर्णन है, इनका स्वर नैतिक है किन्तु योगसाधना को एक आवश्यक कर्तव्य माना गया है। ज्ञानचर्चा अधिकतर कथनी प्रधान है। एक ही बात को कई प्रकार से घुमा-फिराकर, धक्काभार बनाकर, आकर्षक रूप देकर कहने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। ब्रह्मचर्य-पालन में स्त्री-वर्जन, स्त्री-निंदा आदि का रूप मिला है। ब्रह्मचर्य का जीवन न बिता सकने वाले को अत्यन्त कठोर भाषा में स्मरण किया गया है।[२]

'कथनी' और 'करनी' को लोकमत के निर्माण में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। करनी कठिन है, श्रमसाध्य है; कथनी सरल है, केवल बोलने तक ही उसकी सीमा है। नाथपंथी साधकों ने लोकाभिव्यक्ति को अपनी कठोर साधना से 'करनी' के रूप में मोड़ने का प्रयत्न किया है। गोरखनाथ ने एक स्थल पर कहा है :

कहणि सुहेली रहणि दुहेली, कहणि रहणि बिन थोथी।
पढ़्या गुंणया सूवा बिलाई साया, पंडित के हाथ रह गई पोथी॥[३]

किन्तु कथनी और करनी के सामंजस्य और विरोध के बाद भी कथनी की ज्ञान परक परम्परा का निर्वाह हमें मध्ययुगीन संतों की वाणियों में ज्यों का त्यों मिलता है। नाथपंथी योगियों की साधना के रुक्ष वातावरण का स्थान भक्ति के माधुर्य सान्निध्य

---

१ **योग प्रवाह—पीताम्बर बड़थ्वाल, पृ० ६५, ६६।**

२ **मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ० ६६।**
"रांड तक्या न षसिया जीवे, पुरुष तज्यां नहि नारी।"
कहै नाथ वे दोनों जिनसे घोषा की असवारी"......॥ (गोरखदानी)

३ **गोरखवानी, पृ० ४२।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने ग्रहण कर लिया। नाथपंथी लोकाभिव्यक्ति ज्ञानपरक तो है ही किन्तु उसका मूल-स्वर साधनापरक है। वह अपने युग की यथार्थ अभिव्यक्ति है, सम्भवतः उसकी सबसे बड़ी आवश्यकता भी मानी जा सकती है। नाथपंथी साधना में समन्वय का विकास पृथक रूप से हुआ प्रतीत होता है। गोरक्षनाथ के नेतृत्व में अनेक साधना मतों का संगठन हुआ था, कालान्तर में वे मत अपने-अपने क्षेत्र में अपनी साधनाओं को लेकर प्रभावशाली भी हुए होंगे, ऐसी स्थिति में गोरक्षनाथ का लोक प्रभाव और उनकी नाथपंथी साधना की लोकाभिव्यक्ति अनेक रूपों में हुई। जादू-टोने से लेकर संगीत और सतीधर्म तक में उनकी साधना का उल्लेख है। किन्तु साधकों की करनी कभी लोकमानस को अधिक प्रभावित न कर सकी। केवल औपचारिक श्रद्धा ही लोकमानस के द्वारा इन्हें प्राप्त हो सकी, इसीलिए जहाँ गोरक्षनाथ ने साधनाप्रवण लोक धर्म के स्वर को मुखरित किया वहाँ अपने पीछे एक ऐसे गुरुवाद के विकृत रूप को भी छोड़ा जिससे भारतीय चिन्ता अनेक युगों तक उसके प्रभाव में बहती अंधयुग के गर्त में ही पड़ी रही। साधना में विश्वास करने वाले सीधे-सच्चे साधकों को पुनः ज्ञान धारा की ओर उन्मुख हो जाना पड़ा। फलस्वरूप, जिस नये उन्मेश के साथ भारतीय लोकमानस मध्ययुगीन निर्गुण संतों द्वारा प्रभावित हुआ उसका परिचय हमें कबीर, दादू, रैदास आदि की वाणियों में उपलब्ध ही होता है।

नाथ पंथ की मूल प्रवृत्ति

नाथ पंथ के इस संक्षिप्त परिचय के आधार पर उस युग की मूल प्रवृत्ति पर भी विचार कर लिया जाय। भारतीय धर्मसाधना के जिस क्रमिक विकास की चर्चा ऊपर की गयी है उसकी तीन अवस्थाएँ द्रष्टव्य हैं। पहली अवस्था है ज्ञान की साधना, दूसरी है कर्म की साधना, और तीसरी है भक्ति की साधना। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि तीनों प्रकार की साधनाओं के आधार क्रमशः ज्ञान, सवेदन व संकल्प हैं जो मनुष्य की तीन मौलिक प्रवृत्तियों से सम्बन्ध रखते हैं।[1] आलोच्यकाल तक आते-आते भारतीय साधना ज्ञान और कर्म से प्रभावित होती हुई लोक स्वभाव के अनुसार अग्रसर रही फिर भी उसकी मूल प्रवृत्ति में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ। भक्ति का स्रोत भी फूटा किन्तु नाथ पंथ में गलदश्रु भावुकता के लिए कोई स्थान न था। ज्ञान की उपलब्धि बिना साधना के सम्भव नहीं होती और साधना का विषय अपने आप में कठोर और समाधि का विषय है। केवल बौद्धिक आचरण ही उसके लिए पर्याप्त नहीं है। योग की साधना में अनेक आध्यात्मिक विचारों के समावेश से जो स्थिति साधनाक्षेत्र में उत्पन्न हुई थी उसी के आधार पर नाथ पंथ की प्रवृत्तियों का ऐसा स्वरूप स्थिर हुआ जिसने मध्ययुग की हिन्दी भावधारा को दूर तक प्रभावित किया।

---

१ उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० १८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चरित्रगत दृढ़ता और पवित्रता

नाथ पंथ में चित्त की दृढ़ता पर विशेष बल दिया गया है। उसके लिए ब्रह्मचर्य की साधना बहुत महत्वपूर्ण मानी गयी। उसका नैतिक स्वर इतना तीव्र है कि भारतीय कर्म साधना में सम्भवतः ऐसा युग कभी न आया होगा जैसा कि नाथ पंथ के आविर्भाव काल में था। आध्यात्मिक शब्दावली में जिस वज्रयानी साधना ने नारी को कामोपयोग तक सीमित कर आचरण की विशृंखलता और स्वच्छन्दता को विकसित किया था उसका सम्बन्ध वास्तव में न तो धर्मसाधना से ही माना जा सकता है और न आध्यात्म से। इस धारा को गोरक्षनाथ ने जिस भाँति मोड़कर लोकमत की ओर प्रवाहित किया उसमें मुख्य है ब्रह्मचर्य या बिन्दुधारण की साधना। यह प्रवृत्ति मुख्यतया परिव्राजकों और संन्यासियों के लिए एक चुनौती बनकर सामने आयी। ब्रह्मचर्य और वाक्संयम से ज्ञान के प्रति जिज्ञासा योगी की साधना का लक्ष्य बनी। जो आदर योगियों तथा साधुओं को लोकमानस में सदियों से प्राप्त था उसकी पुनः प्रतिष्ठा के प्रयत्न भी इसके द्वारा किये गये। शुद्ध और उदात्त जीवनयापन के द्वारा धर्मसाधना को नई प्रेरणा देकर इन्द्रियनिग्रह पर बल दिया। नारी की उपेक्षा ही न की जाकर उसकी भर्त्सना का स्वर भी तीव्रतर होने लगा। शारीरिक शुद्धि और मन के सम्यार्जन पर साधना का मूल्यांकन प्रारम्भ हुआ, लोक भाषा में जिसकी अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से उपलब्ध होती है।[1] डा० श्यामसुन्दर दास का कथन है कि आचरण की नैतिक शुद्धता तक नाथ पंथ की साधना सीमित न रही। नाथपंथी योगी डटकर जाति भेद पर आघात करते थे, वाह्याचार और तत्मूलक श्रेष्ठता को फटकारते थे। भीतर और बाहर योगमार्ग का प्रत्येक अनुयायी अपने को समाज के अन्य निकृष्ट जीवों से श्रेष्ठ समझता था, दूसरों की वहिर्मुखी वृत्ति पर तरस खाता था।[2] नाथ पंथ में काया साधना तथा योग की प्रमुखता होने के कारण उसमें स्मार्त आचारों के प्रति अवहेलना का भाव दृष्टव्य होता है। बाहरी आचार-विचार एवं पुस्तकी ज्ञान का वहाँ कोई महत्त्व नहीं था।[3] भारतीय धर्मसाधना में इस प्रवृत्ति का आविर्भाव ईसा पूर्व छठी शताब्दी में ही हो गया था। नाथपंथी साधना के समकालीन और पूर्ववर्ती वज्रयानियों ने भी स्मार्त आचारों और कर्मकाण्ड को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। जिस लोकभूमि पर खड़े होकर गोरक्षनाथ ने अपने योगमार्ग का प्रवर्तन किया उसकी पीठिका इसी प्रकार की थी। वाह्याडम्बर की अपेक्षा अनुभवगम्य ज्ञान की ओर उन्मुख लोक-मानस में उस समय जिस ब्राह्मण धर्म विरोधी प्रवृत्ति का आविर्भाव हुआ वह घटना आकस्मिक नहीं कही जा सकती। वह स्वाभाविक चिंताधारा का ही एक परिणाम है

---

१ देव कला से संजय रहिबा, भूतकला अहारं।
मन पवना लै उनमनि धरिबा, भूतकला अहारं॥—गोरखवानी, ३४, पृ० १३।

२ हिन्दी साहित्य, पृ० १३०।

३ कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १५३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फिर भी गोरक्षनाथ के नाथ पंथ में केवल ब्राह्मण आचारों के ही प्रति उपेक्षा भाव नहीं है किन्तु तत्कालीन वाह्याडम्बर तथा आचारहीनता के प्रति आक्रोश भी है। गोरखनाथ का कथन है :

भूरिष सभा न बैसिवा अवधू, पंडित सौं न करिवा वादं।
राजा संग्रामें झूझ न करबा हेले न षोड़बा नादं ॥[1]

स्मार्त आचारों की अवहेलना के उत्तर में जब कर्मकाण्ड ने वेद शास्त्र की दुहाई दी तब बद्ध जीव की मूर्खता की हँसी उड़ाने के लिए वेद एवं शास्त्रों की भी अवहेलना नाथपंथियों द्वारा की गयी। अनुभव और बुद्धिजन्य ज्ञान दोनों में योगियों ने अनुभव को सर्वोपरि माना। दूसरी ओर लोकमानस में बिखरे हुए नीतिपरक उपदेश भी योगियों द्वारा दिये गये जो व्यवहार के द्वारा सहज ही ग्रहणीय हो सकते थे। नाथयोगी सम्प्रदाय के साधक अनुभव और कुतूहल में ब्रह्म का साक्षात्कार करने में प्रवृत्त दिखाई दिये। उन्होंने व्यवहार की दृष्टि से स्वयं के ही लोकसम्पन्न आचार प्रतिष्ठित किये। गोरखनाथ ने योगियों को उपदेश दिया :

हबकि न बोलिबा ठबकि न चालिबा धीरे धरिबा पावं।
गरब न करिबा सहजै रहिबा भणत गोरख रावं ॥

उनकी यह आचार भूमिका निश्चित ही वाह्याडम्बर और केवल कर्मकाण्ड की दुहाई देने वालों के लिए एक नई प्रतारणा ही थी। कुछ विद्वानों का मत है कि गोरक्षनाथ और उनका नाथ पंथ ब्राह्मणवाद का विरोधी स्वर लेकर खड़ा हुआ था।[2] ब्राह्मण, अब्राह्मण विरोध का स्वर गोरखवानी में प्रायः न के बराबर है किन्तु हिन्दू और मुसलमान दोनों से योगी स्वयं को पृथक मानता था ऐसा गोरखवानी की अनेक सबदियों से स्पष्ट होता है।[3] यह अंश प्रक्षिप्त अथवा मौलिक है, इस सम्बन्ध में हमारे पास कोई प्रामाणिक आधार नहीं है किन्तु गोरखवानी का मूल स्वर और नाथ पंथ की मूल प्रवृत्ति में विरोध की सीमा उपेक्षाभाव तक ही मिलती है। वेद, ब्राह्मण और शास्त्रों के प्रति उदासीनता के कारण ही सम्भवतः नाथ पंथ लोकमानस में व्यापक स्थान न पा सका और व्यक्तिगत साधना और कायिक योग के कारण उसका विस्तार अधिक न हो सका किन्तु जिस रूप में वज्रयानी सिद्धों में स्मार्त आचारों का विरोध स्वर मिलता है, नाथ पंथ में ठीक वही हमें नहीं मिलता। नाथ पंथ जिस योग दर्शन का व्यावहारिक रूप है, उसका सम्बन्ध जहाँ एक ओर सांख्य दर्शन के तत्त्ववाद से है वहाँ दूसरी ओर उसके ईश्वरवाद से भी। सांख्य दर्शन के प्रभावस्वरूप भी

---

[1] **गोरखवानी, सबदी, १२१, पृ० ४३।**
[2] **हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० ३०६।**
[3] **गोरखवानी, ६८/६९, पृ० २५।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्मार्त आचारों की उपेक्षा नाथ पंथ में आ गयी हो तो भी कोई आश्चर्य नहीं। गोरखनाथ का कथन है :

कोई न्यंदै कोई व्यंदै, कोई करै हमारी आसा।
गोरख कहै सुणौं रे अवधू यहु पंथ षरा उदासा ॥[1]

योग साधना का आध्यात्मिक स्वर

गोरखनाथ ने जहाँ कर्मकाण्ड के प्रति उदासीन भाव की अभिव्यक्ति की है वहाँ योग की साधना पर विशेष बल दिया है। किन्तु कुछ विद्वानों ने हठयोग की साधना को 'उल्टी साधना' के नाम से अभिहित कर यह प्रकट किया है कि यह एक कठोर साधना थी [2] लोकभाषा में प्रचलित नाथपंथी साहित्य और विशेषतया गोरखवानी के आधार पर कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि गोरखनाथ की साधना का हेतु शरीर को व्यर्थ कष्ट देना कभी भी नहीं था। [3] तात्कालिक परिस्थितियों में हठयोग में विशेष आकर्षण था, यह तथ्य भी प्रायः विद्वानों की दृष्टि से ओझल नहीं है। कायायोग मनःयोग की एक सीढ़ी ही माना जा सकता है। गोरक्षनाथ ने जिस योग साधना को नाथपंथ की मुख्य साधना के रूप में प्रकट किया है उसमें चित्तवृत्तियों के निरोध का आग्रह है :

हसिबा खेलिबा गईबा गीत।
दृढ़ करि राखि अपना चीत ॥

किन्तु कथनी के रूप में 'चित्तवृत्ति का निरोध' जितना सरल है, करनी में उतना ही कठिन। ईश्वर प्रणिधान के बाद ही सहायक के रूप में गोरखनाथ ने योग मार्ग को स्वीकार किया था यद्यपि लोकमानस में कहने की अपेक्षा करने की शक्ति को अधिक प्रभावी माना गया है। यही कारण है कि जिस नैतिकता प्रधान स्वर को लेकर नाथ पंथ का आविर्भाव हुआ उसके विवेकमूलक ज्ञानवाद ने मन को सब प्रलोभनों से दूर रखने का संकल्प किया। विकार रहित होकर ही योगी अपनी साधना में सफल हो सकता है, न भूखे रहकर और न माँस-मदिरा का भोग कर। ये सब लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक नहीं हैं। गोरखनाथ ने मध्यम मार्ग [4] को अपना कर हृदय में ब्रह्म अग्नि के रहस्य चिंतन के लिए ही अपनी साधना को इतना कठोर बनाया। किन्तु लोकचिंता में व्याप्त ब्रह्मसाधना का स्वरूप निराकार और निर्गुण ब्रह्म ही था यह बात भी उल्लेखनीय है।

---

[1] **गोरखवानी, , १२६ पृ० ४४।**

[2] **हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० ३१२।**

[3] **योग प्रवाह—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० ७५।**

[4] **धाये न खायंबा, भूषे न मरिबा**
अहनिसि लेब ब्रह्म अगनिका भेद। —गोरखवानी, पृ० १२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निर्गुण साधना

स्वामी शंकराचार्य ने ब्रह्मवाद को अपने अद्वैत वेदान्त का मूल स्वर बताकर भारतीय लोकचिंता में जिस नवीन मार्ग का निर्देश किया था उसने नाथपंथी साधना को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। विद्वानों द्वारा स्वामी शंकराचार्य के ब्रह्मवाद को बौद्ध अनात्मवाद का प्रत्युत्तर ही समझ लिया जाय तो तात्कालिक परिस्थितियों के आधार पर कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है,[१] किन्तु जिस शून्य साधना को वज्रयानी साधक आलम्बन रहित होकर कर रहे थे, नाथपंथियों में वही शून्य साधना ईश्वर के अद्वैत रूप में स्वीकार की गयी। नाथ पंथ में वह अलख 'अरूप' बन कर साधना का केन्द्र बनी। फलस्वरूप, बौद्ध तंत्रों के कारण आध्यात्म साधना में जितना भ्रष्टाचार पल्लवित हो गया था उसके प्रति लोक में विरोध का स्वर मुखरित हुआ और ईश्वर के निराकार निर्गुण रूप की स्थापना हुई तथा आस्तिकता की वृद्धि हुई। पुनः एक बार ब्राह्मण कर्मकाण्ड से मुक्ति पाकर लोकमानस में अपनी आस्तिक अभिव्यक्ति के लिए एक सबल स्थान का उद्घोष गोरखनाथ के नाथ पंथ में किया गया किन्तु वही स्वर सम्प्रदाय-भेद एवं पंथ-विस्तार के कारण लोकचिंता के भय का कारण भी बना, यह तथ्य परवर्ती नाथपंथों के लोक प्रभाव से स्पष्ट हो जाता है। दृष्टव्य केवल इतना ही है कि नाथपंथी साधना का स्वर निर्गुण 'करनीवादी' स्वर है जो सहजप्राप्य नहीं कहा जा सकता।

बौद्धिक तत्त्ववाद

नाथ पंथ का मूल चिन्तन योगदर्शन का बौद्धिक तत्त्ववाद है किन्तु उस काल में लोक जीवन में उसका प्रक्रिया प्रधान रूप ही उपलब्ध होता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि योग दर्शन ने जब एक निश्चित बौद्धिक तत्त्ववाद का रूप धारण किया तो लोक जीवन में उसका केवल प्रक्रिया प्रधान रूप रह गया होगा जो कम बुद्धि कृतिक साधुओं में प्रचलित होगा।[२] बौद्धिक चर्चा का स्थान प्रक्रिया ने ले लिया फिर भी भावुकता का समावेश उसमें न हो सका और अंततोगत्वा साधना ही साध्य बनकर नाथपंथी ज्ञान सीमा को अत्यन्त संकुचित रूप में व्यक्त कर सकी। ज्ञान के क्षेत्र में आवहुता ने अपना स्थान बनाया जिसमें तर्कपूर्ण वाद-विवाद के स्थान पर बाह्याचारों को अपना मुख्य लक्ष्य मान लिया गया। भक्ति की शालीन अन्तरवेदना के लिए योग में कोई स्थान नहीं है, दूसरे शब्दों में रुक्ष ज्ञानवाद से अभिभूत प्रक्रिया प्रधान साधना उस युग की विशेष परिस्थिति एवं प्रवृत्ति ही कही

[१] **योग प्रवाह**—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० १७९।
[२] **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६४।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जा सकती है, जिसके सूत्र अत्यन्त प्राचीन एवं गहरे हैं। गुरु ही सबका ज्ञाता है, वही ब्रह्म है।

अभिव्यक्ति का स्वरूप

डा० हजारी प्रसाद ने एक स्थल पर लिखा है कि उत्तर मध्यकाल में इन योगांगों को लोकभाषा में लिखने की परिपाटी दीर्घकाल से चली आती हुई परम्परा का अन्तिम रूप है। यह परम्परा लोकभाषा में थी और लोकहित ही उसका प्रधान लक्ष्य था। धीरे-धीरे उसका नैतिक स्वर ही प्रबल होता गया और साधनात्मक रूप मद्धिम पड़ता गया।[1] लोकचिंता का यह विकास बौद्ध धर्म और जैन धर्म के आविर्भाव काल में ही दृष्टिगोचर होता है। सुधारक सम्प्रदायों के महापुरुषों ने अपनी बात को सीधे जनता तक पहुँचाने के लिए लोकभाषा का माध्यम स्वीकार किया, फलस्वरूप, वैदिक संस्कृत से लेकर आलोच्यकाल तक आते-आते पुरानी हिन्दी में उनकी वाणियों का संकलन मिलता है। उनकी भाषा विषयक प्रामाणिकता के सम्बन्ध में यद्यपि निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता किन्तु नाथपंथी योगियों की अभिव्यक्ति का माध्यम हिन्दी का वह स्वरूप था जो पुरानी हिन्दी कहा जा सकता है और इस प्रकार यह एक विशेष प्रवृत्ति ही स्वीकार की जा सकती है कि नाथ पंथ में जहाँ संस्कृत में रचानएँ उपलब्ध हैं वहाँ लोकभाषा में रचनाएँ हैं यद्यपि ऐसे साहित्य को हिन्दी के आदिकाल में कोई संरक्षण सुलभ नहीं था। अभिव्यक्ति में विविधता का स्वरूप भी उपलब्ध होता है। मुसलमानों के आगमन की विशेष प्रतिक्रिया इस युग में नहीं हुई। काव्यरूपों का कोई विशेष परिचय हमें इस युग में नहीं मिलता। डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि गोरखनाथ ने अपने नाथ पंथ के प्रचार के लिए जन-समुदाय की भाषा का आश्रय ग्रहण किया। गौतम बुद्ध ने भी अपने मत का प्रचार संस्कृत को छोड़कर जन-समुदाय की भाषा पाली में किया था। सर्वसाधारण को अपने सिद्धान्त समझाने के लिए गोरखनाथ भी जनभाषा में कुछ लिखने को बाध्य हुए।[2]

नाथ पंथ की मूल प्रवृतियों को संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—(१) चारित्रिक उत्कर्ष और पवित्रता का आग्रह, (२) स्मार्त आचारों की अवहेलना, (३) योग साधना का आध्यात्मिक स्वर, (४) निर्गुण साधना में विश्वास, (५) ज्ञान और अखहुता की प्रधानता, (६) लोकभाषा द्वारा अभिव्यक्ति और व्यक्तिगत आदर्श की प्रतिष्ठा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि नाथ पंथ की साधना पद्धति ने भारतीय धर्मसाधना को अनेक रूपों में प्रभावित किया है। सामाजिक एवं धार्मिक पुनर्जागरण के साथ ही हिन्दी के भक्ति युग की पृष्ठभूमि के रूप में नाथपंथी योगियों की

---

[1] **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६८।

[2] **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ११०, १११।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिव्यक्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निर्गुण संत कवियों की वाणियों में जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग है, उनमें जो रूढ़िविरोधिता, खण्डनात्मवृत्ति और अक्खड़ता है वह सब नाथपंथी योगियों और सिद्धों की ही देन है, किन्तु हिन्दी का निर्गुण संत-काव्य ठीक वही नहीं है जो नाथपंथी योगियों की रचनाओं में उपलब्ध है। निर्गुण संत कवि भक्ति के मर्मस्पर्शी गायक हैं, योग और ज्ञानमूलक अभिव्यक्ति के साथ भक्ति-भावना का अनुकूल वातावरण पाकर निर्गुण संत-काव्य लोक जीवन में जिस व्यापक प्रभाव को लेकर अवतरित हुआ, वह उसकी अपनी विशेषता ही मानी जायगी, फिर भी नाथ पंथ का अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करने में महत्त्वपूर्ण योग है इसे कोई अस्वीकार नहीं करता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

३

निर्गुण संत-काव्य के अंगीभूत तत्त्व

संत-काव्य भारतीय चिन्ता की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। जनमानस में जिस गत्यात्मक एवं सप्राण काव्यधारा ने लोककाव्य के रूप में प्रस्फुटित होकर मध्ययुगीन चिन्ता को अनेक प्रकार से प्रभावित किया था उसके निर्माण में परम्परागत प्रभाव के साथ ही अनेक परिस्थितियों का योग भी है, यह पक्ष भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। निर्गुण संत-काव्य जहाँ भारतीय जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया है वहाँ सामयिक, धार्मिक एवं राजनीतिक प्रतिक्रियाओं का प्रतिफलन भी होना चाहिए, यद्यपि विद्वान् इस बात पर एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार निर्गुण-संत-काव्य मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया है[१] जबकि केवल मुसलमानों के आक्रमण की प्रतिक्रिया ही निर्गुण संत-काव्य के निर्माण के लिए उत्तरदायी है; अन्य विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं। निर्गुण संत-काव्य के अंगीभूत तत्त्वों के विश्लेषण में लोक प्रभाव के साथ ही तात्कालिक सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का परिचय प्राप्त कर लेना अभीष्ट होगा, किन्तु किसी राजनीतिक घटना का प्रभाव किस सीमा तक हो सकता है, यह भी एक विचारपूर्ण बात है। लोक मनोविज्ञान के अनुसार कभी आक्रमक की शक्ति और कट्टरता तथा आक्रांता की निर्बलता और हीनत्व की भावना एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया को जन्म नहीं देती किन्तु वह प्रतिक्रिया परम्परागत चिन्ता के दिशा-

---

[१] **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २९३।

[२] **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निर्देश की मुखापेक्षी भी होती है। ऐसी स्थिति में प्रभाव की सीमा-रेखा का विवेचन करने के लिए यह भी देख लेना आवश्यक होगा कि निर्गुण संत-काव्य के तत्त्वों के मूल स्रोत क्या हैं तथा परिस्थितियों से उनका क्या सम्बन्ध है। पिछले अध्याय में हमने मध्ययुगीन भारतीय लोकचिन्ता के क्रमिक विकास का संक्षिप्त परिचय प्राप्त किया ही है जिसके आधार पर इस तर्क की बहुत अधिक पुष्टि नहीं होती कि मुसलमानी आक्रांता ही निर्गुण संत-काव्य के जनक हैं। हमने देखा है कि जिस सामाजिक एवं धार्मिक घात-प्रतिघात के फलस्वरूप मध्ययुग में अनेक सुधारक सम्प्रदायों का जन्म हुआ था, अपनी विकसित अवस्था में ठीक वैसी ही विरुद्ध धारणाओं की चिन्तापरक अभिव्यक्ति निर्गुण संत-काव्य है। निर्गुण संत-काव्य को केवल परिस्थितिजन्य अभिव्यक्ति तक ही सीमित मान कर जिन विद्वानों ने उसका विवेचन किया है उन्हें उस काव्य में लोकमानस को प्रभावित एवं रससिक्त करने वाले तत्त्वों का अभाव ही मिला है, यद्यपि जिस रूप में लोकमानस में संत-काव्य के प्रति अभिरुचि है उससे ऐसा प्रकट नहीं होता। जिस दार्शनिक पृष्ठभूमि में निर्गुण संत-काव्य पल्लवित हुआ है तथा जिस धर्मसाधना ने उसके साम्प्रदायिक स्वरूप को आकार प्रदान किया है वह एक धार्मिक एवं राजनीतिक घटना का परिणाम नहीं हो सकता, यद्यपि धार्मिक एवं राजनीतिक घटना का उसके स्वरूप-निर्माण में कुछ न कुछ योग अवश्य रहा है। प्रस्तुत अध्याय में हम निर्गुण संत-काव्य के आविर्भाव की मुख्य परिस्थितियों पर विचार करेंगे।

परिस्थितियाँ किसी संस्कृति के वाह्य प्रभाव होती हैं जबकि तत्त्व चिन्ता उसका अन्तःस्रोत। भारतीय साहित्य में उसका तत्त्व चिन्तन ही प्रमुख है, वाह्य परिस्थितियाँ उतनी नहीं। इस विशेषता का प्रभाव भारत की सभी भाषाओं के साहित्य पर हुआ है। हिन्दी काव्य की यह विशेषता अप्रतिम है। हिन्दी साहित्य का मध्यकाल भक्तिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है जिस पर भारतीय दर्शनों का प्रभाव स्पष्ट है।[1] सगुण निर्गुण उपासना के सूत्र उपनिषदों में उपलब्ध हैं। भारत के अध्यात्म शास्त्रों की मूल भित्ति, दृढ़ आधार शिला, होने का गौरव इन्हीं उपनिषदों को प्राप्त है। भारत की धार्मिक तथा दार्शनिक चिन्ताधाराएँ यहीं से प्रवाहित होकर सर्वत्र आप्लावित होती हैं।[2] भक्ति काव्य और विशेषतया निर्गुण संत-काव्य के भावपक्ष का सीधा सम्बन्ध आध्यात्मिक चिन्तन से है, अतएव दार्शनिक सम्प्रदायों के विकास और उनके प्रभावों का विश्लेषण भी किया जाना अपेक्षित है। हमने देखा है कि लोक प्रभाव की क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण धर्मसाधना ने जिस पृष्ठभूमि को जन्म दिया उसी के आधार पर दार्शनिक तत्त्व चिन्ता ने उसे अपने

---

[1] **हिन्दी के संत कवियों के ऊपर योगदर्शन का प्रभाव बहुत अधिक तथा व्यापक है।**
—हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, पृ० ४८५।

[2] **हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास**, प्रथम भाग, पृ० ४३०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुरूप बनाकर ग्रहण कर लिया। यद्यपि इस पर आगे विचार किया ही जायगा कि निर्गुण संत कवियों पर दार्शनिक प्रभाव किस सीमा तक है, क्या वे दार्शनिक तत्त्ववादों के विभागों में कहीं कोई स्थान पा सकते हैं अथवा नहीं, किन्तु इतना यहाँ पर्याप्त है कि संतों में दर्शन का लोकप्रभाव साम्प्रदायिक आवरण बनकर उपस्थित नहीं हुआ है। पुस्तक में लिखे हुए आध्यात्म ज्ञान की अपेक्षा अनुभव से आत्मसात किये गये ज्ञान का महत्त्व इन संतों की विशेषता है। यह धारा किसी न किसी रूप में भारतीय दर्शन में उपलब्ध हो जाती है, तंत्र और पौराणिक युग में इसका स्वरूप साधनापरक था, मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में वह नैतिकतावादी धारा थी और भक्ति-युग में आकर उसका सम्बन्ध 'आत्मविचार' से हो गया। स्पष्ट है कि मूल चिंता में कितना स्वरूप परिवर्तन न हुआ होगा, फिर भी यह परिवर्तन अपनी पूर्व परम्पराओं से असम्बद्ध नहीं है, उसका स्वर अपनी परम्परा का ही एक स्वर है। हिन्दी काव्य में कुछ विद्वानों ने इस प्रवृत्ति को विद्रोही प्रवृत्ति कहा है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि पूर्वी प्रदेशों में भारतीय इतिहास के आदिकाल से रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह करने वाले संत होते रहे हैं। वैदिक कर्मकाण्ड के मृदुविरोधी जनक और याज्ञवल्क्य, तथा उग्रविरोधी बुद्ध और महावीर आदि आचार्य इन्हीं पूर्वी प्रदेशों में उत्पन्न हुए थे। समग्र भारतीय साहित्य में हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जिसमें पश्चिमी आर्यों की रूढ़िप्रियता कर्मनिष्ठा के साथ ही साथ पूर्वी आर्यों की भावप्रवणता, विद्रोही वृत्ति और प्रेमनिष्ठा का मणिकांचन योग हुआ है।[1]

संत साहित्य मुख्यतया धार्मिक साहित्य है किन्तु उसका धार्मिक रूप साधारण जनता द्वारा निर्मित है, शास्त्रीय परम्परा-निर्वाह का उसमें अभाव है। उत्तर भारत में मध्ययुग में जिस भक्ति का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है उसमें दो विभिन्न श्रेणी के भक्तों का सम्मिलन हुआ है। जो भक्त सम्भ्रांत जातियों से आये उन्होंने परम्परा प्रचलित विश्वासों का तीव्र विरोध नहीं किया किन्तु जो निचली जातियों से आये थे उनमें प्रचलित परम्परा और विश्वासों के प्रति तीव्र और आक्रमक भाव दृष्टिगोचर होता है। नाथ पंथ और उसके लोक प्रभाव पर विचार करते हुए हमने पूर्व भक्तिकाल में इस विकास के सूत्र गठित किये हैं। इन दूसरी श्रेणी के भक्तों के असंतोष की अभिव्यक्ति खण्डन और निवृत्तिमूलक रही है जिसका निर्गुण संत-काव्य की तत्त्व चिन्ता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दर्शनों का महत् आत्मभाव, साधना आदिभक्ति की रसधारा से मिलकर जिस रूप में पल्लवित हुआ है उसके अनेक पक्ष हैं जिनका विस्तारपूर्वक परिचय निर्गुण संत-काव्य के अंगीभूत तत्त्वों के साथ दिया ही जायगा। धार्मिक साम्प्रदायिकता के प्रति एक तीव्र आक्रोश संतों और सुधारकों की वाणियों में मिलता है किन्तु साम्प्रदायिक परम्पराएँ इतनी गहरी हैं कि संतों के विचारों और भावों को

---

[1] हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी किसी न किसी पंथ अथवा सम्प्रदाय की शरण ले लेनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में संत-काव्य जो मूल-रूप में संतों की अभिव्यक्ति है, संतों द्वारा चलाये जाने वाले पंथों और सम्प्रदायों की रचनाओं से भिन्न ही हो जाता है। वैसे तो साम्प्रदायिकता के रंग में रँगी हुई वाणियों का धार्मिक स्वरूप केवल कर्मकाण्डी और आचार प्रधान है फिर भी उस पर कुछ-न-कुछ विचार प्रभाव अवश्य होता है। संत सम्प्रदायों के गठन एवं संत-काव्य के सृजन की दिशाएँ भिन्न-भिन्न हैं। एक का आधार है साम्प्रदायिक दृढ़ता और समाज में स्थान, दूसरे का हेतु है हृदय की विशुद्ध अभिव्यक्ति, भले किसी को बुरी लगे अथवा भली। उसमें जिस आत्मपीड़ा के दर्शन होते हैं, वह बहुश्रुत है, उस पर जातिगत प्रभाव है तथा तात्कालिक परिस्थितियों का भी उसे सामना करना पड़ा है। उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम है लोक प्रचलित भाषा जो लोक में समझी जाती है, बनावट और अलंकरण से दूर। संतों की अभिव्यक्ति के अनेक रूप हमें उपलब्ध हैं किन्तु जहाँ से संत-काव्य के व्यवस्थित रूप का आभास मिलता है, वह स्थिति प्रारम्भ होती है संत कबीर के आविर्भाव से। जैसा कि विद्वानों के मतों पर हम पूर्व में ही विचार कर चुके हैं, संत कवीर की रचनाओं में ही संत-काव्य का वह उन्मुक्त और प्रभावी स्वरूप उपलब्ध होता है जहाँ से अनुप्राणित होकर संत-काव्य की एक व्यापक परम्परा उपलब्ध हो जाती है। संत कबीर के व्यक्तित्व और आविर्भाव ने जहाँ परिस्थिति को सुलझाने में सहायता पहुँचायी है वहाँ मुसलमानी घर में उनके जन्म लेने के कारण अनेक विद्वानों को संत-काव्य के मुसलमानी प्रभाव को स्वीकार करने में हिचक न हुई, किन्तु अब कुछ विद्वानों के परिश्रम से संत कबीर के आविर्भाव की परिस्थितियों पर आधिकारिक विश्लेषण[1] प्राप्त हो गया है और उसी के आधार पर संत-काव्य की अत्यन्त प्राचीन चिंताधारा के सूत्र भी उपलब्ध हो जाते हैं। संतों ने जो कुछ अभिव्यक्त किया है वह केवल ऊपरी अथवा वाह्य प्रभाव नहीं माना जा सकता। कबीर ने कहा है :

कथनी वदनी कहनु कहवनु।
समझि परी तऊ विसरिओ गावन॥
कहत कबीर पंच जो पूरे।
तिन्ह ते नाहिं परम पद दूरे॥[2]

पंचेन्द्रियों पर अधिकार करने का स्वरूप ठीक वही है जो हमें गोरख की वानी में मिलता है और इस परम पद की प्राप्ति के प्रयत्न भारतीय चिंता में कितने गहरे हैं। संत कबीर के पूर्ववर्ती संतों की संख्या लगभग ७ बतायी जाती है।[3] श्री परशुराम

---

[1] **कबीर**— डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी।

[2] **संत-काव्य**—परशुराम चतुर्वेदी, प्रारम्भिक युग, पृ० १६७।

[3] (१) संत जयदेव, (२) संत सधना, (३) संत वेणी, (४) संत त्रिलोचना, (५) संत नामदेव, (६) स्वामी रामानन्द, (७) संत सेन नाई।
—संत-काव्य, विषय सूची, पृ० ७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चतुर्वेदी का कथन है कि संत मत को कबीर साहब द्वारा सबसे अधिक जीवन शक्ति मिली और उनके हाथों ही सर्वाधिक बल ग्रहण करने के कारण, वह भविष्य में भी प्रचलित हो सका। कबीर साहब एवं समसामयिकों की उपलब्ध रचनाओं के अंतर्गत हम प्रायः उन सभी बातों का समावेश पाते हैं जो संत मत का आधारस्वरूप समझी जाती हैं और जिनको उनके पीछे आने वाले संतों ने अधिकतर पुष्पित एवं पल्लवित किया है।[१] संत-काव्य के तत्त्वों का विवेचन इसी पृष्ठभूमि पर किया जाना उपयुक्त है। सबसे पूर्व हम संत-काव्य के आविर्भाव की विभिन्न परिस्थितियों पर विचार करेंगे जिनका संत-काव्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

हिन्दी क्षेत्र की राजनीतिक परिस्थितियाँ अन्य क्षेत्रों की परिस्थितियों से कुछ भिन्न प्रकार की ही मानी जाती हैं। मध्यदेश के सम्वन्ध में विद्वानों का मत है कि वैदिक युग से आज तक यह क्षेत्र अतिशय रक्षणशील और पावित्र्याभिमानी रहा है।[२] १५वीं शताब्दी में जिस समय संतों के धार्मिक पुनुरुत्थान की क्रांति देश में व्याप्त थी तब तक मुसलमानों का राज्य विस्तार पा चुका था। भारतीय लोक जीवन से इस्लाम का सम्पर्क कोई नया नहीं है[३] किन्तु आक्रमक के रूप में मुसलमानों का यह नया प्रवेश अत्यन्त ही बर्बर एवं धार्मिक कट्टरता का परिणाम ही माना गया है। बिखरी हुई हिन्दू राज्य शक्तियों को यद्यपि संगठित होकर अत्याचारी मुसलमान विजेताओं के हमले अनेक बार सहन करने पड़ते थे किन्तु जब मुसलमान शासक के रूप में बसे तब भी उनके अत्याचार कम न हुए। यह राजनीतिक आक्रमण मूलतः धार्मिक मदान्धता और कट्टरता का प्रतिफल था। डा० ईश्वरी प्रसाद का कथन है कि गजनवी के साथ अलबेरूनी नामक एक प्रसिद्ध इतिहासकार आया था। उसने अपने आश्रयदाता के सम्बन्ध में लिखा है कि उसने देश के वैभव को पूरी तरह से मटियामेट कर दिया और अचरज के वे कारनामे किये, जिससे हिन्दू, धूल के चारों ओर फैले हुए कणमात्र अथवा लोगों के मुँह पर की पुराने जमाने की एक कहानी मात्र रह गये।[४] इतिहासकार सरदेसाई इस्लामी शासकों की नीति की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि वे केवल राजनीतिक सत्ता को हस्तगत करके संतुष्ट नहीं हुए, वे भारत के मैदानों पर केवल विजेता और लुटेरे के रूप में नहीं उतरे, वरन् काफिरों के देश में अपने धर्म का प्रसार करने पर उतारू जेहादी योद्धाओं के रूप में आये। वे नियमित रीति से अपने धर्म को जनता पर बलात् लादने में तत्पर हो गये। हिन्दू

---

१ **संत-काव्य**—श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १२३।

२ **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०० २।

३ **संस्कृति के चार अध्याय**—दिनकर, पृ० २२४।

४ **मेडीवल इण्डिया**—डा० ईश्वरी प्रसाद, पृ० ९२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मंदिर तोड़े गये, उनकी सुन्दर कलाकृतियों का विध्वंस हुआ, मूर्तियाँ नष्ट हुईं, शिल्प सौंदर्य के नमूने विनाश के ग्रास हुए, प्रस्तर लेख मिटा दिये गये। इस प्रकार के ध्वंस से प्राप्त सामग्री से उन्होंने मस्जिदें बनायीं, कुफ्र को मिटाने और भारतीय जनता को इस्लाम के दामन में समेटने के लिए इन हृदयहीन और असभ्य धर्माधिकारियों ने हिन्दू धर्म के सार्वजनिक प्रदर्शन की मनाही कर दी तथा उसके अनुयायियों को कठोर दण्ड दिये। हिन्दुओं को अच्छे कपड़े पहनने की इजाजत नहीं थी और न भले आदमियों की तरह रहने और वैभवशाली दीखने की अनुमति थी। उन पर विक्षुब्ध कर देने वाले कर लगाये जाते थे और उनके अध्ययन और ज्ञान के केन्द्र बरबाद किये जाते थे।[1]

मुसलमान विजेताओं के आक्रमण के पूर्व हमारे देश की राजनीतिक सत्ता विकेन्द्रित रूप में छोटे-छोटे राज्यों में बँटी हुई थी जिनका प्रमुख उद्देश्य था, व्यक्तिगत शौर्य और ऐश्वर्यमय जीवन। जनजीवन में भी उसी की प्रतिच्छाया होना स्वाभाविक है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि विजयदृप्त मुसलमानों के इस्लाम जैसे सुसंगठित धार्मिक और सामाजिक मतवाद से इस देश का कभी पाला नहीं पड़ा था,[2] फलस्वरूप, उसकी प्रतिक्रियाओं में उन्मेश होना स्वाभाविक है। मुस्लिम राज्य और उसके अत्याचारों से मुक्त होने के लिए अनेक हिन्दू राजाओं के संगठित एवं व्यक्तिगत प्रयत्न भी इस काल में हुए किन्तु इस्लाम धर्म का अधिकार क्षेत्र बढ़ता ही गया। इस अधिकार का विस्तार हुआ धर्मपरिवर्तन से। उनका एक ही नारा था, इस्लाम धर्म की स्वीकृति अथवा मौत। हिन्दुओं (गैर-मुस्लिमों) के साथ जो व्यवहार किया जाता था, इतिहासकारों ने उसका मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। पठानी सल्तनत के समय तक आदरास्पद राष्ट्रजन (सिटीजन) के समस्त अधिकारों से हिन्दू जनता सर्वथा वंचित थी। उसका निराशामय जीवन विपत्ति की एक लम्बी गाथा मात्र रह गया था। कोई ऐसी पार्थिव वस्तु उसके पास न रह गयी थी जो उसके अनुभव की कटुता में मिठास का जरा भी मिश्रण कर सकती। उसके लिए भविष्य सर्वथा अंधकारमय हो गया था। अंधकार की उस प्रगाढ़ता में प्रकाश की क्षीण से क्षीण रेखा भी न दिखाई पड़ती थी।[3]

भक्ति आन्दोलन के अंतर्गत जिस समय संतों की कविता का आविर्भाव हुआ, राजनीतिक दृष्टि से भारत में मुसलमानी राज्य प्रतिष्ठित हो गया था। राजनीतिक परिवर्तनों का प्रभाव पड़ना यहाँ के राष्ट्रजनों पर एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। आतंक और धार्मिक अत्याचारों से पराङ्मुख होकर लोकजीवन राज्याश्रय से असम्बद्ध हो गया तथा धार्मिक साधना मार्गों की ओर झुक गया। भारत के मुसलमान विजेताओं

---

[1] न्यू हिस्ट्री ऑफ दि मराठाज --जी० एस० सरदेसाई, अध्याय १, पृ० २६।
[2] हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १।
[3] हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० ६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने अपने तत्त्ववाद का प्रचार तलवार के बल पर किया, तत्त्व चिंता के आधार पर नहीं। ऐसी स्थिति में लोकजीवन में उसकी जो प्रतिक्रिया हुई जिसका सम्बन्ध आलोच्य विषय से है, उसके दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं :

(१) इस्लाम की स्वीकृति—धार्मिक मतवाद के रूप में।
(२) इस्लाम का पोषण—राजकर्ताओं के निर्देश के अनुसार।

जिन लोगों ने केवल धार्मिक मतवाद के रूप में इस्लाम को स्वीकार किया था उनके साधना मार्गों एवं तत्त्व चिंता में कोई विशेष परिवर्तन न आया। वे अपनी परम्परा के राजनीतिक संस्करण बन कर रह गये किन्तु इस्लामी चिंता अथवा कर्मकाण्ड के विरोधी बने रहे। ऐसे समुदाय भारतीय साधना मार्ग के वे वर्ग थे जिन्होंने धार्मिक मदान्धता के विरुद्ध पूर्व में ही विद्रोही स्वर अपनाकर प्राचीन परम्परा से अपना सम्बन्ध बना रखा था। निर्गुण मत के अधिकांश मुस्लिम संत इसी धारा के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं, जिनमें कबीर प्रमुख हैं।

दूसरे वर्ग के अनुयायी वे व्यक्ति कहे जा सकते हैं जिन्होंने भारतीय आध्यात्म की पृष्ठभूमि में मुसलमानों की भाँति हिन्दुओं को भी एक ही ईश्वर की संतान माना है, किन्तु वे मुसलमानों के राजनीतिक उत्कर्ष के पहरेदार रहे तथा लोकजीवन में इस्लाम के प्रति सहिष्णु भावना को जन्म दे सके। इस वर्ग का सम्बन्ध सूफियों और इस्लामी धर्मगुरुओं से था।

राजनीतिक परिस्थितियों की दृष्टि से मुस्लिमकालीन भारतीय इतिहास को कुछ विद्वानों ने दो भागों में बाँटा है। प्रथम है मुगल साम्राज्य की स्थापना के पूर्व अर्थात् सन् १२०० से १५०० तक, दूसरा मुगल साम्राज्य की स्थापना से उसके पतन काल तक अर्थात् लगभग सन् १५०० से १७०० तक। दोनों पर परिस्थितियों के प्रभाव पृथक-पृथक हुए हैं :

(१) प्रथम काल में मुसलमान आक्रमणकारियों ने लूटमार और अत्याचार किये।
(२) द्वितीय काल में कुछ बादशाहों की नीति में सहिष्णुता का प्रभाव दीखता है किन्तु कुछ धार्मिक कट्टरतवादी भी रहे।

इस बीच भारतीय राजनीतिक स्थिति अत्यन्त अस्थिर एवं डँवाडोल रही। पूर्व में भारतीय राजे-महाराजे आक्रमणकारियों की प्रतिरक्षा की भावना में उद्धत प्रतीत होते हैं किन्तु बाद में राजनीतिक शक्तियों के संगठित प्रयत्न भी हुए जो परिस्थितियों को अधिक प्रभावित न कर सके। राजनीतिक तथा धार्मिक कट्टरता के साथ ही मध्यदेश की भी आत्मरक्षात्मक और विद्रोही प्रवृत्तियाँ उभर आयीं। कुछ विद्वानों का मत है कि उसके हले हिन्दू राजाओं में तथा लोकजीवन में धार्मिक कट्टरता नहीं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थी तथा प्रतिशोध की भावना का भी अभाव था।[1] इस सम्बन्ध में मत भिन्नता हो सकती है किन्तु यह बात विशेष दृष्टव्य है कि राजनीतिक उत्कर्ष और उसकी धार्मिक कट्टरता का यह रूप सम्भवतः भारतीय राजनीति में नया ही था, न यहाँ के छोटे-छोटे रजवाड़े और न यहाँ का जन-समुदाय उसके सामने टिक सकते थे। छोटे-छोटे राज्यों के मध्य भी उस काल में भारतीय राज-व्यवस्था के पाँच मुख्य केन्द्र थे—(१) अजमेर, (२) दिल्ली, (३) महोबा, (४) ग्वालियर और (५) मेवाड़।[2] अजमेर, दिल्ली, महोबा और ग्वालियर मुसलमानों के आक्रमणों को सहन न कर सके जबकि मेवाड़ उनके प्रभाव से कुछ काल तक अवश्य मुक्त रहा। अंततोगत्वा मुगल साम्राज्य के विस्तार ने इस्लाम के प्रसार को जो स्वरूप प्रदान किया उसके अनुसार हम एक विशाल मुस्लिम राज्य की जड़ों को इस देश में जमता हुआ पाते हैं। संत-काव्य के सृजन में इसी प्रकार की आक्रमक तथा रक्षात्मक राजनीतिक परिस्थिति का आभास होता है।

सामाजिक परिस्थितियाँ

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के साथ ही हम आलोच्यकाल की सामाजिक स्थिति पर भी विचार कर लें। राजनीतिक प्रतिक्रियाओं के निष्कर्ष राज्यतंत्र और शासक वर्ग की नीति से सम्बद्ध रहते हैं किन्तु सामाजिक स्थिति ही वास्तव में किसी युग विशेष की धारा को प्रभावित करने में अग्रसर मानी गयी है। जिस कवि या लेखक के पास सचमुच ही कुछ कहने की वस्तु होती है उसके व्यक्तित्व का यदि विश्लेषण किया जाय तो यह मालूम होगा कि समाज में प्रतिष्ठित रूढ़ियों में वह कुछ ऐसी त्रुटि देख रहा है, जो उसे बुरी तरह से खल रही है। वह खलने वाली बात का विरोध करता है और उसके स्थान पर कुछ ऐसी बातों को प्रतिष्ठित करना चाहता है, जो उसके मत के अनुकूल होती हैं।[3] संत-काव्य की सामाजिक परिस्थितियों के मुख्यतया दो रूप हमारे सामने आते हैं।

(१) प्राचीन हिन्दू जाति की परम्परागत व्यवस्था और उसकी विषमता के मूल परिष्कार का उद्घोष।

(२) मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन से उत्पन्न सामाजिक संकट के प्रति आत्मरक्षात्मक प्रयत्न।

संक्षेप में, इन परिस्थितियों पर पृथक-पृथक रीति से विचार कर लेना अभीष्ट होगा। कुछ विद्वानों ने इन दोनों स्थितियों को एक ही तुला पर रख कर उसका

---

१ हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ६ अंक १, ४ डा० शैल कुमारी का लेख 'संत आन्दोलन की पृष्ठभूमि'।

२ **मध्यदेशीय भाषा**—हरिहर निवास द्विवेदी, पृ० ४०।

३ **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ८६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मूल्यांकन किया है। फलस्वरूप, संत-काव्य की सामाजिक पृष्ठभूमि का वैज्ञानिक विश्लेषण उपलब्ध नहीं हो पाता। संतों ने जिस भारतीय वर्ण-व्यवस्था और उसके असमान दकियानूसीपन का खण्डन किया है वह केवल मुस्लिम आक्रमण का परिणाम नहीं माना जा सकता। सामाजिक जीवन में मुस्लिम धर्म भावना का आदर केवल भारतीय धर्म के सहिष्णु होने के परिणामस्वरूप हुआ प्रतीत होता है तथा कर्मकाण्डी कट्टरता का विरोध परम्परागत विद्रोही प्रवृत्ति का कारण माना जा सकता है, जिसका मूल उद्घोष वैदिक युग के समाप्त होते-होते आर्य जीवन में व्याप्त हो गया था, जो अनेक सुधारवादी सम्प्रदायों के लोक प्रभाव के रूप में पल्लवित भी हो चुका था।[1]

हिन्दू जाति की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। उसकी सामाजिक व्यवस्था गत्यात्मक है तथा परिस्थितियों को अनुकूल बनाकर आत्मसात करने में अनेक युगों तक संसार में अन्य जातियों की वह अग्रणी रही है, किन्तु यह गत्यात्मकता सहज और स्वाभाविक नहीं कही जा सकती। विरोधों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सामाजिक नियमों की कट्टरता को अनेक बार मुँह की खानी पड़ी किन्तु मुसलमानों के आगमन के पूर्व भारतीय जीवन में वही व्यवस्था अपनी विषमता के चरम पर थी। प्राचीनकाल से जातीय सामाजिक व्यवस्था के सूत्र वर्ण-व्यवस्था में निहित माने जाते रहे हैं। गुण कर्मों के अनुसार सम्पूर्ण समाज वर्णों में विभक्त था। गुण बहुधा परिस्थियों के ही परिणाम होते हैं।[2] कालान्तर में वर्ण का विभाजन गुणों के आधार पर न होकर जन्म के आधार पर स्वीकार कर लिया गया। ऊँच-नीच और स्तर भेद ने स्थान ग्रहण किया। जिस समय संत-काव्य का बीजारोपण हुआ उस समय हमारे देश में दो प्रकार का अत्यन्त स्पष्ट सामाजिक स्तर था। एक में शास्त्र के पठनपाठन की व्यवस्था थी और उनके आदर्श पर संगठित सामाजिक व्यवस्था के प्रति सहानुभूति थी और दूसरे में सामाजिक व्यवस्था के प्रति तीव्र असंतोष का भाव था।[3] लोक चिंता की अनेक प्रत्याशित और अप्रत्याशित उथल-पुथल के कारण यह भेद स्थिर और दृढ़ हो चुका था। इस भेद ने जातियों और उपजातियों की व्यवस्था की। आचारभ्रष्ट हिन्दू जाति से बहिष्कृत होकर नवीन जाति का सृजन करने के लिए बाध्य हुआ और असमान जाति भेद के बीज गहरे होते गये। छुआछूत और ऊँच-नीच ने एक ऐसी विषमता को जन्म दिया जिसका मूल स्वर वैदिक समाज-व्यवस्था से मेल नहीं खाता था। डा० बड़थ्वाल ने एक स्थल पर लिखा है कि जो नियम समाज में शांति, मर्यादा और व्यवस्था रखने के लिए बनाये गये थे, वे इस प्रकार समाज में वैषम्य और क्रूरता के विधायक बन गये। जीवन के कार्यक्रम के चुनाव में व्यक्तिगत प्रवृत्ति का प्रश्न ही

---

[1] **इसी प्रबन्ध का अध्याय २।**

[2] **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० ६।

[3] **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ८८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

न रहा। जिस वर्ण में व्यक्ति विशेष ने जन्म पा लिया, उस वर्ण के निश्चित कार्यक्रम को छोड़ कर और सब मार्ग उसके लिए सर्वदा के लिए बन्द हो गये। उद्यम का विभाजन तथा कार्यव्यापार में कौशल प्राप्ति का उपाय न रहकर वर्ण विभाग सामाजिक विभेद हो गया जिसमें कोई उच्च तथा कोई निम्न समझा जाने लगा। शूद्र, जो निम्नतम वर्ण में थे, सभ्य समाज के सब अधिकारों से वंचित रह गये। वेद और धर्म-शास्त्रों के अध्ययन का उन्हें अधिकार न था। उनमें से भी अंत्यजों के लिए देव दर्शन के लिए मंदिर प्रवेश भी निषिद्ध था। उनका स्पर्श तक अपवित्र समझा जाता था।[१] हिन्दू समाज की यह स्थिति किसी अल्पकालीन क्रिया का परिणाम नहीं थी। शताब्दियों तक यह अंतर्द्वन्द उसकी शक्तियों को क्षीण करता रहा, समाज-व्यवस्था के नियम के फलस्वरूप अनेक शास्त्रों और निबन्धों की रचना हुई और जितना व्यवस्था का अंकुश समाज में तीव्र होता गया उतना ही समाज अपवाद की खोज में पड़ गया। परम्परागत तथा आदर्शमूलक तत्त्व की दृष्टि में ऐसा वर्ग धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से हीन कोटि में ला रखा गया। संक्षेप में, मुसलमानों के आक्रमण होते-होते हिन्दू समाज जर्जर और विभक्त होकर अनेक टुकड़ों में बँट गया था तथा कुछ ऐसे भी भेद समाज में थे जिनकी समाजगत कोई स्थिति नहीं थी। तभी हमारे देश में एक अभूतपूर्व धार्मिक तथा राजनीतिक घटना घटी[२] और एक ऐसी समाज रचना का सामना करना पड़ा जो भारतीय समाज की दृष्टि में नई थी तथा जिस की शक्ति का केन्द्र धर्मान्ध शासक वर्ग था। मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व ही भारतीय समाज की स्थिति में अनेक उलट-फेर हो चुके थे। हम यह कह सकते हैं कि हिन्दुओं की वर्णाश्रम व्यवस्था का स्वरूप अत्यन्त ही विस्तृत हो गया था, जातियों और उपजातियों की सृष्टि हो चुकी थी, उसमें भी छुआछूत, ऊँचनीच के भेद बढ़ने लगे थे तथा व्यक्तिगत द्वेष के बीज फैल चुके थे। ऐसे ही संक्रमण काल में मुसलमानों का आक्रमण हुआ। मुसलमानों के आक्रमण के फलस्वरूप भारतीय समाज को जिस स्थिति का सामना करना पड़ा वह पहले की स्थिति से भिन्न प्रकार की थी। जातिगत वैषम्य से बढ़कर अब विजातियों द्वारा बलात् धर्म-परिवर्तन किये जाने के कारण न तत्कालीन समाज उन्हें अपने में मिला सकता था और न छोड़ सकता था। दूसरी ओर इस्लाम की समाज-व्यवस्था में ऊँच-नीच और बड़े-छोटे का सम्बन्ध जाति से अथवा वर्ण से नहीं था बल्कि अधिकार और शक्ति ही उसकी निर्णायिका थी। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस बात की चर्चा करते हुए एक स्थल पर प्रकट किया है कि प्रथम बार भारतीय समाज को एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था जो उसकी जानी हुई नहीं थी। अब तक वर्ण-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्दी नहीं था। आचारभ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिये जाते थे और वे एक नई जाति की रचना कर लिया करते थे। इस

---

१ **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ७।

२ **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकार यद्यपि सैकड़ों जातियाँ उपजातियाँ बनती जा रही थीं तथापि वर्णाश्रम व्यवस्था किसी न किसी प्रकार चलती ही जा रही थी। अब सामने एक सुसंगठित समाज था जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अपने अन्दर समान आसन देने की प्रतिज्ञा कर चुका था।[१] एक ओर मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता की नीति, दूसरी ओर धर्म-परिवर्तन का प्रण दोनों ही प्रभावों की प्रतिक्रिया तत्कालीन हिन्दू समाज पर होना स्वाभाविक है। यह प्रतिक्रिया दो रूप में प्रकट हुई : (१) मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता को देखकर हिन्दुओं ने भी धार्मिक कट्टरता अनुकरण के रूप में सीखी, तथा (२) मुस्लिम शासकों की धार्मिक असहिष्णुता के प्रति प्रतिशोध भावना हिन्दुओं में जाग्रत हुई और वे असहिष्णु हो उठे।[२] इसके अतिरिक्त समाज की सुरक्षा के लिए पंडित वर्ग ने विवाह, पर्दा आदि की प्रथाओं का नवीन विवेचन प्रस्तुत कर उसे कर्मकाण्ड के गुण से बाँध दिया, दूसरी ओर मुसलमानों के सामाजिक आचार जिस धर्म-प्रेरणा को पाकर फलेफूले उनमें भी कठमुल्लापन आना स्वाभाविक था। हिन्दू और मुसलमान समाज की कर्मकाण्डी और दुराग्रही प्रवृत्ति के विस्तृत रूप से फैले हुए होने के बाद भी दोनों के प्रति कुछ भारतीय विचारकों एवं ईश्वरानुरागी भक्तों के मन में विशेष श्रद्धा नहीं थी। अपनी प्राचीन विद्रोही प्रवृत्ति से मिलकर जिस नवीन परिस्थिति का विस्फोट मध्ययुग में हुआ उसका बीजारोपण निम्न वर्गीय समाज-व्यवस्था में पूर्व से हो चुका था, यह हमें विदित है। परिस्थितियों ने उसे गति अवश्य दी, पददलित शूद्रों एवं निम्नजातियों की दृष्टि का उन्मेश होगया और परम्परागत चिंताधारा को जिस उन्मुक्त वातावरण की आवश्यकता थी उसके लिए विषम और भीषण पृष्ठभूमि के रूप में ये सामाजिक परिस्थितियाँ उपलब्ध हो गयीं।

राजनीतिक पराभव के बाद भारतीय समाज में जिस हीनत्व की भावना का आरोप अपने प्रत्यक्ष व्यवहार से शासक वर्ग कर रहा था उसके लिए समाज तैयार नहीं था और संघर्षशील परिस्थितियों में भी अपनी सांस्कृतिक चेतना और सामाजिक स्वायत्त को बनाये रखने में हिन्दू समाज ने उस समय कोई कसर न रख छोड़ी। सुरक्षा के लिए संकटग्रस्त जाति ने नये प्रयोग किये जिनमें मुख्य हैं बाल विवाह, पर्दा, बालिकावध तथा सती और जौहर की प्रथाएँ जिनके समाज में प्रवेश पाने तथा जिनके प्रति जातीय स्वाभिमान की भावना होने के कारण समाज अपने संघर्ष को क्रियाशील रख सका, यद्यपि उसका विकास रुक गया। हिन्दू समाज की तत्कालीन प्रथाओं का प्रभाव शासित वर्ग पर भी पड़ा।

धार्मिक परिस्थितियाँ

उपर्युक्त राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के साथ ही संत-काव्य के

---

१ **मध्यकालीन धर्मसाधना**, पृ० ६०।

२ **हिन्दी अनुशीलन**, वर्ष ६, अंक १, ४, डा० शैल कुमारी का निबन्ध 'संत आन्दोलन की मूल प्रेरणा'।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आविर्भाव की धार्मिक पतिस्थितियों पर भी विचार कर लिया जाना आवश्यक है। पिछले पृष्ठों में हमने प्राचीन धार्मिक प्रवृत्ति और भेदात्मक लोक प्रभाव का मूल्यांकन किया ही है जिसने धार्मिक रूढ़िवादिता और कर्मकाण्ड के विरुद्ध अनेक साधना पंथों को पल्लवित होने का अवसर दिया, दूसरी ओर दर्शन और विचार चिंतन के क्षेत्र में भक्तिसुलभ जन-आन्दोलन भी उठ खड़े हुए जो धार्मिक चेतना को सबसे अधिक प्रभावित कर सके तथा इस्लाम धर्म के भारत में शासित वर्ग के माध्यम से फैलने के फलस्वरूप नव मुस्लिमों के लिए अनेक प्रलोभन सुलभ होने के कारण तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति की विकासधाराएँ स्वतन्त्र न होकर मिश्ररूप में पल्लवित हुईं। इस्लाम के अंतर्गत सूफियों की धार्मिक भावना और व्यापक भ्रातृत्व और रहस्यात्मकता यद्यपि इस देश के लिए कोई नई बात नहीं थी[१] तथापि वही एक दृष्टिकोण था जिसके फलस्वरूप धार्मिक सहिष्णुता का आविर्भाव हुआ। सभी सूफी फकीरों ने धार्मिक सहिष्णुता का षोषण किया हो, ऐसी बात नहीं है, किन्तु फिर भी जिस सामाजिक और राजनीतिक आक्रोश की बात भारतीय समाज में बद्धमूल हो रही थी, उसे शिथिल करने में यह नवीन धर्म पर्याप्त सक्रिय रहा।

बौद्ध और जैन चिंतन के व्यावहारिक सुधार आन्दोलन जब स्वयं ही लोक विरोधी हो गये, लगभग उसी समय स्वामी शंकराचार्य के तथा अन्य अनेक आचार्यों के प्रयत्न एवं लोकजीवन की स्वाभाविक माँग के फलस्वरूप भारतीय धार्मिक चेतना में कुछ ही क्रांतिकारी परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं।[२] दर्शन के क्षेत्र में जिस बौद्ध शून्यवाद के नैरात्म्य ने सम्पूर्ण भारतीय जाति को निष्क्रिय और पराङ्मुख बना दिया था, स्वामी शंकराचार्य ने उसी शून्यवाद में आत्मभाव का आरोप कर लोगों के मन पर से बौद्ध धर्म के दार्शनिक युक्तिजाल की आस्था को मिटा दिया।[3] स्वामी शंकराचार्य की प्रसिद्ध दिग्विजय से नास्तिक एवं वेदविरोधी मतों का उन्मूलन होगया और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ। शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त का तत्त्व विद्वानों ने आत्मज्ञान की स्वयंसिद्धि माना है।[४] यह मत मूलतः तर्क प्रधान है तथा अलौकिक विद्वत्ता के बिना सामान्य मनुष्यों तक पहुँच सकने का विवरण मध्ययुगीन दार्शनिक मतों में नहीं मिलता। साधारण जन-समूह धर्म और दर्शन को तर्क की अपेक्षा भक्ति के माध्यम से समझने के लिए व्याकुल हो उठा। विभिन्न वैष्णव अन्दोलनों का आधार स्वामी शंकराचार्य के मत का परिष्कार था अथवा उनके मत के विरोध में अपने मत का संगठन था। उल्लिखित वैष्णव आचार्यों के मतों[५] के साथ ही जिस आड़वार

१ काव्य कला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद, पृ० ३१।
२ इसी प्रबन्ध का अध्याय २।
3 हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५।
४ भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ४३८।
५ इसी प्रबन्ध का अध्याय २।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भक्ति का स्रोत दक्षिण से उठकर सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गया था, निर्गुण संत-काव्य के आविर्भाव की परिस्थितियों में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। दक्षिण में जिस समय आड़वार भक्ति अपने चरम पर थी, उत्तर में योगमार्गी कायिक साधना की दुंदभी बज रही थी। मध्ययुगी धर्मसाधना की चर्चा करते हुए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि भक्ति साहित्य के पढ़ने वाले पाठक को जो बात सबसे पहले आकृष्ट करती है, विशेकर निर्गुण भक्ति के अध्येता को, वह यह कि उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अंतर था। एक को अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरे को अपने अज्ञान का भरोसा, एक के लिए पिण्ड ही ब्रह्माण्ड था, दूसरे के लिए ब्रह्माण्ड ही पिण्ड, एक का भरोसा अपने पर था, दूसरे का राम पर। एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर। एक योगी था और दूसरा भक्त। इन दो धाराओं का अद्भुत मिलन ही निर्गुण धारा का वह साहित्य है जिसमें एक तरफ कभी न झुकने वाला अक्खड़पन है और दूसरी तरफ घरफूंक मस्ती वाला फक्कड़पन।[1]

वास्तव में जिस समय संत-काव्य का आविर्भाव हुआ उन दिनों धार्मिक व्यवस्था की प्रधानता थी और समाज के किसी भी अंग का पुर्ननिर्माण अथवा उसकी कार्य पद्धति का समुचित निर्देशन केवल धार्मिक विधान एवं धार्मिक शब्दावली के ही सहारे सम्भव समझा जाता था।[2] जिस धार्मिक कट्टरता, कर्मकाण्ड, वाह्य आडम्बर तथा आध्यात्मिकता के नाम पर विभिन्न मतवाद लोकचिंता को प्रभावित करने में लगे हुए थे उस समय धार्मिक क्षेत्र में भी मुसलमानों की आक्रमण प्रवृति के विरुद्ध आत्मरक्षा के प्रयत्न हुए, किन्तु ठीक इसी समय उत्तर भारत के हिन्दुओं को मुस्लिम विजय के कारण समस्त विरक्तिमय धर्मों के उस मूल सिद्धान्त का अपने ही जीवन में अनुभव हो रहा था जिसके अनुसार संसार केवल दुःख का आगार मात्र है।[3] भगवान की शरण के अतिरिक्त इस दुःखमय संसार से छुटकारा सम्भव नहीं था। उत्तर भारत में स्वामी राघवानन्द और रामानन्द तथा बल्लभाचार्य आदि के प्रयत्न से १५वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही वैष्णव भक्ति सर्वप्रिय हो उठी थी। हिन्दी का भक्ति साहित्य उसी से सम्बद्ध एक जन-आन्दोलन ही कहा जा सकता है। यह आन्दोलन प्राचीन धर्म का आश्रय लेकर ही चला था, परन्तु शास्त्रगत सूक्ष्म विचारों और पांडित्यप्रवण चिंताओं का प्रभाव उस पर बहुत कम था।[4] हिन्दू धर्म में इस्लाम धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप अनेक प्रतिक्रियाएँ हुई। डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि हिन्दुओं को शांत करने के लिए मुसलमानों ने उन्हें अपनी संस्कृति से दीक्षित करने का भी प्रयत्न किया, क्योंकि अब मुसलमान भी अपने को इसी देश का निवासी

---

१ मध्ययुगीन धर्मसाधना, पृ० ६४।

२ कबीर साहित्य की परख--परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २

३ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० १३।

४ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मानने लगे थे । शासकों की नीति-रीति शासितों को प्रभावित अवश्य करती है, इसी सिद्धान्त के अनुसार इस्लाम धर्म भी हिन्दुओं के धार्मिक विचारों में अज्ञात रूप से परिवर्तन लाने में व्यस्त था । हिन्दू धर्म पर आघात होते ही यद्यपि जनता विचलित हो उठी तथापि आत्मरक्षा के विचार से किसी अंश तक हिन्दुओं ने भी इस्लाम धर्म को समझने की चेष्टा की । फलतः धार्मिक विचारों में परिवर्तन होने का सूत्रपात एक ऐसे रूप में प्रारम्भ हुआ जिसने हमारे साहित्य में एक नवीन धारा की ही सृष्टि कर दी ।[1] साम्य के आधार पर एक व्यापक लोक धर्म की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी किन्तु यह तथ्य सत्य से परे नहीं है कि धार्मिक परिस्थितियों में एक विशेष प्रकार की उत्तेजना थी, विस्तार की परिस्थिति राजनीतिक घटनाचक्रों ने उपस्थित की किन्तु आत्मरक्षा ने धर्म के कर्मकाण्ड को एक ओर नया आदरास्पद रूप प्रदान किया, दूसरी ओर उन्मुक्त आत्मभाव ने उसके क्षेत्र को असंकुचित और सहिष्णु बनाया। हिन्दू और मुस्लिम धार्मिक कट्टरता से ऊबकर उस युग के कुछ स्वतन्त्र विचारकों ने आध्यात्म के माध्यम से जगत के सम्बन्धों को समझने के लिए लोक परम्परा से प्राप्त सिद्धों, नाथयोगियों के मार्ग को अपनाया जिनमें धार्मिक कट्टरता अन्य सामाजिकों से से कुछ कम थी ।[2] ऐसे व्यक्ति वैष्णव धर्म के लोकव्यापी प्रभाव को सर्वत्र स्वीकार करते हुए दिखाई दिये । सगुण और निर्गुण रूप में भगवान की भक्ति के सूत्र अधिक विस्तार पा सके । राम और कृष्ण के अवतारी स्वरूप की विस्तृत पौराणिक पुष्टि हुई । हिन्दी साहित्य पर उसका विशेष प्रभाव हुआ और लोक जीवन में ईश्वर के निर्गुण रूप की चर्चा संतों की वाणियों का मुख्य विषय बनी । उस युग की धार्मिक प्रवृत्ति में खण्डनात्मक वृत्ति का समावेश भी हुआ किन्तु लोकसामान्य व्यक्ति खण्डनात्मक प्रवृत्तियों की ओर नहीं झुके, केवल भक्तों और संतों ने ही जनजीवन के प्रतिनिधि के रूप में ऐसी रचनाओं के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी ।

इस्लाम धर्म के प्रचार से तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों में जिस नई प्रतिक्रिया ने जन्म लिया उसके कुछ मुख्य रूप निम्नलिखित माने जा सकते हैं— (१) अध्ययन-अध्यापन के शिक्षा केन्द्रों के विध्वंस होने के पश्चात् संस्कृत भाषा केवल कुछ आचार्यों तक सीमित रह गयी तथा जन-साधारण के लिए वह श्रद्धा की एक रहस्यमय वाणी बन गयी, (२) आचार्य वर्ग को छोड़कर लोकसामान्य आध्यात्मवादियों ने जनवाणी को अपनी धार्मिक अभिव्यक्ति का आधार बनाया, (३) इस्लाम धर्म को स्वीकार करने वाले प्रायः निम्न श्रेणियों से आये थे इसलिए इस्लाम के सहज भ्रातृ-भाव का प्रभाव तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों पर भी पड़ा, (४) शूद्रों और अंत्यजों को भक्ति करने की सुविधा मिली, धर्म के मार्ग उनके लिए खोल दिये गये ।

---

१ **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १९२ ।

२ **वही**, पृ० १९२ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मध्ययुग में जिस धार्मिक प्रवृत्ति का विकास हुआ था अब उसका संस्कृत स्वरूप निखर आया। योग की काया साधना का स्थान भगवान की भक्ति ने ले लिया। यही कारण है कि एक ओर कलियुग की घोरता का लम्बा-चौड़ा वर्णन करने वाले तथा जाति व्यवस्था के शास्त्रानुमोदित मार्ग का निर्देशन करने वाले भक्त तुलसीदास का आविर्भाव हुआ तो दूसरी ओर कृष्ण की मनोमुग्धकारी आनन्द लीलाओं का वर्णन करने वाले सूर भी उस युग की उपज हैं तथा तीसरी ओर धर्मों, जातियों तथा सम्प्रदायों की शृंखला को तोड़ते हुए निर्गुणोपासक संतों की परम्परा के पुष्ट प्रवर्तक कबीर का जन्म होता है। धर्म की असीम और सीमित तत्त्वचिंता का मानो वह संधियुग था।

साहित्यिक परिस्थितियाँ

संतों की वानियों का सम्बन्ध काल विशेष की शास्त्रीय अभिव्यक्ति से नहीं है, किन्तु जिस समय संत कबीर ने अपनी वानियाँ रचीं उस समय काव्य रचना की शास्त्रीय पद्धति का प्रचार कम न था। निर्गुण कवि शिष्ट समाज में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे और उन्हें सामन्ती दरबारों में बहुधा आश्रय भी मिला करता था। यशोलिप्सा और अर्थ प्राप्ति की प्रेरणा से नवीन कला-कौशल दिखाये जाते थे और काव्य कला सम्बन्धी नियमों का नित्यशः विस्तार भी होता जा रहा था।[1] क्या भाषा और क्या भाव प्रत्येक दृष्टि से उस युग की परिस्थितियाँ सामान्य नहीं कही जा सकतीं। भाषा के रूप में हिन्दी की वह प्रारम्भिक स्थिति ही पुरानी हिन्दी के नाम से लोक भाषा का स्थान पा रही थी। पूर्वी और पश्चिमी अपभ्रंश से विकसित होकर हिन्दी में दो भिन्न प्रकार की धाराएँ दिखाई देती हैं—(१) पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्तुति, ऐहिकतामूलक शृंगारी काव्य, नीतिविषयक फुटकल रचनाएँ और लोक प्रचलित कथानक; (२) पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुणिया संतों की शास्त्र निरपेक्ष उग्र विचारधारा, झाड़-फटकार, अक्खड़पन, सहजशून्य की साधना, योग पद्धति और भक्तिमूलक रचनाएँ।[2]

पहले हम साहित्य के भाव पक्ष की परिस्थितियों का विश्लेषण करेंगे। साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा हमारे विषय का कविता से ही सीधा सम्बन्ध है अतएव अन्य बातों की चर्चा का यहाँ औचित्य नहीं है। हम आलोच्यकाल में भक्ति की अभिव्यक्ति की ही प्रमुखता पाते हैं। मध्ययुग की अभिव्यक्ति का मूलस्वर धार्मिक है कि किन्तु काव्यादर्शों की दृष्टि से उसी युग में हम एक ऐसी भी परिस्थिति पाते हैं जिसके अनुसार काव्य के अनुमोदन के लिए नियमों का अक्षरशः पालन और

---

[1] **आलोचना, इतिहास विशेषांक, वर्ष २, अंक १,** श्री परशुराम चतुर्वेदी का निबन्ध, 'संत-काव्य की परम्परा'।

[2] **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शास्त्रीय परम्परा का ज्ञान अनिवार्य था। लोक चिंता ने जिस प्रकार लोकवाणी को अभिव्यक्ति का मुख्य आधार बनाया उसी प्रकार कविता बँधी हुई व्यवस्था से ऊपर उठकर भक्ति की विह्वलता में प्रस्फुटित हो उठी। वहाँ धर्म जितना कट्टर और सीमा-बद्ध था, काव्य उतना ही उदार और व्यापक। भक्ति के महात्म्य का प्रकाशन भक्त कवियों के कंठ से निःसृत होकर धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक विषमता को अपनी अनुभूति में समेट सका। वहाँ काव्य शास्त्र की सीमा और अधिक संकुचित हो गयी तथा लोक काव्य की और अधिक विस्तृत, किन्तु भक्ति युग की साहित्यिक परि-स्थिति में शास्त्रसम्मत काव्य रूपों का विकास भी हुआ है तो प्रकृत काव्य का भी, यद्यपि एक दूसरे का अन्तर कम न हुआ। प्रकृत काव्य शीघ्र ही सम्प्रदायगत अभि-व्यक्ति में आबद्ध हो गया और इस प्रकार काव्यगत सौंदर्य से पूर्ण कविताओं की बहुलता न रह सकी।

भक्ति काव्य के आविर्भाव की पृष्ठभूमि में दो प्रकार की काव्य रचनाएँ उपलब्ध होती हैं—(१) लौकिक वर्णन से परिपूर्ण पांडित्यप्रवण काव्य, (२) अलौकिक तथा सोद्देश्य रचनाएँ। अलौकिक तथा सोद्देश्य रचनाओं के भी अनेक रूप हैं : (१) राम-कृष्ण की उपासना सम्बन्धी सगुण भक्तिपरक रचनाएँ, (२) हिन्दुओं तथा सूफी फकीरों के प्रेमपरक आख्यान काव्य, (३) निर्गुणिये संतों की ब्रह्म विचारात्मक रचनाएँ। इस प्रकार भक्ति काव्य का सम्बन्ध शास्त्र से भी है तो लोक से भी। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि केवल भगवत्प्रेम या पांडित्य ही इस युग के विचार स्रोत को रूप नहीं दे रहे थे। कम से कम हिन्दी के भक्ति साहित्य को काव्य के नियमों और प्रभावों से अलग करके नहीं देखा जा सकता। अलंकार शास्त्र और काव्यगत रूढ़ियों से उसे एकदम मुक्त नहीं किया जा सकता। परन्तु फिर भी वह वही चीज नहीं है जो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के पूर्ववर्ती साहित्य में है।[1] भक्ति काव्य अपने आप में भावनापरक काव्य है जिसमें भक्त का हृदय है आश्रय, और उसका आलम्बन है भगवान। भक्ति की विह्वलता ही उसकी सजीवता का कारण है। डा० श्रीकृष्ण लाल ने एक स्थल पर लिखा है कि भक्त कवियों की परम्परा सजीव थी इस कारण एक ही विषय, भक्ति, को अपनी रुचि-वैचित्र्य, चिंतन और भावना के कारण उन्होंने विविध प्रकार से अनुभव कर अगणित काव्य रूपों और शैलियों में प्रकाशित किया। किसी ने सबदी, साखी और रमैनी लिखी, किसी ने महाकाव्य और खण्डकाव्य की रचना की, किसी ने पदों में रस की धारा उमड़ायी और किसी ने जनता में प्रचलित होली, चाँचर आदि की धूम मचा दी।[2]

भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि के रूप में जिन सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों का संयोग हुआ, जिन अस्थिर परिस्थितियों में से भारतीय चिंता को

१ **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद दिवेदी, पृ० ९३।
२ **आलोचना**, इतिहास विशेषांक, डा० श्री कृष्णलाल का निबन्ध, 'भक्ति काव्य'।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निकलना पड़ा उन्हें देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि भक्ति की पृष्ठभूमि तात्कालिक परिस्थितियों की ही उपज तो नहीं है, किन्तु यह बात कुछ अंशों में ही सत्य मानी जा सकती है। लोक चिंता की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के रूप में हमें संतों से पूर्व भी उसी प्रकार की अभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं। काव्य के भाव पक्ष में परम्परा साम्य तो स्वाभाविक चिंता का ही परिणाम है, काव्य के कलापक्ष में भी एक विचित्र-सा साम्य मिलता है।

भक्ति युग में अनेक काव्य रूपों की उद्‌भावना हुई, उसी प्रकार भाषा की सीमा-रेखाओं का भी अतिक्रमण हुआ। अवधी, ब्रज, मध्यदेशीय के साथ ही लोक प्रचलित पुरानी हिन्दी का युग प्रारम्भ हो चुका था, अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग प्रारम्भ हो गया यद्यपि विद्वानों के समाज में लोकचिन्ता के प्रकृत काव्य प्रयोगों के प्रति सहृदयता का अभाव ही रहा। गुह्य रूप में अभिव्यक्ति पाने वाली प्राचीन परम्परा भी धार्मिक साहित्य की विशेषता मानी जा सकती है। प्रतीक योजना के अन्तर्गत गूढ़ दार्शनिक पक्षों का व्यावहारिक विश्लेषण लोकसुलभ हुआ। 'संध्या' भाषा का प्रयोग भी काव्य की एक परम्परा बन गया। यद्यपि धर्म के व्यापक प्रभाव के कारण उस युग में साहित्यिक परिस्थितियों को स्वतन्त्र रूप से विकसित होने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु जिन परिस्थितियों में भक्ति काव्य का विकास हुआ, वह जीवन-सापेक्ष्य और लोकमंगल की प्रेरणा का स्रोत बन गया। ऐसी ही परिस्थितियों में संत-काव्य का आविर्भाव हुआ।

संत-काव्य की मूल प्रेरणा

संत-काव्य के आविर्भाव की राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों के विश्लेषण के समय कुछ विद्वानों का ध्यान इस ओर जाना स्वाभाविक ही है कि मुसलमानों के आक्रमण और अत्याचार की प्रतिक्रिया ही संत-काव्य है। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि कबीर ने हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों को मुसलमानी धर्म के मूल सिद्धान्तों से मिलाकर एक नये पंथ की कल्पना की थी, जिसमें ईश्वर एक था।[1] अनेक विद्वानों ने संत-काव्य पर इस्लामी प्रभाव को स्वीकार किया है किन्तु परिस्थितियों के विश्लेषण के पश्चात् भारतीय सामाजिक स्तर के विकास सूत्रों को देखते हुए यह तथ्य केवल ऊपरी बातों के प्रभाव-साम्य के कारण ही स्वीकार कर लिया गया प्रतीत होता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है। उन्होंने लिखा है कि कभी-कभी यह शंका की गयी है कि हिन्दी साहित्य का सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अंश अर्थात् भक्तिसाहित्य मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया है और कभी-कभी यह भी बताने का प्रयत्न किया गया है कि निर्गुणिये संतों की जातिपाँति विरोधी प्रवृत्ति अवतारवाद

[1] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २१५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और मूर्तिपूजा के खण्डन करने की चेष्टा में मुसलमानी जोश है। ये सभी बातें भ्रम-मूलक हैं।[१] सामाजिक परिस्थितियों एवं धार्मिक प्रवर्तन को देखते हुए यह बात स्वीकार कर लेनी पड़ती है कि केवल एक राजनीतिक घटना ने ही आध्यात्म काव्य के सृजन की परिस्थिति इस देश में उत्पन्न नहीं की। कुछ विद्वानों ने इस बात पर आग्रह किया है[२] कि यदि इस्लाम धर्म का इस रूप में प्रवेश न हुआ होता तो सम्भवतः संत-काव्य का आविर्भाव ही न होता। यह आग्रह तर्कयुक्त एवं सप्रमाण नहीं है। वैसे आज की परिस्थिति में केवल सम्भावना से काम नहीं चल सकता। लोक चिंता के स्वाभाविक विकास के सूत्रों में हमने भारतीय जीवन के एक हजार वर्ष से भी अधिक के सामाजिक और धार्मिक प्रत्यावर्तन का परिचय प्राप्त किया है उसके आधार पर तो यही तथ्य तर्कपूर्ण है कि संत-काव्य आध्यात्मिक चिंता की लोकाभिव्यक्ति है, राजनीतिक और धार्मिक घटना ने उसे अपने अनुसार परिचालित अवश्य किया है, समय और वातावरण का प्रभाव उस पर भी है किन्तु केवल एक राजनीतिक और धार्मिक घटना ही उसके जन्म का कारण नहीं है। इसी तथ्य को सामने रखते हुए हमने संत-काव्य की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों पर संक्षेप में विचार किया है। भारतीय लोक चिंता में आध्यात्मिक आत्मनिवेदन का स्वर अत्यन्त प्राचीनकाल से उपलब्ध है जिसका विकास उपनिषद् युग में ही हो चुका था, उपनिषद् वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग है और वैदिक दर्शन में आध्यात्म विद्या की प्रतिष्ठा है। अतएव संत-काव्य की दार्शनिक पीठिका और व्यावहारिक परिणति पर अब विचार किया जाना अभीष्ट होगा।

दार्शनिक पीठिका और उसकी व्यावहारिक परिणति

कबीर ने कहा है—

तुम्ह जिनि जानौ गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार,
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे।[३]

यह कथन संतों की आतम साधना का सार कहा जा सकता है। इस प्रकार की अनेक अभिव्यक्तियों को संतों ने अपनी साधना का हेतु माना है। आध्यात्म की यह साधना संतों की परम्परा रूप में उपलब्ध हुई है। डा० बड़थ्वाल ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि भारतीय जीवन में संचार करने वाली आध्यात्मिक प्रवृत्ति की इस धारा के उद्‌गम अत्यन्त प्राचीनता के कुहरे में छिपे हुए हैं। युगयुगान्तर को पार

---

१ **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २८।

२ **हिन्दी अनुशीलन**, अंक १-४, वर्ष ६, डा० शैलकुमारी का लेख, 'संत आन्दोलन की मूल प्रेरणा'।

३ **कबीर ग्रन्थावली** (ना० प्र० सभा), पद ५, पृ० ८६।

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

करती हुई यह धारा अबाध रूप से बहती चली आ रही है। प्रवाह भूमि के अनुरूप कभी सिमटती, कभी फैलती, कभी बालुका में विलीन होती और फिर प्रकट होती हुई वह अनेक रूप अवश्य धारण करती आयी है परन्तु उसका प्रवाह कभी बन्द नहीं हुआ।[1] संत-काव्य का मूल स्वर आध्यात्मिक और धार्मिक है। भारत में आध्यात्म विद्या की बड़ी प्रतिष्ठा रही है। 'आध्यात्म विद्या विद्यानाम' कहकर भगवान कृष्ण ने आध्यात्म विद्या की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। उपनिषदों में भी ब्रह्म विद्या के अभियान से इसी को महत्त्व दिया गया है। आध्यातम शास्त्र आदिभौतिक शास्त्र के बिलकुल विरुद्ध है। आदिभौतिक शास्त्र के विषय इन्द्रियगोचर होते हैं और आध्यात्म शास्त्र के विषय इन्द्रियातीत। आध्यातम के अन्तर्गत आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, सृष्टि विकास और माया आदि की विवेचना आती है।[2] मूलतः आध्यातम प्रवृत्ति का सम्बन्ध आतमा के अनुभव से है। ये अनुभव संतों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुए हैं। इस आध्यात्मिक जिज्ञासा का अतिशय सम्बन्ध धर्म से ही है, अन्य विषय से प्रायः बहुत ही अल्प। इसीलिए संत-काव्य को धार्मिक काव्य की कोटि में रखकर उसके साथ समुचित न्याय नहीं हो पाता है। आध्यातम विद्या का सम्बन्ध धर्म से विशेष है। डा० बल्देव उपाध्याय का कथन है कि त्रिविधि ताप से संतप्त जनता की शांति के लिए, क्लेशमय संसार से अत्यधिक दुख निवृत्ति करने के लिए ही भारत में दर्शनशास्त्र का आविर्भाव हुआ है। विचार-शास्त्र पंडितजनों की कमनीय कल्पना का विजृंमण मात्र नहीं है, अपितु उसका अधिराज्य इस व्यावहारिक जगती तल पर है। अन्य देश में विचार-शास्त्र तथा धर्म में पारस्परिक सम्बन्ध का अभाव ही लक्षित होता है किन्तु भारत में दोनों का सम्बन्ध नितांत घनिष्ठ है।[3] सम्भवतः इसलिए निर्गुण संत-काव्य की दार्शनिक पीठिका का सम्बन्ध धर्म के विस्तृत और लोकव्यापी पक्ष से जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। कहीं-कहीं धर्म के आध्यात्मिक पक्ष के स्थल पर उसका लोक पक्ष अधिक प्रबल हुआ है, कर्मकाण्ड, पूजा-पाठ, उन सब के प्रति एक विरोध और उपेक्षा भाव संत-काव्य की सामान्य प्रवृत्ति माना जा सकता है।

संत-काव्य की मूल प्रेरणा आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि है। दूसरे शब्दों में, दार्शनिक चिंतन से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। वेदान्त का तात्पर्य ही उपनिषदों को आध्यात्म विद्या से है। भारतीय दर्शन का व्यापक प्रभाव उसके इसी एक तथ्य से माना जा सकता है कि हिन्दी का मध्ययुगीन साहित्य मूलरूप से दार्शनिक चिंता की भाषागत अभिव्यक्ति है। संत-काव्य जिस दार्शनिक पृष्ठभूमि के आधार पर अपना स्थान बनाये हुए है वह किसी-न-किसी रूप में प्राचीन भारतीय दर्शन से सम्बद्ध है। वह इसी देश की उपज है, उसमें वर्णित आत्मनिवेदन की रहस्यात्मक अनुभूति किसी

---

[1] **हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५।

[2] **कबीर की विचारधारा**—डा० त्रिगुणायन, पृ० १६२।

[3] **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० १५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आक्रमण की प्रतिक्रिया अथवा किसी दूसरे धर्म का प्रभाव नहीं हो सकतो। भारतीय दर्शन की आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में डा० बड़थ्वाल ने एक स्थल पर लिखा है कि प्रत्येक भारतीय वेदान्ती दर्शन का प्रवर्तन उपनिषद्, ब्रह्म सूत्र और भगवत गीता को लेकर होता है। प्रत्येक नवीन सिद्धांत का प्रवर्तक आचार्य इन्हीं तीनों की व्याख्या करते हुए अपने सिद्धांतों का प्रचार करता है। इसीलिए इन्हें प्रस्थानत्रयी कहते हैं, परन्तु इन तीनों को अलग-अलग वस्तु न समझना चाहिए। वस्तुतः यह तीनों एक ही हैं, दूसरे रूप में उपनिषद ही हैं।[१]

निर्गुण संतों के तात्त्विक सिद्धान्तों में तथा उपनिषदों की विचारधारा में एक स्पष्ट साम्य मिलता है। इस साम्य का क्या कारण है? कुछ विद्वानों ने संतों के सिद्धान्तों को लक्ष्य कर उन्हें वैष्णव, वेदान्ती आदि भी कहा है किन्तु कहीं संतों ने अपने आपको दार्शनिक होने का दावा नहीं किया। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने संत-काव्य के लब्धप्रतिष्ठ गायक संत कबीर की चर्चा करते हुए एक स्थल पर लिखा है कि कबीर साहब ने कभी दार्शनिक होने का दावा नहीं किया है और न उन्होंने किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन किसी ऐसे ढंग से करके, उसका कहीं स्पष्ट निरूपण ही किया है।[२] संत कबीर का प्रसंग तो केवल उदाहरणस्वरूप ही यहाँ उपस्थित हुआ है, अन्य किसी भी संत ने इस सम्बन्ध में कोई उक्ति नहीं कही है फिर भी संत-काव्य में दार्शनिक उपपत्तियों की भरमार है। ब्रह्म, जीव, जगत, माया आदि के ही सम्बन्ध में संतों ने अपने सिद्धान्तों को साधनापरक आत्मविचार का स्वरूप दिया है। एक ओर संतों ने 'मसि कागज छुओ नहीं' की अभिव्यंजना की है तो दूसरी ओर सत्य की प्रतीति भी। डा० बड़थ्वाल ने इस कथित विरोधाभास के सम्बन्ध में लिखा है कि मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि इन निरक्षर साधु-संतों ने पोथियाँ लेकर उपनिषदों का अध्ययन किया था, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उपनिषदों के सिद्धान्तों और उपदेशों से वे सर्वथा परिचित थे। जान पड़ता है कि मध्ययुग के आचार्यों के कारण सारा धार्मिक वातावरण वेदान्त से ओतप्रोत हो गया था, जैसा कि आज भी है। इसी वातावरण में अबाध सांस लेने के कारण वह इन अपढ़ साधु-संतों के अस्तित्व का अभिन्न अंग हो गया।[3] दार्शनिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में पल्लवित होने वाले संत-काव्य के इन रचयिताओं को यद्यपि विद्वानों ने दार्शनिक आचार्यों के विभिन्न वादों में भी विभाजित कर दिया है[४] तथापि अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैताद्वैत आदि दार्शनिक मतों की पुस्तकीय और शास्त्रप्रवण तर्कप्रणाली का संतों की रचनाओं में प्रायः अभाव है। दार्शनिक विषयों की चर्चा होने के बाद भी ऐसा क्यों हुआ? इसका

---

१ **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० १५८।

२ **कबीर साहित्य की परख**, पृ० ८८।

3 **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० १६०।

४ **वही**, पृ० १६०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कारण है मध्ययुगीन लोक चिंता और उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप। इस धार्मिक और दार्शनिक ज्ञान चर्चा का विषय संतों की रचनाओं के पूर्व ही नाथपंथी योगियों की रचनाओं में उपलब्ध हो जाता है। गुरु शिष्य की जिज्ञासा का अनेक रूपों में उत्तर देता है, गुरु को जो ज्ञान वेदान्त दर्शन के आचार्यों की चर्चा से मिला उसने उसमे अपना अनुभव जोड़ कर शिष्य को उसके समाधान का व्यावहारिक साधनापथ सुझा दिया। दार्शनिक पक्ष वहाँ गौण हो गया। ब्रह्म अग्नि को दिन-रात ग्रहण करने का उपदेश देने वाले गोरखनाथ की एक वानी है—

धाये न षाईब भूषे न मरिबा अहिनिसि लेवा ब्रह्म अगनि का भेव।
हठन करिबा पड़्या न रहिबा यूं बोल्या गोरख देव॥[१]

नाथपंथी योगियों की ऐसी ही वानियाँ संत-काव्य के पूर्व में प्रचलित थीं किन्तु ऐसा प्रतीत होता है मानो साधना पंथ की रुक्ष योग धारा से दूर हट कर संतों की भक्ति-भावना का जल तत्कालीन दार्शनिक चिंता से ही गहरा हुआ फिर भी दर्शन उसका सिद्धान्त न बन पाया। लोक चिंता के स्वाभाविक विकास-क्रम में जहाँ आचार्यों के दार्शनिक विवेचन का केवल लोक प्रभावी अंश ही उन्हें प्राप्त हुआ वहाँ साधनापरक आत्मानुभव ने आध्यात्मिक तत्त्वों की पूर्ति कर दी। यही कारण है कि यद्यपि संतों की रचनाओं में आध्यात्मिक चिंतन का स्वर मुख्य है किन्तु उसकी पहुँच व्यावहारिक और लोकपरक है इसीलिए हम संत-काव्य में दर्शन का पुट पाते हैं, वे दार्शनिक रचनाएँ भले ही न हों।

जिस समय संत-काव्य का सृजन हो रहा था उसके पूर्व हमारे आध्यात्मिक विचार पुष्ट हो चुके थे तथा विशद् रूप में आचार्यों में प्रचारित हो चुके थे। स्वामी शंकराचार्य ने जिस बौद्ध-दर्शन के विरोध में अपने अद्वैत वेदान्त की पुष्टि की थी वह विशुद्ध तर्क और ज्ञान-चर्चा का विषय है। लोक जीवन में उसकी पहुँच नहीं थी, फलस्वरूप जिन आचार्यों ने स्वामी शंकराचार्य के विरोध में अपने मतों को अधिक श्रेयस्कर स्वीकार किया, उनके मार्ग भी केवल दार्शनिक साधना मार्ग बन कर रह गये। जिस आध्यात्मिक दार्शनिक वातावरण की चर्चा पूर्व में की गयी है उसका संत-काव्य के सिद्धान्त निरूपण में विशेष स्थान है। साधना पंथ की परम्परा यद्यपि लोक-सम्मत है तथापि दर्शन और लोक चिंता के स्वाभाविक मिलन के इस संधिस्थल की लोकाभिव्यक्ति हिन्दी के मध्ययुगीन काव्य की एक ऐसी विशेषता है जिसका स्थान लोकमानस में अनेक शताब्दियों से बना हुआ है तथा आगे भी बना रहेगा। उपनिषद् तथा दर्शन में आत्मानुभव ही महत्त्वपूर्ण है। डा० बल्देव उपाध्याय का कथन है कि आत्मा की अपरोक्ष अनुभूति ही उपनिषदों का चरम लक्ष्य है। 'ऋते ज्ञानान्त मुक्ति' (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती) भारतीय तत्त्वज्ञान का डिंडमनाद है। 'स्व' रूप

---

[१] **गोरखवानी**, ३०, पृ० १२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का बिना साक्षात्कार किये शास्त्र का कोरा मन्थन (चर्वित-चर्वण) व्यर्थ है। आचार्य शंकर ने शुष्क ज्ञान की निंदा बड़े ही स्मरणीय शब्दों में की है। वागपैखरी, शब्दझरी (शब्दों की झड़ी) शास्त्र तथा विज्ञान का कौशल, विद्वानों की वैदुषी सब भुक्ति के साधन हैं, मुक्ति के नहीं। परमतत्त्व के ज्ञान के अभाव में शास्त्र का अध्ययन निष्फल है।[1]

भारतीय दर्शन के इतिहास को विद्वानों ने तीन निश्चित कालों में बाँटा है—(१) वैदिक काल, (२) आदिम उत्तरवैदिक काल, (३) दर्शनकाल। दर्शनकाल को भी दो अवान्तर भागों में बाँटा जा सकता है—(१) सूत्रकाल, (२) वृत्तिकाल।[2] वृत्तिकाल ३०० विक्रमी से लेकर १५०० विक्रमी तक माना जा सकता है जिसमें उपनिषदों में प्रस्फुटित तत्त्वों की तर्क के द्वारा स्थापना करना ही मुख्य प्रतीत होता है। इस काल में आदिम उत्तरवैदिक काल के दर्शनों का जिनमें में चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन आते हैं, तार्किक युक्तियो द्वारा खण्डन किया गया है। उत्तरवैदिक काल के दर्शनों और अन्य धर्मसाधनाओं पर पृथक से विचार किया गया है। यहाँ हम केवल उपनिषदों के अनन्तर भारतीय तत्त्वज्ञान में जिन विविध सम्प्रदायों का विकास हुआ तथा जिनका लोक प्रभाव साधना पंथों को दूर तक प्रभावित कर सका उनकी ही चर्चा करेंगे।

भारतीय विचारों में दो प्रमुख प्रवृत्तियों के दर्शन हमें होते हैं। एक प्रवृत्ति है प्रतिभामूलक, दूसरी है तर्कमूलक। इसी के आधार पर लक्ष्य भी दो प्रकार के हैं। एक का लक्ष्य धर्म का उपार्जन है तथा दूसरे का बह्म का साक्षात्कार। प्रज्ञामूलक तथा तर्कमूलक उभय प्रवृत्तियों के परस्पर सम्मिलन से उपनिषद् के तत्त्वज्ञान का जन्म हुआ।[3] उपनिषत्कालीन तत्त्वज्ञान का महवीय मंत्र है 'तत्त्वमसि महावाक्य'। इसके द्वारा 'त्वम्' (जीव) तथा 'तत्' (ब्रह्म) पदार्थों में नितांत एकता की सिद्धि ऋषियों के द्वारा प्रतिपादित हुई है। कालान्तर में विविध दर्शनों की उत्पत्ति इसी वाक्य को लेकर हुई। आस्तिक धारा के अंतर्गत छः दर्शन मुख्य हैं: (१) न्याय, (२) वैशेषिक, (३) सांख्य, (४) योग, (५) पूर्व (कर्म) मीमांसा, (६) उत्तर मीमांसा—वेदान्त। विद्वानों का मत है कि अधिकारी भेद से इन दर्शनों की भिन्नता है परन्तु कतिपय ऐसे सामान्य सिद्धान्त हैं जिन्हें प्रत्येक दर्शन समानभावेत स्वीकार करता है और अपने विचारों के लिए उन्हें आधार पीठ मानता है।[4]

(१) **न्याय दर्शन**—न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम हैं। गौतम के सूत्रों पर अनेक विद्वानों ने शंकाएँ प्रस्तुत की हैं। न्याय वस्तुवादी दर्शन है। न्याय में पदार्थों के

---

१ **हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास**, प्रथम भाग, पृ० ४३२-३३।

२ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ३०।

३ **वही**, पृ० ३२।

४ **हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास**, प्रथम भाग, पृ० ४६३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ज्ञान के लिए चार प्रकार के प्रमाण माने गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। आत्मा को सांसारिक बन्धनों से मुक्त करना न्याय का अभीष्ट है। आत्मा नित्य विभु तथा अनेक हैं, मिथ्या ज्ञान, रागद्वेष तथा मोह से प्रेरित होने पर जीव नाना प्रवृत्तियों में उलझा रहता है और तत्त्वज्ञान होने पर ही आत्मा अपवर्ग को प्राप्त करता है। अपवर्ग का अर्थ है मुक्ति या मोक्ष।[१] ईश्वर के सम्बन्ध में न्याय दर्शन का मत है कि मनुष्य की बुद्धि तथा शक्ति सीमित है और इसलिए वह परमाणुओं का सम्मिश्रण नहीं कर सकता जिससे भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति हो सके। इसलिए इस विश्व का सृष्टा कोई चेतन आत्मा है जो सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है, वही ईश्वर है। जीव धर्म के लिए स्वतन्त्र है, ईश्वर की कृपा तथा मार्गदर्शन से विश्व का तथा अपनी आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर सकता है तथा जीव इस प्रकार अपने क्लेशों से मुक्ति पा सकता है। डा० बल्देव उपाध्याय का मत है कि न्याय दर्शन की भारतीय दर्शन साहित्य को सबसे अमूल्य देन शास्त्रीय विवेचनात्मक पद्धति है। प्रमाण की विस्तृत व्याख्या तथा विवेचना कर न्याय ने जिन तत्त्वों को खोज निकाला है उनका उपयोग अन्य दर्शन भी कुछ परिवर्तनों के साथ अपने विवरणों में निश्चय रूप से करते हैं।[२]

(२) **वैशेषिक दर्शन**—महर्षि कणाद के दर्शन को वैशेषिक दर्शन की संज्ञा प्रदान की गयी है। न्याय दर्शन के साथ अनेक सिद्धान्तों में इसकी समानता है। इसमें सत्य की जो मीमांसा की गयी है उसका आधार है भौतिक विज्ञान। वैशेषिकों पर बौद्धों को बड़ा विश्वास था। महर्षि कणाद के सूत्रों पर अनेक प्रौढ़ टीकाएँ उपलब्ध हैं।

इस दर्शन के आधार पर विश्व की समस्त वस्तुओं को निम्नलिखित सात पदार्थों के अन्तर्गत विभक्त किया गया है—(अ) द्रव्य, (ब) गुण, (स) कर्म, (द) सामान्य, (य) विशेष, (र) समवाय, तथा (ल) अभाव।

(अ) **द्रव्य**—द्रव्य, गुण कर्म के आश्रयभूत पदार्थ को कहते हैं। द्रव्य नौ प्रकार का होता है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इनमें से प्रथम पाँच महाभूत कहलाते जिनके गुण हैं गंध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द। मन को छोड़कर शेष चार द्रव्य परमाणुओं से बने हैं। परमाणु पदार्थों के सूक्ष्मतम अवयव हैं जिनका न विभाजन हो सकता है और न नाश।[३] मन नित्य है पर विभु न होकर अणु है। मन अतीन्द्रिय है जो संकल्प आदि मानसिक क्रियाओं का सहायक होता है।

प्रत्येक शरीर में आत्मा का निवास है, आत्मा नित्य है। वैशेषिक दर्शन में आत्मा की सिद्धि में अनेक प्रमाण तथा युक्तिताँ दी गयी हैं। इसके अनुसार आत्मा एक न होकर अनेक हैं तथा प्रति शरीर में पृथक-पृथक रूप से विद्यमान हैं।

---

१ **हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास**, प्रथम भाग, पृ० ४६२।
२ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० २७६।
३ **हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास**, प्रमथ भाग, पृ० ४७०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(ब) **गुण**—गुण वह पदार्थ है जो किसी द्रव्य में रहता है, स्वयं उसमें कोई गुण नहीं रहता। कुल गुण २४ हैं।[1]

(स) कर्म—द्रव्य में आश्रित रहने वाला पदार्थ कर्म है। जिस प्रकार गुण द्रव्य का सिद्ध धर्म है कर्म, सिद्धावस्था का धर्म कर्म हैं। कर्म की वृत्ति मूर्त द्रव्यों में रहती है। कर्म पाँच प्रकार का होता है—उत्प्रेक्षण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा शमन।

(द) **सामान्य**—स्वयं एक होते हुए भी अनेक वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला पदार्थ सामान्य पदार्थ कहलाता है। सामान्य तीन प्रकार का माना गया है—(१) परसामान्य, (२) अपर सामान्य, (३) परापर सामान्य।

(य) **विशेष**—नित्य द्रव्यों में पार्थक्य के मूल कारण को विशेष कहते हैं, सामान्य के ठीक विपरीत। परमाणुओं में विशेष नामक पदार्थ रहता है जो उन्हें समान परमाणुओं से अलग करता है। 'विशेष' की कल्पना करने के कारण ही यह दर्शन वैशेषिक के नाम से प्रसिद्ध है।

(र) **समवाय**—नित्य सम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं। अंगअंगी भाव से, गुण गुणवान में, क्रिया क्रियावान में, जाति व्यक्ति में तथा विशेष नित्य द्रव्यों में जो नित्य सम्बन्ध रहता है वही समवाय कहलाता है।[2]

(ल) **अभाव**—पूर्वोक्त छहों पदार्थ भावात्मक हैं। अभाव अंतिम पदार्थ है। यह चार प्रकार का माना गया है—(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अत्यंताभाव तथा अन्योन्याभाव।

ईश्वर और मोक्ष के विषय में न्याय और वैशेषिक दर्शन में समानता है।

(३) **सांख्य दर्शन**—कपिल मुनि का सांख्य दर्शन द्वैतवादी है। सांख्य दर्शन के अनुसार दो मौलिक तत्त्व हैं—(१) पुरुष, (२) प्रकृति। पुरुष और प्रकृति अपने-अपने अस्तित्व के लिए परस्पर निरपेक्ष हैं। इनमें पुरुष चेतन तत्त्व है, प्रकृति जड़। पुरुष एक नहीं अनेक होता है। प्रकृति एक नित्य और जड़ वस्तु है। यह मूल प्रकृति भी कही जाती है। प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्व, रज और तम। सांख्य दर्शन कार्य-कारण को वस्तुतः एक ही मानता है। कार्य कारण का ही विकसित रूप है, सांख्य के इस सिद्धान्त को 'सत्कार्यवाद' के नाम से पुकारा गया है।

सांख्य दर्शन में सृष्टि की उत्पत्ति पर विस्तृत चर्चा है। पुरुष के संयोग से प्रकृति सृष्टि का आरम्भ करती है। संयोग के पूर्व प्रकृति साम्यावस्था में भंग हो जाती है। गुणों में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। प्रथमतः प्रकृति से 'महत्त्व' की उत्पत्ति होती है।

---

१ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ३०१

२ **वही**, पृ० ३०८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महत्त्व को बुद्धि भी कहा गया है। बुद्धि का समान्तर अहंकार में होता है। अहंकार में जब रज की प्रबलता होती है तब पंच तन्मात्रा की रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श की सृष्टि होती है। अहंकार में जब सत्वगुण की प्रबलता होती है तब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन की सृष्टि होती है। पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूत आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी की सृष्टि होती है। इस प्रकार सांख्य में सब २५ तत्त्व हैं जिनका स्वरूप तथा वर्गीकरण निम्न रूप में किया जा सकता है :

स्वरूप	संख्या	नाम
प्रकृति	१	प्रकृति, प्रधान या अव्यक्त
प्रकृति विकृति	७	महत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा (५)
विकृति	१६	ज्ञानेन्द्रिय (५), कर्मेन्द्रिय (५), मन तथा पंच महाभूत (५)
न प्रकृति न विकृति	१	पुरुष
	कुल २५	

सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी दर्शन माना गया है। दुख-सुख का कारण हमारा अविवेक है। विवेक के उदय होते ही कैवल्य या मुक्ति की उपलब्धि हो जाती है। सांख्य दर्शन में मुक्ति दो प्रकार की मानी गयी है—(१) जीवन्मुक्ति, तथा (२) विदेह मुक्ति। इसी जन्म में विवेक ज्ञान हो जाने पर मनुष्य जिस मुक्ति का अनुभव करता है उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं तथा शरीर के नाश होने पर पुरुष ऐकान्तिक (अवश्यम्भावी) तथा आत्यन्तिक (अविनाशी) दुखत्रय के विनाश को प्राप्त कर लेता है, इसी की शास्त्रीय संज्ञा विदेह मुक्ति है।[१]

(४) **योग दर्शन**—योग भारतीयों की सबसे प्राचीन और सबसे समीचीन सम्पत्ति माना गया है। योग दर्शन के प्रवर्तक महर्षि पातंजलि हैं। योग सूत्र पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। योग दर्शन की तत्त्वमीमांसा और सांख्य दर्शन की तत्त्व मीमांसा एकसी ही है। योग में भी २५ तत्त्वों को माना गया है किन्तु जहाँ सांख्य ईश्वर के विषय में मौन है। योग में ईश्वर को भी एक नवीन तत्त्व के रूप में पूर्णतया स्वीकार किया गया है, योग सांख्य के पूरक के रूप में प्रसिद्ध है, विवेक ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, विवेक की उपलब्धि योग से ही सम्भव है।

चित्तवृतियों के निरोध का ही नाम योग है।[२] चित्त की पाँच अवस्थाएँ हैं—(१) मूढ़, (२) क्षिप्त, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र, (५) निरुद्ध। योगाभ्यास के आठ अंग हैं

१ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ३६१।
२ **प्रेमयोग**—स्वामी विवेकानन्द।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिन्हें अष्टांग अथवा योगांग कहा गया है। उनके नाम हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा तथा समाधि।

यम—हिंसा, असत्य, स्तेय (चोरी), व्यभिचार तथा परिग्रह से मन को नियन्त्रित करने का नाम यम है।

नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिघात के अभ्यास का नाम नियम है।

आसन—आसन से तात्पर्य है आनन्दप्रद शारीरिक स्थिति।

प्राणायाम—श्वास के ग्रहण, धारण और त्याग को प्राणायाम कहते हैं।

प्रत्याहार—इन्द्रियों को विषयों से हटाने का नाम प्रत्याहार या आत्मसंयम है।

ध्यान—किसी वस्तु के सुदृढ़ चिंतन को ध्यान कहते हैं।

धारणा—शरीर के भीतर ही किसी वस्तु पर चित्त को स्थिर करना धारणा है।

समाधि—चित्त की वह दशा जब ध्यानशील चित्त ध्येय वस्तु से मिलकर अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है, समाधि है।

समाधि दो प्रकार की मानी गयी है—(१) संप्रज्ञात, (२) असंप्रज्ञात। संप्रज्ञात समाधि में ध्येय वस्तु का ज्ञान बना रहता है जबकि असंप्रज्ञात समाधि में ध्येय, ध्याता तथा ध्यान एकाकार हो जाते हैं। योगदर्शन के अनुसार ईश्वर नित्य, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी परमात्मा है। संसार के सब जीवों से वह भिन्न है तथा श्रेष्ठ है।[२] डा० बल्देव उपाध्याय का कथन है कि ईश्वर की उपयोगिता योग साधन में नितांत मौलिक है। ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि मानी जाती है। 'प्रणिधान' का अर्थ है—प्रकर्षेण चितस्य निधानम्। चित्त का अतिशय रूप से एकत्र लगाना अथवा कर्म के फलों का समर्पण करना। अतः अनुरागपूर्वक चित्त का ईश्वर में लगाना या प्रेमपूर्वक कर्मफलों का ईश्वर को अर्पण करना ईश्वर प्रणिधान है।[२]

(५) **पूर्व मीमांसा दर्शन**—पूर्व मीमांसा-वेद के दो भाग हैं—(१) कर्मकाण्ड, (२) ज्ञान काण्ड। उपनिषदों में ज्ञानकाण्ड की चर्चा है तथा कर्मकाण्ड का प्रतिपादन मीमांसा अथवा पूर्वमीमांसा दर्शन में उपलब्ध है। वेद के ज्ञानकाण्ड के विवेचन के कारण ही मीमांसा के उत्तरभाग को वेदान्त कहा गया है। मीमांसा दर्शन में कर्मकाण्ड की विधियों की व्याख्या की गयी है तथा उनके आधारभूत सिद्धान्तों की तर्क द्वारा प्रतिष्ठा का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। वेद-प्रतिपादित कर्म के तीन भेद हैं—

---

१ **भारतीय दर्शन**—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ३८५।

२ वही, पृ० ३८७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१) काम्य— किसी कामना विशेष के लिए किया गया कर्म; (२) निषिद्ध—अनर्थ होने से न करने योग्य कर्म; तथा (३) नित्य—अहेतु करणीय कर्म।

मीमांसा दर्शन का उद्देश्य निष्काम भाव से कर्म का अनुष्ठान है। पूर्व मीमांसा दर्शन के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं, नित्य हैं तथा स्वतः प्रमाण हैं। धर्म के लिए वेद ही प्रमाण हैं। वेद के अपौरुषेय मानने के बाद भी मीमांसा दर्शन ईश्वर को नहीं मानता। मीमांसा भौतिक जगत की सत्यता मानती है और इसके अतिरिक्त आत्माओं के अस्तित्व को भी मानती है किन्तु वह जगत के सृष्टा ईश्वर को नहीं मानती। मीमांसा कर्म की महती शक्ति को स्वीकार करती है। सांसारिक वस्तुओं का निर्माण आत्मा के पूर्वार्जित कर्मों के अनुसार भौतिक तत्त्वों से होता है। ईश्वर की आवश्यकता है, न जगत की सृष्टि के लिए और न कर्मों के फल देने के लिए।[1]

(६) उत्तर मीमांसा (वेदान्त) दर्शन—वेदान्त का मूल उपनिषद हैं। उपनिषदों के सिद्धान्तों में विरोध को दूर कर एकरूपता स्थापित करने हेतु वादरायण व्यास ने ब्रह्म सूत्रों का निर्माण किया जो 'वेदान्त सूत्र' के नाम से भी अभिहित किये गये। ब्रह्मसूत्र पर लगभग १० भाष्य प्रसिद्ध हैं।[2] इन भाष्यों में अनेक नवीन दृष्टिकोणों का समावेश हुआ। इनमें से प्राचीनतम भाष्य के रचयिता स्वामी शंकराचार्य हैं। अद्वैत वेदान्त के प्रधान प्रतिष्ठापकों में आचार्य गौड़पाद तथा स्वामी शंकराचार्य प्रमुख हैं। अद्वैत वेदान्त का मूल मंत्र है, परमार्थसत्तारूप ब्रह्म की एकता तथा अनेकात्मक जगत की मायिकता।[3] ब्रह्म की एकता के लिए आत्मज्ञान की स्वयंसिद्धि होना अत्यावश्यक है। यह जगत अनुभूति पर अवलम्बित है। अनुभूति के द्वारा आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती हैं। प्रत्येक अनुभव की प्रक्रिया में अनुभवकर्ता को अपनी सत्ता का अनुभव अवश्यमेव होता है।[4] आत्मा ज्ञाता भी है और ज्ञान रूप भी। ज्ञाता ज्ञान से पृथक नहीं होता। शेष के न रहने पर 'ज्ञाता' की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अनुभव अथवा ज्ञान के दो भेद हैं—नित्य तथा अनित्य। अनित्य ज्ञान को वृत्तिजन्य ज्ञान कहा गया है। वह वास्तविक ज्ञान से भिन्न होता है। नित्य ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। इसी प्रकार से वेदान्त दर्शन में दृष्टि के भी दो भेद हैं—एक नेत्र की दृष्टि जो अनित्य है, दूसरी आत्मा की दृष्टि जो नित्य है।

वास्तववादी की दृष्टि में जीव और जगत की दो पृथक एवं स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं किन्तु यदि सूक्ष्म रूप से इस पर विचार किया जाय तो आत्मा की ही एकमात्र सत्ता सिद्ध होती है, जगत की सत्ता केवल व्यावहारिक ही है। डा० बल्देव उपाध्याय ने एक

---

[1] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ४८४।

[2] भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ४२५।

[3] वही, पृ० ४३८।

[4] वही, पृ० ४३८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थल पर लिखा है कि इस विशाल विश्व के भीतर देश-काल से प्रविभक्त भूत, वर्तमान या भविष्य में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो आत्मा से पृथक या भिन्न हो। नाम-रूपात्मक विकारों के भीतर एक ही आत्मस्वरूप चैतन्य रूप में झलक रहा है। अतः प्रत्येक अनुभूति में हम आत्मा की ही विषयी या विषय रूप से, कर्ता या कर्मरूप से एक अखण्डाकार उपलब्धि पाते हैं। एक ही अद्वैत सत्ता सर्वत्र लक्षित होती है, विषयी-विषय का पार्थक्य परमार्थतः न होकर व्यवहारमूलक ही है।[1]

ब्रह्म

स्वामी शंकराचार्य ने ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप के निर्णय करने के लिए दो प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया है—(१) स्वरूप लक्षण, तथा (२) तटस्थ लक्षण। स्वरूप लक्षण के द्वारा हम पदार्थ के सत्य तात्त्विक रूप का परिचय पाते हैं परन्तु तटस्थ लक्षण कुछ देर तक प्रकट होने वाले गुणों का ही परिचय देते हैं। ब्रह्म जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। वह एक निर्विकल्प, निरुपाधि तथा निर्विकार सत्ता है। ब्रह्म के दो रूप होते हैं—सगुण ब्रह्म, और निर्गुण ब्रह्म। स्वामी शंकराचार्य के मत में सगुण ब्रह्म (या ईश्वर, अपर ब्रह्म) जगत के समान ही माया संवलित होने से मायिक है परन्तु निर्गुण ब्रह्म पारमार्थिक है।[2]

ब्रह्म की अद्वैतता सिद्ध करने के लिए अद्वैत वेदान्त दर्शन में बड़ी सुन्दर युक्तियाँ दी हुई हैं। सांख्य का कार्य-कारण के आधार पर सत्कार्यवाद का सिद्धान्त यद्यपि कुछ अन्तर के साथ वेदान्त में स्वीकार है फिर भी स्वामी शंकराचार्य की व्याख्या और आगे बढ़ती है। जगत के कार्यों में नया रूप, नया आकार उत्पन्न होता होता है किन्तु आकार कोई नई चीज नहीं है जो पदार्थ से पृथक मानी जा सके क्योंकि आकार तो वास्तव में द्रव्य की एक अवस्थामात्र है। यहाँ कारण की ही एक-मात्र सत्ता है। कार्यों के रूप में जो हम परिवर्तन देखते हैं वह केवल मानसिक आरोप हैं, वास्तविक नहीं हैं। इसी मानसिक आरोप को शंकराचार्य 'अध्यास' के नाम से पुकारते हैं। कार्य-कारण की शृंखला का विचार करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कारण ही एकमात्र सत्ता है। उसके समस्त आकार मिथ्या हैं। कारण के इस असत्य, काल्पनिक परिवर्तन को अद्वैत की भाषा में 'विवर्त' कहते हैं।[3] कारण-स्वरूप वह मूल सत्व ही ब्रह्म है जो संसार का मूल कारण है, नाना रूपों में प्रकट होने के बाद भी जो स्वयं निराकार है।

माया

सृष्टि की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि एक ब्रह्म से नाना रूपात्मक जगत की सृष्टि कैसे हुई। माया के स्वरूप का ज्ञान हो जाने

---

१ भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ४४२।

२ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ५३१।

३ भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ४४८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर इस प्रश्न का उत्तर स्वयं ही मिल जाता है। स्वामी शंकराचार्य के मत से माया और अविद्या एक ही हैं। परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम माया है[१], यह अविद्यात्मिका बीज शक्ति अव्यक्त कही जाती है। त्रिगुणात्मिक माया ज्ञान विरोधी भावरूप पदार्थ है। भावरूप कहने से अभिप्राय है कि वह अभावरूपा नहीं है। माया न तो सत है और न असत, इन दोनों से विलक्षण होने के कारण उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं।[२] माया की दो शक्तियाँ होती हैं—आवरण, तथा विक्षेप। आवरण शक्ति के द्वारा ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को आवरण मिलता है तथा विक्षेप शक्ति उस ब्रह्म में 'प्रपंच' को उत्पन्न कर देती है।

जब निर्विशेष ब्रह्म माया के द्वारा आवृत होकर सविशेष हो जाता है तब उसे ईश्वर की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। ईश्वर ही इस विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा लय का कारण है। ईश्वर इस जगत का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी। इस प्रकार ब्रह्म जगत की सृष्टि करता है। ईश्वर और जीव की कल्पना दोनों मायिक हैं।

जीव

अद्वैत दर्शन में जीव पर भी विचार किया गया है। शरीर तथा इन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहते हैं।[३] स्वामी शंकराचार्य ने अणुत्व कल्पना की उत्पत्ति यह कह कर दिखायी है कि अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ही आत्मा को अणु स्वीकार किया गया है। आत्मचैतन्य जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति त्रिविध अवस्थाओं में तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय इन पाँच कोषों में उपलब्ध होता है परन्तु आत्मा का शुद्ध चैतन्य इस कोष पंचक से नितांत परे की वस्तु है।[४]

अज्ञान के कारण शुद्ध चैतन्य अपनी विशुद्धता से च्युत होकर अल्पज्ञ जीव में परिणत होता है। ज्ञान से इस बन्धन की मुक्ति होती है। कार्यकारण-सम्बन्ध के विषय में अद्वैत वेदान्त विवर्तवादी है।

अद्वैत वेदान्त एक विस्तृत दर्शन है जिसका संक्षिप्त परिचय भी अत्यन्त कठिन कार्य है। विद्वानों का ऐसा मत है कि जीव वस्तुतः ब्रह्म रूप ही है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य का तो यही तात्पर्य है। मुक्ति अशेष आनन्दमयी दशा की संज्ञा है। अद्वैत ज्ञान होने पर जीव अपनी उपाधियों से मुक्त होकर सच्चिदानन्द रूप प्राप्त कर लेता है।[५]

---

१ शारीरिक भाष्य, १/४/३।
२ भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ४४६।
३ शांकर भाष्य, २/३/१७।
४ भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० ४५७।
५ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ५३३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यावहारिक परिवर्तन का स्वरूप

दार्शनिक चिंता की ये धाराएँ आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मतों की पुष्टि करती हैं, किन्तु कालान्तर में अद्वैत वेदान्त की प्रतिक्रिया में अनेक वैष्णव दर्शनों की पुष्टि हुई। यह भी प्रायः सभी विद्वान एक मत से स्वीकार करते हैं कि दर्शन लोकसामान्य चिंताओं की आध्यात्मिक प्रतिक्रियाओं का व्यवस्थित अध्ययन है। काल विशेष एवं परिस्थिति विशेष में विशिष्ट दर्शनों का प्रतिपादन हुआ हो किन्तु मानव के जिज्ञासु चिंतन में आत्मा, परमात्मा, जगत आदि के सम्बन्ध में जो बात उसकी अल्पमति की सीमा में आती है वह उसी को अपने व्यवहार में परिणित करना चाहता है। इसके लिए उसे आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शास्त्रीय परम्परा का उल्लंघन भी करना पड़ता है। लोक चिंता सबसे शक्तिशाली विचार शक्ति है। विभिन्न धार्मिक एवं दार्शनिक साधनाएँ लोक चिंता को मध्य मानकर ही युगों से चक्कर लगा रही हैं। वैदिक कर्म-काण्ड एवं आनन्दवादी चिंता के विरुद्ध बौद्ध एवं ज्ञानमूलक साधनाएँ इस देश में पल्लवित हुईं किन्तु कालान्तर में वे भी उसी पौराणिक धर्म का अंग बन कर रह गयीं तथा जब स्वामी शंकराचार्य आदि ने बौद्ध आदि मतों के विरोध में धर्मचक्र प्रवर्तन किया तो लोक जीवन ने स्मार्त चिंतन को स्वीकार तो किया किन्तु साधना के क्षेत्र में परवर्ती बौद्ध धर्म को हिन्दू वैष्णव धर्म का आकार ग्रहण कर लेना पड़ा।[1] दर्शनों एवं चिंताओं की यह व्यावहारिक परिणति अपनी गति से होती है। तत्त्ववाद लोक की कसौटी पर कसकर अपना आकार बदल लेता है, यद्यपि कभी-कभी लोक को तत्त्ववाद के अनुसार चलना पड़ता है फिर भी लोक चिंता में दार्शनिक मतों की केवल व्यावहारिक स्थापनाएँ ही शेष रह जाती हैं। हिन्दी साहित्य में जिस तत्त्ववाद की अभिव्यक्ति मिलती है उसके बीज निश्चित ही दर्शनशास्त्र में निहित हैं किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि काव्य की अनुभूति उन दार्शनिक उपपत्तियों को ठीक उसी समय स्वीकार न कर लोक जीवन में एक ऐसा स्वरूप धारण कर लेती है जिसमें किसी एक तत्त्ववाद का आग्रह नहीं है। सामान्य रूप से भारतीय दर्शनों में व्याप्त नैतिक व्यवस्था में विश्व कर्म सिद्धान्त, बन्धन का कारण, मोक्ष, मोक्ष का उपाय तथा कार्य-कारण की मीमांसा उपलब्ध है। साहित्य अथवा काव्य में ये ही समस्याएँ लोक अनुभूति का आधार लेकर व्यक्त हुई हैं। अतएव भारतीय दर्शनों के इस संक्षिप्त परिचय का हमें यद्यपि संत-काव्य में अनेक स्थलों पर शब्द साम्य एवं अर्थ साम्य भी दिखाई देगा। फिर भी यह बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि हमारे आलोच्य विषय में दर्शन की व्यावहारिक परिणति ही अधिक है, दर्शन की सूक्ष्म चिंता अत्यल्प। यद्यपि भारतीय जीवन में दर्शन की पृष्ठभूमि प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त है, दार्शनिक पीठिका के इस बहु-

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विध स्वरूप के भीतर एक लोक सामान्य आध्यात्म चिंता है जिसका आधार है अनुभव, और जो पढ़े-लिखे अथवा अनपढ़ दोनों की ही निधि है। संत कवियों के दार्शनिक चिंतन का हम आगे चलकर इसी आधार पर विस्तृत रूप में परिचय प्राप्त करेंगे।

विविध मत और उनका प्रभाव

मध्ययुगीन दार्शनिक मतवादों को अनेक भागों में बाँटा गया है जिनका विकास 'वेदान्त' को लेकर हुआ है। ब्रह्मसूत्र के साथ ही भागवत गीता को उपनिषदों का सार स्वीकार कर, उपनिषद, ब्रह्मसूत्र तथा गीता इन तीन ग्रन्थों को प्रस्थानत्रयी के नाम से अभिहित किया गया और कालान्तर में इन्हीं के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान वेदान्त कहलाया। इन ग्रन्थों में मौलिक उपदेश तथा शिक्षण के विषय में मतैक्य नहीं है जिसका मूल कारण भारतीय तत्त्वज्ञान की व्यापक दृष्टि है। जहाँ सत्य की व्याख्या करने में दार्शनिकों ने अनुभवगम्य विषय की ओर ध्यान नहीं दिया है वहाँ स्वयं अनुभवकर्ता विषयी के विषय में विस्तृत मीमांसा है। वस्तुतः हमें जानना क्या है? भारतीय दर्शनों का मूलमंत्र रहा है, आत्मा को जानो (आत्मानं विद्धि)।[1] यह ज्ञान अनुभव सापेक्ष्य है। केवल पुस्तक अथवा शास्त्र ग्रन्थों में जिस आत्मा को जानने की प्रक्रिया का वर्णन है, वह तो शास्त्र रचयिता का अनुभव है। वैसे आत्मा अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार कोई अलम्य, अलौकिक अथवा अदभुत पदार्थ नहीं है, प्रत्येक प्राणी के भीतर नियामक आत्मा के रूप में उसी की सत्ता का अनुभव होता रहता है। ब्रह्म को पहचानने का तात्पर्य है आत्मा को जानना। आत्मा का साक्षात अनुभव कैसे हो? महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार आत्मा के साक्षात अनुभव के तीन साधन हैं—श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन।[2] श्रवण से तात्पर्य ब्रह्मवेत्ता पुरुषों के अनुभवों के श्रवण से है, ऐसे ग्रन्थरत्न केवल वेद ही हैं। मनन सन्देहहीन ज्ञान के लिए अत्यावश्यक साधन है निदिध्यासन अर्थात् ध्यान। जब तक ध्यान के द्वारा आत्मा का स्वानुभव नहीं होता तब तक श्रवण तथा मनन का उपयोग ही क्या है।[3] आत्मा की सत्ता का प्रधान प्रमाण है, स्वयं का अपना अनुभव।

अनुभव की महत्ता स्वीकार करने के बाद भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में बँट गया। वैसे तो आस्तिक, नास्तिक दो मोटे भेद हैं। आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों के सम्बन्ध में अन्यत्र विचार किया जा चुका है किन्तु मध्ययुगीन हिन्दी काव्य के निर्माण में जिस धर्मसाधना और दार्शनिक पृष्ठभूमि का सीधा सम्बन्ध उपस्थित हो सकता है वह भारतीय दर्शन का वृत्तिकाल ही है। भारतीय दर्शन का यह वृत्तिकाल विक्रमी सं० ३०० से १५०० तक का अनुमान किया गया है। यही काल भारतीय चिंता के

---

[1] **भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० १८।**

[2] **आत्मन अए, श्रोतव्यों, मन्तव्यों, निदिध्यासिक—ब्रह्म उपनिषद २/४/५।**

[3] **भारतीय दर्शन—डा० बल्देव उपाध्याय, पृ० २३।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वाभाविक विकास का वह युग है जिसकी क्रोड़ में हिन्दी भाषा और साहित्य ने अपना स्वरूप धारण किया तथा मुख्य रूप से निर्गुण संत-काव्य तो इसी स्वाभाविक चिंता की वाणीगत अभिव्यक्ति माना जा सकता है। शास्त्रीय एवं आचार्यप्रवण अनुभव लोक सामान्य अनुभवों से मेल न खा सके किन्तु लोक चिंता का स्वरूप, अवश्य ही श्रोत-स्वनी की भाँति धर्म और दर्शन के कगारों का स्पर्श करने के बाद ही निर्धारित हो सका है। यहाँ पर यह बात दृष्टव्य है कि कोई भी आचार्य लोक चिंता की अवहेलना कर अपने चिंतन के प्रसार में सफल न हुआ। लोक जीवन में आश्रय स्थल खोजने में उसे कुछ खोना पड़ा और कुछ उसने अपने मतवाद में जोड़ भी लिया। केवल साधना-पंथों में यह अधिक खुलकर हुआ। स्वामी शंकराचार्य ने जिस अद्वैत वेदान्त की व्याख्या से निवृतिवादी और शून्यवादी बौद्धों को हतप्रभ कर दिया उन्होंने साधना क्षेत्र में पंचदेवोपासना प्रारम्भ की। किन्तु आगे चलकर बारहवीं शताब्दी के आस-पास दक्षिण में अद्वैतवाद के दार्शनिक पक्ष मायावाद की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। अनुभव के आधार पर भक्ति को महत्त्व प्रदान करने वाले साधकों ने ज्ञान के स्थान पर भक्ति को अपने हृदय के निकट पाया, लोक जीवन में भक्ति के द्वारा जिस चेतना का संचार हुआ उसने भारतीय नागरिक (सिटीजन) को संघर्ष करने की अनेक शक्तियाँ प्रदान कीं। योग और भक्ति के समन्वय से जिस निर्गुण मत का प्रादुर्भाव हुआ उसमें एक ओर सम्प्रदायगत दर्शनों की एवं कर्मकाण्डीवृति की अवहेलना है तो दूसरी ओर अनुभव के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रयत्न। वेदान्त के मुख्य छः पक्ष माने गये हैं—(१) अद्वैत, (२)विशिष्टाद्वैत, (३)द्वैताद्वैत, (४)शुद्धाद्वैत, (५)द्वैत, तथा(६)अचिंत्य भेदाभेद। लोक में इन्हीं की शब्दावलियों को स्वीकार किया गया किन्तु कुछ लोगों में शास्त्रीय मतवाद और आचार्य प्रवण पुस्तकीय ज्ञान के प्रति अवहेलना का भाव था इसलिए आध्यात्मिक चिंता ने जो स्वरूप धारण किया, वह न शास्त्रसम्मत है और न विशुद्ध ज्ञानसम्मत। अनुभव उसमें प्रमुख है किन्तु सर्वत्र अनुभव भी स्वीकार नहीं हो सका। स्वतंत्र चिंतकों के सम्प्रदाय भी चल पड़े और इस प्रकार आध्यात्मिक लोकधारा स्वयं एक ऐसी धारा बन पड़ी जिसके विषय में विद्वानों के अनेक विकल्प उपलब्ध हैं।

संतों का मध्ययुगीन दार्शनिक मतवादों के साथ किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि शास्त्रज्ञान से वंचित होने पर भी इस श्रेणी के साधक बहुश्रुत थे। इस बहुश्रुतता के कारण वे अनायास ही अनुभवसम्मत सत्य को संग्रह कर सकते थे। इसीलिये उनका मत न तो किसी आचार्य विशेष के मत का हूबहू उत्थान है और न बे-सिर-पैर की बातों की बेमेल खिचड़ी। सभी विषयों में उनका आत्मोपलब्ध मत है। वेदान्तियों के निर्गुण ब्रह्म में उनके उपास्य नहीं हैं क्योंकि उन्होंने एकाधिक बार उसमें गुण का आरोप किया है।[१] तब निश्चित ही लोक प्रभाव को स्पर्श करने वाली भक्ति उनका लक्ष्य है। एक ओर साधना के हेतु

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कायायोग की हठयोगी प्रक्रियाओं से भी ये संत प्रभावित हैं लेकिन उसे अपना लक्ष्य न मान सके। दूसरी ओर वे वेदान्ती नहीं हैं। मानो लोक चिन्ता में जिस भक्ति का प्रादुर्भाव उस समय इस देश में हुआ उसके वेदान्त भक्तिपरक प्रभाव को ही संतों ने स्वीकार कर लिया। वे लोक चिन्ता के स्वाभाविक विकास के जागरूक पथिक कहे जा सके हैं। उन्होंने प्रेमसाधना को भक्ति का माध्यम मानकर प्राचीन अभिव्यक्ति को नये विषय प्रदान किये। संतों ने कहा—

दादू पाया प्रेम रस, साधु संगत नांहि।
फिरि फिरि देखैं लोक सब पाया कतहूँ नांहि ॥[1]

फिर मसि कागद के आसरे क्यों छूटे संसार[2] को सामने रखकर संतों ने अनुभवी पुरुषों का आश्रय ग्रहण किया। इस लोक चिंता का अपना एक स्वतन्त्र विकास मध्ययुग में हुआ है किन्तु दार्शनिक मतवादों का प्रभाव उस पर अवश्य है, उसी प्रभाव की प्रतिक्रिया ने अनुभव को और भक्ति को मुख्य आधार मान कर जिस आन्दोलन को जन्म दिया वह मध्ययुग में लोक प्रभावी हुआ तथा आज भी उसका लोक जीवन में विशेष स्थान है। इस निर्गुण पंथ के अपने दार्शनिक सिद्धान्त हैं जिनका सम्बन्ध प्राचीन आर्य अनुभवों से है जो काल और स्थान से परे हैं तथा जिन्हें अपौरुषेय कहा जा सकता है।

निर्गुण संत-काव्य का आविर्भावकाल १५वीं शताब्दी माना गया है। उस समय भारत में अनेक मत-मतान्तर, धर्म-सम्प्रदाय प्रचलित थे तथा उनके अनुयायी परस्पर विरोधी आचरणों में उलझे हुए थे। कबीर संत मत के प्रमुख प्रवर्तक हैं। उन्होंने एक स्थल पर प्रकट किया है—

आलम दुनीं सबै फिर खोजी, हरि बिन सकल अयाना।
छह छरसन, छयानवें पाषंड, आकुल किनहूँ न जाना ॥[3]

विद्वानों ने कबीर साहब द्वारा प्रकट किए छः दरसन तथा छियानवे पाखण्ड की विस्तृत मीमांसा की है।[4] संत-काव्य के स्वरूप निर्धारण में इन धार्मिक एवं दार्शनिक मतवादों का भी स्थान है। संतों ने तत्कालीन धार्मिक मतवादों एवं सामाजिक आचारों को लक्ष्य कर जो कुछ लिखा है वह तत्कालीन युग की प्रतिक्रिया ही कही जा सकती है तथा जो कुछ आध्यात्म सम्बन्धी अभिव्यक्ति संतों के द्वारा हुई है उसकी परम्परा के स्रोत हमारे साहित्य में अत्यन्त प्राचीन हैं। संतों को सारग्रही वृत्ति का साधक कहा जा सकता है, उन्होंने उन सभी सारतत्त्वों को ग्रहण किया जो उनके ब्रह्म विचार में

---

१ संतवानी संग्रह, बानी १४, पृ० १००।
२ वही, पृ० १०१।
३ कबीर ग्रन्थावली, पद ३४, पृ० ९९।
४ कबीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सहायक थे। उन्हें अपने अनुभवों पर किसी धार्मिक अथवा दार्शनिक ग्रन्थ की छाप अभीष्ट नहीं थी। संतों के मत में ज्ञानी वह है जो आप स्वयं ही विचार करता हो।[1]

शास्त्रीय चिन्तन शैली में प्रमाण्य ग्रन्थों के बिना किसी तत्त्व की प्रतिष्ठा नहीं होती। आध्यात्म के समान अत्यन्त गूढ़ विषय की चर्चा जब संतों ने की तब स्वाभाविक था कि विद्वज्जन उन्हें अपनी कोटि का न मान कर हेय समझते, संतों ने अपने आपको विद्वान नहीं माना। युग विशेष की परिस्थितियों के फलस्वरूप थोथा ज्ञान और दम्भ ब्रह्म के साक्षात्कार का मार्ग नहीं था। कबीर कहते हैं—

आप पिछाने आपै आप।[2]

संत-काव्य में साम्प्रदायिक कट्टरता के फलस्वरूप जिन औपचारिक एवं कर्म-काण्डी रचनाओं का समावेश हुआ उसके सम्बन्ध में विचार करते हुए विद्वानों का अनुमान है कि यह तत्कालीन मतवादों का ही सीधा प्रभाव है जिसके फलस्वरूप संत-काव्य जब तक अनुभूतिप्रवण है, वह आध्यात्मिक चिन्ता का स्वाभाविक स्फोट है किन्तु जब उसने स्मार्त एवं अन्य मतवादों के सम्प्रदायगत स्वरूप को स्वीकार किया तब उसमें मात्र विवेकहीन कर्मकाण्डी अभिव्यक्ति है जिसका संकेत हमें पूर्व में ही उपलब्ध हो जाता है। संक्षेप में, मतवादों के सम्पर्क के फलस्वरूप हम निम्नलिखित प्रभाव संत-काव्य में पाते हैं :

(१) भक्ति की प्रमुखता।
(२) पुस्तकीय ज्ञान की अवहेलना।
(३) जाति-पाँति का विरोध।
(४) धार्मिक कट्टरता एवं दुराग्रह के प्रति खण्डन की भावना।
(५) ब्रह्म विचार के लिए अभिव्यक्ति की साधना।
(६) सहज साधना के द्वारा आत्मसाक्षात्कार।

ये प्रभाव सामान्य रूप से सभी चिन्ताधाराओं में उपलब्ध हैं। संत दार्शनिक नहीं हैं, अन्तिम रूप से उनकी अभिव्यक्ति लोकाभिव्यक्ति है जिसमें किसी एक तत्त्व की प्रमुखता नहीं है किन्तु सभी तत्त्वों का सार संगृहीत है भले ही विशुद्ध रूप में वह प्रकट न हो सका हो।

लोक चिन्ता का स्वरूप

हमने नाथपंथी साधना के लोक प्रभाव पर विचार करते हुए यह तथ्य प्रकट किया है कि जब नाथपंथी साधना अत्यन्त बलशाली थी तभी सामाजिक स्तर की दृष्टि से भारत में दो स्पष्ट भेद लोक जीवन में व्याप्त हो गये थे। एक स्तर वह था जिसके लिए

---

१ थकता बकता सुरता सोई। आप विचारे सो ज्ञानी होई॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०२।

२ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३१८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शास्त्र के पठन-पाठन की व्यवस्था थी, शास्त्रीय आदर्शों पर गठित सामाजिक व्यवस्था में उसका पूरा विश्वास था, दूसरा स्तर निचली श्रेणी से आये हुए सामाजिकों का था जिन्हें तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था से तनिक भी सहानुभूति नहीं थी तथा एक तीव्र असन्तोष उनमें घर कर गया था। यह स्तर-भेद अनेक कारणों से गहरा होता गया किन्तु राजनीतिक घटना-चक्रों के फलस्वरूप धार्मिक विचारकों एवं भक्तों ने जब स्थिति को बिगड़ते देखा तो स्वाभाविक रूप से जिस धर्मप्रवण भक्ति भावना की सरिता बह पड़ी वह लोक चिन्ता का ही एक स्वाभाविक परिणाम माना जा सकता है। लोक चिन्ता की धारा के आस-पास ही सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ अपने प्रभाव छोड़ती जाती हैं और साहित्य उसका प्रतिनिधि बनकर उसकी अभिव्यक्ति को वाणी प्रदान करता है। हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण विकास-क्रम को देखकर इस तथ्य की पुष्टि स्वतः ही हो जाती है। निर्गुण संत-काव्य के आविर्भाव की विभिन्न परिस्थितियों से यह बात स्पष्ट है कि संत-काव्य किसी एक घटना अथवा परिस्थिति का सीधा प्रभाव नहीं है। तब यह बात विचारणीय है कि लोक चिन्ता का वह कौनसा स्वरूप था जिसने संत-काव्य की प्रेरणा बनकर उसे अभिव्यक्ति प्रदान की, तथा उसमें प्राचीन परम्पराओं के प्रभाव कहाँ तक वर्तमान रहे।

जब भारतीय धर्मसाधना में एक ओर योग की काया साधना और वैदिक विचारधारा के विरोधी साधना पंथ प्रभावशील थे। उस समय लोक जीवन इन आश्चर्यजनक एवं अद्भुत करामातों से भयसंकुल था। यद्यपि नाथ पंथ का प्रभाव उत्तर से दक्षिण तक तथा पूर्व से पश्चिम तक व्याप्त था किन्तु फिर भी अन्य सम्प्रदायों के सम्मिश्रण से परवर्ती नाथ सम्प्रदाय में वे सब बुराइयाँ बद्धमूल हो चुकी थीं जिनके विरोध में गुरु गोरखनाथ ने अपने पंथ का निर्माण किया था। १३वीं शताब्दी तक आते-आते नाथ पंथ वास्तव में अपना मूलस्वरूप खो चुका था और बौद्ध कापालिक मतों एवं शाक्त सम्प्रदायों के अनेक पंथों का उसमें समावेश हो जाने के कारण शुष्क आध्यात्मवाद एवं गर्हित साधना के सम्मिश्रण से धर्मसाधना का उस समय जो कुछ भी प्रभाव था उसका कारण साधना पंथों के प्रति सिद्धान्तगत सद्भाव न होकर केवल भय और अज्ञान ही कहा जा सकता है। उस समय ऐसे आध्यात्मिक साधना मार्ग की आवश्यकता थी जो वेदसम्मत हो तथा जिसमें प्रेम और भक्ति का भाव भी उपलब्ध हो सके।[१] स्वामी रामानन्द[२] के द्वारा ऐसे आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जो आगे चलकर मध्ययुगीन लोक चिन्ता का प्रबल आश्रय बन सका। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि मध्ययुग की समग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरु रामानन्द ही थे। प्रसिद्ध है कि भक्ति द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई थी, उसे उत्तर भारत में रामानन्द ले आये और

---

[१] हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ५३।
[२] आविर्भाव १३वीं शताब्दी (१३७०-१४४०)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कबीर ने उसे सप्तद्वीप और नौ खण्ड में प्रकट कर दिया।[१] जिस समय दक्षिण में भक्ति का आन्दोलन अपने उत्कर्ष पर था उस समय उत्तर भारत में योग साधना का प्राधान्य था। रामानन्द के गुरु राघवानन्द भक्ति आन्दोलन के बड़े नेता हुए[२] योग मत पर धीरे-धीरे भक्ति का प्राधान्य होता गया तथा रामानन्द ने लोक चिन्ता में जिस योग और भक्ति के समन्वय को प्रस्तुत किया वह अपने युग की एक अद्भुत स्थिति ही कही जायगी। स्वामी रामानन्द युगद्रष्टा ही नहीं युगसृष्टा भी थे उन्होंने एक ऐसे भक्ति पंथ का प्रचार किया जिसमें एक ओर वैयक्तिक उपासना पद्धति समाज के सब वर्गों के लोगों के लिए अनुकूल बनी और दूसरी ओर वर्ण-व्यवस्था तथा शास्त्र मर्यादा को पूर्ण मान्यता प्राप्त हुई।[3]

रामानन्द का प्रभाव

स्वामी रामानन्द अपने युग के धार्मिक सुधारक एवं उच्चकोटि के धर्मगुरु थे। जिन परिस्थितियों में हिन्दी प्रदेश में लोक चिन्ता का शुष्क साधनामूलक ज्ञानवाद भक्ति के स्पर्श से अनेक रूपों में मुखरित हुआ उसका पूर्णाभास स्वामी रामानन्द के समन्वयवादी दृष्टिकोण में उपलब्ध हो जाता है। रामानन्द का सम्बन्ध रामानुजीय सम्प्रदाय से माना जाता है।[४] यद्यपि रामानुजीय सम्प्रदाय अन्य स्मार्त आचार्यों की अपेक्षा अपने दृष्टिकोण में अधिक उदार था फिर भी स्वामी रामानन्द का दृष्टिकोण भक्ति के क्षेत्र में उससे अधिक उदार निकला। सामाजिक जीवन में जिस विभेद का प्रश्रय धर्म का आवरण बन गया था, स्वामी रामानन्द ने उसी वर्ग का गुरुत्व स्वीकार कर आचार पक्ष में भक्तों एव अनुयायियों को नया मार्ग दिखा दिया। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने मध्ययुगीन रहस्य साधना का परिचय देते हुए प्रकट किया है कि इस प्रकार स्वामी रामानन्द अस्वाभाविक एवं नकली उच्चता से उतर कर लोक सामान्य प्रेम और भक्ति के मार्ग का अनुसरण करने लगे और इस प्रकार जातीय भेद से ऊपर उठकर अपना आध्यात्मिक संदेश सब लोगों को दे सके।[५] उन्होंने जन-जीवन को स्पर्श करने वाले अनेक परिवर्तनों को अपने में स्वीकार किया। वे परिवर्तन मुख्यतः अग्रलिखित हैं :

---

१ भक्ती द्रावीड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्तदीप नवखण्ड ।।—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ४७।

२ भक्तमाल, ३।

३ हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्मय, पृ० ५३।

४ मेडीवल मिस्टीसिज्म—सी० एम० सेन, पृ० ७१।

५ वही, पृ० ७२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१) लोकसामान्य अथवा जनवाणी हिन्दी में अपने उपदेशों का कथन।
(२) उच्च और निम्न वर्गों के धार्मिक विभेद को प्रश्रय देने वाली संस्कृत भाषा का परित्याग।
(३) भक्ति के क्षेत्र मनुष्यमात्र का भेद रहित पदार्पण।
(४) वैष्णव भक्ति के स्थान पर राम भक्ति का प्रचार।

ये परिवर्तन स्वामी रामानन्द की स्वतन्त्र चिन्ता शक्ति के परिणाम थे जो युग विशेष की प्रक्रिया ही माने जा सकते हैं। लोक जीवन अपनी प्रेरणाओं से ऐसे महात्माओं के नेतृत्व के लिए सदैव ही प्रयत्नशील रहता है। स्वामी रामानन्द एक साथ ही अपने युग के उच्चकोटि के विद्वान, भक्त और समाज सुधारक थे। उन्होंने रामानुज के श्री सम्प्रदाय से पृथक अपने सम्प्रदाय का संगठन किया जिसमें वैरागियों के लिए व्यवस्था की गयी। उन्होने अनन्य भक्ति को स्वीकार करते हुए वर्णाश्रम धर्म का बन्धन निरर्थक समझा तथा खानपान के बन्धन को भक्ति के मार्ग में बाधक मानकर उदारता के साथ ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक को राम की भक्ति का उपदेश दिया। फलतः लोकधर्मप्रवण भक्ति का सर्वत्र प्रचार होना प्रारम्भ हो गया और लोक चिन्ता पुनः अपना मार्ग स्वयं निर्दिष्ट करने में सफल हो सकी।

स्वामी रामानन्द का मतवाद सामंजस्य भाव का प्रतिपोषक माना गया है। उसका दार्शनिक पक्ष उदार है, उसमें आध्यात्मिक अनुभव की प्रत्येक सम्भावित स्थिति की सहज पहुँच है। श्री परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि स्वामी रामानन्द ने ब्रह्मशब्द वाच्य श्री राम को ठहराया है और उसी को सगुण और निर्गुण दोनों ही माना है। उनके अनुसार निकृष्ट प्राकृत गुणों से रहित को ही निर्गुण कहते हैं और दिव्य गुणों के कारण भगवान का सगुणत्व सिद्ध होता है। उन्होंने अनन्य भक्ति को मोक्ष का अव्यवहितोपाय माना है तथा प्रपत्ति को भी स्वीकार किया है।[१] लोक चिन्ता के दार्शनिक मतवादों का आग्रह स्वामी रामानन्द में नहीं मिलता, उनके शिष्यों में और सम्प्रदाय में अद्वैत वेदान्त का पूर्ण समादर है। इसी तरह उनके शिष्यों में केवल एक बात को छोड़कर अन्य बातों में काफी स्वतन्त्रता का परिचय पाया जाता है, वह बात है भक्ति–अनन्य भक्ति। उनके कितने ही शिष्य उनकी वर्णाश्रम व्यवस्था को नहीं मानते, जीवों का ब्रह्म से भेद नहीं मानते और कितने ही यह तक मानना नहीं चाहते कि दिव्य गुणों से भगवान का सगुणत्व भी सिद्ध होता है और सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादक है।[२] मध्ययुगीन भक्ति साधना में निर्गुण और सगुण धाराओं का उन्मेश स्वामी रामानन्द से ही माना जा सकता है। लोक चिन्ता का यह विस्तार स्वामी रामानन्द के बारह शिष्यों द्वारा सम्पादित हुआ। भक्तमाल के

---

१ **वैष्णव धर्म**, पृ० १११।
२ **कबीर**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ९८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुसार उनके नाम हैं : (१) रविदास, (२) कबीर, (३) धना, (४) सेन (५) पीपा, (६) भवानन्द, (७) सुखानन्द (८), असानन्द, (६) सुरसुरानन्द, (१०) परमानन्द, (११) महानन्द, (१२) श्रीआनन्द ।[१] इन शिष्यों में अनेक शिष्य निम्न जातियों से आये हैं।

धर्म और दर्शन का हेतु लोकोत्तर आनन्द माना गया है। किन्तु उसी धर्म और दर्शन के भेद के कारण यदि हम लोक में भी मानव मूल्यों का अनुशीलन न कर सकें तो लोकोत्तर आनन्द केवल एक कल्पित बात ही रह जायगी। ब्रह्म की अद्वय कल्पना और विस्तृत स्वरूप के आत्मसाक्षात्कार होने पर अनुभवी व्यक्ति को भेद-भाव, कर्मकाण्ड आदि उसके नाम पर किये जाने वाले बहुत ही हलके प्रयोग अधिक रुचिकर नहीं लग सकते थे और यदि सभी परिस्थितियों को सामने रखकर इस प्रश्न पर विचार किया जाय कि स्वामी रामानन्द ने क्यों ऐसा कदम उठाया, तो उसका उत्तर केवल यही है कि लोक जीवन में गत शताब्दियों से जो प्रतिक्रियाएँ हो रही थी, अन्त में उसको व्यवस्थित रूप प्राप्त हो सका। पिछले अनेक प्रसंगों में हमने देखा है कि वास्तव में यह युग लोकमत का ही युग था। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि भक्तियुग के प्राक्काल में अनेकानेक मतवाद, सम्प्रदाय और शास्त्र लोकमत के सामने झुक रहे थे। साधनाबहुल और क्रियाक्लिष्ट योगमार्ग भी उधर ही झुक पड़ा। असल में इस युग में लोकमत की जैसी प्रधानता दृष्ट हुई वैसी सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में शायद ही कभी दिखी है।[२] स्वामी रामानन्द में यह लोकाभिव्यक्ति अपने अत्यन्त शक्तिशाली रूप में प्रकट हुई। उनके शिष्यों ने दाशरथ्य राम को निर्गुण ब्रह्म की उपाधि से विभूषित किया तथा रामोपासना को लोक धर्म बनाया। संतों ने जिस राम को निर्गुण और सगुण से परे परात्पर ब्रह्म के रूप में माना था उसकी पृष्ठभूमि स्वामी रामानन्द के महान कार्य से सम्बद्ध है। रामानन्द के जन्म आदि के सम्बन्ध में विद्वान प्रायः एक मत नहीं हैं। किन्तु लोकमत पर उनका कितना प्रभाव था कि कबीर के समान स्वतन्त्रचेता साधक के लिए भी राम-नाम का आश्रय स्वामी रामानन्द के ही द्वारा प्राप्त करना पड़ा। संतों ने अवतारवाद का खण्डन किया किन्तु राम को उपास्य माना। कबीर ने कहा—

भारी कहौ न बहु डरौं, हलका कहूँ तौ झूठ।
मैं का जांणों राम कूं नैनूं कबहूं न दीठ ॥[३]

वास्तव में कबीर जैसे एक निर्गुण संत का राम-नाम स्वीकार करना आज एक असामान्य बात ही प्रतीत होती है। किन्तु उस काल में मानो कबीर के लिए वही एक सर्वश्रेष्ठ मार्ग प्रतीत हुआ। राम का सम्बन्ध वैष्णव अवतारवाद से ही इसके पूर्व तक माना गया है जिसका संतों ने सदैव खण्डन किया। राम निर्गुण भक्ति के

---

१ भक्तमाल, छप्पय ३१।
२ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६६, ६७।
३ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आराध्य हो गये। ब्रह्म का पर्याय शब्द बनकर संतों की निराकारसाधना के आधार बने। आचार्य शुक्ल ने यद्यपि इस सम्बन्ध में यह तथ्य स्वीकार किया है कि रामानन्द ने विष्णु के अन्य रूपों में राम-रूप को ही लोक के लिए अधिक कल्याणकारी समझ छाँट लिया और एक सबल सम्प्रदाय का संगठन किया, तथापि वर्णाश्रम व्यवस्था को मानते हुए भी उपासना के क्षेत्र में सबका समान अधिकार रखने के बाद उनका सम्बन्ध शास्त्रगत मर्यादा से बना रहा। उनका कथन है कि स्वामी रामानन्द ने उदारतापूर्वक मनुष्यमात्र को इस सुलभ सगुण भक्ति का अधिकारी माना और देशभेद, वर्णभेद, जातिभेद आदि का विचार भक्ति मार्ग से दूर रखा। यह बात उन्होंने सिद्धों या नाथपंथियों की देखा-देखी नहीं की, बल्कि भगवद्भक्ति के सम्बन्ध में महाभारत, पुराण आदि में कथित सिद्धान्त के अनुसार की।[१] लोकमत का यही तो समन्वयवादी रूप माना जा सकता है। शास्त्र मर्यादा और लोक चिन्ता के मध्य सामान्य जीवन को मुक्त होकर सगुण और निर्गुण दोनों ही धाराओं में उनके शिष्यों ने प्रभावित किया, तब भी स्वामी रामानन्द का यह स्वतन्त्रताचेता व्यक्तित्व उनके सामने रहा। यद्यपि लोकमत में कबीर आदि संतों को स्वामी रामानन्द का सच्चा प्रतिनिधि नहीं माना जा सका[२] फिर भी यहाँ पर केवल यही तथ्य द्रष्टव्य है कि नाथपंथियों, सिद्ध योगियों और आचार्यप्रवण स्मार्त विचारकों के मध्य जो लोक चिन्ता प्रवहमान थी उसका समन्वित स्वरूप रामानन्द के व्यक्तित्व में प्रकट हुआ तथा जिस छुआछूत एवं भेदाभेद की संकीर्ण भावना से मध्ययुगीन धर्मसाधना आक्रांत थी उसे साँस लेने का अवकाश मिला।

धर्मसाधना की सामान्य स्थिति

भारतीय साहित्य में परमपद प्राप्त करने के तीन मार्ग माने गये हैं—योग, ज्ञान और भक्ति। प्रत्येक युग में अपनी विशेष परिस्थितियों के साथ ये धाराएँ अपनी साधनात्मक प्रणालियों पर चलती चली आरही हैं। बौद्ध वज्रयानी ज्ञानपरक और योगमूलक साधनाओं के परिष्कारस्वरूप भारतीय लोक जीवन में नाथपंथी योग की काया साधना का प्रादुर्भाव हुआ। भक्ति युग के आगमन के साथ जिस समय संत-काव्य का सृजन प्रारम्भ हुआ उसके पहले नाथपंथी काया साधना और नैतिक आचरण की प्रक्रियाएँ केवल योग की कष्टप्रद साधनएँ मात्र ही रह गयी थीं। साधना का स्वरूप लोक आश्चर्य और करामातों के सम्मिश्रण से केवल दिखावा मात्र रह गया, योग की साधना में दतचित्त साधक अपनी प्रतिष्ठा के हेतु अन्य प्रत्येक साधक से टक्कर लेने के लिए तैयार था, फलस्वरूप, साधना के क्षेत्र में उस समय एक विशेष प्रतिद्वन्द्वी भाव परिलक्षित होता है जिसका परिणाम प्राचीन और नवीन संतों और महात्माओं के

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ११९।

२ वही, पृ० १२५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शास्त्रार्थ, गुष्टि आदि की कल्पित रचनाओं का होना है।[1] कुण्डलिनी योग तथा अन्य योग साधनाओं की सिद्धि के बाद एक लोकोत्तर शक्ति के प्रादुर्भाव हो जाने का सामान्य विश्वास लोक जीवन में अपने अज्ञान के कारण बद्धमूल होता जा रहा था। योग साधना के लिए शास्त्रीय पद्धति अथवा पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा सद्गुरु का प्राप्त हो जाना ही पर्याप्त था, परन्तु सद्गुरु का मिल जाना कोई सरल बात नहीं, और उस समय जबकि केवल सद्गुरु की कृपा से सब सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हों। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि यह बात तो निश्चय ही उन दिनों भी असम्भव रही होगी कि हजारों की संख्या में लोग सिद्ध योगी हो जायें। पर साधारण जनता को सद्गुरु के नाम पर आतंकित करने वाले छोटे-मोटे योगियों की एक विराट वाहिनी जरूर तैयार हो गयी होगी।[2] इसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। वैष्णव भक्ति के रूप में प्रचलित होने वाली सगुण साधना के प्रवृत्ति मार्ग के द्वारा ही जब परमपद प्राप्ति हो सकती है तो फिर क्लिष्ट साधनाओं की क्या आवश्यकता ? अपनी परम्परा के नाथपंथी योगी सम्प्रदायों में जब भक्तिसाधना का प्रवेश हुआ तब लोक जीवन में मध्य-मार्ग को स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त और कोई साधना मार्ग श्रेयकरर न रह सका। किन्तु लोक जीवन में निम्न जातियों के सम्पर्कजन्य प्रभावों की योग क्रियाओं का बिलकुल ही पराभव न हो सका और इस प्रकार मध्ययुग में साधना के क्षेत्र में भक्तियोग समन्वित निर्गुण मार्ग ने पददलित मानवता को सहारा दिया। संतों की रचनाओं में योग साधना के प्रति विरोध का भाव नहीं मिलता किन्तु उसकी क्लिष्ट क्रियाओं के प्रति रुचि भी नहीं है।[3] सहज समाधि के द्वारा ही जब परमतत्त्व उपलब्ध हो जाता है तब ये साधन तो काया क्लेश हैं। संतों में जिस साधना का प्रादुर्भाव हुआ वह लोक-मत के अनवरत प्रयोगों का परिणाम है। वे परिणाम इतिहास की पुनरावृत्ति की भाँति लोक चिंता के निश्चित परिणाम कहे जा सकते हैं। बौद्ध धर्म की चिंता में जिस साधना मार्ग ने सहजयान की अवतारणा की उसके तत्त्वदर्शन का नैतिक स्वरूप अपने किन्हीं अंशों में फिर प्रकट हुआ।

साधना मार्ग की परम्पराओं में एक विचित्र-सी अक्खड़ता के दर्शन हमें होते हैं। यह अक्खड़ता शास्त्रज्ञान और वर्णाश्रम धर्म को हेय समझने वाले पंथों की अपनी विशेष प्रवृत्ति थी, संत-काव्य तक आते-आते इसका स्वरूप अधिक विस्तृत हो गया। सामाजिक एवं धार्मिक कट्टरता के विरोध में यह अभिव्यक्ति निश्चित ही लोक चिन्ता का स्वाभाविक परिणाम है। अनुभव अपने आप में शास्त्र-सीमाओं को हेय ही समझता

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६२।

२ वही, पृ० ६६।

३ (अ) साधो सहज समाधि भली।
(आ) सो जोगी जाके मन में मुद्रा। रातदिवस न करई निद्रा॥
मन में आसन मन में रहना। मन का जपतप मन सू कहना॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आया है और जब शास्त्रप्रवण लकीर के फकीर तर्क द्वारा सामाजिक विभेद और आध्यात्मिक आवरण की पुष्टि करने पर उतारू थे तब जन-प्रतिनिधियों की वाणी में प्रबल आत्मविश्वास और निडर अभिव्यक्ति होना स्वाभाविक है। ईश्वर भक्ति को छोड़कर एक वर्ग समाज का ऐसा भी था जो कहीं समझौता करने को तैयार नहीं था। लोक में यहीं पर प्रवृत्तिगत विरोध गहन हो उठा। स्मार्त आचारों की रक्षा करने वाला अधिक पौराणिक और तर्कवादी बन गया तथा स्वाधीनचेता अधिक अनुभवप्रवण और व्यवस्था विरोधी। लोक जीवन में जिस सौन्दर्ययुक्त सत्चित् के अवतारों के प्रति भक्ति की विह्वलता थी उसी के प्रति उपेक्षा भाव का प्रचार किया गया। स्वामी रामानन्द द्वारा प्रणीत व्यापक प्रभाव को लेकर जिस राम की भक्ति का यशोगान लोकवाणी में मुखरित हुआ उसी के प्रति उनके ही अनुयायियों ने प्रश्न चिह्न लगाकर यह तक कह डाला—

दशरथसुत तिहूं लोक बखाना।
राम नाम का मरम न जाना।।[१]

किन्तु इसके बाद भी मध्ययुगीन साधना पंथों में एक विचित्र-सा समन्वय है। इस समन्वय का आधार है भक्ति आन्दोलन जिसमें भक्त और भगवान को एक बताया गया है।[२] भक्त, भगवान और भक्ति की अपरम्पार महिमा का लोक समन्वित रूप विभेद और पंथीय दुराव को पाटने में सहायक हुआ है। भेद में अभेद का यशोगान कहीं आत्मनिवेदन के रूप में, कहीं प्रणय के रूप में प्रकट हो गया। दैन्य, आत्मसमर्पण और भगवान की कृपा के प्रति आश्वस्त बना लोकमत एक और अपनी योगपरक साधना को भी बिलकुल ही विस्मृत न कर सका तो दूसरी ओर मानव आत्मा में विश्वात्म शक्ति की प्रतिष्ठा से अभिभूत हो गया। राजनीतिक संक्रमण के युग में उसके विश्वास अधिक स्थिर और भावनाएँ विस्तृत होती गयीं।

मूल चिन्ता की दिशा

ऐसा लोकमत ही आगे चलकर एक मिश्रित सम्प्रदाय बनकर उठ खड़ा हुआ। डा० बड़थ्वाल ने इसका संकेत करते हुए एक स्थल पर लिखा है कि मिश्रित सम्प्रदाय एक अन्य प्रकार का भी होता है जो किसी व्यक्ति-विशेष की कृति न होकर, विकास कहलाने वाले सामाजिक नियम द्वारा, काल-क्रमानुसर धीरे-धीरे स्वयं निर्मित हुआ करता है।[३] इसका स्वरूप लोक चिन्ता की अनेक युगों से चली आने वाली प्रक्रिया के द्वारा निर्धारित होता है। मध्ययुगीन धर्मसाधना को प्रभावित करने वाला संत-काव्य मूलरूप से किसी एक परम्परा का विकास मात्र नहीं है। इसकी दो मूल दिशाएँ

---

१ **बीजक, सबद १०६।**

२ **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ८५।

३ **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० ३०४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं। प्रथम है औपनिषदिक आध्यात्म का विकास, तथा द्वितीय है बौद्ध परवर्ती साधना और उसकी प्रतिक्रिया। इन दोनों के मध्य ही निर्गुण संत-काव्य मुखर हुआ है। भक्ति और योग का यह रूप स्वामी रामानन्द में ही प्रकट हो गया था, यह हम पहले ही स्पष्ट कह चुके हैं। वैष्णवों ने आध्यात्मिक अनुभूति की साधना में योगाभ्यास को भी महत्त्व दिया था इस कारण इस नवीन विचारधारा से योगियों का निकट सम्बन्ध हो जाना एक स्वाभाविक बात ही है। डा० बड़थ्वाल ने संत-काव्य में दिखाई पड़ने वाले इस योग और भक्ति के समन्वय को मध्ययुग के महान गुरु स्वामी रामानन्द की गुरु परम्परा और शिक्षा-दीक्षा से सम्बद्ध करते हुए लिखा है कि राघवानन्द बहुत बड़े योगी थे जिनके लिए कहा गया है कि उन्होंने अपने योग-बल से रामानन्द की प्राण-रक्षा की थी, अतएव इसमें सन्देह नहीं कि रामानन्द ने उनसे योग साधना की शिक्षा ग्रहण की होगी। रामानन्द भी स्वयं अपने सम्प्रदाय में एक महान योगी के रूप में विख्यात हैं। रामानन्द में आकर इस प्रकार उक्त दोनों प्रकार की विचारधाराओं का संगम हुआ और वे दोनों मिल कर वहाँ से कबीर में पहुँचीं जहाँ की अन्य मिश्रित धाराओं ने सम्मिलित होकर निर्गुण मत को उसका अन्तिम स्वरूप दे डाला।[१]

निर्गुण संत-काव्य के निर्माण में जातीय लोकोक्तियाँ तथा क्रिया-कलापों का इसीलिए विशेष महत्त्व है। लोक चिन्ता का यह स्वरूप एक प्रान्त, एक भाषा, एक काल, एक जाति एवं एक सम्प्रदाय तक ही सीमित न रहकर मध्ययुगीन लोकजीवन में परिव्याप्त हो उठा, उसका यह स्वरूप सब स्थलों पर एकसा नहीं है। स्मार्त विचारों से लेकर व्यावहारिक साधना पंथों तक में परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन हुए। वे परिवर्तन ऊपर से लादे गये परिवर्तन नहीं कहे जा सकते। सामाजिक चेतना से सम्बद्ध किन्तु अनुभूत पक्ष का आधार ही उसका केन्द्र माना जा सकता है। उन दिनों मूल चेतना में ग्रहण की अपेक्षा त्याग की भावना अधिक थी। साहित्य में उसकी प्रति-क्रिया होना स्वाभाविक है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, 'व्यक्तिगत रीति से इस साहित्य के प्रत्येक कवि को अलग-अलग समझने में यह सारा साहित्य अस्पष्ट और अधूरा लगता है। अनेक कारणों से कबीर का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक हो गया है। वे नाना भाँति की परस्पर विरोधी परिस्थितियों के मिलन बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे जहाँ से हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व। जहाँ एक ओर योग मार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्ति मार्ग।'[२] परस्पर विरुद्ध स्थितियों के कारण एक रुक्षता का वातावरण भी मानो उत्पन्न हो गया किन्तु वह रुक्षता अधिक दिनों न टिक सकी। अनुभवगम्य भगवत् प्रेम की लहर अपने स्वाभाविक रूप में फूट निकली। न यह प्रेम इन्द्रियग्राह्य है, न मनोगम्य और न बुद्ध साध्य ही माना जा सकता है। लोक

---

१ **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० ३०६।

२ **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ९८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मत की तृप्ति के लिए अनुभवी ही सबसे बड़ा अधिकारी माना जाने लगा, भक्त अनुभवकर्ता और उसका मार्गदर्शन गुरु ही साक्षात् गोविन्द हो गया।[१]

योग और भक्ति, ज्ञान और प्रपत्ति का यह समन्वय अपने युग की एक विशेष प्रक्रिया ही है, वैसे ज्ञान का सम्बन्ध भक्ति से कितना ही क्यों न जोड़ दिया जाय, एक में द्वैत का बीज निहित है दूसरे में अद्वैत का, एक में समता की भावना है दूसरे में समर्पण की। कुछ विद्वानों ने इस समन्वय का मुख्य कारण सूफी प्रेमतत्त्व और मुसलमानी एकेश्वरवाद माना है[२] जो लोक चिन्ता के क्रमिक विकास के अनुकूल नहीं प्रतीत होता। यह भक्ति साधना मानवता की दृष्टि में हिन्दू-मुसलानों की जाति-पाँति से ऊपर है, उसका सीधा सम्बन्ध भारतीय आध्यात्म चिन्ता से है जिसमें ज्योतिस्वरूप राम निर्गुण और सगुण से ऊपर उठकर परात्पर ब्रह्म रूप में स्थित हैं। सूफी प्रेम-साधना में जिस आध्यात्मिक और लौकिक पक्षों के एकरूप करने का प्रयत्न स्पष्ट है, निर्गुण भक्ति भावना में वैसा कोई प्रयत्न नहीं है। कारण ब्रह्म कार्यजगत से एक रूप हैं, वही निर्गुण काव्य का मूल हेतु है। संतों को ऐसे रूपक बाँधने की आवश्यकता न पड़ी जिनमें ईश्वर उसको प्रियतमा होती। वास्तव में योगधारा ने एक ओर भक्ति-विह्वल आध्यात्म के लोकमत को प्रभावित किया तो दूसरी ओर सूफियों को भी। योग और वेदान्त के मध्य जिस ईश्वर भक्ति की चर्चा है वह गूँगे के गुड़ के समान स्वयं आस्वाद्य वस्तु है। उसकी प्रतीक योजना में प्रेम का पर्याप्त लौकिक प्रणय का आध्यात्मिक आत्मनिवेदन ही है। यह प्रेम अत्यन्त साधारण कोटि का नहीं है। दादू ने कहा है—

दादू पाती प्रेम की बिरला बाँचे कोय।
वेद पुरान पुस्तक पढ़े प्रेम बिना क्या होय॥

यह प्रेम पुस्तकों द्वारा प्राप्तव्य नहीं है, कबीर का कथन है कि इस प्रेम के ढाई अक्षर को पढ़ कर कोई भी व्यक्ति पंडित हो सकता है।[३] प्रेम के धरातल पर पहुँच कर कथित ज्ञानमार्ग के अनुयायी, ये साधु-संत ज्ञान की अपेक्षा प्रेम की प्राप्ति पर अधिक बल देते हैं। इनका यह प्रेमयोग अपने मूल स्वर में सूफी प्रेम पद्धति से बिलकुल भिन्न प्रकार का है, यद्यपि आध्यात्म के सम धरातल पर पहुँचकर प्रत्येक रहस्यवादी मार्ग एक ही गंतव्य पर पहुँचाता है। संत-काव्य की मूल चिन्ता केवल अपने भाव जगत में ही परम्परा का निर्वाह करती रही हो ऐसी बात नहीं है। अभि-व्यक्ति पक्ष में तो उसका क्रमिक विकास और अधिक स्पष्ट है।

---

१ **गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागों पांव**................

२ **हिन्दी साहित्य का इतिहास**—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७०।

३ **पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पण्डित भया न कोय।**
ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होय॥ —कबीर।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लोक जीवन तत्कालीन परिस्थितियों में जिस रूप में वर्तमान था, आज की परिस्थितियों में हमारे पास उसके कोई प्रामाणिक साधन अवशिष्ट नहीं हैं। लोकोक्तियों, लोकगीत एवं लोकाख्यानों के मध्य आचार की जो स्थिति वास्तविक लोक चिंता स्वरूप निर्धारित करती है उससे मिलती-जुलती केवल यही एक अभिव्यक्ति है। तत्कालीन जन-प्रतिनिधि काव्य की यह रूपरेखा बहुत-कुछ जन-आन्दोलन के संक्रमण युग की प्रतिक्रिया ही कही जा सकती है फिर भी एक क्षीण सी स्वतन्त्रचेता अभिव्यक्ति और रूढ़ि विरोध की प्रबल प्रतिक्रिया के दर्शन हमें उसमें हो जाते हैं। शास्त्रों की मर्यादा एवं राज्यों की छत्र छाया में पल्लवित धर्मसाधनाओं के साथ टक्कर लेकर भी यह लोकमत अपनी गति से चलता रहा, फलतः, जिस आध्यात्मिक व्याकुलता का दर्शन हमें इसमें होता है वह अद्वितीय है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि इस व्याकुलता की पीड़ा से इस साधना का साहित्य संसार का बेजोड़ और अद्वितीय साहित्य बन सका है। किसी सम्प्रदाय विशेष के संस्कारों से समाच्छन्न न होने के कारण यह सहज ही सारे संसार की सम्पत्ति बन सकता है।[1]

नाथ पंथ और निर्गुण संत-काव्य

मध्ययुगीन धर्मसाधना के क्रमिक विकास को देखते हुए यह तथ्य तो सहज ही निःसृत हो जाता है कि उसकी अभिव्यक्ति पर अनेक पूर्वापर प्रभाव हैं। साथ ही एक लोक सामान्य विद्रोही प्रवृत्ति के फलस्वरूप उस युग में अनेक मौलिक उद्‌भावनाएँ भी हुई हैं। हिन्दी का निर्गुण संत-काव्य इसका सबसे पुष्ट प्रमाण है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि संत-काव्य केवल सिद्धों अथवा नाथपंथी योगियों की रचनाओं का अक्षरशः अनुकरण है अथवा युग-विशेष की मुसलमानी प्रतिक्रिया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि जहाँ तक उनकी उपस्थापना पद्धति, विषय, भाव, भाषा, अलंकार, छन्द, पद आदि का सम्बन्ध है, ये संत सौ फीसदी भारतीय परम्परा में पड़ते हैं। उनके पारिभाषिक शब्द, उनकी रूढ़ि विरोधिता, उनकी खण्डनात्मक वृति और उनकी अक्खड़ता आदि उनके पूर्ववर्ती साधकों की देन है। परन्तु उनमें की आत्मा उनकी अपनी है, उसमें भक्ति का रस है और वेदान्त का ज्ञान है।[2] निर्गुण संत-काव्य आध्यात्मिक प्रेरणा का काव्य है इसलिए उसमें अपने इस मूलभाव के साथ ही लोक समन्वय और स्वदेशी-विदेशी के भेदभाव की प्रतिक्रिया अन्य क्षेत्रों की तुलना में कम है। यद्यपि वह मुसलमानी प्रतिक्रिया नहीं है तथापि मानवता के स्तर पर सूफियों की प्रेम पद्धति और एकेश्वरवाद की लोकसामान्य झलक उसमें भी है किन्तु वह उसका मूल स्वर नहीं बन सका। वैष्णव मत के लोकव्यापी विस्तार से जिस समय सम्पूर्ण देश अभिभूत हो भगवान की भक्ति में अपने आपको तिरोहित कर रहा

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४०।

२ वही, पृ० ४२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था उस समय उत्तर भारत में नैतिक जीवन को लेकर साधनात्मक प्रयोगों का बोल-बाला था। साधक को अपनी शुद्धता के लिए गुरु गोरखनाथ का शिष्यत्व ग्रहण करना पड़ता था यद्यपि उस समय गुरु गोरखनाथ का व्यक्तित्व एक देवत्व का पर्याय-मात्र ही रह गया था। उसी समय भक्ति, वेदान्त और योग के सम्मिलित प्रयत्नों से जो एक पृथक ही साधनामार्ग चल पड़ा वही निर्गुण मार्ग कहलाया और उसी की अभिव्यक्ति को निर्गुण संत-काव्य के नाम से अभिहित किया गया। उसकी मूल चिन्ता ज्ञानाश्रयी नहीं है, वह भक्ति के प्रबल आग्रह की विवेकजन्य परिणति है। जो कुछ ज्ञानाश्रय हमें संत-काव्य में मिलता है उसका कारण है निर्गुण संतों के योगमूलक संस्कार अथवा उत्तर भारत में योगमत का प्राधान्य, मानो जिसका स्पर्श पाकर भक्ति लोकसामान्य धरातल की वस्तु बन गयी। विद्वान इस विषय में प्रायः एकमत हैं कि निर्गुण संत-काव्य अपनी अभिव्यक्ति में नाथपन्थी योगियों की परम्परा से किसी-न-किसी रूप में सम्बद्ध रहा है किन्तु लोक चिन्ता के स्वाभाविक विकास में उसने उससे क्या ग्रहण किया और उसका कौनसा भाग छोड़ा यह भी एक विचारणीय विषय है।

जैसा कि हमने नाथपंथ और उसके लोकप्रभाव की चर्चा करते हुए प्रकट किया कि यह पंथ साधना के क्षेत्र में नैतिक आचरण एवं कायिक शुद्धि को लेकर वज्रयानी बौद्ध साधना के महासुखवाद के प्रतिद्वन्द्वी रूप में अवतरित हुआ और लोक जीवन में उसने अपना विशेष स्थान बना लिया। नाथ पंथ के प्रबल प्रचारक गुरु गोरखनाथ के महिमामय व्यक्तित्व से भारत में आसेतु हिमाचल लोक आख्यान साहित्य की सृष्टि हुई, जिसके द्वारा उन्हें अनेक रूपों में कल्पित कर एक ऐसे लोकसामान्य विश्वास की सृष्टि की गयी कि गोरखनाथ से सम्बद्ध हुए बिना योगसाधना अथवा गृहस्थी-रहित साधकों के लिए समाज में कोई स्थान न रह गया। दार्शनिक मतवाद की दृष्टि से जो कार्य स्वामी शंकराचार्य और उनके अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त ने किया, साधना के क्षेत्र में वही कार्य गुरु गोरखनाथ के द्वारा सम्पन्न हुआ।[1] बौद्ध धर्म का महायान सम्प्रदाय सिद्धान्त और साधना दोनों ही क्षेत्रों में लोकमत में घुल-मिल गया। फलस्वरूप, नाथ पंथ अपने उद्देश्य में सीमित और प्रभाव में गहरा होता चला गया। जब नाथ पंथ का आविर्भाव हुआ, देश में बौद्ध तांत्रिकता का बोलबाला था। अश्लील उपासना पद्धतियाँ धर्म के नाम पर ग्रहण ही न की जाती थीं, अपितु उसके अनेक प्रमुख केन्द्र थे। लोकसामान्य जीवन इन सिद्धों और साधकों के आनन्द से प्रभावित था। गोरख-नाथ के रूप में एक ऐसी शक्ति मध्ययुग में उत्पन्न हुई जिसकी ऐतिहासिकता के तत्त्व कालान्तर में लुप्तप्राय हो गये और उसका लोक प्रभावी रूप मुखर हो उठा। गोरखनाथ को लेकर अनेक जनश्रुतियाँ प्रसिद्ध हुईं। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का कथन है कि इन जनश्रुतियों में हमें गोरखनाथ के अश्लील तांत्रिकता का विरोध कर

---

[1] **योग प्रवाह**—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ६०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके स्थान पर ब्रह्मचर्योपेत योगमार्ग के प्रचार करने के उद्योग का संकेत मिलता है।[१] यह योगमार्ग यद्यपि नैतिक जीवन का प्रतिपक्षी और उसका प्रबल पोषक था फिर भी उसमें सामाजिक रूढ़िवादिता तथा कर्मकाण्ड के प्रति परम्परागत विरोध था। वेद, शास्त्र-पुस्तकों आदि का कोई सम्मान नाथ पंथ न कर सका। गोरखनाथ ने कहा—

> गृहे गृहे पुस्तक भारंभारा पुरे पुरे पंडित यूथंयूथां।
> वने वने तापस वृन्दवृन्दा न ब्रह्मवेता न च कर्मकर्त्ता॥[२]

केवल यहीं तक नहीं, धार्मिक कर्मकाण्ड और साधना पर कसकर प्रहार किया गया, तीर्थों में भटकने वालों को घर के भीतर ही तीर्थों की तृप्ति कर दी गयी। वाद-विवाद के स्थान पर साधना को महत्त्व दिया—

> कोई वादी कोई विवादी जोगी को वाद न करना।
> अठसठि तीरथ समदिसमावें यूं जोगी को गुरुमुख जरना॥[3]

गुरु की मर्यादा निश्चित हो गयी, आचरण संहिताओं के रूप में प्रचलित बौद्ध तांत्रिकता को लौकिक आचरण प्रयोगों से प्रभावित किया गया, उठने-बैठने से लेकर चलने तक की लौकिक अभिव्यक्ति के दर्शन हमें नाथ पंथ में होते हैं।[४] योग की क्रियाओं, आसनों, षटचक्रों का ज्ञान ब्रह्म साधना के लिए प्रथम आवश्यकता मान लिया गया। जिसे शरीर का ज्ञान नहीं है वह ब्रह्म साक्षात्कार कैसे कर सकता है,[५] पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड की स्थिति मानकर कुण्डलिनी शक्ति को उद्भूत करने की प्रेरणा को सर्वोपयोगी मार्ग मान लिया गया। हठयोग की साधना में आसन, प्राणायाम, मुद्रा और नादानुसंधान को प्रतिपाद्य मानकर साधकों द्वारा कठोरता के साथ उनका पालन योगियों के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता समझा गया।[६] इस जटिल साधना पद्धति के लिए सद्गुरु की बड़ी आवश्यकता हुई, आगे चलकर गुरु अथवा सद्गुरु की केवल कृपाकोर ही सम्पूर्ण सिद्धियों की अथवा मुक्ति की दायिका बन गयी। क्रिया-क्लिष्ट योगमार्ग धीरे-धीरे केवल आतंक तक सीमित रह गया। यद्यपि नाथ पंथ अपने प्रकृत रूप में ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक और मानसिक पवित्रता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, वाह्य आचरणों के

---

१ योग प्रवाह—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ५९।

२ गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह।

३ गोरखवानी, पृ० ११।

४ हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा, धीरे धरिबा पांव।
गरब न करिबा सहजै रहिबा भणत गोरख रांव॥—गोरखवानी, पृ० ११।

५ नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १२९।

६ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६५।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि मद्यमांस का पूर्ण बहिष्कार एवं सहज जीवन की महत्ता को लेकर चला, किन्तु परवर्ती नाथ सम्प्रदाय में पूर्व प्रचलित साधनाओं का समावेश भी हो गया। बाद में वज्रोली मुद्रा की साधना के समान वाममार्गी साधना का प्रचलन भी इसी मार्ग में हो गया ऐसा विद्वानों का मत है।[1] गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित योगी सम्प्रदाय नाना पंथों में विभक्त हो गया, उसकी विभिन्न परिस्थितियों पर पृथक से विचार किया ही गया है। यह प्रक्रिया अनेक शताब्दियों तक चलती रही। बौद्ध चिन्ता के माध्यम से प्रवाहित लोकमत नाथपंथी साधना पद्धति के नवोन्मेश से जिस दिशा को प्राप्त कर सका वहीं उसकी इतिश्री न हुई। मध्ययुग के हिन्दी साहित्य में उस परम्परा के निश्चित पद चिह्न उपलब्ध होते हैं। किन्तु क्या संत-काव्य अपने मूलरूप में नाथपंथी साधनामय अभिव्यक्ति का ही परवर्ती रूप है, यह प्रश्न भी विचारणीय है? डा० बड़थ्वाल का कथन है कि गोरखनाथ के काल से बराबर बहुत समय तक योग की कविता का प्रवाह हिन्दी साहित्य में बहता रहा। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने भक्तिधारा की दो शाखाओं के दर्शन कराये हैं— एक निर्गुणशाखा और दूसरी सगुणशाखा। निर्गुणशाखा वास्तव में योग का ही परिवर्तित रूप है। भक्तिधारा का जल पहले योग के घाट पर बहा था।[2] भक्ति का जल पहले योग के घाट पर बहा हो अथवा न बहा हो यह मुख्य बात नहीं है, प्रश्न केवल यह है कि संत-काव्य में योग सम्प्रदाय का यथेष्ट प्रभाव है। क्या भाव, क्या भाषा और क्या शब्द-योजना, प्रत्येक क्षेत्र में संत-काव्य अपने पूर्ववर्ती काव्य का ऋणी है, यह उसकी स्वाभाविकता भी है, क्योंकि संत-काव्य जिस लोक चिन्ता की अभिव्यक्ति का मुख्य साधन बना वह अपने क्रम में अत्यन्त प्राचीन होना चाहिए। जिस रहस्यानुभूति से अभिभूत हो सांकेतिक भाषा का प्रयोग संतों में मिलता है उसका पूर्वरूप हमें सिद्धों और नाथयोगियों की रचनाओं में उपलब्ध हो जाता है, शैली की स्पष्टता एवं अक्खड़ आग्रह की रुझान देखकर यह अनुमान लगा लेना अतिशयोक्ति नहीं है कि नाथयोगी सम्प्रदाय का ही एक विकसित रूप निर्गुण संतमत है, किन्तु केवल यही तथ्य संत-काव्य की मूलचिन्ता का एकमेव तत्त्व नहीं माना जा सकता। संतों की साखियाँ पूर्ववर्ती संतों की वाणियों की साक्षी भर हैं।[3] स्वतन्त्रचेता व्यक्तित्व की भाँति संतों में केवल निजत्व बुद्धि का ही आभास नहीं मिलता अपितु वे दूसरों की बातों को ग्रहण करने के लिए उत्सुक रहते थे। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि कबीर आदि साधकों ने नाथपंथियों और सहजयानियों के बहुत से शब्द, पद और दोहे ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिये थे, इनमें यत्रतत्र नाममात्र के परिवर्तन भी हैं।[4]

---

[1] **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १२५।

[2] **योग प्रवाह**—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ७५।

[3] **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३६।

[4] वही, पृ० ३७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संत-काव्य का नाथपंथी साधना पद्धति से निकट का सम्बन्ध होने के बाद भी यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों साधनाएं एक ही हैं तथा दोनों की अभिव्यक्ति का आधार भी एक ही है। जो कुछ सिद्धों एवं नाथपंथी साधकों ने कहा है, कबीर आदि संतों ने वही नहीं कहा। संत-काव्य की आत्मा उसकी अपनी है, सहज शून्य, षटचक्र, समाधि, इड़ा, पिंगला आदि शब्दावली के प्रयोग के बाद भी उनकी अर्थभिन्नता इस बात का प्रमाण है कि योग की रुक्ष एवं क्रिया-क्लिष्ट साधना ने भक्ति की विह्वलता में अपने आप को पूर्णतया निमज्जित कर लिया। संतों से सम्बद्ध नाथपंथी साधना पद्धति का ही केवल यह प्रश्न नहीं है। संतों ने वैष्णवों के 'दशरथ सुत राम' को जिस रूप में उपास्य माना है वह भी संतों की अपनी विशेषता है, इसी रूप में हम नाथपंथी साधना के सम्बन्ध की कल्पना संत कवियों के साथ कर सकते हैं। साधना के क्षेत्र में अनेक संत यद्यपि शास्त्रज्ञान से वंचित रहे फिर भी वे बहुश्रुत साधक थे, उन्होंने अपने अनुभवसम्मत सत्य को संगृहीत कर अपने आत्मोपलब्ध मत को अभिव्यक्त किया। लोक प्रचलित वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म जिसका सम्बन्ध नाथपंथी योगियों से भी निश्चित रूप से आता ही है उनके उपास्य न बन सके और न ही सगुण अवतारवाद संतों को प्रभावित कर सका। जिस बात का नाथपंथी योगियों में अभाव था वह था भक्ति की आत्मलीनता, नाथपंथियों के विवेक पक्ष ने उन्हें कहीं भी सामंजस्य के लिए स्थान नहीं छोड़ा। संतों ने उसी भक्ति को अपना आधार बनाया और आत्मविचार के माध्यम से ब्रह्म की साधना में लीन हो गये। निर्गुण सगुण से परे वह प्रेम साधना अपने मधुर रूप में अत्यन्त शक्तिशाली सिद्ध हुई। इस प्रेम साधना को संतों ने अनेक रूपों में प्रकट किया है।[1] यद्यपि यही स्वरूप परवर्ती सिद्धों की वानियों में भी उपलब्ध है पर संतों ने वेदान्त और भक्ति का जो समन्वय उपस्थित किया है वह उसकी अपनी विशेषता है। नाथपथी अभिव्यक्ति लोक जीवन को प्रभावित कर सकी किन्तु फिर भी उसे लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त न हो सकी, संत-काव्य जन-काव्य बनकर लोक मानस में प्रतिष्ठित हुआ। इसका मुख्य कारण वह मधुर भावना ही है जिससे अनेक प्रकार की अभिव्यक्ति मध्ययुग में मुखरित हुई। नाथपंथी साधना और संतों की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत अत्यन्त समीचीन प्रतीत होता है कि नाथ पंथ में कठोर ब्रह्मचर्य, वाक्‌संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, वाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आंतरिक शुद्धि और मद्य-मांसादि के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया गया है। हिन्दी में पाये जाने वाले पदों में यह स्वर बहुत स्पष्ट और बलशाली है। इस स्वर ने परवर्ती संतों के लिए आचरण शुद्धि प्रधान पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। संत साधकों को बहुत कुछ बनी बनायी भूमि मिली थी। इस मार्ग की सबसे बड़ी कमी इसकी शुष्कता और गृहस्थ के प्रति अनादर

---

१ **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४०।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भाव है । इस कमजोरी ने इस मार्ग को नीरस लोक विद्विष्ट और क्षयिष्णु बना दिया था ।[१] स्वामी रामानन्द के प्रयत्नों के फलस्वरूप संतों की वाणियों में इसके पूरक रूप में जिन भावनाओं का समावेश हुआ उसमें एक विशाल हृदयता एवं लोक धरातल की असीम सीमाओं का पूर्व आभास मिल जाता है । संत केवल 'निर्गुनिया' अथवा 'ज्ञानाश्रयी' साधकों की कोटि में ही नहीं सीमित किये जा सके बल्कि भक्ति का लोक आसन उन्हें प्राप्त हुआ । सम्भवतः यह उस युग का सबसे बड़ा प्राप्तव्य होगा ।

---

१ नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८७ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खण्ड २

समीक्षा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

४

संत-काव्य का सिद्धान्त पक्ष

संतों के समस्त तत्त्वदर्शन की मूलपीठिका का आधार वह आध्यात्मिक प्रेरणा है जिसका निरूपण विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न रूपों में भारत में होता रहा है। वस्तुतः संत-काव्य उन्हीं आध्यात्मिक प्रेरणाओं की अभिव्यक्त स्थिति है तथा उसका उद्देश्य एक ऐसे अलभ्य की प्राप्ति करना है जिसके विषय में केवल अनुभूति ही सबसे बड़ा प्रमाण है। तब संत-काव्य के सिद्धान्त पक्ष पर विचार करने के साथ ही यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि अनन्त लोक में बिखरे अनुभवों को सिद्धान्त की कोटि में किस प्रकार संजोया जाय। आध्यात्मपक्ष इन्द्रियातीत माना गया है। आध्यात्म के विषय हैं—ब्रह्म, जीव, जगत, सृष्टि और मोक्ष, माया और दुःख की निवृत्ति। इन विषयों की अनुभूति स्वयमेव ही मानी गयी है। प्रत्यक्ष के अनुभवों को प्रमाणित माना जा सकता है किन्तु अप्रत्यक्ष के अनुभवों को बाहरी युक्तियों से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। तर्क अथवा अनुमान के द्वारा इन्द्रियातीत पदार्थ का चिन्तन सम्भव नहीं है। वह तत्त्व अचिन्त्य बनकर सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त है। प्राचीनतम भारतीय शास्त्रों में इस बात को स्वीकार किया गया है कि आत्मज्ञान केवल तर्क से ही नहीं प्राप्त होता।[1] केवल भारत में ही नहीं, विश्व के अन्य क्षेत्रों के आध्यात्मचिन्तकों ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं।[2] आध्यात्म और अनुभूति दोनों का घनिष्ट

---

१ **मुडोष्याय उपनिषद**, ३/२।

२ **कबीर की विचारधारा**—डा० त्रिगुणायन, पृ० १९२।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सम्बन्ध है। केवल पुस्तकों के अध्ययन से आध्यात्मिक निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते, अनुभूति की सच्चाई ही उसका मापदण्ड है। संत कबीर ने एक स्थल पर प्रकट किया है, 'तू कहता कागद की लेखी मैं कहता आँखों की देखी'। संत-काव्य का सिद्धान्त पक्ष अनुभूतिप्रधान है।

अनुभूति की तीव्रता हमें संतों में दो रूपों में मिलती है। एक रूप भावात्मक है तथा दूसरा विचारात्मक। भावात्मक अनुभूति का स्रोत रहस्यभावना है तथा विचारात्मक अनुभूति चिन्तन एवं मनन प्रसूत है। भावात्मक सत्ता का सम्बन्ध जहाँ एक ओर प्रकृति में व्याप्त सौंदर्य बोध से है तो दूसरी ओर वह मानव के मनस्तत्त्व से ही उतने ही अंशों में सम्बद्ध है। सुख, दुख, करुणा, क्रोध, प्रेम और घृणा आदि मानव के शाश्वत विकार हैं, इनसे पृथक रहकर मानव मानव की संज्ञा से विभूषित नहीं किया जा सकता। काव्य अपने मूलरूप में इन्हीं रागविकारों की आनन्दपरक अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति जब विश्वात्मा के सान्निध्य के प्रति उन्मुख होती है तभी वह रहस्यात्मक हो जाती है। इन रहस्यमयी अभिव्यक्तियों को भी सहज स्वाभाविक रूप से प्रकट नहीं किया जा सकता, इस प्रकार प्रतीकों की सृष्टि होती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में पदार्पण करने वाले सभी कवियों को सांकेतिक भाषा की ही शरण लेनी पड़ती है[1] और रागविकारों के माध्यम से आध्यात्मिक सान्निध्य अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है, मानो वह एक व्यक्तिपरक अनुभूति की समष्टिपरक अभिव्यंजना हो। इस स्थिति में सिद्धान्त गौण एवं अनुभूति प्रमुख हो जाती है। फिर भी संतों ने अपनी अनुभूति को प्रकट करते समय आध्यात्मिक शब्दावली का विशेष अर्थों में प्रयोग किया है जिनके आधार पर संत-काव्य के सिद्धान्त पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आध्यात्मिक शब्दावली के प्रयोगों एवं लोक चिन्ता के सहज प्रवाह के फलस्वरूप संत-काव्य के सिद्धान्तों के विषय में विद्वानों के पृथक-पृथक अनुमान हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि संतों द्वारा प्रवर्तित सामान्य भक्ति मार्ग एकेश्वरवाद का अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था तो कभी पैगम्बरी खुदावाद की ओर।[2] अनुभूति की इस गत्यात्मकता को संतों में किस रूप में स्वीकार किया जाय यह भी एक प्रश्न ही है। इसी प्रकार सिद्धान्तों की परम्परा प्राप्त मान्यताओं के आधार पर विद्वानों ने संतों को अनेक दार्शनिक विचारधाराओं में बाँट दिया है,[3] जिसका औचित्य प्रतीत नहीं होता है। संत-काव्य के रचयिता प्रायः इन सभी साधुवृतिक व्यक्तियों ने दार्शनिक ग्रन्थों का अवलोकन कर क्रमबद्ध रीति से उसका अध्ययन कभी किया था इसका कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं है। अतएव संतों के दार्शनिक

---

१ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ३३६।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६६।

३ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ११४।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सिद्धान्तों का विवेचन करते समय किसी मत विशेष का आग्रह किया जाना उपयुक्त नहीं है। बहुश्रुत होने के नाते संतों के पास आध्यात्मिक चिन्ता के अनेक सूत्र अपने लौकिक रूप में उपलब्ध अवश्य थे, यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है। इसी आधार पर संत-काव्य के सिद्धान्त पक्ष पर हम आगे विचार करेंगे।

संत-काव्य के सिद्धान्त पक्ष को प्रभावित करने वाली दूसरी धारा है संतों के चिन्तन और मनन करने की वृति। भावात्मक अनुभूति से इसका क्षेत्र पृथक है। सुखवादी महायानी धर्मसाधना की प्रतिक्रिया में जिन विचारों को संतों ने खण्डन-मण्डन, तर्क और वितर्क के द्वारा स्वीकार किया उनमें भी लोक सामान्य सत्य की ही प्रधानता है। अपने सिद्धान्तों के प्रति अक्खड़ता तथा आत्मविश्वास की प्रधानता इसी का परिणाम है। संतों को यह विचार नाथपंथी योगियों से प्राप्त हुआ। यहाँ सिद्धान्त साधना की कसौटी पर कसकर प्रमाणित-अप्रमाणित सिद्ध किया जाने लगा। इस रूप में गलदश्रु भावुकता के लिए यह एक अंकुश सिद्ध हुआ। संतों के सिद्धान्त पक्ष के विवेचन में यह प्रवृति भी कम महत्त्व नहीं रखती है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि सत साधकों को बहुत कुछ बनी बनायी भूमि मिली थी। इस मार्ग की सबसे बड़ी कमी इसकी शुष्कता और गृहस्थ के प्रति अनादर का भाव है। इस कमजोरी ने इस मार्ग को नीरस, लोक विद्विष्ट और क्षयिष्णु बना दिया था। फिर भी इसका दृढ़ कंठस्वर उत्तर भारत के धार्मिक वातावरण को शुद्ध और उदात्त बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है। इस दृढ़ कंठस्वर ने यहाँ की धार्मिक साधना में कभी भी गलदश्रु भावुकता और ढुलमुलपन नहीं आने दिया। उत्तर भारत के साहित्य में भी इनके कारण दृढ़ता और आचरण शुद्धि भुलायी नहीं जा सकती।[1] संतों के सिद्धान्त शास्त्रों की मान-मर्यादा से आक्रांत नहीं हैं, उनमें स्वतन्त्रचेता विचारकों का प्राधान्य है, किन्तु यही बात सभी संतों पर घटित नहीं की जा सकती। जहाँ तक साम्प्रदायिक स्वरूप के लिए प्रतिबन्ध है वहीं तक संतों के सिद्धान्तों की स्वच्छन्दता और सच्चाई विश्वसनीय है इसके आगे संतों के सिद्धान्त पक्ष का क्षेत्र अत्यन्त सीमित एवं रूढ़िनिर्वाह करना ही हो गया है। वहाँ पर काव्य भी प्रायः न के बराबर है किन्तु साम्प्रदायिक धर्मसाधना के मध्य भी जिस वाणी ने लोक जीवन में विचारात्मकता प्रदान की तथा अंतरमन को परामात्म शक्ति में निमज्जित करने का बल दिया, वह सिद्धान्त भले न बन पाया हो पर सिद्धान्त उसको छोड़कर पृथक से कोई विचार नहीं है। संतों के सिद्धान्त अनुभवप्रसूत हैं। वह आध्यात्मिक अनुभूति अनिर्वचनीय है, वह गूँगे का स्वाद है जो केवल व्यंजित ही नहीं किया जा सकता है। कबीर ने मूलतत्त्व के सम्बन्ध में लिखा है :

---

1 **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अविगत अकल अनूपम देख्या, कहता कह्या न जाई।
सैन करै मनही मन रहसे गूंगे जानि मिठाई॥[१]

इसलिए यदि संतों के सिद्धान्तों के विवेचन में एक असामान्य स्थिति दिखाई भी देती हो तो भी वह सामान्य सिद्धान्तों के निष्कर्षस्वरूप ही है। इनके सिद्धान्त मूलरूप से सामान्वेषण की पद्धति का निर्वाह करते हुए प्रतीत होते हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इस पद्धति को व्याप्ति विधिपरक कहा है।[२] संत किसी सिद्धान्त को निभ्रांत रूप से मानकर नहीं चलते और न ही उसके आधारस्वरूप किसी आप्त वाक्य अथवा धर्म-पुस्तक की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। संतों की विचार पद्धति की भित्ति स्वानुभूति पर ही खड़ी है और इसी कारण वे जहाँ कहीं भी अवसर पाते हैं वहाँ निजी अनुभव के महत्त्व का गान करते नहीं अघाते और न कभी परावलम्बन द्वारा प्राप्त तथाकथित ज्ञान की निन्दा करने से चूकते हैं।[३] कबीर के शब्दों में इसका संकेत मिलता है—

करत विचार मन ही मन उपजी, ना कहीं गया न आया।

संतों को सिद्धान्त मण्डन के लिए कहीं भटकना न पड़ा। उन्होंने सारतत्त्व को ग्रहण कर सहज स्वाभाविक रीति से अभिव्यक्त कर दिया। जो अनुभव दूसरों के द्वारा किये जाते हैं उनका अनुकरण एक प्रकार का अन्धविश्वास ही कहा जायगा, इस अर्थ में संत अन्धविश्वासी नहीं हैं। वे विचार करते हैं और उसे अनुभव से पुष्टकर सिद्धान्त की भाँति उसका पालन करते हैं। दार्शनिक तत्त्ववेत्ताओं की भाँति संतों के चिन्तन की कोई विशेष पद्धति नहीं है। उसमें जिस शैली को अपनाया गया है वह भी लोकसम्मत स्वरूप में बहुत पहले से निर्गुण संतों के आविर्भाव के पूर्व ही वर्तमान थी जिसका विकास संत-काव्य में हुआ है। संतों का काव्य भी सिद्धान्तों के प्रतिपादन का एक साधन मात्र माना जा सकता है। ब्रह्म विचार[४] के लिए ही संतों ने गीत, पद, सबद एवं साखियों का सृजन किया है। जैसा कि पूर्व में ही प्रकट किया जा चुका है, तत्कालीन दार्शनिक प्रभावों के फलस्वरूप उस समय का धार्मिक वातावरण संतों के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में विशेष रूप से सहायक हुआ। वेदों एवं शास्त्रों की अवहेलना करने वाले नाथपंथी योगियों के सिद्धान्तों का लोक में सम्मान न हो सका। स्वामी रामानन्द के व्यक्तित्व से सम्बद्ध होकर उसका वेद विरोधी स्वर प्रायः समाप्त हो गया और वह भक्ति के सम्मिलन से जिस रूप में उद्भूत हुआ उसका दार्शनिक चिन्तन

---

१ **कबीर ग्रन्थावली**, पद ६, पृ० ९० ।

२ **उत्तरी भारत की संत परम्परा**, पृ० १८७ ।

३ **वही** (कबीर के सन्दर्भ में कथन), पृ० १८८ ।

४ **जिन जानो यह गीत है, यह है ब्रह्म विचार ।**—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८९ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जितना व्यापक और लोकसम्मत हो सकता है यह केवल अनुमान का ही विषय नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष रीति से वही संत-काव्य में बिखरा हुआ है। इस अध्याय में हम संत-काव्य के सिद्धान्त पक्ष का विवेचन करेंगे।

नाथ पंथ का तत्त्व चिन्तन तथा साधना पद्धति

संतों के सिद्धान्तों को नाथपंथी योगियों ने अनेक रूपों में प्रभावित किया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि युक्त प्रान्त और मध्यप्रदेश के उन भागों में जहाँ की भाषा हिन्दी है, वैष्णव मतवाद के प्रचार के पूर्व सर्वाधिक प्रचलित मतवाद शैव धर्म था पर साधारण जनता चमत्कारों पर अधिक विश्वास करती है और इन योगियों के चमत्कारों की बड़ी ख्याति थी। सूरदास ने अपने भ्रमर गीत के प्रसंग में इस योगमार्ग की विकटता का प्रदर्शन करके वैष्णव धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है पर कबीर आदि ने इनकी सम्पूर्ण पद्धति स्वीकार करके फिर रूपक द्वारा अपनी बात को इसी पद्धति के बल पर प्रतिष्ठित करने का मार्ग अवलम्बन किया है।[1] भक्ति काव्य में इस पंथ के अनेक सिद्धान्तों का समावेश हुआ है। शब्द-योजना ही नहीं अपितु सिद्धान्त निरूपण में भी कहीं खण्डन और कहीं मण्डन दोनों रूप में नाथपंथी सिद्धान्तों और साधना पद्धतियों का प्रभाव निश्चित है। नाथ पंथ के सिद्धान्तों का विस्तृत परिचय दिया जा चुका है। संक्षेप में संत-काव्य को प्रभावित करने वाले सिद्धान्तों पर यहाँ विचार कर लेना अभीष्ट होगा। एक बात जो यहाँ विशेष दृष्टव्य है वह यह कि गोरखनाथ द्वारा विरचित ग्रन्थों में प्रायः सभी ग्रन्थ साधना ग्रन्थ हैं। सिद्धान्त निरूपण के लिए जो भी सामग्री उपलब्ध है उसमें विभिन्न बातों का समावेश हो गया है। फिर भी लोक चिन्ता के माध्यम से जिन्होंने मध्ययुगीन काव्य साधना को प्रभावित किया है उनके उसी रूप पर यहाँ विचार करना है।

नाथ पंथ के सिद्धान्तानुसार महाकुण्डलिनी नामक एक शक्ति है जो सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त है। व्यष्टि (व्यक्ति) में व्यक्त होने पर इसी शक्ति को कुण्डलिनी कहते हैं।[2] प्रलयकाल में शिव कार्य-कारण विरत हो जाते हैं तब उन्हें स्वयं कहकर शास्त्रकारों ने स्मरण किया है। स्वयं शिव को जब सृष्टि करने की इच्छा (सिसृक्षा) होती है तब परम शिव से एक ही साथ दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं—शिव और शक्ति। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं में निकलती हुई सृष्टि क्रम को अग्रसर करने के लिए स्थूलता की ओर अग्रसर होती है। इस पंचम शक्ति को कुण्डलिनी कहा गया है। इस शरीर में सबसे प्रधान कार्य करने वाली शक्ति कुण्डलिनी ही है। यह विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त महाकुण्डलिनी का ही पिण्डगतस्वरूप है।[3] गोरखनाथ के मतानुसार पिण्ड मानो ब्रह्माण्ड

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६२।

२ वही, पृ० ६३।

३ नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११०।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

का संक्षिप्त संस्करण है अतएव जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है वह सभी पिण्ड में है।[१] अपनी मूलचिन्ता में नाथ पंथ अद्वैतवादी है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि गुरु गोरखनाथ के दार्शनिक सिद्धान्त वेदान्तपरक जान पड़ते हैं और इनकी योग-सम्बन्धी रचनाओं के अन्तर्गत भी अद्वैत सिद्धान्त का ही प्रतिपादन लक्षित होता है।[२] गोरखनाथ के आविर्भाव के पूर्व ही स्वामी शंकराचार्य का वेदान्तदर्शन लोक में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुका था। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि वज्रयानी लोक विरोधी आचारों एवं चिन्ताओं की प्रतिक्रिया इस देश में हुई हो। गोरखनाथ ने भी योगमार्ग को अपनी साधना का लक्ष्य बनाकर अपने चिन्तन में शून्य को नैरात्म्य संज्ञा से विहित कर विश्वात्म संज्ञा से विभूषित किया जो स्पष्टतः स्वामी शंकराचार्य के मत का प्रभाव है। फिर भी नाथपंथी अपने को शांकर वेदान्त से पृथक बताने के लिए 'द्वैताद्वैत विलक्षणवादी' कहते हैं।[3] उनके मतानुसार नाथतत्त्व द्वैत और अद्वैत दोनों से परे है। आद्य या प्रथम कहने से वह संख्या द्वारा सूचित किया जाता है और संख्या भी एक उपाधि है इसलिए परतत्त्व को एक संख्या द्वारा भी सूचित नहीं किया जा सकता। वह उससे भी अतीत अखण्ड ज्ञान रूपी निरञ्जन है—शून्य है।[४] शून्य की तत्त्व मीमांसा को लक्ष्य कर कुछ विद्वानों का मत है कि नाथपंथी सिद्धान्त पक्ष अपने मूल रूप में बौद्ध सिद्धान्त के शून्यवाद की ही नाथपंथी अभिव्यक्ति है, इसलिए नाथ पंथ अद्वैतवादी नहीं हो सकता है। गोरखनाथ तक आते-आते भारतीय दर्शन में शून्य को जो स्थान प्राप्त था और उसकी जो स्थिति बन गयी थी उसके अनुसार गोरखनाथ द्वारा ग्राह्य शून्यवाद का सम्बन्ध वज्रयानी साधना से न होकर वेदान्त दर्शन से था, इसमें दो मत नहीं हो सकते। गोरखनाथ के मतानुसार परमतत्त्व तक किसी की पहुँच नहीं है। वह नाम और रूप दोनों उपाधियों से परे है, जरामरण से दूर, काल से अस्पष्ट सतत बालस्वरूप ब्रह्म ही उनका साध्य है, शून्य स्थिति उनका लक्ष्य नहीं। गोरखनाथ की एक सबदी इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है—

> **बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती, अगम अगोचर ऐसा।**
> **गगन सिषर महिं बालक बोले ताका नांव धरहुगे कैसा॥[५]**

और भी अक्षय परब्रह्म यहीं है, ब्रह्म का ही व्यक्त स्वरूप यह ब्रह्माण्ड है, उसकी यह अद्वैत स्थिति साधना का विषय है—

---

१ **ब्रह्माण्डवर्तियत् किञ्चित् तत् पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा**—सि० सि० सं० ३/२।

२ **उत्तरी भारत की संत परम्परा**, पृ० ६१।

3 **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १११।

४ **वही**, पृ० १११।

५ **गोरखवानी**, सबदी १, पृ० १।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इहां ही आछै, इहां ही अलोप । इहां ही रचिले तीनि त्रिलोक ॥
आछै संगे रहै तूवा । ता कारणि अनन्त सिद्ध जोगेश्वर हुआ ॥
अलष बिनांणी दोई दीपक, रचलै तीन भवन इक जोती ।
तास विचारत त्रिभुवन सूझै, चुणिल्यौ माणिक मोती ॥[1]

यद्यपि नाथपंथी साहित्य में मूलरूप से साधना मार्ग की ही व्याख्या की गयी है तथापि कहीं-कहीं तत्त्वदर्शन भी उपलब्ध हो जाता है। धार्मिक संक्रमण के उस युग में गोरखनाथ की वाणी का मूलस्वर ब्रह्मवादी ही माना जा सकता है जिसकी पृष्ठभूमि का दार्शनिक आधार स्वामी शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त है। किन्तु जिन प्रतीकों को लेकर शांकर अद्वैत मत बौद्ध धर्म के विरोध में उठ खड़ा हुआ था उन प्रतीकों पर बौद्ध चिन्ता की छाप स्पष्ट है। लोक जीवन में इसकी प्रतिक्रिया बड़े स्वाभाविक ढंग से हुई प्रतीत होती है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस विषय की अनेक सम्भावनाओं पर प्रकाश डालते हुए एक स्थल पर लिखा है—बौद्ध धर्म का इस देश से जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण शंकर, कुमारिल और उदयन आदि वेदान्तिक और मीमांसा के आचार्य माने जाते हैं। इस कथन को ऐतिहासिक दृष्टि से असत्य सिद्ध किया जा सकता है, लोगों ने ऐसा करने की चेष्टा भी की है पर इसका अन्तर्निहित अर्थ एकदम सत्य है। ये आचार्यगण दार्शनिक पण्डित थे, इनकी प्रतिभा और विद्वत्ता अनुपम थी। इसलिए इनके द्वारा बौद्ध धर्म के निर्वासन और निरसव का यही अर्थ हो सकता है कि बुद्धिजीवियों और ऊपरले स्तर के लोगों के मन पर से बौद्ध धर्म के दार्शनिक युक्तिजाल की आस्था उठ गयी थी।[2] मंतव्य यह कि जब गोरखनाथ के दो शताब्दी पूर्व स्वामी शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की थी तब निश्चित रूप से नाथपंथी चिन्तन की दार्शनिकता की दृष्टि वज्रयानी दार्शनिक दृष्टि का विस्तार मात्र नहीं हो सकती है, यद्यपि कुछ विद्वानों ने संतों एवं नाथ सिद्धों की वाणियों में प्रयुक्त शून्य आदि को लेकर उसका सम्बन्ध बौद्ध शून्यवाद से जोड़ने का प्रयत्न किया है।[3] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने भी अपने 'दादू' नामक ग्रन्थ में शून्यवाद का विस्तृत परिचय दिया है किन्तु यह तो स्पष्ट है कि अलग-अलग पंथों में शून्य की स्थिति भी अलग-अलग ही व्यक्त हुई है। गोरखनाथ के तत्त्व चिन्तन में शून्य ईश्वर की भावना का प्रतीक है। केवल शून्य ही नहीं अपितु 'विनाणी' भी अलक्ष्य परब्रह्म है।[4] योग साधना की प्रधानता के कारण यह ब्रह्म वाणी शून्य शून्य द्वार के रूप में भी गोरखवानी में प्रयुक्त हुआ मिलता है।[5]

---

१ **गोरखवानी**, सबदी ३,५, पृ० २।
२ **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५।
३ **नाथ पंथ में ईश्वर की भावना शून्यवाद में है जो सम्भवतः वज्रयान से ली गयी है।** डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १०८।
४ **गोरखवानी**, नोट ४, पृ० ३।
५ **वही**, पृ० ६०,१७६।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वेदान्त के अनुसार ब्रह्म की एक शक्ति स्वीकार की गयी है, वह शक्ति माया है, चिद्रूपब्रह्म की शक्ति माया को वेदान्त में जड़ रूप माना गया है। शाक्त आगमों में यह तथ्य स्वीकार नहीं किया गया। चेतन ब्रह्म की शक्ति को नाथ पंथ में चेतन ही स्वीकार किया गया है, इसकी उपासना का प्रधान साधन नाथ पंथ में पिण्ड ही माना गया है। वैसे तो सभी प्राणी और अप्राणी शक्ति के आवास हैं किन्तु केवल शक्ति का संचालन ही लक्ष्य नहीं है, लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्य रूप सहज समाधि।[1] इस प्रकार शैवमत के अद्वैत दर्शन का नाथ पंथ की तत्त्व चिन्ता पर पूरा प्रभाव है। केवल शैव दर्शन ही नहीं किन्तु शाक्त तन्त्रों का भी युगीन प्रभाव स्पष्ट है। भारतीय अद्वैत वेदान्त के प्रबल प्रचारक स्वामी शंकराचार्य की कुछ रचनाओं को भी 'श्री विद्या' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ माना गया है।[2] ऐसी स्थिति में नाथ पंथ का तत्त्वदर्शन अद्वैत वेदान्त की जीव और ब्रह्म की अद्वय स्थिति का समर्थक है, तथा केवल यहीं तक इस पंथ में साधक का लक्ष्य निहित नहीं है किन्तु इसकी पूर्ति हेतु ही मानो काया साधना और योग की क्रियाएँ हैं। कालान्तर में मूल लक्ष्य के स्थान पर नाथ पंथ में केवल साधना का एकाकी स्थान प्रबल हो गया, सम्भवतः इसका कारण था बौद्ध साधना का सुखवादी और भोग-विलासवादी अश्लील दार्शनिक दृष्टिकोण जिसकी प्रतिक्रिया के ही कारण नाथ पंथ एक साधना पंथ के रूप में प्रचारित हुआ, दार्शनिक मतवाद के रूप में नहीं। किन्तु यह तो मानना पड़ता है कि जिस साधना का लोकव्यापी प्रभाव था वह अपने मूल तत्त्वचिन्ता में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा तथा उसे आचार्यों का मार्गदर्शन अवश्य ही प्राप्त हुआ होगा।

साधना

गोरखनाथ का कथन है कि जो योगसिद्ध का साधक काया से परिचित नहीं है, उससे योग की सिद्धि की क्या आशा हो सकती है।[3] अतएव नाथ पंथ की साधना का लक्ष्य है मुक्ति और वह मुक्ति, कुण्डलिनी उद्बोध के द्वारा प्राप्त होती है। उसके लिए बिन्दु, वायु और मन का अचंचल और स्वाधीन होना ही साधक का लक्ष्य है। हठात् ही मुक्तिद्वार खुल जाने के कारण गोरखनाथ की साधना को हठयोग की साधना कहा गया है। नाथपंथी साधना पद्धति पर पूर्व में ही विस्तार से चर्चा की जा चुकी है, यहाँ केवल यही दृष्टव्य है कि वस्तुतः जिस साधना पद्धति ने हिन्दी के मध्ययुगीन भक्ति काव्य को प्रभावित किया उसका स्वरूप क्या था। नाथ पंथ योगमार्ग ही है। योग इस देश की प्राचीन विधा माना गया है, नाथ पंथ में प्रचलित हठयोग साधना मूलरूप में प्राण वायु के निरोध की साधना है। पातंजल योग अपने चारों चरणों में

---

[1] नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११२।
[2] डा० बलदेव उपाध्याय।
[3] नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विभक्त होकर योगांगों का उपदेश विवेकख्याति के हेतु प्रदान करता है। कालान्तर में यही साधना हठयोग के रूप में गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रचारित हुई। पातंजलयोग की तत्त्व मीमांसा को यदि सांख्य की ही तत्त्वमीमांसा कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर में मन लगाना योग का लक्ष्य है, सांख्यदर्शन इस सम्बन्ध में अनीश्वरवादी है। नाथपंथी साधना के स्वरूप निर्धारण में उपर्युक्त कथन पृष्ठभूमि के रूप में विद्वानों ने स्वीकार किया है।

पहले लिखा जा चुका है कि जो कुछ ब्रह्मांड में है वही पिण्ड में है। पिण्ड में जो परम शक्तिशाली वस्तुएँ हैं वे हैं बिन्दु, प्राण तथा मन। इन तीनों में से यदि एक की साधना भी साधक कर लेता है तो शेष अपने आप स्थिर हो जाती हैं। बिन्दु अर्थात वीर्य की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य और प्राणायाम आवश्यक है किन्तु यह कार्य भी बिना काया में परिव्याप्त नाड़ियों की शुद्धि के सम्भव नहीं है। नाथ पंथ में शुद्धि की क्रियाओं को षटकर्म कहा गया है। वे हैं—धोति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति।[1] नाड़ी शुद्धि होने के बाद प्राणादि वायुओं का शमन हो जाता है। नाड़ियों को दो भागों में बाँटा गया है—एक भाग सूर्य का अंग माना गया है और दूसरा चन्द्रमा का। इड़ा और पिंगला जिन्हें सूर्यांग और चन्द्रांग कहा गया है। उसके मध्य सुषुम्ना है। जब नाना भाँति के अभ्यास से योगी चन्द्र और सूर्य मार्गों को बन्द कर देता है तब उनमें बहने वाली वायु शक्ति संयमित होकर योनिकंद के मूल में स्थित सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्मनाड़ी के मुख को खुला पाकर उस मार्ग से ऊपर उठती है तो वस्तुतः कुण्डलिनी ही ऊर्ध्व मुख होती है।[2]

इस प्रकार प्राण वायु का निरोध करने पर कुण्डलिनी उदबुद्ध होती है और (१) मूलाधार, (२) स्वाधिष्ठान, (३) मणिपुर, (४) अनाहत, (५) विशुद्धाख्य, तथा (६) आज्ञा इन षटचक्रों को भेदकर सहस्त्रार में कुण्डलिनी को पहुँचा देना योगी का लक्ष्य हो जाता है। यही इस पिण्ड का कैलाश है, यही शिव का निवास है। इस प्रकार कष्ट साध्य साधना का यह मार्ग मूलरूप से शरीर के शोधन का मार्ग है। जब तक शरीर को कष्ट न दिया जायगा तथा संसार छोड़कर एकान्त साधना न की जायगी तब तक मुक्ति केवल भ्रम है। मुक्ति का दान वही कर सकता है जो स्वयं मुक्त हो, नाथ ही केवल मुक्तिदाता हैं। संसार के रूप, रस, स्पर्श, गंध तथा शब्द से तभी मुक्ति मिल सकती है जब वैराग्य की भावना हो तथा गुरु का आश्रय। बिना गुरु के नाथपंथी साधना सम्भव नहीं है। गुरु का बताया हुआ मार्ग षंग से भी तीक्ष्ण और कठिन है।

अभरा था ते सुभर भरिया, नीझर झरता रहिया।
षांडे थे पुरसाड़ दुहेला, यूं सतगुरु मारग कहिया।।[3]

---

१ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १२५।

२ **वही**, पृ० १२६।

३ **गोरखवानी**, पृ० ६१, ६२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गुरु मन्त्र से परिचित हो जाने पर हठयोग की सिद्धि हो जाती है, आत्मा और परमात्मा का अभेद सिद्ध हो जाता है।

नाथपंथी साधना के सम्बन्ध में कुण्डलिनी की चर्चा अधिकांश ग्रन्थों में है यद्यपि कभी-कभी साधना ग्रन्थों से कुण्डलिनी योग तथा हठयोग को भिन्न माना गया है तथापि नाथपंथी साधना का लोक परिचित रूप कुन्डलिनी योग के परिचय बिना पूर्व नहीं माना जा सकता। कुण्डलिनी और प्राण शक्ति को लेकर जीव मातृकक्ष में प्रवेश करता है। सभी जीव साधारणतया तीन अवस्था में रहते हैं—जागृत, सुषुप्ति और स्वप्न। अर्थात् या तो वे जागते रहते हैं या सोते रहते हैं या सपना देखते रहते हैं।[1] कुण्डलिनी तीनों अवस्थाओं में निश्चेष्ट रहती है। प्राणशक्ति के संयोग से कुण्डलिनी के द्वारा शरीर धारण का कार्य होता है, नाथपंथी साधना में काया की साधना को इसीलिए इतना महत्त्व प्रदान किया प्रतीत होता है। सम्पूर्ण काया अनेक चक्रों में बाँटी गयी है जिसकी चर्चा विस्तार से की जा चुकी है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नाथपंथी साधना की चर्चा करते हुए एक स्थल पर प्रकट किया है कि इन चक्रों के भेद करने के बाद मस्तक में शून्य चक्र मिलता है जहाँ जीवात्मा को पहुँचा देना योगी का चरम लक्ष्य है। इस स्थान पर जिस कमल की कल्पना की गयी है उसमें सहस्रदल हैं। इसीलिए इसे सहस्रार चक्र भी कहते हैं। शून्य चक्र ही गगनमण्डल है, यही कैलाश है।[2] नाथपंथी धारणा के अनुसार सहस्रार में स्थित गगनमण्डल में औंधे मुँह का अमृत कुण्ड है। यही चन्द्रतत्त्व भी है। इसमें से निरन्तर अमृत झरता रहता है। जो इस अमृत का उपयोग कर लेता है वह अजरामर हो जाता है।[3] यह साधना बिना गुरु के प्राप्त नहीं हो सकती। नाथपंथी साहित्य में प्रचलित एक सबदी इस प्रकार है :

गगन मण्डल में औंधा कुंआ तहं अमृत का वासा।
सगुरा होय से झरझर पिया निगुरा जाहि पियासा ॥[4]

यद्यपि नाथपंथी साधना गुरु मन्त्र प्रधान साधना विद्वानों द्वारा मानी गयी है फिर भी साधक जब तक काया शोधन नहीं कर लेता तब तक इस साधना का अधिकारी नहीं हो सकता। काया साधना से ही मुक्ति का बोध अनेक नाथपंथी साधकों ने मान लिया इसीलिए नाथपंथी साधना के साहित्य में षटकर्म, आसन, मुद्रा, प्राणायाम, ध्यान और समाधि की विस्तृत चर्चा है। आसनों में सिद्धासम, मुद्राओं में खेचरी

---

१ **कबीर**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४४।
२ **वही**, पृ० ४४।
३ **कबीर की विचारधारा**—डा० त्रिगुणायन, द्वितीय संस्करण, पृ० १४३।
४ **गोरखवानी**।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मुद्रा, प्राणायाम में केवल्य ।[1] प्राणायाम और समाधियों में नाद समाधि साधक का हेतु है ।[2]

हठयोग में समाधि के वाचक अनेक शब्द हैं, जिनका प्रयोग नाथपन्थी साधकों ने रचनाओं में किया है। उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्त्व, शून्य, अशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवनमुक्त सहजा, तुर्या। समाधि की अवस्था में ही इंद्रिय, मन और प्राण एकीभूत हो जाते हैं। आत्मा को शून्य में और शून्य में आत्मा को करके योगी अपना चरम प्राप्त कर लेता है। डा० रामकुमार वर्मा ने नाथ पंथ की साधना पद्धति के सम्बन्ध में निम्नलिखित रेखाचित्र अपने हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में दिया है जिससे नाथपंथी साधना का वाह्य स्वरूप सामने आ जाता है :

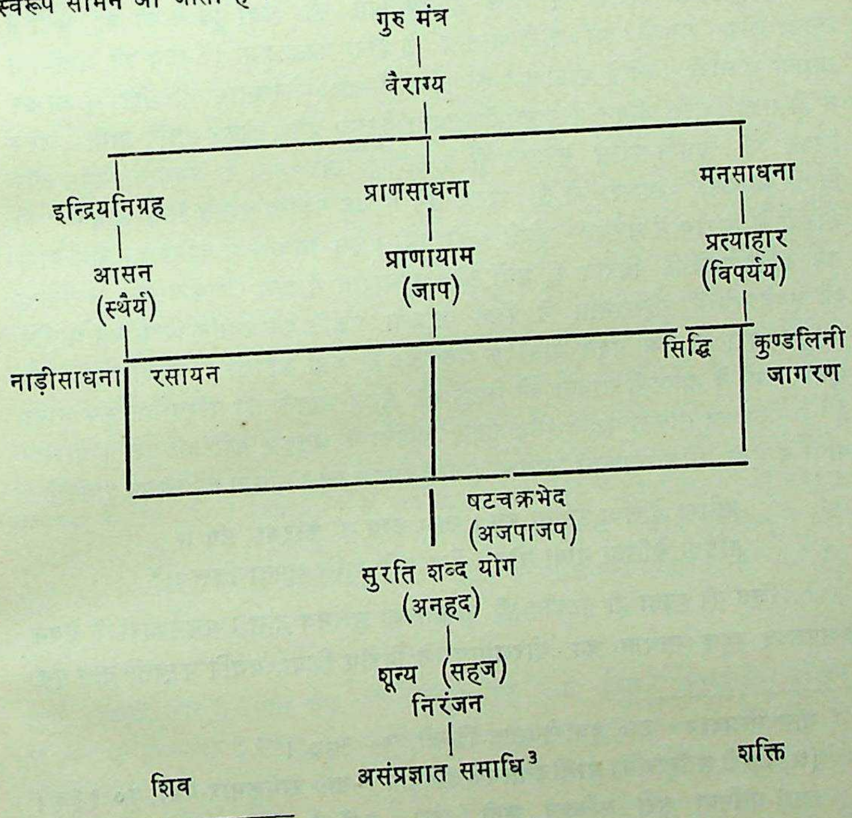

---

१ कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४८ ।

२ नासनं सिद्ध सदृशं न कम्भं केवलोपमः
न खेचरी सवा मुद्रा न नाद सदृशो लयः

३ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास— डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ११५ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उक्त विवेचन से यह तथ्य प्रकट है कि नाथपंथी साधना पद्धति का स्वरूप केवल शास्त्र-प्रधान ही नहीं है, परिस्थितियों के परिणामस्वरूप उसमें एक नैतिक स्वर का प्रबल प्रभाव स्पष्ट है। इन्द्रिय, प्राण और मन की साधना तभी तक नाथ पंथ में ग्राह्य है जब तक योगी नैतिक आचरण और कठोर संयम का पालन करता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नाथ पंथ में नैतिक आग्रह की चर्चा करते हुए लिखा है कि इस मार्ग में कठोर ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आंतरिक शुद्धि और मद्यमांसादि के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया गया है। हिन्दी में पाये जाने वाले पदों में यह स्वर बहुत स्पष्ट और बलशाली है।[1]

नाथपंथी साधना में जिस इन्द्रियनिग्रह की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है उसका लोक प्रभावी रूप नारी भर्त्सना के द्वारा प्रकट हुआ।[2] योग की वज्रयानी साधना में नारी संसर्ग ने वामाचार की सृष्टि थी वह गोरखनाथ की दृष्टि से ओझल न हो सकी। लोक जीवन में नाथपंथी साधना वैराग्य प्रवण होकर सामने आयी। तत्त्व चिंतन की लुभाने वाली काव्यावली से उठकर गोरखनाथ के अनुयायी संयम और नियम की कठोर साधना को ही मानने लगे। यह साधना पद्धति सिद्ध सम्प्रदाय की रूढ़ियों के विरोध में बलवती होती चली गयी। इस साधना में काया को तीर्थ माना गया। पाखण्डों के विरोध में, मंत्रों की निस्सारता में तथा आचरणहीन व्यक्तित्व की अवहेलना में गोरखनाथ ने जिस साधना पद्धति का प्रवर्तन किया वह प्राचीन योगिपरम्परा का एक प्रबल सामयिक विस्फोट ही कहा जायगा। यद्यपि डा० रामकुमार वर्मा ने नाथपंथी साधना को सिद्धों की सहज भावना का परिवर्द्धित रूप माना है[3] तथापि यह साधना पद्धति सिद्ध सहज भावना के अनुकूल नहीं बन पड़ी। गोरखवानी में ऐसी अनेक सबदियाँ उपलब्ध होती हैं जिनमें सहज साधना का स्वरूप प्रधान है :

हसिबा षेलिबा रहिबा रंग। काम क्रोध न करिबा संग॥
हसिबा खेलिबा गावा गीत। दिढ़ करि राखि अपना चित्त॥[4]

चित की दृढ़ता ही हठयोग की साधना का मूलमंत्र बना। पंचमकारों के सेवन से उपलब्ध सहज साधना का गोरखनाथ ने विरोध किया, यद्यपि परवर्ती नाथ पंथ

---

[1] **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८७।

[2] (अ) **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ११३।
(आ) **योगिया सूत्ते अजिहुन जागे। योग नहीं रे रोग अभागे॥**
गोगिया का मन भोग हमारा। मन इस नारी किया तन धारा॥
—गोरखवानी, पृ० १३८।

[3] **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ११७।

[4] **गोरखवानी**, पृ० ३।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उससे अछूता न रह सका फिर भी नाथपंथी साधना उसके प्रवर्तक के मतानुसार सहज साधना ही थी, यदि यह सहजानुभूति काया प्रधान मानी जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। योगी के लिए आचरण प्रधान साधना का निम्नलिखित उपदेश तत्कालीन प्रभाव एवं संयत परिचय दे सकता है :

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा, धीरे धरिबा पाँव ।
गरब न करिबा सहजै रहिबा मंणत गोरख रांव ॥[१]

तत्त्वचिन्तन की गूढ़ सहजभावना और लोकप्रचलित सरल और स्वाभाविक साधना में अन्तर है। साधना का यह स्वरूप शास्त्रीय एवं तर्क प्रधान शैली से अनुभव प्रधान होता चला गया। संत साहित्य इसी साधना का एक नया मोड़ माना जा सकता है।

नाथपंथी साधना जटिल कर्म पद्धति का आश्रय लेकर इस युग में प्रभावशाली सिद्ध हुई थी किन्तु आगे चलकर उसमें अनेक सिद्धियों का समावेश हो गया।[२] वे सिद्धियाँ केवल सद्गुरु की कृपा से उपलब्ध हो सकती थीं। 'गुरुमहिमा' की अधिकता के कारण तत्कालीन लोक जीवन में शास्त्रपरक कर्मकाण्ड की अवहेलना हुई। मध्य युग की इन परिस्थितियों के फलस्वरूप कठोर गुह्य और आनन्दकारी साधनामार्ग भी लोक में भय और संशय की दृष्टि से देखे जाने लगे। यह घात-प्रतिघात लोक चिन्ता के स्थित सापेक्ष्य परिणाम माने जा सकते हैं। जिस नाथपंथी साधना ने बौद्ध सिद्ध साधना के प्रति जनमानस में हेय भावना उत्पन्न की थी वही साधना अपनी कठोर एवं असामाजिक प्रवृत्ति के कारण सामान्य जीवन का केन्द्रबिन्दु न बन सकी। नाथ पंथ में अन्तर्मुक्त अनेक साधनाओं के सम्मिश्रण के फलस्वरूप योगियों के सम्बन्ध में अद्भुत और आश्चर्यजनक करामातों की कहानी प्रचलित हो गयी।[३] हठयोग और तन्त्रवाद के उस युग में गुरुवाद विकृत रूप धारण कर सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गया। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि जबकि हठयोग की पद्धति क्रियाबहुल रही होगी उस समय इस पद्धति का साधक विरल होना नितान्त स्वाभाविक है, पर जब गुरु की कृपा पर सब कुछ निर्भर किया जाने लगा होगा तो स्वभावतः ही अधिकाधिक लोग सद्गुरु की खोज में ही लगे रहे होंगे।[४] फलतः नाथपंथी साधना कालान्तर में काया साधना और गुरु कृपा तक ही सीमित रह गयी जिसमें कुण्डलिनी उत्थान प्रक्रिया की प्रधानता है किन्तु युग संक्रमण की परिस्थिति में नाथपंथी साधना का केवल यही रूप ही लोक जीवन में व्याप्त नहीं हुआ, रूढ़ियों के प्रति उपेक्षा,

---

१ **गोरखबानी**, पृ० ११।
२ **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६५।
३ **वही**, पृ० ६१।
४ **वही**, पृ० ६६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिथ्याडम्बरों की भर्त्सना, आचरण की कठोरता, आहार की शुद्धता और कष्टपूर्ण जीवन के प्रति अमनस्क भाव की सृष्टि इस साधना के माध्यम से लोक जीवन में व्याप्त हुई।[1] नाथपंथी साधकों का जो विवरण विद्वानों ने दिया है[2] उसमें मिश्रित परिणामों की स्थिति का आभास होता है। कालान्तर में इस साधना का परिचय नाथपंथी साधक के वेष में परिवर्तित हो गया। नाथपंथी साधक मेखला, सृंगी, सेली, गूदर्री, खप्पर, कर्ण, मुद्रा, वघंबर, झोला आदि चिन्ह धारण कर अपनी साधना को प्रकट करने के वाह्य उपकरणों से पूर्णतया सम्बद्ध हो गये। साधना के प्रति गुह्य और आतंककारी भाव की लोक जीवन में सृष्टि हुई। फलस्वरूप, गोरखनाथ के समान महिमामय व्यक्तित्व की साधनाप्रवण देशव्यापी चेतना वाह्य आडम्वर और जादू टोना में परिवर्तित हो गयी।[3] नाथपंथी साधना का यह रूप सम्भवतः इसलिए भी हुआ कि इस पंथ में स्मार्त साधना अथवा आचारों को कोई महत्त्व नहीं दिया गया तथा नाथपंथी साधना अपने जिस रूप में भी वर्तमान थी वह स्मार्त हिन्दू धर्म में न खप सकी।[4]

नाथपंथी साधना की संक्षिप्त समीक्षा के आधार पर हमारा यह अनुमान है कि नाथपंथी तत्त्वचिन्तन की अद्वैत अनुभूति और साधना के रूप में प्रचलित काया शोधन का आग्रह अपने किसी न किसी रूप में साधना मार्गों में बना ही रहा। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि गुरु गोरखनाथ का अधिक ध्यान काया शोधन की ओर ही था, जो कतिपय आसनों व एक संयत जीवन का भी परिणाम हो सकता है और इनकी योग साधना की प्रणाली में अधिकतर उन्हीं बातों का समावेश था जो सहजयोग में पायी जाती हैं।'[5] संतों में प्रायः इन सभी साधनाओं का कुछ न कुछ स्वरूप मिल ही जाता है यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता है कि संत-काव्य नाथ-पंथी साधना का ही पूर्णतया अनुवर्ती है। डा० बड़थ्वाल भक्ति धारा के जल को पहले योग के ही घाट में बहा हुआ मानते हैं[6] किन्तु डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि संतों के पारिभाषिक शब्द, उनकी रूढ़िविरोधिता, उनकी खण्डनात्मक वृत्ति और उनकी अक्खड़ता आदि उनके पूर्ववर्ती साधकों की देन है परन्तु उनमें की आत्मा उनकी अपनी है, उसमें भक्ति का रस है और वेदान्त का ज्ञान है।[7] संत-काव्य पर नाथ पंथ के

---

१ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, १८३।

२ **वही**, पृ० १६।

३ **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १४।

४ **कबीर**—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ४०।

५ **उत्तरी भारत की संत परम्परा**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५८।

६ **योग प्रवाह**—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ७७।

७ **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४३।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रभाव की समीक्षा हेतु यह आवश्यक है कि संत-काव्य के तत्त्वचिन्तन पर विचार कर लिया जाय।

संतों का तत्त्वचिन्तन

इस विषय पर पूर्व में विचार हो चुका है कि संतों का तत्त्वचिन्तन अनुभूति प्रधान है। भारत में आध्यात्म सम्बन्धी अनुभवों की प्राचीनता विश्वमान्य है। आध्यात्म के अन्तर्गत ब्रह्म, जीव, जगत आदि विषयों की चर्चा मिलती है। आध्यात्म का विषय स्वसंवेद्य हैं। इन्द्रियातीत पदार्थ का ज्ञान तर्क द्वारा नहीं किया जा सकता। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर इसका स्पष्ट निर्देश है।[१] संतों ने जिस तत्त्वचिन्तन को अपनी वाणियों में समय-समय पर प्रकट किया है उसकी उद्‌भावना आकस्मिक नहीं मानी जा सकती। यह चिन्तन सबसे पहले संतों द्वारा ही प्रस्तुत हुआ यह मानने के लिए भी हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। विविध प्रतीकों के माध्यम से ब्रह्मचिन्तन का जो रूप संतों में उपलब्ध है उसका सम्बन्ध भारतीय चिन्तन धारा से अत्यन्त प्राचीन काल से है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि ब्रह्म चिन्तन की धारा वेदों से निकली और उपनिषदों एवं परवर्तीयुगों के तट का स्पर्श करती हुई जैन और बौद्ध काल में विस्तृत होती हुई चौदहवीं शताब्दी में इन संतों के ज्ञान क्षेत्र में सिमट गयी।[२] अनेक विद्वान उपनिषदों के तत्त्वचिन्तन और संतों के आध्यात्म सम्बन्धी विचारों में आश्चर्यजनक साम्य देखकर एक लम्बी परम्परा का संकेत करते हैं।[3] किन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि कबीर आदि संतों ने आध्यात्म सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन दार्शनिक निरूपण के रूप में नहीं किया है। उन्होंने कबीर साहित्य की परख में एक स्थल पर कबीर साहब के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए लिखा है कि यह अनुमान करना कि उन्होंने शंकराद्वैत वेदान्त की बातें बतायी हैं अथवा रामानुजीय मत का अनुसरण किया है और उनकी ऐसी उक्तियों को एकत्र कर उनके आधार पर औपनिषदिक विचारधारा के साथ संगति बिठाना भी उचित नहीं।[४] मंतव्य यह है कि संतों के तत्त्वचिन्तन के मूल स्रोतों के सम्बन्ध में किसी एक निश्चित मान्यता को आधार नहीं माना जा सकता। किन्तु विद्वानों की विभिन्न स्थापनाओं में यह संकेत अवश्य उपलब्ध है कि संतों के आध्यात्मिक विचार मानव आत्मा के शास्वत विचार हैं तथा उनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में विश्व में शताब्दियों से व्याप्त रहा है। उनमें विभिन्नता हो सकती है किन्तु उनकी एकसूत्रता आश्चर्यजनक और उनकी पहुँच सर्वसुलभ

---

१ मु० ३/२/३ कठ २/८/९।

२ **निर्गुण काव्य दर्शन**—श्री सिद्धनाथ तिवारी, पृ० ११।

३ **निर्गुण संतों के सात्विक सिद्धान्तों और उपनिषदों की विचारधारा में स्पष्ठ साम्य है।**
—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १५६।

४ **कबीर साहित्य की परख**—परशुराम चतुर्वेदी, संस्करण सं० २०११, पृ० ८८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। अनुभव ही जिसकी एकमेव आधारशिला है। अनुभव की स्थिति में तर्क अथवा विवाद के लिए वहाँ स्थान नहीं है। कबीर का कथन है :

आतम अनुभव जब भयो तब नहिं हर्ष विषाद।
चित्त दीप सम है रह्यो तजकर वाद-विवाद॥ [1]

नाथपंथी साधना के लोकव्यापक प्रभाव ने यद्यपि मध्ययुग की तत्त्वचिन्ता को विशेष रूप से स्पर्श किया है किन्तु वास्तव में नाथ पंथ एक साधना पंथ ही था, बौद्ध सहजयान धर्म की तत्त्वमीमांसा और व्यवहार की अस्पष्ट तथा अनैतिक परिस्थितियों के कारण नाथ पंथ एक विशुद्ध साधना पंथ ही बना रहा। यह युग की परिस्थितियों के अनुसार अंशतः सत्य ही माना जायगा[2] किन्तु नाथपंथी साधना में क्रियाबहुल कठोर आचरण की मोटी पर्त के भीतर नाथपंथी तत्त्वचिन्तन का प्रचार लोक में न हो सका, यह भी उतने ही अंशों में विद्वानों द्वारा मान्य किया गया है। अद्वैत वेदान्त के शैवागमों से सम्बद्ध सिद्धान्तों का लोक जीवन में स्वागत न हुआ उसका कारण नाथ पंथ में शुष्क साधना का प्रबल आग्रह तथा गृहस्थ जीवन के प्रति अनादर का भाव था ? ऐसी स्थिति में नाथपंथी साधना के लोक प्रभावी रूप से सम्बद्ध संत लोक तत्त्वचिन्तन की दृष्टि से योग और भक्ति का समन्वय स्वर लेकर उपस्थित हुए। यह तत्त्वचिन्तन अपने मूलरूप में भारतीय दर्शनों की व्यावहारिकता से पूर्णतया सम्बद्ध है तथा उसका उन्मेश विभिन्न परिस्थितियों में हुआ है। यही कारण है कि मूलतत्त्व के सम्बन्ध में संतों के चिन्तन करने का मार्ग पिछले सभी मार्गों से भिन्न है। अनुभव की कसौटी पर कसकर ही संतों ने ब्रह्म, जीव और जगत के सम्बन्ध में अपनी स्थापनाओं को पुष्ट किया है। कबीर कहते हैं इसके लिए उन्हें कहीं जाना नहीं पड़ा, विचार करते ही करते सत्य का अनुभव हो गया।[3] किन्तु इस अनुभव की पृष्ठभूमि के रूप में संतों के पास तत्त्वचिन्तन के लिए कौन-सी आधारभूत सामग्री थी, यह भी एक विचारणीय बात है। जिस आध्यात्मिक वातावरण के आधार पर संतों का तत्त्वचिन्तन सम्भव हुआ मध्ययुग में उसके सूत्र कम से कम उपनिषद अथवा दर्शनग्रन्थ नहीं थे, प्रायः सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं।[4] संत कवियों में भी केवल गिनती पर गिने जाने योग्य एक दो ही संत ऐसे हैं जिन्होंने विधिवत शास्त्रज्ञान प्राप्त किया हो, अन्यथा सभी संतों ने केवल अपने अनुभव ही प्रकट किये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि संतों ने इन्हीं अनुभवों को वेदान्त की संज्ञा दे दी है। संत गुलाल का कथन है कि :

---

[1] साखी ८१—कबीर।

[2] नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८७।

[3] 'करत विचार मन ही मन उपजी, ना कहीं गया न आया।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८३।

[4] हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० १६०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निर्गुण मत सोई वेद को श्रंता।
ब्रह्मसरूप अध्यातमा सूता॥
जहंवा दुविधा भाव न कोई।
अध्यातम वेदान्त मत सोई॥
यहि सिवाय कोई और बतावै।
ताको सतगुरु मत नहिं आवै॥[1]

तथापि वेदान्त प्रस्थानत्रयी अर्थात् उपनिषद, ब्रह्मसूत्र तथा गीता के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान को कहा गया है।[2] संतों द्वारा प्रयुक्त 'वेदान्त' ठीक 'वेदान्तदर्शन' के लिए व्यवहृत नहीं हुआ प्रतीत होता है[3] किन्तु इस विवेचन से यह माना जा सकता है कि किसी न किसी रूप में संतों का निकट सम्बन्ध भारतीय धर्मसाधना के उन तत्त्वों से अवश्य था जिनका सूत्रपात शताब्दियों पूर्व उपनिषदों में हो चुका था। यद्यपि उपनिषद के शाश्वत तत्त्वों में किसी परिवर्तन की सम्भावना नहीं की जा सकती तथापि संतों ने जिन सूत्रों से उन तत्त्वों को ग्रहण किया उसक ाप्रभाव भी उन पर पड़ना स्वाभाविक है। संतों के तत्त्वचिन्तन को आकार प्रदान करने वाले सूत्रों में से कुछ निम्नलिखित माने जा सकते हैं :

(१) स्मार्त आचार्यों द्वारा प्रतिपादित वेदान्तदर्शन और उनका अप्रत्यक्ष प्रभाव।
(२) पौराणिक वैष्णव धर्म के प्रतीक और उनका सम्पर्क।
(३) अन्य धर्मों के सम्पर्कजन्य प्रभाव से उत्पन्न समन्वयात्मक धार्मिक चेतना।
(४) नाथयोगियों के ईश्वर अद्वय की भावना का रूप तथा इस्लामी एकेश्वरवाद का आविर्भाव।
(५) भक्ति का उन्मेश तथा आत्माभिव्यक्ति।

संतों के आध्यात्मिक चिंतन में, जैसा कि पूर्व में ही प्रकट किया गया है, किसी एक प्रकार के चिंतन ही का आग्रह नहीं है। स्वामी रामानन्द के आविर्भाव[4] के फलस्वरूप उत्तर भारत की धार्मिक और विशेष रूप से आध्यात्मिक प्रवृति को उन्मुक्त रूप से खुल खेलने का अवसर प्राप्त हुआ। रुक्ष तत्त्वचिन्तन के घेरे से बाहर

---

१ म० भा०, पृ० २१४।
२ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ५३०।
3 यह स्मरण रखना चाहिए कि जब हम शंकर, रामानुज और रामानन्द के वेदान्त मत की चर्चा करते हैं तो हमारा मतलब एक पूरे तत्त्ववाद से होता है किन्तु कबीर की वाणियां वे चीज नहीं हैं।
—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० ९८।
— उत्तरी भारत कीसंत परम्परा, पृ० २२२।
४ विक्रम सं० १३५६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निकल कर योग की कट्टरता के कायल साधक भी उन्मुक्त होकर सोचने लगे तब स्मार्त संरक्षण एवं गृहस्थ सम्मान की प्रेरणा ने उन्हें संत महात्माओं एवं आचार्यों के सत्संग और पौराणिक कथाओं के प्रति रुचि का अवसर दिया। संतों ने अपने अनुभव से, सत्यान्वेषण की प्रेरणा से, किसी स्मार्त मत को प्रत्यक्ष रूप से नहीं माना किन्तु वैष्णव प्रभाव को शिरसः स्वीकार किया है।[1] संतों में स्वतन्त्रचेता चिन्तक का स्वरूप नाथपंथी साधकों की ओट से विरासत में मिला प्रतीत होता है किन्तु लोक प्रभाव ने जिस तत्त्वचिन्तन को मुखर किया उसमें संतों के अनुभव लोक सामान्य विश्वासों से सम्बद्ध हुए बिना न रहे, चाहे उनका स्वर पिछली परम्परा से न मिल सका हो।[2] अज्ञान-अन्धकार में संतों का अनुभव ही सत्संग की प्रेरणाओं से मुखर हुआ जिसका प्रभाव लोक जीवन में असामान्य रूप से पड़ा। हिन्दू, मुसलमान आदि मतावलम्बी, पढ़े और अपढ़ साधक, संतों के इन अनुभवों की ओर अवाक् होकर देखते ही रह गये, उस समय लोक जीवन में न उपनिषदों का लोक सामान्य रूप प्रचलित था और न वेद शास्त्रों का। साधना हमारे आलोच्य युग में अत्यन्त अस्तव्यस्त थी,[3] शास्त्रीय ज्ञान और दर्शनों का सर्वसुलभ रूप ही उपलब्ध था। भारतीय धर्म की मीमांसा का क्षेत्र आचार्यों तक सीमित हो गया था, लोक जीवन अन्धश्रद्धालु और शरणागत के आश्रय में अपने आपको समर्पित करने के लिए कटिवद्ध था, योगियों के चमत्कार में भयसंकुल मानव के लिए एक स्थायी संतोष का अभाव था तभी संतों के आध्यात्मिक विचारों का प्रादुर्भाव हुआ।

संतों के आध्यात्मिक विचार प्रतीक पद्धति को लेकर ही सामान्य जीवन में व्याप्त हुए हैं। डा० बड़थ्वाल का विश्वास है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में पदार्पण करने वाले सभी कवियों को सांकेतिक भाषा की शरण लेनी पड़ती है।[4] निर्गुण संत कवियों ने भी आध्यात्मिक विचारों को अनेक रूपों में प्रकट किया है। कुछ पारिभाषिक शब्दों का परम्परागत प्रयोग भी संतों ने आध्यात्मिक विचारों को व्यक्त करने के उद्देश्य से किया है, कुछ उनके स्वतन्त्र प्रयोग भी कहे जा सकते हैं जिनका पृथक से विवेचन किया जायगा। संतों के आध्यात्मिक चिन्तन के संदर्भ में यहाँ केवल इतना ही द्रष्टव्य है कि संतों के सभी आध्यात्मिक विचार प्रतीकों और प्रयोगों पर आधारित

---

[1] कबीरदास पौराणिक ब्राह्मण धर्म की विशेषता मानते थे और बारम्बार प्रत्याख्यान करते थे। —डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० १२६।

[2] उनके पारिभाषिक शब्द, उनकी रूढ़िविरोधिता, उनकी खण्डनात्मक वृत्ति और उनकी अक्खड़ता आदि उनके पूर्ववर्ती साधकों की देन है परन्तु उनमें की आतमा उनकी अपनी है।

—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ४३।

[3] कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायन, पृ० ७४।

[4] हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ३१७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं और उनके इस आत्मानुभव के आग्रह को देखकर कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि यदि संतों के आध्यात्मिक विचार सहज सुलभ एवं दार्शनिक तर्क पद्धति पर आधारित न हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आत्मानुभव में भाषा और उपयुक्त प्रयोगों के लिए आकाश ही कहाँ है। संत रैदास का कथन है :

ऐसे कछुअनभौ कहत न आवे।
साहिब मिले तो को भिलगावे ॥[1]

डा० बड़थ्वाल ने लिखा है कि शब्दों का वास्तविक मर्म उनके परे रहा करता है किन्तु फिर भी वह स्पष्ट रूप में लक्षित होता रहता है। 'रस' के सम्बन्ध में भी सबसे बड़ी बात यही है कि यह स्पष्ट समझ में न आकर केवल व्यंजित मात्र हुआ करता है। इसी प्रकार उस अनिर्वचनीय आध्यात्मिक अनुभव को भी, जिसे कबीर आदि संतों ने वेदान्तियों की भाँति गूँगे का स्वाद बताया है, केवल व्यंजित ही किया जा सकता है। संतों की वाणियों में ब्रह्म, जीव और जगत के सम्बन्ध में अनेक भिन्न-भिन्न स्थापनाएँ उपलब्ध हैं। नाथ पंथ के संदर्भ में उन पर भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

आध्यात्म सम्बन्धी विचार

ब्रह्म जिज्ञासा—संतमत के प्रबल प्रवर्तक संत कबीर ने परमतत्त्व के सम्बन्ध में लक्ष्य करते हुए लिखा है :

अपने में रंगि आपनपों जानूं।
जिहि रंग जांनि ताही कूं मानूं ॥
अभि अंतरि मन रंग समाना। लोग कहें कबीर बौराना ॥
रंग न चीन्हें मूरख लोई। जिहि रंगि रंग रह्या सब कोई ॥
जे रंग कबहू न आवै न जाई। वहै कबीर तिहि रह्या समाई ॥[2]

यह परमतत्त्व क्या है ? परमतत्त्व के प्रति जिज्ञासा भाव की व्यंजना संतों ने अपने अनुभव द्वारा की है। संतों की स्थापना के स्वरूप निरूपण एवं ब्रह्म जिज्ञासा के शाश्वत विवरणों में एक विलक्षण साम्य है। यद्यपि विद्वानों द्वारा ब्रह्म विचार का प्रश्न महा जटिल प्रश्न माना गया है। ब्रह्म जिज्ञासा के शास्त्रप्रवण स्वरूप का, बहुप्राचीन शृंखला का भी ब्रह्मनिरूपण में कम स्थान नहीं है। ब्रह्म जिज्ञासा को कुछ विद्वानों ने ब्रह्मवाद की संज्ञा से अभिहित भी किया है[3] तथा उसकी प्राचीनता का विस्तृत परिचय दिया है। ब्रह्म के सम्बन्ध में ऋगवेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में

---

१ **संत-काव्य**, पृ० २१४।
२ **कबीर ग्रन्थावली** (प्रकाशित १९४७), पद २६, पृ० ९७।
३ **हिन्दी साहित्य कोष** (ज्ञान मण्डल), पृ० ५२०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विस्तार से चर्चा है। आरम्भ में ब्रह्म शब्द का अर्थ धन, वाक् और प्रार्थना था। किन्तु इन अर्थों का प्रचलन शीघ्र इसकी व्युत्पत्ति द्वारा बन्द हो गया। व्युत्पत्ति से ब्रह्म शब्द वृह (बढ़ना) धातु से बना है। जो बृहतम या महत्तम हो, जो सबसे बढ़ा चढ़ा हो, जिसमें बढ़ना क्रिया के सभी अर्थ शामिल हों, उसे ब्रह्म कहा जाता है। शंकर रामानुज आदि ब्रह्मवादियों ने अपने भाष्यों में ब्रह्म शब्द की यही उत्पत्ति की है।[1] ब्रह्म के विषय में यह जिज्ञासा उपनिषदों में आकर अत्यन्त व्यापक एवं लोक प्रभावी रूप में प्रकट हुई। यद्यपि उपनिषदों की ब्रह्म जिज्ञासा की शैली वैदिक साहित्य की शैली से मेल नहीं खाती फिर भी वैदिक साहित्य में इस प्रकार की जिज्ञासामूलक विचारधारा का प्रादुर्भाव भी हो गया था। ब्रह्मवाद के विकास के सम्बन्ध में श्री सिद्धनाथ तिवारी का कथन है कि पुरुष सूक्त और नासदीप सूक्त की अधिक बातें धचपच शैली में लिखी हुई हैं। ऐसा लगता है कि कोई जिज्ञासु संसार और ब्रह्म के रहस्य की गहनता से अवाक् होकर दनादन प्रश्न पर प्रश्न किये जा रहा है और बीच-बीच में समस्याओं का समाधान भी करता जा रहा हो।[2] उपनिषदों में ब्रह्म जिज्ञासा का यही स्वरूप लक्षित होता है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में कहा गया है कि जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं जानता तथा कुछ और नहीं सुनता वह भूमा है किन्तु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है वह अल्प है। जो भूमा है वही अमृत है और जो अल्प है वही मृत्यु है। इस प्रकार भूमा या ब्रह्म को अनानात्व या अद्वैत कहा गया है।[3] तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर जिसके आश्रय से ये जीवित रहते हैं और अन्त में विनाशोन्मुख होकर जिसमें ये लीन होते हैं, उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा करे, वही ब्रह्म है।[4] प्रायः प्रत्येक उपनिषद् इसी प्रकार की जिज्ञासा को लेकर अपना विवेचन प्रस्तुत करता है।

ब्रह्म जिज्ञासा के विस्तार की चर्चा यहाँ हमारा अभीष्ट नहीं है किन्तु इस संक्षिप्त विवेचन का आशय यह है कि अपने आदिकाल से मानव जीवन किसी शाश्वत पक्ष के विवेचन में लगा हुआ है। हमारे देश में इस क्रमबद्ध विवेचन को आध्यात्म की संज्ञा से विभूषित किया गया और उसी के आधार पर ब्रह्म विचार की जिज्ञासा लोक में प्रचलित हुई। ईसा की आठवीं शताब्दी में स्वामी शंकराचार्य ने ब्रह्म के अस्तित्व के लिए तीन प्रमाण दिये[5]—(१) सभी वस्तुओं का कोई मूल

---

[1] हिन्दी साहित्य कोष (ज्ञान मण्डल), पृ० ५२०।

[2] निर्गुण काव्य दर्शन—सिद्धनाथ तिवारी, पृ० १३, १४।

[3] हिन्दी साहित्य कोष, मूल श्लोक १, पृ० ५२०।

[4] यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जावन्ति। यत्प्रयन्त्यमिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। —तैत्तिरीय उपनिषद

[5] हिन्दी साहित्य कोष, पृ० ५२२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कारण है। वस्तुओं का हमें यथार्थ ज्ञान भी होता है, उसका मूल कारण ब्रह्म है, वह असत् नहीं हो सकता क्योंकि असत् से सत् की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती। (२) जगत की वस्तुओं में अपनी क्रमिकता दृष्टिगोचर होती है, इनका अनुक्रम किसी अचेतन मूल कारण से नहीं हो सकता। उनका आदि कारण चेतन है, न कि जड़ प्रकृति अर्थात् ब्रह्म है। (३) ब्रह्म प्रत्यगात्मा होने के कारण सबको सर्वत्र अनुभव होता है कि मैं हूँ। इस 'मैं हूँ' में यही ब्रह्म है।[१]

ब्रह्म विचार की दृष्टि से आध्यात्मिक आचार्यों की पहुँच बहुत दूर तक हुई है। विद्वानों के मतानुसार भारतीय दर्शनों में सांख्य दर्शन प्रकृतिवाद, न्याय वैशेषिक ईश्वरकारणवाद और वेदान्त ब्रह्मवाद को मानता है। ब्रह्म के स्वरूप को लेकर ब्रह्मवादियों में भी मत भिन्नता मिलती है। उपनिषदों में ब्रह्म और परमतत्त्व प्रायः पर्याय ही माना गया है, यह मत भिन्नता यद्यपि विवेचन सम्बन्धी है तथापि एक और अद्वितीय ब्रह्म ही जगत का निमित्त और उपादान कारण है, यही वेदान्त के अनुयायियों का मुख्य स्वर है। इस परमतत्त्व अथवा ब्रह्म के दो रूप हैं—निर्गुण और सगुण। निर्गुण ब्रह्म गुण, विशेषण, आकार और उपाधि से परे है, उसे किसी विशेषण, चिह्न या लक्षण से लक्षित नहीं किया जा सकता। सगुण ब्रह्म सविशेष, साकार और सोपाधि है, जिसे किसी गुण चिह्न या विशेषण द्वारा पहचाना जा सकता है और जिसका स्वरूप हृदयंगम किया जा सकता है।[२] ब्रह्म तथा अन्य आत्मप्रधान चिंतन मध्ययुग के बौद्धधर्म की अनात्मवादी प्रतिक्रिया से प्रभावित हुआ था यह भी पृष्ठ-भूमि में दिये गये अध्यायों में हमने देखा ही है, यद्यपि बौद्धधर्मानुयायी अपने को उपनिषद् से असम्बद्ध नहीं पाते, फिर भी ब्रह्म जिज्ञासा में बौद्ध चिन्तन की अनात्म-वादी धारा का महत्त्वपूर्ण हाथ है, स्वामी शंकराचार्य ने जिसे ज्ञान और कर्म के बल से पुनः स्थापित किया था। धार्मिक पुनर्जागरण के फलस्वरूप ब्रह्म की अद्वैत वेदान्त की धारणा लोक जीवन में परिव्याप्त हो उठी, नाथ पंथ जो कि केवल साधना पंथ ही था उसमें भी हमें ब्रह्म के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त की शैली की जिज्ञासा मिलती है।

नाथ पंथ में अद्वैत वेदान्त से अपने को पृथक सिद्ध करने के लिए साधक यद्यपि अपने आपको द्वैताद्वैत विलक्षणवादी कहते हैं[३] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह केवल पंथगत भेद का निदर्शन मात्र है। शून्य, विनानी आदि शब्दावली में प्रयुक्त ब्रह्म भावना का यह लोकसम्मत स्वरूप नाथ पंथ में विशेष रूप से द्रष्टव्य है। हमारा विश्वास है कि संतों की वानियों में नाथ पंथ की ब्रह्म भावना का एक परिष्कृत स्वरूप ही आध्यात्म-धारा के रूप में पहुँचा है। नाथपंथी साधकों की ब्रह्म भावना शास्त्रसम्मत नहीं कही

---

१ हिन्दी साहित्य कोष, पृ० ५२२।

२ हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्मय, पृ० २०।

३ सिद्ध जालन्धरनाथ ने द्वैत और अद्वैत दोनों से परे द्वैताद्वैत विलक्षण कहकर स्तुति की है।—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० १३५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जा सकती यद्यपि लोक भाषा में जो वानियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमें उसका स्वर इस बात को स्पष्ट कर देता है कि नाथ पंथ की पूर्व परम्परा में ही संतों की ब्रह्म जिज्ञासा को ढूँढ़ा जा सकता है। डा० बड़थ्वाल ने अपने प्रबन्ध 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' में संतों की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विस्तार से विचार किया है किन्तु जिस दार्शनिक पृष्ठभूमि को उस काल की लोक चिन्ता ने अत्यधिक प्रभावित किया था उस पर भी विचार कर लेना चाहिए। उसके लिए नाथपंथी साधकों द्वारा रची हुई कुछ ब्रह्म जिज्ञासा सम्बन्धी वानियाँ दृष्टव्य हैं :

गोरखनाथ का कथन है कि एक (परब्रह्म) ही में अनन्त सृष्टि का वास है और अनन्त सृष्टि में एक ही परब्रह्म का निवास है। उस एक ही ने इस अनन्त सृष्टि को उत्पन्न किया है। जब आभ्यंतर में उस एक से परिचय प्राप्त हो जाता है, तब सारी अनन्त सृष्टि एक ही में समा जाती है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है जब नाथपंथी साधकों का बोलबाला रहा होगा तब भी ब्रह्म के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाणों के अभाव में सामान्य जीवन में कोई विशेष चिंतन नहीं था, इसीलिए शायद कहा गया है—

आस्ति कहूँ तो कोई न पतीजै, बिन आस्ति क्यों सीधा।[2]

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि काया साधना में लीन नाथपंथी साधक ब्रह्म के औपचारिक चिन्तन तक ही अपने को सीमित समझते रहे हों। उनके लिए ब्रह्म केवल ज्ञान का विषय ही नहीं है, अपितु अनुभूति के द्वारा वे ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं :

पैर जोई ने एका पुरिष पधारया, पुरिष की पारिषा पाई।
पुरिषै मिली पुरिष रस राख्या, पुरिषैं पुरिष निपाया, मेरे ज्ञानी।[3]

ब्रह्म रूपी तत्त्व का ज्ञान भी सुलभ नहीं है। जैसे प्रत्येक वन में चन्दन का वृक्ष नहीं होता उसी प्रकार तत्त्व भी बिरला ही समझता है।[4] वह तत्त्व विचारने पर एकाकार प्रतीत होता है। गोरखनाथ ने कहा है :

---

१ **एक में अनन्त अनन्त में एकै, एकै अनन्त षाया।**
अंतरि एक सौं परचा हुआ तब अनन्त एक में समाया॥
—गोरखवानी, पृ० १०३।

२ **गोरखवानी, पृ० १०४।**

3 **वही, पृ० ८६।**

४ **घर घर सूण्यां ग्यान न होई। बनि बनि चन्दन सब न कोई॥**
रतन रिधि कवन कै होई। ये नस बूझे बिरला कोई॥
—गोरखवानी, पृ० ५८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निरति न सुरति जोंग न भोंग, जुरामरण नहीं तहां रोंग ।
गोरष बोले एकंकार नहिं तहं वाचा आंकार ।।[१]

इस श्रद्वय ब्रह्म का चिन्तन प्रतिबिम्बवाद के रूप में नाथपंथियों में मिलता है, योग साधना उसका साधन है, सिद्धि नहीं है । सिद्धि तो आत्मतत्त्व का विचार है । आत्मतत्त्व का विचार करने से सारा दृश्यमान जगत वैसे ही परब्रह्म का प्रतिबिम्ब जान पड़ता है जिस प्रकार जल में चन्द्रमा है :

आसण बैसिवा पवन निरोधिवा धांन मांन सब धंधा ।
बदंत गोरखनाथ आतमां विचारंत, ज्यूं जलदीसै चंदा ।।[२]

ब्रह्म जिज्ञासा एवं लोकोत्तर आनन्द की विरुद्ध परिस्थितियों में प्रायः इस बात पर बल दिया गया है कि ब्रह्म ज्ञान अथवा इस भेद के रहस्य को सर्वसाधारण नहीं समझ सकता । नाथपंथी साधकों की यह दृढ़ धारणा प्रतीत होती है कि अभेद के भेद को, अद्वैत के रहस्य को कोई बिरला ही जानता है । द्वैत के पक्ष का निरसन किसी बिरले को आता है ।[३] किन्तु ब्रह्म अण्ड से लेकर ब्रह्माण्ड में, जड़ जगत से लेकर चेतन तत्त्व में, समान रूप से विद्यमान है । गोरखनाथ का कथन है कि ब्रह्म की सुगन्धि से सारा जगत सुगंधित है । उसके स्वाद से सारा जगत मीठा है । समस्त जगत में उसी का रूप दिखाई देता है, वह केवल अनुभव से जाना जा सकता है ।[४] रातदिन ब्रह्म-ज्ञान का कथन करना चाहिए ।[५] इस विज्ञान स्वरूप अलक्ष्य परब्रह्म ने दो दीपकों की रचना की (व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप), उन दोनों दीपकों में अलक्ष्य का ही प्रकाश है । उसी एक ज्योति से तीनों लोक व्याप्त हैं । उस ज्योति पर विचार करने से तीनों लोक सूझने लगते हैं, त्रिलोकदर्शिता आती है । हंस स्वरूप आत्मा ज्ञानरूप मोतियों को चुगने लगती है तथा उसे माणिक्यरूप कैवल्यानुभूति हो जाती है ।[६]

संतों की ब्रह्म जिज्ञासा में नाथपंथी साधकों की ब्रह्म जिज्ञासा के अनेक चिन्ह अपने मूलरूप में विद्यमान प्रतीत होते हैं यद्यपि साधनापंथों में मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में आध्यात्म सम्बन्धी विचारों में विस्तार हुआ है । संतों द्वारा प्रतीक योजनाओं के

---

१ **गोरखवानी, पृ० ३८ ।**
२ **वही, पृ० २९ ।**
३ **बिरला जाणंति भेदां निभेद बिरला जाणंति दोई पष छेव ।**
बिरला जाणंति अकथ कहानी बिरला जाणंति सुधि बुधि की बांणी ।
—गोरखवानी, पृ० २४ ।
४ **बास सहेती, सब जग बास्या, स्वाद सहेता मीठा ।**
साच कहूँ तो सतगुर मांने रूप सहेता दीठा ।।—गोरखवानी, पृ० १० ।
५ **अहिनिस कथिवा ब्रह्म ज्ञान ।**
६ **गोरखवानी, सबदी ५, पृ० ३ ।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

माध्यम से अनेक रूपकों में ब्रह्म, जीव, जगत सभी पर विचार किया गया है। संतों की ब्रह्म जिज्ञासा पर विचार करने के पूर्व हमें उस काल के धार्मिक वातावरण और आध्यात्म प्रधान चिन्तन की लौकिक परिस्थिति को पृष्ठभूमि के रूप में पुनः रखना होगा। हमने देखा है कि नाथपंथी योगी अपने ब्रह्मज्ञान का आधार सीधा वेदान्त सम्मत ज्ञान मानकर अपने साधना पंथ को उसका मुख्य माध्यम मानते हैं। ब्रह्म ज्ञान उसे नहीं प्राप्त हो सकता जिसे अपनी काया का ज्ञान नहीं और जिसकी काया ही शुद्ध नहीं है उसके लिए यह सब निरुपलब्ध वस्तु है। कालान्तर में यह साधना एकांकी और व्यक्ति प्रधान हो गयी, संतों की ब्रह्मभावना के अनेक तत्त्व यद्यपि नाथपंथी तत्त्व चिन्ता में मिलते हैं किन्तु संतों की भावना और नाथपंथी साधकों की भावना में एक विस्तार का भेद दृष्टव्य होता है। संतों की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्व-ग्रासी है, उसमें सब साधनाओं एवं धर्म, मतों तथा दर्शनों के समन्वय का आग्रह है।[१] संतमत के प्रवर्तक कबीर के ब्रह्मनिरूपण के सम्बन्ध में डा० त्रिगुणायन ने एक स्थल पर लिखा है कि कबीर का ब्रह्मनिरूपण वैदिक ब्रह्मनिरूपण के ढंग का होने पर भी अनेक धर्मों की ब्रह्म भावनाओं से प्रभावित है। जहाँ पर उन्होंने उपनिषदों की ब्रह्म निरूपण की विविध शैलियों को अपनाया है वहीं उन्होंने योगियों के द्वैताद्वैत विलक्षण-वाद के ढंग पर भी ब्रह्म का वर्णन किया है। उनके ब्रह्मनिरूपण पर बौद्धों, सिद्धों और योगियों के शून्यवाद की धूमिल छाया भी देखी जा सकती है।[२] किन्तु अनेक धर्म साधनाओं के प्रभाव को मानते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि संतों की ब्रह्म जिज्ञासा का स्वरूप निश्चित ही पिछले आध्यात्मवादियों का केवल अनुकरण मात्र है। कबीर ने कहा है—

जोगी गोरख गोरख करैं, हिन्दू राम नाम उच्चरैं
मुसलमान कहें एक खुदाई, कबीर का स्वामी धट-घट रह्या समाई।[३]

अनुभूति के माध्यम से सर्वात्म में व्याप्त ब्रह्मनिरूपण के लिए संतों ने उसकी व्यापकता और एकात्मता पर बल दिया है। उनकी दृष्टि में वह सगुण निर्गुण दोनों से परे परात्पर है। 'वह विश्व का कर्ता-धर्ता नियन्ता शासक और अधिपति ही नहीं बल्कि व्यापक तत्त्व भी है। वह घट-घट में, कण-कण में अणु-परमाणु में व्याप्त है और वही हम में सार वस्तु है।[४] वह मुसलमानों के एकेश्वरवाद से भी अधिक व्यापक है। कबीर ने कहा है—

मुसलमान का एक खुदाई। कबीर का स्वामी रह्या समाई॥

दादू ने उसकी व्यापकता को इस प्रकार अंकित किया है—

---

१ **कबीर की विचारधारा**—डा० त्रिगुणायन, पृ० १७९।

२ **वही**, पृ० १७९।

३ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० २००।

४ **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

घीव दूध में रमि रहा, व्यापक सब ही ठौर। [१]

इस सार सत्ता का अनुसंधान संतों के लिए सत्य का अनुसंधान बन गया, यद्यपि गुरु की कृपा से उन्हें उसका आभास हुआ किन्तु अनुभव के अनुसार ही वह ग्रहणीय बन सका। [२] कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :

खालिक खलक, खलक में खालिक, सब घट रह्या समाई।

परमात्मा विश्व में और विश्व परमात्मा में अवस्थित है। डा० त्रिगुणायन ने कबीर की ब्रह्म जिज्ञासा का विवेचन करते हुए एक स्थल पर प्रकट किया है कि कबीर ने ब्रह्म की आदि भौतिक और आदि वैदिक भावना त्याग कर आध्यात्मिक भावना को ही आश्रय दिया था।[3] हमारा उसी के साथ यह भी अनुमान है कि संतों की ब्रह्म जिज्ञासा ही नहीं उनकी साधनामूलक भावना भी आध्यात्म के स्वर से प्लावित है। जिस नाथपंथी साधना की क्रोड़ में निर्गुण पंथ का गठन हुआ वह अद्वैत प्रधान आध्यात्मिक धारा असमन्वयवादी और शुष्क थी, उसके विपरीत संतों ने जिस ब्रह्म भावना का आश्रय लिया वह उनके अनुभव की सच्ची अनुभूति थी। डा० विश्वनाथ प्रसाद ने एक प्रसंग में इसकी चर्चा करते हुए लिखा है कि निर्गुण संत 'सत' (सत्य) के उपासक थे और सत्य में पूरी आस्था रखते हुए इसी के अनुसन्धान में अपने जीवन को लीन कर चुके थे। [४] संतों की ब्रह्म जिज्ञासा दादू के शब्दों में अत्यन्त विराट सागर की विशालता के समान है जिसके लिए ऐसा कोई पात्र ही नहीं बना जो उसे पूरा अपने में समेट सके—

चिड़ी चोंच भर ले गयी नीर निघट न जाई।
ऐसा वासण न किया सब दरिया माँहि समाई॥[५]

'यह व्याप्ति इतनी गहन है कि व्यापक और व्याप्त में कोई अंतर ही नहीं रह जाता,।[६] इस व्याप्ति में जिसने एक सत्य को जान लिया उसे फिर भटकने की आवश्यकता नहीं है—

एक एक जिनि जाणियां तिनहीं सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौलीन मन, ते बहुरि न आया॥[७]

---

१ **वानी, भाग, १, पृ० ३२।**

२ **सतगुरु तसु करयो विचार, मूल गह्यो अनमै विस्तार।**
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २१६।

3 **कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायन, पृ० १७६।**

४ **निर्गुण काव्य दर्शन, प्राक्कथन, पृष्ठ क।**

५ **वानी (ज्ञान सागर), पृ० ६३।**

६ **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १००।**

७ **कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२६।**

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

संतों की यह ब्रह्म जिज्ञासा अनुभवैकगम्य है, उसी को गूंगे का गुड़ कहा गया है, वह पुस्तकीय विद्या से प्राप्त नहीं हो सकता, वह प्रेम से प्राप्त है। कबीर ने कहा है—

अथक कहानी प्रेम की कछु कही न जाई।
गूंगे केरी सरकरा बैठे मुसुकाई॥[1]

भक्ति और योग के समन्वय से संतों की यह भावना अपने जिस रूप में हिन्दी काव्य में प्रकट हुई वह न तो नाथपंथी ब्रह्म जिज्ञासा का अनुकरण है और न वैष्णव भक्ति भावना का वेदान्ती स्वरूप। उसका स्वरूप दोनों के समन्वय से निर्मित हुआ है। इसी पृष्ठभूमि में संतों द्वारा ब्रह्म, जीव और जगत के सम्बन्ध में जो विचार प्रगट किये गये हैं हम उन पर विचार करेंगे।

ब्रह्म अथवा परमतत्त्व—परमतत्त्व की अभिव्यक्ति एक दुर्लभ कार्य है। संतों ने इस बात को स्वीकार किया है कि वह जैसा कहा जाता है वैसा ही उसका पूर्वरूप में भी होना सम्भव नहीं है, वह जैसा है वैसा ही है।[2] वास्तव में परमतत्त्व का कोई उपयुक्त विचार ही नहीं कर सकता। वह वाणी और बुद्धि दोनों की सीमा से परे है। गुरु नानक ने कहा है—

सोचे सोच न होवई जे सोचे लखवार।[3]

कबीर ने परमतत्त्व के अनुभव को बड़े असमंजस के मध्य अपने अनेक पदों एवं साखियों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा—

जस तूं तस तोहि कोई न जान।
लोग कहें सब आनहि आन॥[4]

दादू, रैदास आदि संतों की भी यही स्थिति है। यद्यपि उस परंब्रह्म को यथार्थ रूप में कोई नहीं जान सकता तब भी संतों ने उसे तत्, परमतत्, अनूपतत्, निज तत्, आप, सबद, परमपद, निजपद, अभैपद, सहज, मुनि, सति, श्याम, अनंत, उन्मन, गगन, सीव, ब्रह्म आदि कई नाम दिये हैं।[5] संतों ने कभी-कभी उसे व्यक्त करने के लिए अनेक प्रकार की रूपात्मक तथा गुणात्मक चेष्टाएँ की हैं किन्तु फिर भी उन्हें उसमें सफलता नहीं मिली। नाथपंथियों के, बज्र की विलक्षण अनुभूति भी संतों में हुबहू मिल जाती है पर वहाँ भी उनके समाधान का पूर्ण कारण उपलब्ध नहीं है। वे कहते हैं—

---

१ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० १५६।

२ **जस कहिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोई।**
कहत सुनत सुख ऊपजै, अस परमारथ होई॥
—कबीर ग्रन्थावली, रमैणी, पृ० २३०।

३ **ग्रन्थ**, पृ० १।

४ **कबीर ग्रन्थावली**, पदावली ४७, पृ० १०३।

५ **कबीर साहित्य की परख**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ९१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अलख निरंजन लखै न कोई। निरभै निराकार है सोई॥
सुंनि अस्थूल रूप नहिं रेखा। द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा॥
बरन अबरन कह्यो नहीं जाई। सकल अतीत घट रह्यो समाई॥
आदि अंति ताहि नहीं मधे। कह्यो न जाई आहि अकथे॥
अपरम्पार उपजै नहीं बिनसै। जुगति न जांनिये कथिये कैसे॥[1]

संतों की वाणियों में मिलने वाले ब्रह्म के दो रूप बहुत स्पष्ट हैं—(१) अव्यक्त रूप, (२) व्यक्त रूप। संतों का प्रतिपाद्य ब्रह्म मुख्य रूप से अव्यक्त ही है यद्यपि गुण एवं उपाधि से विभूषित भावना निर्मित ब्रह्म का व्यक्त रूप भी उनकी वाणियों में उपलब्ध हो जाता है। अव्यक्त ब्रह्म की सार सत्ता के विषय में आध्यात्मिक विचारकों की अभावात्मक पद्धति अति प्राचीनकाल से उपलब्ध है। इन्द्रियों से अगोचर इस परमतत्त्व का अन्वेषण अथवा अव्यक्त सत्ता का विचार नकारात्मक अभिव्यक्त रूप में भी मिलता है। जब इस परमसत्ता का कोई वर्ण, कोई रूप, कोई रंग नहीं है; न वह हलका है और न भारी[2] तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस अव्यक्त ब्रह्म की पहचान क्या है? इस सम्बन्ध में संत कबीर का प्रश्न दृष्टव्य है :

रावर को पिछवार कैं गावैं चारिउ सैन।
जीव परा बहु लूट में न कुछ लेन न देन॥[3]

कबीर ने एक स्थल पर यह भी जिज्ञासा प्रकट की है कि परमतत्त्व कुछ है भी अथवा नहीं?[4] वस्तुतः ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता का कोई नाम नहीं, कोई रूप नहीं और न कोई गुण ही है, किन्तु फिर भी वह घट-घट में व्याप्त है। दादू उस अव्यक्त ब्रह्म को बाहर और भीतर, प्रत्येक दिशा में देखते हैं, उसको छोड़कर दूसरा कुछ है ही नहीं।[5] संतों ने इस अव्यक्त ब्रह्म को अनेक माध्यमों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। संक्षेप में संतों का ब्रह्मनिरूपण निम्नलिखित रूपों में उपलब्ध होता है :

नाम—इस अपरम्पार अव्यक्त परमतत्त्व का यद्यपि कोई एक नाम नहीं हो सकता तथापि उसके अनेक नाम हैं :

---

१ कबीर ग्रन्थावली, रमैणी, पृ० २३०।

२ रूप वरण बाके कछु नाहीं सहजो रंग न देह—सहजो० सं० का संग्रह, पृ० १६।
तोल न मोल माप किछु नाहीं गिनै ज्ञान होई।
ना सो भारा ना सो हलुआ, ताकी पारिख लखै न कोई॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४४।

अवरन एक अकल अविनाशी, घटि घटि आप रहे।—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४४।

३ बीजक, पृ० ४८८।

४ तहां किछ आहि कि सुन्यं।—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४३।

५ दादु देखौं दयाल को बाहरि भीतरि सोई।
सब दिसि देखौं पीव को, दूसर नाहीं होई।—वानी भाग, १, पृ० २३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपरम्पार का नाऊं अनंत।
कहै कबीर सोई भगवंत॥[१]

संतों ने ब्रह्म के सम्बन्ध में पर्याय रूप में प्रचलित अनेक नामों को अपनी वाणियों में अपनाया है किन्तु अव्यक्त सत्ता के अद्वय बोध के फलस्वरूप लोक प्रचलित पौराणिक नामों एवं संतों के नामों के सम्बन्ध में कोई एकरूपता उपलब्ध नहीं है। प्रायः संतों ने राम, हरि, अलक, माधव, मुरारी, गोपाल, बनवारी, केसवा का नाम ब्रह्म के अव्यक्त रूप में प्रयुक्त किया है। साथ ही वे उसे तत्, परमतत्, अनूपतत्, आप, सबद, सार, सहज, मुनि अनंत ज्योति गगन, अकुल, अक्षय, विदेह, पूरन पुरुष, साहब आदि के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मध्ययुग के अन्य भक्त कवियों ने परमतत्त्व के जिस नाम के स्मरण करने पर बल दिया है, क्या वही निर्गुण संतों का भी आधार तो नहीं है? यह प्रायः सभी विद्वान मानते हैं कि मध्ययुग में स्वामी रामानन्द के प्रभाव से राम-नाम की महिमा और राम-भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ।[२] किन्तु संतों ने राम अथवा अन्य नामों को अव्यक्त ब्रह्म का पर्याय ही माना है। दाशरथ्य राम के प्रति संत कबीर की यह घोषणा उन्हें तत्कालीन रामभक्तों से पृथक कोटि का साधक ठहराती है :

दशरथ सुत तिहूँ लोक बखाना।
राम-नाम का मरम है आना॥

तब संतों के राम-नाम का मर्म क्या है? संतों ने अनेक स्थल पर जिन पौराणिक ईश्वर पर्याय नामों का स्मरण किया है क्या वे अन्य भक्तों की भाँति उनकी सगुण सत्ता अथवा अवतार रूप को मानते हैं? प्रायः संतों की वाणियों में ऐसा प्रतीत होता है कि अवतारवादी रूप की स्पष्ट अवहेलना की गयी है।[३] यदि हम विस्तारपूर्वक देखें तो इसका कारण यह प्रतीत होगा कि संतों ने अपने ब्रह्म सम्बन्धी स्वरूप का मूलस्रोत नाथपंथी ब्रह्म की ज्योतिर्मयी अनुभूति ही माना है। पारब्रह्म का अनंत तेज वर्णनातीत है।[४] किन्तु फिर भी उसका नाम स्मरण युगानुरूप भक्ति की एक अनिवार्य आवश्यकता है। लोक प्रचलित पौराणिक मतवाद के सगुण रूप से अपने

---

१ **कबीर ग्रन्थावली, पद ३२७, ० ९९।**

२ **स्वामी रामानन्द ने जो रामभक्ति चलाई उसका दार्शनिक पक्ष अति उदार और सबको आत्मसात् करने में समर्थ था।**—डा० त्रिगुणायन, हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ५५।

३ **कबीर ग्रन्थावली, रमैणी, पृ० २४३।**

४ **(अ) शरीर सरोवर भीतर आछै कमल अनूप।**
परम ज्योति पुरुषोत्तमो जाके रेख न रूप।—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३२७।
(ब) पारब्रह्म के तेज का कैसा है उन्मान। कहिबे कू शोभा नहीं देखा ही परवान॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को पृथक करने के लिए ही कबीर आदि संतों ने मानो राम के नाम के साथ निर्गुण शब्द का प्रयोग किया प्रतीत होता है :

निर्गुण राम जपहुरे भाई। अविगति की गति लखी न जाई॥
चारिवेद जाके सुंमृत पुरांनां। नौ व्याकरना मरम न जांनां॥
सेसनाग जाके गरुड़ समाना। चरन कंवल कंवला तहि जाना॥
कहै कबीर जाके भेदै नाहीं। निजजन बैठे हरि की छांही॥[1]

अथवा

चलुरे मन, जहाँ अमृत बनां। निर्मल नीके संत जनां॥
निर्गुण नांऊँ फल अगम अपार। संतन जीवन प्राण अधार॥[2]

नाम की दृष्टि से परमतत्त्व के किसी नाम विशेष के प्रति संतों का आग्रह प्रतीत नहीं होता। किसी भी नाम को लेकर वे उसमें अव्यक्त ब्रह्म की सत्ता का आरोप कर लेते हैं। यद्यपि सत्संग लाभ में उपलब्ध पौराणिक नामों की क्रमबद्धता से उनका दृष्टि भेद होना स्वाभाविक है तब भी संतों की वानियों में पौराणिक नामों का प्रयोग मिलता है और यही कारण है कि लोक जीवन में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसके विषय में साधारण जन उसके सम्बन्ध में अपनी कोई धारणा नहीं बना सकते, चाहे परमतत्त्व का नाम बोध निर्गुण से, राधास्वामी से, अनूप से, साहब से, राम से, केशव से या किसी और से किया गया हो। संतों ने परमतत्त्व के नाम को केवल सार सत्ता के रूप में स्वीकार किया है। कबीर ने कहा है :

कबीर कहै मैं कथि गया, गथि गया ब्रह्म महेस।
राम-नाम ततसार है, सब काहू उपदेश॥[3]

लोक जीवन में सारतत्त्व के रहस्य को जानने वाले बिरले ही हैं। व्यक्त अव्यक्त ब्रह्म की दुरूह एवं परस्पर विरोधी अनुभूति के कारण परमतत्त्व का विवेचन गुण और रूप के आधार पर भी होता रहा है, यद्यपि नाम का सम्बन्ध प्रायः उसके रूप-गुण से है। संतों के आध्यात्मिक विचारों में गुण और रूप का प्रादुर्भाव नाम के पश्चात की स्थिति में हुआ प्रतीत होता है। मध्ययुग के संतों की विलक्षणता अथवा दूसरे छोर का स्पर्श उनकी वाणियों को, उनके आध्यात्मिक विचारों को अटपटे रूप में प्रस्तुत करता है और कभी-कभी उनके आध्यात्मिक विचारों को इसी कारण विद्वान उलझा हुआ मानते हैं। 'निर्गुण' ब्रह्म के उपासक कबीर को सम्भवतः इसी कारण 'अव्यक्त सगुण'[4] का उपासक भी कुछ विद्वानों ने माना है जो पूर्व परम्परा से

---

१ कबीर ग्रन्थावली—पृ० ३४६।
२ संत सुधासार—दादू दयाल, पृ० ४३७।
३ कबीर ग्रन्थावली—पृ० ५।
४ कबीर की विचारधारा, डा० त्रिगुणायन, पृ० १८४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पोषित प्रतीत नहीं होता है। नाथपंथी आध्यात्मिक धारा में ब्रह्म के गुण और रूप का प्रायः अभाव है। केवल उसकी अनुभूति के लिए कुछ सीमित शब्दों जैसे अकल, अषै अबिद्ध आछै, ब्रह्म सीव आदि का प्रयोग किया गया है।[1] ब्रह्म के गुण और रूप को लेकर स्वामी शंकराचार्य के विरोध में जब अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए तब भक्ति की धारा में भी उस गुण और रूप का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक था, चाहे भक्ति से दर्शन के सम्प्रदाय प्रभावित हुए हों अथवा दर्शन सम्प्रदायों से भक्ति प्रभावित हुई हो, दृष्टव्य केवल इतना ही है कि संतों द्वारा प्रकट अव्यक्त ब्रह्म की अनुभूति का निकट सम्बन्ध भारतीय अद्वैतवाद के अव्यक्त ब्रह्म और अपने पूर्ववर्ती योगी साधकों—नाथपंथियों—से था, यदि यह भी कहा जाय कि ब्रह्म के तत्त्वचिन्तन का स्रोत नाथपंथी अद्वैय आध्यात्म तत्त्व था तो कोई अत्युक्ति न होगी। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि संतों की वानियों पर तत्कालीन भक्तिधारा का प्रभाव नहीं पड़ा और उनके आध्यात्मिक विचार अपने गुणात्मक और रूपात्मक स्थिति में उनसे प्रभावित नहीं हुए, संतों में यह प्रभाव इतना अधिक है कि हम इसी कारण उन्हें किसी विशेष मध्ययुगीन दार्शनिक सम्प्रदायों में नहीं बाँध सकते। संतों में नाम का उपर्युक्त आधार मानकर हम उनके आध्यात्मिक विचारों का यथावत विवेचन कर सकते हैं।

गुण—परमतत्त्व को निर्गुण अथवा सगुण रूप में अनुभव करने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। हिन्दी के भक्त कवियों ने अत्यन्त प्राचीन धार्मिक स्रोतों से परम-तत्त्व के निर्गुण और सगुण रूप की उपासना की है। संतों की वानियों में उपलब्ध विचारों के आधार पर प्रायः यह अनुमान कर लिया जाता है कि संत ब्रह्म के सोपाधि और साकार रूप को नहीं मानते इसलिए निरुपाधि और निर्गुण रूप के उपासक हैं। यद्यपि संत निर्गुण और सगुण दोनों से पृथक परात्पर ब्रह्म की अनुभूति को ही मुख्य मानते हैं[2] फिर भी संतों द्वारा प्रयुक्त निर्गुण शब्द, ब्रह्म के गुणरहित और निष्क्रिय रूप का वाचक नहीं है। कुछ विद्वानों ने निर्गुणोपासक संत कबीर के राम के सम्बन्ध में यह शंका उठायी है कि कहीं कबीर के निर्गुण राम स्वामी शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्म की भाँति निष्क्रिय और निर्गुण तो नहीं हैं?[3] शंकराचार्य के ब्रह्म की

---

१ गोरखबानी शब्द संग्रह, पृ० २५९, २६३।

२ संतो, धोखा कासूँ कहिये।
गुन में निरगुन निरगुन में गुन, बाट छोड़ि क्यों बहिये॥
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथना जाई।
नाति स्वरूप वरण नहीं जाके घटि-घटि रह्यो समाई॥
प्यंड ब्रह्माण्ड कथै सब कोई वाके आदि अरु अंत न होई।
प्यंड ब्रह्माण्ड छोड़ि जे काह्य कहै कबीर हरि सोई॥
—कबीर ग्रन्थावली, पद १८०।

३ हिन्दी काव्य में रहस्यात्मक प्रवृत्तियाँ—डा० ब्रजमोहन गुप्त (हिन्दी अनुवाद), पृ० ४३।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्थिति संत कबीर की स्थिति से सम्बद्ध नहीं हो सकती है। इस प्रवन्ध में इस विषय पर चर्चा करना उपादेय भी नहीं है किन्तु कबीर, दादू, रैदास आदि संतों ने जब भी ब्रह्म को निर्गुण रूप में व्यक्त किया है तब उसका आशय एक नकारात्मक प्रणाली का संकेत मात्र ही समझना चाहिए।[1] गुणों के रूप में भक्तों द्वारा जिस गुणमय शरीर की कल्पना कर ली गयी, संतों को वह मान्य नहीं है। सत, रज और तम के रूप में जिन तीन सूक्ष्म गुणों की कल्पना की गयी है, संतों का ब्रह्म उससे पृथक ही प्रतीत होता है। कबीर कहते हैं :

राजस तामस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया।
चौथे पद को जो जन चीन्हे, तिनहिं परमपद पाया॥[2]

यद्यपि संतों ने ब्रह्म के गुणों को अपनी वानियों में प्रयुक्त किया है और उसके अनुसार वह भक्तवत्सल, दीनदयाल, करुणामय, सर्वसुखदान; दुःखभंजन, परमानन्द, दुरित निकंदन और गरीबनिवाज है।[3] किन्तु इसीलिये संतों की आध्यात्मिक धारा में हम उन्हें व्यक्त अथवा अव्यक्त सगुण के उपासक नहीं कह सकते।[4] संतों की दृष्टि में सगुण और अवतारी ब्रह्म के प्रति उपासना का भाव केवल वाह्य और ऊपरी व्यवहार है।[5] संतों द्वारा प्रयुक्त ब्रह्म के अनेक नाम इस तथ्य को स्पष्ट करने में सहायक होते हैं। सगुण अवतारों के रूप में जो उपास्य भक्तों के रहे हैं, संत कवियों ने उनका अर्थ ही बदल दिया है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पद ले सकते हैं :

अलह अलख निरंजन देव। किहि विधि करौं तुम्हारी सेव॥
विश्नु सोई जाको विस्तार। सोई कृस्न जिनि कियौ संसार॥
गोव्यंद ते ब्रह्मण्डहि गहै। सोई राम जे जुगिजुगि रहे॥
अलह सोई जिनि उमति उपाई। दस दर खोलै सोई खुदाई॥
लख चौरासी रब परवरै। सोई करीम जे एती करै॥
गोरख सोई ग्यांज गमि गहै। महादेव सोई मन की लहै॥
सिध सोई जो साधै इती। नाथ सोई जो त्रिभुवन जती॥[6]

उपर्युक्त पद में आने वाले पौराणिक अथवा लोक प्रचलित ब्रह्म के नाम रूप पर्याय अंततोगत्वा एक ब्रह्म की ही उपासना के प्रेरक हैं। यद्यपि सम्पूर्ण संत कवियों

---

१ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० १०८।
२ संतों की वानी, भाग १, पृ० ५३।
३ कबीर ग्रन्थावली,—पृ० १५३, १७२, १६४, १८६, १२५ आदि।
४ कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायन, पृ० १८४।
५ कहै कबीर विचार कर, ये ऊले व्यवहार।
याही के वे अगम हैं, सो वरति रह्यो संसार॥, कबीर ग्रन्थावली, पृ० २४३।
६ कबीर ग्रन्थावली, पदावली ३२७, पृ० १६६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के विषय में यह कथन व्यवहृत नहीं हो सकता कि उन्होंने पौराणिक नामों को आध्यात्म के रूप में प्रयुक्त किया है किन्तु संत-काव्य की उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संत गुणमय ब्रह्म की उपासना करने के बाद भी निर्गुण ब्रह्म के ही उपासक हैं।[1] यहाँ पर एक भिन्न तथ्य पर विचार कर लेना भी उपयोगी होगा। जब हम संतों को निर्गुण ब्रह्म का उपासक मानते हैं तब कुछ विद्वानों ने ऐसी सम्भावना व्यक्त की है कि संत कवि मुस्लिम एकेश्वरवाद से प्रभावित थे[2] किन्तु एक ब्रह्म के उपासक संतों का मूल-स्वर इस बात को स्वीकार नहीं करता। सगुण अथवा मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में आलोचनात्मक टिप्पणी करने वाले संत भारतीय ब्रह्मवाद के ही अनुयायी हैं। हिन्दू धर्म के वाह्य आडम्बर की भर्त्सना तो नाथपंथियों में भी किसी न किसी रूप में मिल जाती है। गोरखनाथ के नाम से प्रचलित एक कथन इस प्रकार है :

'सूर्य ग्रहण के समय मिट्टी के बर्तन और जलादि को अशुद्ध समझकर छोड़ देते हो किन्तु धान्य घृतादि को क्यों नहीं फेंक देते ? बात यह है कि जलाशयों में जल तो मिल जाता है और कुम्हारों के घर मिट्टी के बर्तन भी मिल जाते हैं, फिर क्यों न इन्हें त्यागकर आचारवान बन लिया जाय। पर घी और धान्य खरीदने में तो बहुत पैसे लगते हैं फिर इन्हें कैसे अपवित्र मानते ?[3] किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नाथपंथी भी किसी वाह्य प्रभाव के प्रतिफल थे। यह भारतीय लोकमानस का स्वाभाविक विकास ही माना जायगा। कबीर तो अपने ब्रह्म को 'एक' भी कहना नहीं चाहते :

एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा तैसा रहे कहै कबीर विचारि ॥[4]

परमतत्त्व यथार्थ में सगुण और निर्गुण दोनों से परे है, सिद्धान्ततः हम संतों को न तो निर्गुणवादी ही कह सकते हैं और न सगुणवादी ही, उनके मतानुसार वे अनुभूतिपरक हैं, निर्गुण एवं सगुण दोनों से परे हैं। अनुभव के पश्चात भी अनिर्वचनीय हैं। इससे पृथक यदि हम ब्रह्म को किसी विशेष गुण से सम्बद्ध मान लें अथवा निर्गुण घोषित करें तो वह यथार्थ में एक भ्रम की ही स्थिति होगी।[5]

---

१ **कबीर**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११७।
२ **हिन्दी साहित्य का इतिहास**—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
३ **निर्गुण काव्य दर्शन**—सिद्धनाथ तिवारी, पृ० ३६।
४ **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० १०७।
५ **गुण निर्गुण जहँ राखिये, दादू घर बन माँहि।**—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४६; दादू संत-काव्य, पृ० २६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाम और गुण के पश्चात् परमतत्त्व की रूपात्मक अनुभूति पर भी विचार करना उपयुक्त होगा।

रूप—संत कवि उच्चकोटि के भक्त माने गये हैं किन्तु जब हम उनके आध्यात्मिक विचारों की चर्चा करते हैं तो उन्हें निर्गुण निराकार का उपासक मान कर ज्ञानाश्रयी संज्ञा से विभूषित कर देते हैं। जिस परमतत्त्व के नाम और गुणों की कोई सीमा न हो, संतों के लिए उसकी रूपात्मक अभिव्यक्ति तो और भी कठिन कार्य है। रूप से विद्वानों का तात्पर्य नेत्रों द्वारा गृहीत गुण से है।[1] नेत्रों द्वारा गृहीत गुण प्रायः आकार से सम्बद्ध होते हैं, पर संत तो निराकार के उपासक हैं :

निश्चल निराकार अज अनुपम, निरभय गति गोविंदा।
अगम अगोचर अच्छर अतरक, निरगुन अंत अनंदा।।[2]

किन्तु निराकार के उपासक संत जब अपना आत्म-निवेदन व्यक्त करते हैं तब यह अनुमान बहुत तर्कपूर्ण नहीं प्रतीत होता कि वे निराकार के उपासक होकर भी ऐसी विह्वल स्थिति प्राप्त कर लेते हैं।[3] संतों का परमतत्त्व न रूप है और न अरूप, वही एकमेव है। वह सूक्ष्म है पर सर्वव्यापी भी है, विश्व के अणु-परमाणु में उसका विस्तार है, सम्पूर्ण जड़-चेतन उसके अरुणिम तन्तु से बँधे हुए हैं। वह 'पुहुपवास' से भी पतला है[4] और उसके रूप को भी कोई नहीं जानता :

आपणें रूप कौं आपहि जाणैं, आपैं रहे अकेला।[5]

किन्तु ब्रह्म के वेदान्ती रूप से पृथक होकर संतों ने उन्हें भक्त के भगवान के रूप में देखा है, यह तथ्य भी उपेक्षणीय नहीं है। सगुण भक्तों ने ब्रह्म के रूपात्मक तत्त्व को लेकर उसकी लीलाओं का विस्तार किया है, वे ब्रह्म के विशेषरूप (जिसमें व्यक्तिगत सम्बन्ध की कल्पना की जा सके) को प्रधानता देते हैं, किन्तु रूपात्मक दृष्टि से निर्गुण संतों ने ब्रह्म के निर्विशेष रूप को प्रधानता दी है।[6] जब केवल वही

---

१ **चक्षुर्मात्र ग्राह्यो गुणरूपम्**—तर्क संग्रह।
२ **संत-काव्य**—रैदास, पृ० २१३।
३ **नरहरि चंचल है मति मोरी।**
कैसे भगति करूँ मैं तेरी।।
तू मोहि देखै, हौं तोहि देखूँ, प्रीत परस्पर होई।
तू मोहि देखै, मैं तोहि न देखूँ, यह मति सब बुधि खोई।।
—रैदास, वानी, पृ० ७।
४ **पुहुप बास से पातरा, ऐसा तत्त्व अनूप।**—कबीर
५ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० १४०।
६ **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ८०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक तत्त्व है तब उसका विशेष रूप क्या हो ? जो उसमें लीन हो गया उसने सुख सागर प्राप्त कर लिया :

लीन निरंतर वपु विसराया। कहै कबीर सुख सागर पाया ।।[1]

उसके रूप का परिचय नाम से भी सम्भव नहीं है ।[2] संत उसे आत्मा में देखते हैं :

जहँ आतम तहँ राम है सकल रह्या भरपूर ।[3]

संतों ने ब्रह्म की व्यापकता और सूक्ष्मता में विश्वास रखते हुए भी उसकी दिव्य अनुभूति को अनेक रूपों में व्यक्त किया है । कहीं वह पीव है[4], कहीं भरतार है और कहीं पुरुष । ब्रह्म के गुणों को अपनी आत्मानुभूति से जो रूपात्मकता संतों ने प्रदान की है वह सगुण भक्त कवियों से पृथक कोटि की होती हुई भी भक्ति के क्षेत्र में नवीन नहीं है ।

उपर्युक्त संदर्भ से यह स्पष्ट है कि संतों की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में जहाँ ब्रह्म का नाम नाथपंथी साधकों की परम्परा का पोषक है वहाँ उसकी गुणात्मक और रूपात्मक अभिव्यक्ति वैष्णव भक्तों की प्रेम साधना का एक अंग है । किन्तु संतों की यह अभिव्यक्ति एक भिन्न कोटि की अभिव्यक्ति है । संतों के ब्रह्मनिरूपण में सूफी अथवा एकेश्वरवाद का कोई विशेष प्रभाव नहीं मिलता, परिस्थितिजन्य शब्द प्रयोगों एवं प्रभावों की बात भिन्न है । वास्तव में ब्रह्म ही परिपूर्ण रूप में इस सृष्टि में व्याप्त है ।[5]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रह्म के सम्बन्ध में संतों ने जो अनुभूति प्रकट की है वह अपनी विशेषता लिए हुए पृथक कोटि की ही सिद्ध होती है । उसके आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि :

(१) संतों ने ब्रह्म के परात्पर रूप को स्वीकार किया है । वह त्रिगुणातीत है, द्वैताद्वैत विलक्षण है, भावाभाव विनर्मुक्त है ।

(२) संत उस अव्यक्त सत्ता को एक विलक्षण व्यक्तित्त्व प्रदान करते हैं ।

(३) उसके प्रति भक्ति और प्रेम भाव प्रदर्शित करना ही उनकी साधना का लक्ष्य है ।

(४) परमतत्त्व की नाम, रूप तथा गुणात्मक अभिव्यक्ति केवल सुविधा की दृष्टि से की है वह परम्परा पोषित भी मानी जा सकती है ।

---

[1] कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३६ ।

[2] कुछ नाहीं का काम धरि, भरया सब संसार ।
सांच भूंठ समझै नहीं, ना कुछ किया विचार ।। —दादू

[3] दादू ।

[4] (अ) राम मेरो पीव, मैं पीव की बहुरिया, (आ) कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८७ ।

[5] खालिक खलक, खलक में खालिक, पूर रह्यो सब ठाई ।।—कबीर साहित्य की परख, पृ० ६३ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जीवतत्त्व—संतों का विश्वास है कि उस परमतत्त्व के अतिरिक्त कहीं कोई भी अन्य प्रकार का तत्त्व नहीं है।[1] जीवतत्त्व के सम्बन्ध में ब्रह्म से पृथक कोई विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं होती। वैसे कबीर ने जब इस पर विचार किया तब उन्होंने उसे भी नित्य और निरविकार ही माना है। यह शरीर के भीतर समझे जाने वाला आत्मतत्त्व भी उसी राम का अंश है—

ना इहु मानुष न इहु देव। ना इहु जती कहावै सेव॥
ना इहु जोगी न अवधूता। ना इहु भाई न काहू पूता॥
या मन्दर यह कौन बसाई। ना इहु राज न भीखमंगासी॥
ना इहु पिण्ड न रकतू राती। ना इहु ब्रह्मन ना इहु खाती॥
ना इहु तपा कहावै सेख। ना इहु जीवै न मरता देख॥
इसु मरते को जो कोई रोवै। जो रोवै सोई पति खोवै॥
गुरु प्रसादि मैं डगरो पाया। जीवन मरन दोऊ निरवाया॥
कहु कबीर इहु राम की अंसु। जस कागद पर मिटे न मंसु॥[2]

दादू भी आत्मा के पृथक अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते—

तन मन नाहीं मैं नहीं, नहि माया नहि जीव।
दादू एकै देखिये, दह दिसि मेरा पीव॥[3]

संतों के आत्मतत्त्व सम्बन्धी विचार नाथपंथियों के आत्मतत्त्व सम्बन्धी विचारों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। गोरखनाथ ने अपनी वानियों में यह बात प्रकट की है कि आत्मा ही सर्वोत्तम देव है, वही गुरु है, वही परमतत्त्व शिव है।[4] यह आत्मतत्त्व अभेद है—

न्हाईवै को तीरथ न पूजिबे कौ देव।
भणंत गोरखनाथ अलष अभेद॥[5]

उनके मतानुसार आत्मा और शिव एक ही स्थान के निवासी हैं।[6] नाथ-पंथियों ने परमानुभूतिगम्य तत्त्व राजाराम को आत्मा का स्वरूप कहा है और वही सब अंगों में निवास करता है।[7]

कबीर ने भी प्रायः वैसा ही कहा है—

---

१ हम तो एक-एक करि जाना।—संत-काव्य, पृ० १९०।

२ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३०१।

३ संत-काव्य, पृ० २९६।

४ आत्मा अन्तिम देव, ताही की न जाणों सेव।
आनदेव पूजि-पूजि हमही मरिये॥ —गोरखवानी, पृ० ९४।

५ गोरखवानी, पृ० १३६।

६ जीव सीव न सगै बासा ना बधि साहब रे रुध्रमासा।—गोरखवानी, पृ० १२६।

७ एही राजा राम आछै सर्वे अंग बासा।
एही पांचौं तत्त्व बाबू सहजि प्रकाशा॥ —गोरखवानी, पृ० १००।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत, जब आपा पर नहीं जाना ।
ज्यूं जल में जल पसि न निकसै, कहे कबीर मनमाना ।।[१]

संतों की दृष्टि में मूलतः जीवतत्त्व और परमतत्त्व एक ही है, जीव और ब्रह्म में दीख पड़ने वाली विभिन्नताएँ मिथ्या और भ्रामक हैं । कबीर इसकी स्पष्ट घोषणा करते हैं—

हम सब माहीं सकल हम माहीं । हम थे और दूसरा नाहीं ।।
तीन लोक में हमारा पसारा । अबगमन सब खेल हमारा ।।
खट दरसन कहियत हम पेखा । हमहीं अतीत रूप नहीं रेखा ।।
हमहीं आप कबीर कहावा । हमहीं अपना आप लखावा ।।[२]

कबीर के साथ प्रायः सम्पूर्ण संत जीव और ब्रह्म की एकात्मता पर बल देते हैं । रैदास ने अपनी एक बानी में कहा है—

कनक, कुण्डल सूत पट जुदा, रजु भुअंग भ्रम जैसा ।
जल तरंग पाहन प्रतिमा ज्यों, ब्रह्म जीव इति ऐसा ।।[३]

अथवा

जब हम होते तब तू नाहीं, अब तू है मैं नाहीं ।
अनल अगम जैसे लहरि मदूओवधि, जल केवल जल माहीं ।।[४]

इस सम्बन्ध में दादू का कथन भी दृष्टव्य है—

दादू देखौं निज पीव कौं, और न देखौं कोई ।
पूरा देखौं पीव कौं, बाहर भीतर सोई ।।[५]

रज्जब ने घट में ही ब्रह्म को देखा है—

सब घट घटा समान है, ब्रह्म बिजुली माँहि ।
रज्जब चिमकै कौन में सो समझै कोई नाँहि ।।[६]

संत सुन्दरदास ने भी आत्मा को परमात्मा ही माना है—

तू ही जीवरूप, तू ही ब्रह्म है आकाशवत ।
सुन्दर कहत मन मेरी सब दौर है ।।[७]

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १८७ ।
२ वही, पद ३३२, पृ० २००, २०१ ।
३ संत-काव्य, पृ० २१३ ।
४ वही, पृ० २१६ ।
५ वही, पृ० २६६ ।
६ वही, पृ० ३७६ ।
७ वही, पृ० ३६० ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उदाहरण रूप में प्रस्तुत उपर्युक्त संतों की वानियों से यह भलीभाँति प्रकट हो जाता है कि वास्तव में संत कवि नाथपंथियों से आगे बढ़कर जीव और ब्रह्म की अद्वय स्थिति को स्वीकार करते हैं किन्तु कालान्तर में आधुनिक युग के प्रारम्भ में कुछ संत जीव को ब्रह्म का अंश तो मानते हैं किन्तु वे उसे ब्रह्म नहीं मानते ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।[1] किन्तु यह मत पूर्णरूपेण समीचीन नहीं है, लोक चिन्ता के मध्य अनेक संत सम्प्रदाय जीव और ब्रह्म के बीच जिस प्रकार अनेक लोक और धरतियों को मानने लगे[2] वैसे ही अनेक दार्शनिक और भक्तिपरक मतवादों के प्रभाव से कुछ अस्पष्टता इस सम्बन्ध में अवश्य हो सकती है, फिर भी केवल इसीलिए जीव के सम्बन्ध में संतों की धारणा को बटी हुई नहीं माना जा सकता।

कबीर साहब के अनुसार यदि हम यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि हमारे भ्रमात्मक दृष्टिकोण तथा हमारे कर्मों ने हमें जीव और ब्रह्म की द्वैत भावना प्रदान की है जो यथार्थ नहीं है।[3] आत्मबोध हो जाने पर यह भावना स्वतः मिट जाती है।

जगत - संतों की दृष्टि में ब्रह्म और जीव एक ही परमतत्त्व का अभेद रूप हैं पर जगत के सम्बन्ध में भी संतों का मत स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में नाथपंथी साधक मौन हैं किन्तु संतों का आग्रह है कि जब सब कुछ ब्रह्म ही है तो जड़ पदार्थ भी ब्रह्म से पृथक नहीं है। जो कुछ दिखाई पड़ता है उसके सम्बन्ध में संतों ने अपनी वाणियों में यत्रतत्र प्रकाश डाला है किन्तु उनके ब्रह्म निरूपण के आधार पर यह स्पष्ट है कि जड़जगत वस्तुतः सत्य नहीं है, केवल अज्ञानवश ही उसे सत्य समझ लिया गया है।

कबीर कहते हैं—

> **दुइ दुइ लोचन पेखा। हौं हरि बिन और न देखा।।**
> **नैन रहे रंग लाई। अब बेगल कहन न जाई।।**
> **हमारा भरमु गया भय भागा। जब राम नाम चित लागा।।**
> **बाजीगर डंक बजाई। सभ खलक तमासे आई।।**
> **बाजीगर स्वांग सकेला। अपने रंग रवै अकेला।।**[4]

दादू सीधा प्रश्न करते हैं कि हे गुसाईं! इस जगत की सृष्टि क्यों की गयी है, किस विनोद का यह परिणाम है? यह एक अकथ कहानी है, तुम्हीं चाहो तो समझा सकते हो।[5]

---

१ **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० १२०।

२ **वही**, पृ० १११।

3 **भरम करम दोऊ मति परहरिया। झूठे नाऊँ साँच ले धरिया।।**
रजनी गत भई रवि परकासा। भरम करक घूँ केर विनासा।।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २३७।

४ संत-काव्य, पृ० १८८।

५ **क्यों कर यहु जग रच्यो गुसाईं।**
तेरे कौ विनोद बन्यो मन माँही।।
—संत-काव्य, पृ० २८८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सुन्दरदास ने ब्रह्म में ही जगत को देखा है—

ब्रह्म माँहि यह जगत देखियत, व्योम मांहि घन योंही।
जगत अभ्र उपजै अरु बिनसै, वै हैं ज्यों के त्योंही ॥[१]

संतों की दृष्टि में यह जगत धुएँ के मेघ के समान है, अस्थिर है,[२] इसलिए झूठा है, क़ब समाप्त हो जाय कुछ पता नहीं।[३] केवल परमात्मा ही सत्य है।

संतों के जगत विषयक अनुभव के सम्बन्ध में डा० बड़थ्वाल ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि निर्गुण संतों ने समस्त सांख्य ज्ञान को अपनी विचारधारा में मिला लिया है।[४] दार्शनिक दृष्टि से सांख्य दर्शन में सृष्टि विकास का सर्वोत्तम परिचय उपलब्ध होता है। योग ने तथा अन्य दर्शनों ने उसे यथावत् स्वीकार कर लिया है किन्तु यदि हम इस तथ्य पर तर्कपूर्ण रीति से विचार करें तो ज्ञात होगा कि संतों ने सृष्टि के क्रम विकास के सम्बन्ध में केवल जिज्ञासा मात्र ही की थी[५] अथवा सांख्य के तीन, पाँच, पच्चीस तत्त्वों को कहीं-कहीं प्रकट किया है, संतों का सृष्टि विकास पूर्णतया किसी दर्शन विशेष पर आधारित नहीं है। दर्शन का विधिवत् अध्ययन करने वाले संत सुन्दरदास ने अवश्य ही सृष्टि क्रम का सांख्य दर्शन के अनुसार वर्णन किया है किन्तु उन्हें भी शंका है कि कहीं इस सृष्टि को कोई सत् न मान ले?

ब्रह्म ते पुरुष अरु प्रकृति प्रकट भई प्रकृति ते महतत्त्व अहंकार है।
ऐसे अनुक्रम से सिस्मन सौं कहत सुन्दर यह सकल मिथ्या भ्रमजार है ॥[६]

संतों ने इसीलिए इस जगत का वर्णन बिना धड़ के वक्ष के रूप में भी किया है।[७] सांख्य और योग दर्शन के लोक प्रभाव के फलस्वरूप जब कुछ अनुयायियों ने पाँच, पच्चीस, आदि तत्त्वों के सम्बन्ध में प्रश्न किया तब संतों ने उसे भी नकारात्मक रूप में स्वीकार किया है। यथार्थ में परब्रह्म ही एकमेव सत्य है, न जीव और न जगत। ऐसी स्थिति में संतों का प्रमुख रूप से यही आग्रह है कि यह जगत मिथ्या है, असत्य है, माया है।

---

१ **संत-काव्य**, पृ० ३८८।

२ **यहु संसार इसौ रे प्राणी, जेसौ धूवरि मेह।**
तन धन जो बन अंजुरी को पानी, जात न लागै बार ॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १९४।

३ **प्राणी प्रीति न कीजिये, इहि झूँठे संसारो रे।**
धूवां केरा धौलहर, जात न लागै बारी रे ॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२०।

४ **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० १२८।

५ **कबीर ग्रन्थावली** (भूमिका), पृ० ४६।

६ **सुन्दर विलास**।

७ **तरवर एक पेड़ बिन ठाड़ा, बिन फूला फल लागा।**
साखा पत्र कछु नहिं पाके, अष्टगगन मुख बागा ॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

माया और मायावाद

संतों ने माया की घोर निन्दा की है। कबीर उसे रघुनाथ की माया ही कहते हैं जो शिकार खेलने निकली है और साम्प्रदायिक जालों में फंसाकर मुनि, पीर, जैन, जोगी, जंगम, ब्राह्मण और संन्यासी को मार रही है।[१]

> **वह वेश्या है[२] डाकिनी है[३] कड़वी बैल है[४]।**
> **आंगन बेल, अकास फल, अनव्यावर का दूध।**
> **ससा सींग की धूनहड़ी, रमै बांझ का पूत॥[५]**

दादू की दृष्टि में भी माया सर्प के समान है, वह कनक और कामिनी बनकर सम्पूर्ण सृष्टि को डस रही है—

> **माया सांपणि सब डसै कनक कामिणी होइ।**
> **ब्रह्मा विश्नु महेस लौं, दादू बचे न कोई॥[६]**

माया ही जीव और परमात्मा के मध्य मेल उत्पन्न करती है। वह बड़ी विश्वासघातिनी है।[७] इस माया का सृजन सत, रज और तम से मिलकर हुआ है—

> **सत, रज तम मैं कीन्ही माया।[८]**

यह माया ही सम्पूर्ण भरम-करम की मूल प्रेरक है तथा ये भरम-करम अनादि हैं। तब संतों का इस सम्बन्ध में इस प्रकार का कथन कभी-कभी उपयुक्त समझ में नहीं आता। संतों की माया सम्बन्धी धारणा के दो पक्ष प्रतीत होते हैं—एक पक्ष लोकाभिव्यक्तिसम्मत है, दूसरा वेदान्तपरक। लोक जीवन में भौतिक सुखों और कर्मों के मध्य व्यस्त मनुष्यों के लिए दुख का कारण माया ही है, किन्तु वेदान्तपरक स्थिति में माया कुछ है ही नहीं, यदि उसे कुछ कहा जा सकता है तो यही कि वह परमसुन्दरी है जिसका स्वभाव है संसार को ठगना, उस ठगनी का परित्याग करने की कोई लाख चेष्टा करे वह पिण्ड नहीं छोड़ती और उसे बार-बारप कड़ती रहा करती है। वह जल, थल और आकाश में सर्वत्र एक समान व्याप्त है और कभी-कभी माता-पिता, स्त्री-

---

१ **तू माया रघुनाथ की, खेलण चली ऊहेड़े।**—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १८७।
२ **कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३२।**
३ **वही, पृ० ३४।**
४ **वही, पृ० ८६।**
५ **वही, पृ० ८६।**
६ **संत सुधासार, पृ० ४७८।**
७ **जांणौं जे हरि को भजैं, मो मन मोरी आस।**
हरि बिचि घालै अंतरा, माया बड़ी बिलास॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३३।
८ **कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२५।**

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पुत्र आदर-मान और जप-तप के रूप में बन्धन में डाल दिया करती है।[1] श्री परशुराम चतुर्वेदी ने ठीक ही अनुमान किया है कि यह माया ही वस्तुतः उस परमतत्त्व की नटसारी की लीला भी है और वही यह सत, रज और तम के रूप में दीख पड़ने वाली त्रिगुणात्मिका प्रवृत्ति भी है जिसका 'पसारा' सारे जगत के रूप में लक्षित होता है और जो इस प्रकार के जाल में फँसाकर 'अहेड़े' का शिकार करने निकली है।[2]

संतों का माया विषयक यह वर्णन इस बात की पुष्टि करता है कि संतों का ब्रह्मनिरूपण वेदान्त से प्रभावित है और उनका परमतत्त्व ब्रह्म ही है जिसे 'कर्त्ता' की उपाधि भी संतों ने प्रदान की है। माया के विषय में कबीर आदि संतों का आधार कुछ बातों को छोड़कर वेदान्त की त्रिगुणात्मिका प्रवृति ही माना जायगा।[3] यद्यपि ब्रह्म, जीव और माया के पारस्परिक सम्बन्धों को लेकर कुछ विद्वानों ने संतों की माया विषयक धारणा को केवल वेदान्तसम्मत होना स्वीकार नहीं किया है अपितु उसके आधार पर संतों की विभिन्न दार्शनिक धाराओं का विवेचन भी किया है जिस पर पृथक से विचार किया गया है। संतों के मूल आध्यात्मिक चिन्तन से जब हम उनके माया विषयक प्रसंग को मिलाते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी मूल स्थिति में संतों के लिए माया और अविद्या में कोई भेद नहीं है। भारतीय जीवन में पन्द्रहवीं शताब्दी में व्याप्त मायावाद के प्रभाव के फलस्वरूप संतों का दृष्टिकोण भी सगुण भक्ति भावना से असम्बद्ध माया विरोधी ही बना रहा। हो सकता है कालान्तर में अनेक वैष्णव सम्प्रदायों के प्रभावस्वरूप कुछ संतों ने 'माया' को कर्त्ता से भिन्न माना हो किन्तु हम केवल ऊपरी प्रभाव पर यह नहीं कह सकते कि संतों ने दार्शनिकों की भाँति उसे तर्कसहित भिन्न मानकर अपने मत की स्थापना की हो।

मायावाद पर भारतीय दार्शनिकों द्वारा समय-समय पर विचार व्यक्त किये गये हैं किन्तु मध्ययुग में स्वामी शंकराचार्य ने माया के सम्बन्ध में शास्त्रीय ढंग से कुछ स्थापनाएँ की हैं। स्वामी शंकराचार्य का माया विषयक सिद्धान्त मध्ययुग की विचाराधारा में मुख्यरूप में प्रतिष्ठित हुआ और जैसा कि हमने पिछले अध्यायों में प्रकट किया है, माया के प्रश्न को लेकर दार्शनिकों के अनेक सम्प्रदाय बने। संतों ने इन दार्शनिक सम्प्रदायों से विशेष सम्बद्ध न होते हुए भी अपने अनुभव के आधार पर माया को विरोधात्मक गुणसम्पन्न बेलि कहकर उसकी अनिर्वचनीयता को स्वीकार किया है।

---

१ माया तजूं तजी नहीं जाई। फिर फिर माया मोहि लपटाइ॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११४।

२ कबीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ६४।

३ 'कबीर ने माया के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह वस्तुतः वेदान्त द्वारा निर्धारित अर्थ में ही। —डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० १०८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जो काटो तो डहडही सींचो तो कुम्हलाय।
इस गुणवन्ती बेल का कुछ गुण कहा न जाय ।।[१]

स्वामी शंकराचार्य माया को भ्रम रूप मानते हैं[२]—

अध्यासो नाम अनस्मित् तद्बुद्धिः ।

जो वस्तु अस्तित्वमय न होते हुए भी अस्तित्वमय प्रतीत हो इस प्रकार के भ्रम को स्वामी शंकराचार्य ने अध्यास कहा है। माया भावमय भ्रम है। संतों ने और विशेषतः संत कबीर ने माया को इसी रूप में माना है—

पाहण केरा पूतला, करि पूजै करतार।
इही भरोसे जे रहे तो बूड़े कालीधार ।।[3]

विद्वानों का मत है कि वेदान्त में जिसे माया कहा गया है, सांख्यमत वाले उसी को प्रकृति कहते हैं। यह माया या प्रकृति त्रिगुणात्मिका और प्रसव-धर्मिणी कही गयी है। यह स्वयं अव्यक्त है किन्तु व्यक्त महत्त्व की जननी है।[४] सांख्य द्वैत दर्शन है किन्तु अद्वैत वेदान्त के अनुयायी विद्वानों ने उसे अपने अनुरूप मानकर माया का विशद विवेचन किया है। पक्ष और विपक्ष को मिलाकर यदि देखा जाय तो मायावाद अतुलनीय साहित्य है किन्तु संत-काव्य का उससे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है। जैसा कि ऊपर की पंक्तियों से स्पष्ट है, संतों के माया विषयक वर्णन शंकराचार्य के अध्यास से मेल खाते हैं किन्तु लोक में प्रचलित पुराण एवं भागवत के प्रभावों से भी अछूते नहीं हैं। माया परिवर्तशील है—

कबीर माया डोलती पवन बहै निरधार।[५]

वह स्वभाव से व्यभिचारिणी है, आकर्षणमय है, भक्ति के माध्यम में बाधक बनकर उपस्थित होती है, वह अव्यक्त है और भेद बुद्धि की जनक है—

मोर तोर करि जरे अपारा। मृग तृष्णा झूठी संसारा ।।[६]

दर्शनशास्त्रियों की भाँति संतों ने माया के भेद नहीं किये हैं। कुछ विद्वानों का ऐसा विचार है कि कबीर आदि संतों ने माया के समान किसी निरंजन पुरुष की भी चर्चा की है।[७] निरंजनी सम्प्रदाय में निरंजन की अत्यधिक महिमा गायी गयी है,

---

१ **कबीर ग्रन्थावली,** पृ० ८६।
२ **ब्रह्मसूत्र** १/१/१।
3 **कबीर ग्रन्थावली—'भ्रम बिधौं सण कौ अंग',** पृ० ४३।
४ **कबीर की विचारधारा**—डा० त्रिगुणायन, पृ० २३८।
५ **कबीर ग्रन्थावली**—पृ० २५७।
६ वही, पृ० २३३।
७ **कबीर की विचारधारा**—डा० त्रिगुणायन, पृ० २४६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि निरंजन कोई प्राचीन प्रच्छन्न बौद्धमत था, कबीर मत को जिससे निपटना पड़ा था,[१] कुछ बातें कबीर मत में ग्रहण भी की गयी होंगी किन्तु बाद में निरंजन को परम पुरुष से पृथक धोखेबाज पुरुष समझा जाने लगा है।[२] आगे चलकर शिवदयाल आदि संतों ने निरंजन को परमपुरुष रूप सिन्धु की एक बूँद मान लिया और उसने माया के संयोग से सृष्टि की रचना की।[३] माया के सम्बन्ध में विचार करते हुए यदि हम संतों की वाणियों का अनुशीलन करें तो उसमें अनेक अवान्तर प्रसंग हमें मिल सकते हैं। बंधु बान्धव और नारी के सम्बन्ध में विरक्ति भाव की घोषणा, संतों की माया विषयक अभिव्यक्ति में मिल जाती है। कबीर कहते हैं—

पुत्र कलत्र लछमी माया इहै तजहूँ जीऊ जानी रे।[४]

लोक चिन्तन में माया का इतना व्यापक प्रभाव हुआ कि सामाजिक व्यवस्था के सूत्रों के प्रति तो विरक्ति भावना बलवती होती ही गयी, पारिवारिक सम्बन्धों में भी विरक्ति भाव का बीजारोपण हो गया। फलतः दार्शनिक पृष्ठभूमि से अवतरित माया की भावना लोक जीवन में मिलकर विरक्त गृहस्थभाव में परिणत हो गयी। संतों ने सामान्य रूप से उसे प्रतीक रूप में ही आरोपित किया है।

नाथ पंथ की प्रभावशीलता

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संतों का तत्वचिन्तन तथा उनके आध्यात्म सम्बन्धी विचार सत्संग एवं लोक चिन्ता के माध्यम से ही संतों द्वारा ग्रहण किये गये थे। संत-काव्य के आविर्भाव के समय नाथ पंथ का प्रभाव पूरे भारत में था इसमें दो मत नहीं हो सकते। आध्यात्मिक चिन्तन के रूप में ब्रह्म, जीव, जगत और माया के सम्बन्ध में जो भी विचार उस समय लोक में प्रचलित थे उनका साधना की दृष्टि से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध नाथ पंथ से था यह हमने उपर्युक्त विवेचन में स्पटष्तया देखा है। यद्यपि संतों का ब्रह्म विचार नाथपंथियों का द्वैताद्वैत विलक्षण भाव नहीं है किन्तु संत जब ब्रह्म पर विचार करते हैं जो ज्योतिमय स्वरूप की कल्पना भी करते हैं और उसी रूप में उसे खोजने के लिए उन्हें बाहर नहीं भटकना पड़ता।[५] संतों की आत्मा सम्बन्धी धारणा प्रायः अद्वैतानुभूति से अनुप्राणित है, नाथपंथी रचनाओं में भी वही रूप मिलता है और संतों में भी। जगत और माया के सम्बन्ध में

---

१ **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ९०।
२ **हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय**—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० १६२।
३ **सार वचन** (भाग २), पृ० ७८, ७९।
४ **कबीर वचनावली**, पृ० १५२।
५ **राम मोहि तारि कहाँ लै जैहौ।**
सौ बैकुण्ठ कहौं धूं कैसो॥
—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० ११४।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

संतों की स्थापनाओं में लोक प्रचलित अनेक रूपों के दर्शन होते हैं, जबकि नाथपंथी उनकी साधनात्मक अवस्था मुख्य रूप से स्वीकार करते हुए उन्हें हेय बताकर वैराग्य की चर्चा करते हैं। शैली की दृष्टि से भी उनमें इतना अधिक साम्य है कि हम स्पष्ट ही उन पर नाथ पंथ की प्रभावशीलता को स्वीकार कर लेते हैं किन्तु प्रभाव की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए संतों के आध्यात्म सम्बन्धी विचारों में स्वानुभूति की उत्कट अभिलाषा और मौलिक उद्भावना के दर्शन भी होते हैं, यह इस पक्ष में कम महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है।

संत मत पर विविध साम्प्रदायिक आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मतों का प्रभाव

आध्यात्म विषयक तत्त्वों के सत्तात्मक सम्बन्धों की चर्चा करते हुए डा० बड़थ्वाल ने यह प्रकट किया है कि संतों में कम से कम तीन प्रकार की दार्शनिक विचारधाराओं के स्पष्ट दर्शन होते हैं। वेदान्त के पुराने मतों के नाम से यदि उनका निर्देश करें तो उन्हें अद्वैत, भेदाभेद और विशिष्टाद्वैत कह सकते हैं।[1] पहली विचारधारा में कबीर, दादू, सुन्दरदास, जगजीवन मीरख और मलूक माने गये हैं। नानक भेदाभेद को मानते हैं और शिवदयाल, प्राणनाथ, दरिया द्वय, दीन दरवेश, बुल्लेशाह विशिष्टाद्वैत को मानते हैं। यद्यपि डा० बड़थ्वाल एवं अन्य विद्वानों[2] का प्रयत्न इस सम्बन्ध में शोधपूर्ण है फिर भी संतमत के निर्माण में जिन तत्त्वों का विशेष हाथ है उनके अनुशीलन के पश्चात् यह एक प्रकार का पूर्वाग्रह ही माना जायगा। डा० बड़थ्वाल ने विशिष्टाद्वैत के उदाहरणस्वरूप जिन पक्तियों को उद्धृत किया है[3] वे सामान्यतः अपने पूर्ववर्ती संतों से भिन्नता बताने वाली संत सम्प्रदायों की कतिपय पक्तियाँ ही हैं। उनमें दार्शनिक सम्प्रदाय भेद का वह आग्रह नहीं है। वैसे सारग्रही होने के नाते संतों में दार्शनिक उक्तियों का प्रयोग भी मिलता ही है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक स्थल पर लिखा है कि जब हम शंकर, रामानुज और रामानन्द के वेदान्त मत की चर्चा करते हैं तो हमारा मतलब एक पूरे तत्त्ववाद (फिलासॉफिकल सिस्टम) से होता है किन्तु कबीर की वाणियाँ वह चीज नहीं हैं। वेदान्त मत को पाँच मोटे विभागों में बाँटा जा सकता है—धर्म विज्ञान, सृष्टि तत्त्व, अन्तःकरण विज्ञान, मोक्ष विज्ञान, और जन्मान्तर व्यवस्था। इसमें प्रथम और अन्तिम के विषय में कबीरदास ने स्पष्ट भाषा में अपना मत व्यक्त किया है पर बाकी तीन के विषय में उनका मत अनुमान सापेक्ष ही है।[4] स्वयं डा० बड़थ्वाल ने इस बात को स्वीकार

---

[1] हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ११४।
[2] निर्गुण काव्य दर्शन—सिद्धिनाथ तिवारी, पृ० १५३।
[3] हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १२०।
[4] कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ९८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

किया है कि इन निरक्षर साधु-संतों ने पोथियाँ लेकर उपनिषद् का अध्ययन नहीं किया था[1] किन्तु फिर भी यदि हम संतों में दार्शनिक सम्प्रदायों का आरोप कर लें तो हम इस तथ्य से अपने आपको असम्बद्ध कर लेते हैं कि अनुभव के आधार पर संतों ने अपने आध्यात्मिक विश्वासों को स्थापित किया था और उनकी सम्पूर्ण धारणाएँ लोक प्रभाव और अनुभव का सम्मिश्रण हैं। हमने देखा है कि संतों के यहाँ कोरी दार्शनिकता का कोई महत्त्व नहीं है जिससे यहाँ परमतत्त्व जीव एवं जगत के वास्तविक स्वरूप तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध आदि पर विस्तृत विचार किया गया पाया जाय। उनका इस सम्बन्ध में प्रत्येक अनुभव प्रासंगिक रूप में हुआ है, कहीं-कहीं उनका वर्णन दार्शनिक पद्धति पर हुआ है तो कहीं ऐसे रूपों में चित्रित किया गया है जो सर्वथा स्पष्ट नहीं माना जा सकता।

संतों की रचनाओं में हमें विभिन्न मतों की चर्चा दीख पड़ती है, कभी वे किसी विशेष मत की ओर आकृष्ट समझ में आते हैं तो कभी वे उसकी खरी आलोचना करते हुए प्रतीत होते हैं। वे यथार्थ में उस नाथपंथी परम्परा के साधक हैं जिसमें साधु को वादविवाद से कोई प्रयोजन नहीं है :

कोई वादी कोई विवादी जोगी को वाद न करना।
अठसठि तीरथ समंदि समावै यूं जोगी को गुरुमुखि जरना ॥[2]

तर्कपूर्ण एवं पांडित्यप्रवण आध्यात्मिक चिन्तन में तथा अनुभवगम्य ब्रह्म जिज्ञासा में एक मूलभूत अंतर है। आचार्यों ने जिस दार्शनिक पृष्ठभूमि में अपने सम्प्रदायों का गठन किया है उसका इतिहास भारतीय दर्शनों एवं सम्प्रदायों में सुरक्षित है किन्तु ब्रह्म जिज्ञासु संतों का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में आचार्यों से मेल नहीं खाता। कबीर का यह कथन कितना मार्मिक है :

कथनी बदनी कहनु कहावनु।
समझि परी तउ विसरिओ गावनु ॥[3]

संतों की दार्शनिक पहुँच उनकी अनुभव की वस्तु है। कभी-कभी विद्वानों ने उनके सिद्धान्तों को लेकर कुछ संतों में अद्वैतवाद, कुछ में विशिष्टाद्वैत तथा कुछ में भेदाभेद के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं किन्तु यदि इसकी विस्तृत मीमांसा करें तो हमें सहज ही ज्ञात हो जायगा कि एक ही संत में ये तीनों विचारधाराएँ मिल जायेंगी इसलिए जहाँ दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रभाव का प्रश्न है वहाँ पर अद्वैत वेदान्त के उस लोकसम्मत मतवाद का विशेष प्रभाव कह सकते हैं जिसमें संसार से हटकर युक्ति की जिज्ञासा बलवती है, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में वहीं गुणमय ब्रह्म की उपासना के

---

१ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १६०।
२ गोरखबानी, सबदी, १३, पृ० ५।
३ संत-काव्य, प्रारम्भिक युग, पृ० १६७।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सूत्र भी हमें उनमें मिल सकते हैं। प्रेम के स्पर्श ने संतों की अद्वय ब्रह्म की कल्पना को विश्व मानवतावाद में परिणत कर इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि उनका मत किसी विशेष दर्शन से अनुप्राणित नहीं है, विद्वत्ता उनका हेतु नहीं। अनुभव ही उस स्वाभाविक चिन्ता की जनक है।

कबीर ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि—

मैं जान्यूं पढ़िवौ भलौ, पढ़िवा थैं भलौ जोग।
राम नाम सूं प्रीति कर, भल भल नींकौ लोग ॥[1]

इस दोहे में कबीर ने राम शब्द का प्रयोग तो किया किन्तु इससे यह ध्वनित नहीं होता कि वे दाशरथ्य राम के उपासक होकर वैष्णवता का प्रतिपादन कर रहे हैं।

ब्रह्म, जीव और जगत के सम्बन्ध में यदि संतों ने कुछ भिन्न-भिन्न मत भी व्यक्त किये हों तो भी हम उनके आधार पर यह नहीं कह सकते कि संतों में भी दार्शनिक आचार्यों के भिन्न-भिन्न अनुयायी मिलते हैं। साम्प्रदायिक आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मतों का प्रभाव संतों पर अप्रत्यक्ष रीति से पड़ा है, उनके आध्यात्म विषयक विचारों को हम कुछ हेर-फेर के साथ संतों एवं भक्तों के सामान्य विश्वास कह सकते हैं जो मध्ययुग की धार्मिक परिस्थितियों के परिणाम भी माने जा सकते हैं। जैसा कि पूर्व प्रकट किया जा चुका है मध्ययुग में लोक चिन्ता का आग्रह प्रबल रहा है। उसमें दार्शनिक मतवाद भी है किन्तु जहाँ जितना संतों को अनुकूल और आवश्यक समझ में आया, संतों ने उसे स्वीकार कर लिया। उनके अनुभव आत्मदृष्टि के कारण इतने मर्मस्पर्शी बन पड़े हैं कि हम उन्हें किसी दार्शनिक मतवाद के अनुकूल मान लेते हैं। दादू ने कहा है—

चरम दृष्टि देखे बहुत आतम दृष्टा एक।
ब्रह्म दृष्टि परचै भया, तब दादू बैठा देख ॥[2]

संतों का दर्शन उपनिषद्गत दर्शन नहीं, आभिजात्यवर्गीय दर्शन नहीं प्रत्युत वह तो आत्मानुभूतिजन्य जीवन दर्शन है।

साधना पद्धति

हठयोग

संतों की साधना पद्धति के विषय में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुमान किये हैं किन्तु नाथपंथी साधकों की हठयोगी साधना से संतों की साधना का क्या सम्बन्ध है यह भी एक विचारणीय विषय है। संतों की साधना को वस्तुतः आत्म-विचार की साधना ही कहना उपयुक्त होगा।[3] उत्तर भारत में संतों को पृष्ठभूमि के

---

१ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० ३८।
२ **संत-काव्य**, पृ० २६३।
३ **कबीर साहित्य की परख**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ९६।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रूप में जिन नाथपंथी योगियों का साधनाप्रधान वातावरण प्राप्त हुआ था उसके सम्बन्ध में संतमत में दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हुई प्रतीत होती हैं। पहली प्रतिक्रिया तो यह हुई कि हठयोग केवल एक साधना माना गया, सिद्धि नहीं और इसलिए जिस ब्रह्म अग्नि के प्रज्वलित करने में नाथपंथी अपनी काया साधना में रत थे उसके रहस्य तक संतों ने पहुँचने का प्रयत्न किया और उसकी उपादेयता को उसी रूप में स्वीकार नहीं किया। दूसरी प्रतिक्रिया यह हुई कि संतों ने एक ऐसी सहज साधना को जन्म दिया जिसका मुख्य साधन निर्गुण भक्ति के रूप में प्रस्फुटित हो सका किन्तु वहाँ भी गलदश्रु भावुकता को कोई स्थान नहीं मिला। यदि हम सूक्ष्मरूप में संतों की साधना के विषय में कुछ कह सकते हैं तो यही कि संतों की साधना क्लिष्ट कायायोग से चलकर आत्मा के सहजशील तक पहुँचने की प्रायोगिक साधना है। संतों की साधना के स्वरूप निर्धारण में संत कबीर का प्रमुख हाथ है।

नाथपंथी साधना के सम्बन्ध में पूर्व में विस्तार से चर्चा हो चुकी है। नाथ पंथ एक साधना प्रधान पंथ ही माना गया है। नाथपंथी साधना में भी हमें सहज साधना के सूत्र मिल जाते हैं,[1] यद्यपि हठयोग से सहजशील की साधना के विभिन्न प्रयोग संतों के अपने प्रयोग हैं। डा० त्रिगुणायन का अनुमान है कि स्वयं संत कबीर ने योग के क्षेत्र में प्रचलित समस्त योग साधनाओं की परीक्षा करके अपना स्वानुभूतिमूलक सहजयोग प्रतिपादित किया है जिसका पर्यवसान प्रपत्तिमूलक भक्तियोग में हुआ है।[2] किन्तु संतों की वाणियों में अपनी साधना का कोई स्पष्ट वर्णन उपलब्ध नहीं होता और न उसके स्वरूप अथवा क्रमिक विकास का ही कहीं उल्लेख है[3] फिर भी संकेतों के रूप में जितनी सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर हम यही कह सकते हैं कि संतों की साधना पद्धति केवल तर्क पर आधारित पद्धति नहीं है। संत कबीर का कथन इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है :

समुझि विचारि जीव जब देखा, यह संसार सुपन कर लेखा।
भई बुद्धि कछु ग्यान निहारा आप ही आप किया विचारा ॥[4]

किन्तु संतों ने जिस आत्मविचार को प्रधानता दी है उसके साथ ही अनेक परम्परागत साधनाओं को भी अपने अन्दर पल्लवित पाया है जिनका प्रभाव मध्ययुग की साधना पद्धति पर विशेषरूप से था। ये साधनाएँ मुख्यतः हठयोग की साधनाएँ तथा तांत्रिक उपासनाएँ थीं। नाथपंथी साधना और संतों की हठयोग की साधना में भी हमें दो धुरी केन्द्रों का अन्तर मालूम पड़ता है तथा तांत्रिक उपासनाएँ तो लोक-

---

[1] **गोरखवानी २७, पृ० ११।**
[2] **कबीर की विचारधारा**—डा० त्रिगुणायन, पृ० २६८।
[3] **कबीर साहित्य की परख**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ९६।
[4] **कबीर ग्रन्थावली, पृ० २३४।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विरोधी होने के कारण संतों को कभी ग्राह्य न हो सकीं । इसका कारण सम्भवतः यही है कि संत अपनो मूल विचारधारा में समस्त धर्मसाधनाओं के विकृत एवं जटिल रूप को वाह्याचार ही समझते थे । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर की साधना पद्धति पर दृष्टिपात करते हुए एक स्थल पर ठीक ही लिखा है कि कबीरदास योगिक क्रियाओं को भी वाह्य आचार ही मानते थे । वे उन सारी क्रियाओं को सहजावस्था की प्राप्ति का कारण नहीं मानते थे ।[1] यही कारण है कि संतों ने योग को साधनाओं का वर्णन तो किया है और उसके महत्त्व को भी स्वीकार किया है किन्तु वे उसे अपनी साधना का मूल हेतु न मान सके । स्वयं कबीरदास अनहद का बजना तो स्वीकार करते हैं पर वही एक परम सत्य नहीं है, सत्य है उसे बजाने वाला :

बाजे जंत्र नाद धुनि हुई । जो बजावै सो औरे कोई ॥
बाजी नाचै कौतिग देखा । जो नचावै सो कितहु न पेखा ॥[2]

हमें ज्ञात है कि नाथपंथी साधना मुख्यतः पिण्ड, वायु और मन की साधना है,[3] साथ ही वज्रयानी सिद्धों के सहज पंथ की विरोधी प्रवृत्ति का भी उसमें उन्मेश है । ऐसा प्रतीत होता है कि नाथपंथियों में काया साधना का लक्ष्य इतना महत्त्वपूर्ण था कि गोरखनाथ ने उस व्यक्ति को ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी नहीं माना जो काया को निरोगी न रख सकता हो, जिसने अपने मन को अपने अधीन न किया हो और योग की साधनाओं को केवल कहकर ही प्रकट कर दिया करता हो ।[4]

हठयोग का यह दूसरा रूप इतना मुखर हुआ कि बाद में नाथपंथियों में या तो केवल कायाशोध के प्रयोग ही शेष रहे या उनमें भोगपरक गुह्य साधना का समावेश हो गया । जहाँ तक चित्त की दृढ़ता और मन के संयम के प्रश्न हैं, गोरखनाथ तथा संतों की वाणियों में बहुत कुछ एकरूपता दृष्टिगत होती है । गोरखनाथ ने कहा है—

नाथ कहे तुम सुनहु रे अवधू दिठ करि राखहु जीया ।
काम क्रोध अहंकार निबारौ, तौ सबै दिसंतर कीया ॥[5]

कबीर का कथन भी कुछ इसी प्रकार है—

काया करूं कमांण ज्यूं, पंचतत्त्व करि वांण ।
मारौं तौ मन मृग कौं, नहीं तो मिथ्या जांण ॥[6]

---

१ **कबीर**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६३ ।
२ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० २३० ।
३ **इसी प्रबन्ध का अध्याय** २ ।
४ **गोरखबानी**, बानी १५२, १५३, पृ० ५२ ।
५ **गोरखबानी**, पृ० ११ ।
६ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० ३० ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दादू का मत है—

मन का आसण जे शिव जाणै, तो बैर ठौर सब सूझै ।
पंचौ आणि एक धरि राखै, तब अगमनिगम सब बूझै ।।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि संतों तक आते-आते लोक जीवन से योगपरक सहजयानी गुह्य साधनाएँ प्रायः लुप्त हो चुकी थीं और नाथपंथियों ने जिस आत्मसंयम और नैतिक आचरण पर बल दिया था, अब लोक में उसकी उतनी उपादेयता न रही होगी, साथ ही नाथपंथी योगी भी तब तक लकीर के फकीर हो चुके थे, उस समय उत्तर भारत में हठयोग की पद्धति ही भक्ति के सान्निध्य से संतों द्वारा सहज साधना में परिवर्तित हुई ।

संतों में निम्नलिखित साधनाएँ प्रमुख रूप से मिलती हैं :

(१) हठयोग अथवा कुण्डलिनी योग ।
(२) शब्द सुरति योग ।
(३) सहज योग अथवा सहज साधना ।

यद्यपि हमें योगसाधना के ये भिन्न-भिन्न प्रयोग संतों में उपलब्ध हो जाते हैं तथापि इन योग की प्रक्रियाओं को आत्मविचार और भावभगति के माध्यम से ही हमें देखना पड़ेगा । वस्तुतः संत अपनी इस योग भक्ति समन्वित साधना के कारण ही नाथपंथी योगियों, सहजयानी सिद्धों, सगुण भक्तों और सूफी फकीरों से बिलकुल पृथक कोटि के साधक ठहरते हैं । संतों की इस भक्ति भावना की चर्चा करने के पूर्व संतों में प्रचलित योग साधना का संक्षेप में परिचय प्राप्त कर लेना उपयुक्त होगा ।

हठयोग अथवा कुण्डलिनी योग

नाथ पंथ की साधना पद्धति पर विचार करते हुए हमने हठयोग के सम्बन्ध में आवश्यक परिचय दिया है[2], यहाँ संतों ने हठयोग का जो वर्णन अपनी रचनाओं में किया है उसी पर विचार किया जाना उपयुक्त होगा । संत कबीर का कथन है कि प्राणायाम द्वारा पवन को उलटकर षटचक्रों को भेदते हुए सुषुम्ना को भर दिया जिस कारण सूर्य व चन्द्र का संयोग होते ही सद्गुरु के कथनानुसार ब्रह्माग्नि भी प्रज्वलित हो गयी और सारी कामनाएँ, वासनाएँ, अहंकार आदि जलकर भस्म हो गयी ।[3] यथार्थ में हठयोग की परिभाषा भी कुछ ऐसी ही है । कुण्डलिनी उत्थान में चक्रों का भेदन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । नाथपंथी साधकों की हठयोग की साधना में अनेक दलों का वर्णन उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार तंत्र शास्त्रों में हुआ है । वही क्रम संतों में

---

[1] **संत-काव्य, पृ० २९० ।**

[2] **इसी प्रबन्ध का अध्याय २ ।**

[3] **प्रगट प्रकाश ज्ञान गुरगमि थैं ब्रह्म अगनि प्रजारी ।**
ससि हर सूर दूर दूरतर, लागी जोग जुग तारी ।।
उलटे पवन चक्रषट भेदा मेर डंड सरपूरा ।
गगन गरजि मन सुनि समाना बाजै अनहद तूरा ।।—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९० ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भी दिखाई देता है। विद्वानों का मत है कि संतों ने भी हठयोग के जटिल रूप के अनुसार १६ आधार, १० दरवाजे, ५२ कोठरी, १४ चन्दा, ६४ दिया, द्वादश कोश, ७ सुरति, ७२ नाड़ियों की चर्चा अपनी वाणियों में की है।[1] इस रूप में यह मात्र सिद्धों और नाथपंथी परम्परा का पिष्टपेषण ही है। संतों में हठयोग का यह क्लिष्ट रूप अधिकांश मात्रा में नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि हठयोग के जटिल रूप का वर्णन केवल परम्परा निर्वाह मात्र ही है, यथार्थ में तो मन, वायु तथा बिन्दु की साधना में से किसी एक ही साधना को जब नाथपंथियों ने स्वीकार कर लिया तब चंचल मन को संतों ने प्राणायाम की क्रियाओं से अपने अधीन करने के लिए योग की मूलस्थिति को स्वीकार कर लिया। योग की परिभाषा भी चित्त की वृत्तियों के निरोध को लेकर चलती है—

'योगश्चित वृत्ति निरोधा'[2]

किन्तु चित्त की वृत्तियों का निरोध एक कठिन कार्य है, संतों की कुछ वाणियों के अनुसार यह चक्र भेदन अथवा त्रिकुटि स्नान अथवा सहस्रार में अमृत पान से सम्बन्धित है। कबीर में इस साधना का निम्नलिखित रूप भी मिलता है—

कदली कुसुम दल भीतरा तहाँ दस आंगुल का बीच रे।
तहाँ स्वाद न खोजिले जनम होत नहीं मीच रे।
बंक नालि के अंतरे, पछिम दिसा बार।
नीझर झरै रस पीजिये, तहाँ भँवर गुफा के घाट रे।
त्रिवेणी मनाह न्हावाइये सुरति मिले जो हाँकिरे।।[3]

नानक ने भी कुछ ऐसी ही साधना का संकेत एक स्थल पर किया है—

उलटिउ कमलु ब्रह्म की चारि।
अम्रित धार गगनि दस दुआरि। त्रिगुवणु बेधिया आपि मुरारि।।[4]

धर्मदास ने भी हठयोग-जनित शून्य महल में झरने वाले रस को अपनी साधना का एक अंग माना था—

झरि लागै महलिया, गगन घहराय।
खन गरजै खन बिजुली चमकै,
लहर उठै शोभा वरनि न जाय।।
सुन्न महल से अमृत बरसै।[5]

---

१ कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायन, पृ० २७०।
२ योगदर्शन १, २।
३ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८८।
४ संत-काव्य, पृ० २४३।
५ वही, पृ० २८१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हठयोग साधना का एकसा ही स्वरूप संतों में नहीं मिलता, कहीं वह एक क्लिष्ट कल्पना होती है तो कहीं प्राणायाम की सरल साधना भी, किन्तु संतों में योग की साधना का यत्रतत्र विरोध केवल वाह्याचार एवं काया को कष्ट देने के कारण ही हुआ प्रतीत होता है। योग का आकर्षण संतों के लिए सदैव बना रहा है। संत कबीर भी इड़ा-पिंगला के माध्यम से गगन-मंडल में घर बनाने की बात कहते हैं—

अवधू गगनमंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदासुख उपजै बंकनालि रस पीजै॥
मूल बाँधि सर गगन समाना सुषमन मो तन लागी।
काम-क्रोध दोउ भये पलीता तहाँ जोगणी जागी॥
मनवां जाई दरीबै बैठा मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाहीं सबद अनाहद दागा॥[१]

संतों ने छः चक्रों का ठीक वैसा ही वर्णन किया है जैसा नाथपंथियों में मिलता है[२] किन्तु योगियों के सम्बन्ध में कबीर आदि संतों की रचनाओं में जो सम्बोधन यत्र-तत्र मिलते हैं उनसे हठयोग की कठिन साधना का एक नया ही रूप हमारे सामने आता है।

कबीर कहते हैं—-

अवधू मेरा मन मतवारा।
उन्मनि चढ़्या मगन रस पीवै, त्रिभवन भया उजियारा॥
गुड़करि ग्यांन ध्यांन कर महुवा, भव भाठी करि भारा।
सुषमन नारी सहेज सयानी, पीवै पीवन हारा॥[3]

हठयोगी साधु के लिए जो वेश आवश्यक समझा जाता था, जिस मुद्रा, खप्पर आदि का विधान कालान्तर में हो गया था, कबीर आदि संतों ने अपनी रचनाओं में उसकी परिभाषा भी भिन्न प्रकार से की है—

सो जोगी जाके मन में मुद्रा। राति दिवस न करई निद्रा॥
मन में आसण मन में रहणा। मन का जप तप मन सूं कहणा॥
मन में खपरा मन में सींगी। अनहद वेन बजावै रंगी॥
पंच परजारि भस्म करि भूका। कहै कबीर सो लहसै लंका॥[४]

सन्तों की वानियों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि संतों ने हठयोग और कुण्डलिनी योग की चर्चा की है किन्तु वह उनका लक्ष्य नहीं है।

---

१ **कबीर ग्रन्थावली**, पदावली ७०, पृ० ११०।
२ **इसी प्रबन्ध का अध्याय २।**
३ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० ११०।
४ **वही**, पद २०६, पृ० १५८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऐसा प्रतीत होता है कि हठयोग की क्रियाओं का संतों के आविर्भाव काल में विशेष प्रभाव था, परम्परागत रूप में भी हठयोग की क्रियाएँ उत्तर भारत में व्याप्त थीं, संतों में भी उसी का निर्वाह मात्र हुआ है। हठयोग का यही रूप हमें संतों की वाणियों में मिलता है।

शब्द सुरति योग

कुछ विद्वानों का मत है कि संतों ने हठयोग को अंगीकार नहीं किया किन्तु लय योग को स्वीकार किया है। उसी को शब्द सुरति योग के नाम से पुकारा गया है।[१] योग के ग्रन्थों में हठयोग, लययोग, मंत्रयोग तथा राजयोग इन चार प्रकार के योगों की चर्चा है किन्तु क्या संतों द्वारा गृहीत शब्द सुरति योग योगग्रन्थों का लय-योग ही है, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। शब्द ब्रह्म का महत्त्व अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीय साहित्य में माना गया है। इस शब्द का प्रतीक ओंकार या प्रणव है।[२] इसकी साधना से अनहद शब्द सुनाई पड़ता है, वहीं भगवान का निवास है।[३] सन्तों ने योगियों के लययोग से इसको ग्रहण किया है अथवा भक्तों के सुमिरन का यह पर्याय है यह एक विवाद का विषय है। कुछ विद्वानों का मत है कि संतों द्वारा निर्दिष्ट की गयी 'नामस्मरण या सुमिरन' की साधना को, उनके पारिभाषिक शब्दों में 'सुरत शब्द योग' का भी नाम दिया गया है।[४] सुरति और निरति के सम्बन्ध में प्रायः प्रत्येक विद्वान की मान्यता एक-दूसरे से मेल नहीं खाती।[५] डा० बड़थ्वाल का मत है कि संतों में सुरति शब्द का प्रयोग स्मृति के रूप में किया गया है। ब्रह्म ज्योति के सम्बन्ध में सुरति यही क्रान्तिदर्शी किरण है जिसके द्वारा जीव जीवन में ब्रह्म साक्षा-त्कार करके मुक्त हो सकता है, जीवन मुक्त हो सकता है।[६] डा० हजारीप्रसाद सुरति को अन्तर्मुखी वृत्ति मानते हैं,[७] डा० सम्पूर्णानन्द ने सुरति की व्युत्पत्ति 'श्रोत' से मानी है[८] और डा० त्रिगुणायन सुरति का अर्थ भोक्ता या प्राप्ता आत्मा करते हैं।[९] संत सम्प्रदायों में राधास्वामी मत में जीव को ही सुरति कहा गया है। तात्पर्य यह कि संतों का यह सुरति शब्द या तो बहुवाची प्रयुक्त हुआ है या आलोचकों ने उसके

---

१ **कबीर की विचारधारा**—डा० त्रिगुणायन, पृ० २७७।

२ **तस्य वाचकः 'प्रणव' योग दर्शन**, १/२७।

३ **ऐसा ध्यान धरो नरहरि शब्द अनाहद चिन्तन बरी।—कबीर ग्रन्थावली**, पृ० १९८।

४ **हिन्दी साहित्य कोश** (संत मत टिप्पणी), पृ० ७८९।

५ **कबीर की विचारधारा**—डा० त्रिगुणायन।

६ **योग प्रवाह**—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० २५।

७ **कबीर**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पद १७ की पाद टिप्पणी, पृ २४३।

८ **विद्यापीठ पत्रिका** (भाग २), पृ० १३५।

९ **कबीर की विचारधारा**—डा० त्रिगुणायन, पृ० २८३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भिन्न-भिन्न अर्थ अपने मतानुसार कर लिये हैं, फिर भी हमें संतों में प्रचलित शब्द सुरति योग की कुछ प्रारम्भिक युक्तियों में हठयोग की स्पष्ट छाया दिखाई पड़ती है साथ ही कुछ युक्तियों में शब्द सुरति योग सुमिरन मात्र का पर्याय प्रतीत होता है। कबीर आदि संतों ने यद्यपि हठयोग की कठोर साधना के प्रति तटस्थता बरती है किन्तु मन की चंचलता को अपने अधीन करने के लिए त्रिकुटी में सुरति को केन्द्रित करने की सलाह भी दी है जो नाथपंथियों की ही एक शैली है—

द्वादश दल अभि अन्तरि म्यन्त। तहाँ प्रभु पाइसि करिलै च्यन्त ॥[1]

कबीर ने मन की साधना का उपदेश भी इसी माध्यम से दिया है—

मन मंजन करि वसवै द्वारा। गंगा यमुना संधि विचारा ॥[2]

सन्तों ने मन को अपने आधीन करने के लिये 'नाम स्मरण' पर बल दिया है और वही स्मरण अथवा 'जाप शब्द सुरति योग में 'अजपाजाप' की अवस्था प्राप्त कर लेता है। रैदास का कथन है—

सो जप जपौं जो बहुरि न जपना[3]

यह अजपाजाप त्रिकुटी में ध्यान केन्द्रित करने के लिए कुछ संतों द्वारा आवश्यक समझा गया है।

अजपा जपत सुनि अनि अतरियहु तत जाने सोई।[4]

कुछ संतों ने इसी को उलटी चाल कहा है—

उलटी चाल चले जे प्राणी, सो सहजै घर आँवै रे।[5]

—संत गरीबदास

संतों की यह योग साधना संसार में रहते हुए भी सम्भव थी जबकि हठयोग के लिए संसार छोड़कर एकान्त साधना का विधान लोक में प्रचलित था। विद्वानों का मत है कि शब्द सुरति योग के अन्तर्गत जिस अजपाजाप की चर्चा संतों ने की है वह स्मरण की ही चरमसीमा है जिसमें साधक का एक क्षण भी परमात्मा के प्रेम के बिना नहीं बीतता।[6] जिह्वा से राम नाम कहने से लेकर अजपाजाप तक सब एक सुमिरन का ही तो रूप है, यही स्थिति तो कबीर की सुरति निरति परिचय की स्थिति है—

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६६।
२ वही, २८४।
३ संत-काव्य, पृ० २१५।
४ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५६।
५ संत काव्य, पृ० ३१८।
६ योग प्रवाह—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ३१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुरति समाणी निरति में निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खुले संयम दुआर॥
सुरति समाणी निरति में, अजपा माहैं जाप।
लेख समाणा अलेख में यूं आया माहे आप॥[1]

इस रूप में शब्द सुरति योग संतों की सहज साधना की एक स्थिति ही मानी जा सकती है यद्यपि हठयोग और सुमिरन को मिलाकर इस स्थिति की कुछ संतों ने कल्पना की है जो बहुत स्पष्ट नहीं है। हिन्दी साहित्य कोष की सुरति शब्द योग सम्बन्धी यह टिप्पणी संतों की इस साधना को कुछ अंशों में प्रकट करती है जो एक सीमा तक उपयुक्त प्रतीत होती है। 'सुख हमारी मूलवृत्ति है' जो शब्द अर्थात् हमारे शरीर में उठने वाले अनहद नाद से बराबर जुड़ी रहा करती है और इस प्रकार उसके साथ तदाकारता ग्रहण किये रहने के कारण इसके ऊपर किसी दूसरे रंग के चढ़ने का कभी कोई संयोग ही नहीं आ पाता।[2] डा० त्रिगुणायन का अनुमान है कि संतों में और विशेषतः कबीर में सुरति शब्द योग की कई अवस्थाएँ दिखाई पड़ती हैं, उसकी प्रवृत्ति जटिलता से सरलता की ओर रही है[3] किन्तु जैसा कि पूर्व में ही प्रकट किया गया है, संतों की साधना अंततोगत्वा साधना ही है, उसका लक्ष्य भगवान की भक्ति है और वह भी कठिन और दुस्सह मार्गों में उलझकर केवल वाह्याचार मूलक साधना नहीं थी। वस्तुतः संतों की मूल साधना का यथार्थ रूप हमें सहज साधना में ही मिलता है।

सहज साधना

संतों की दृष्टि में सहजशील की साधना ही उनके मत का सार है। कबीर ने कहा है—

सती सन्तोषी सावधान, सबद भेद सुविचार।
सतगुरु के प्रसाद थैं सहजसील मतसार॥[4]

दादू भी इस सहज साधना के लिए सुमिरन का मार्ग बताते हैं—

सांसैं सांस सम्हालता, इक दिन मिलि है आई।
सुमिरन पेड़ा सहज का, सतगुरु दिया बताय॥[5]

सहज साधना से कुछ मिलता-जुलता रूप संतों के पूर्व नाथपंथियों में भी उपलब्ध होता है। गोरखनाथ की कुछ सबदी अग्राङ्कित हैं—

---

१ **कबीर ग्रन्थावली,** साखी २२, २३, पृ० १४।
२ **हिन्दी साहित्य कोश,** संत मत, पृ० ४८६।
३ **कबीर की विचारधारा,** पृ० २८४।
४ **कबीर ग्रन्थावली,** साखी १०, पृ० ६३।
५ **सन्तवानी संग्रह** (भाग १), पृ० ७८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चालिबा धीरै धरिबा पांव ।
गरब न करिबा सहजैं रहिबा मंणत गोरख रांव ।।२७।।
गिरही सो जो गिरहै काया । अभि अन्तरि की त्यागै माया ।।
सहजसील का धरै सरीर । सो गिरही गंगा का तीर ।।४५।।[1]

किन्तु संतों की सहज साधना और नाथपंथियों की सहज साधना में कुछ मूलभूत अन्तर भी मिलता है । संतों की इस सहज साधना के अनेक उपकरण हमें संत साहित्य में मिलते हैं जबकि नाथ पंथ में सहज साधना का यह अर्थ सम्भवतः कठोर और क्लिष्ट साधना की प्रतिक्रियास्वरूप ही अंगीकार किया गया होगा । वैसे तो गोरखनाथ की हिन्दी रचनाओं में हमें हठयोग के प्रति विशेष आग्रह नहीं मिलता, किन्तु समग्र नाथपंथी साहित्य वैसा नहीं है ।

संतों की दृष्टि में जिस साधना के लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता वही साधना सहज साधना है—

सहजे होय सो होय रे ।[2]

यही वह मध्यम मार्ग है जिसके अनुसार समाज में रहते हुए भी तथा किसी भी एक उपयुक्त साधना को अपनाते हुए आत्मोपलब्धि की दशा तक पहुँच सकते हैं । कबीर कहते हैं—

सहज सहज सबको कहे, सहज न चीन्है कोई ।
जिन सहजैं हरिजी मिलै, सहज कहीजे सोई ।।[3]

आत्मोपलब्धि की दशा तक पहुँचने के लिए अपने मूलरूप में संत मत में अति मात्राओं के लिए कोई स्थान नहीं है, संतों के लिए संसार छोड़कर वन-वन भटकना अनिवार्य नहीं है ।

यह साधना वस्तुतः मुक्ति का द्वार है :

न हम छाड़ैं न ग्रहें, ऐसा ज्ञान विचार ।
मद्धिभाव सेववें सदा दादू मुकति दुबार ।।[4]

सहज योग के कुछ वर्णनों को पढ़कर[5] कुछ विद्वानों का मत है कि संतों की सहज समाधि, सहज शून्य अथवा उन्मनावस्था समाधि की ही अवस्था है जिसका सम्बन्ध हठयौगिक प्रक्रियाओं से है[6] किन्तु इस सम्बन्ध में कोई विशेष आग्रह संतों को

---

[1] गोरखवानी, पृ० ११, १७ ।
[2] कबीर ग्रन्थावली, पृ० २६९ ।
[3] वही, पृ० ४२ ।
[4] वानी, भाग १, पृ० १७० ।
[5] ब्रह्म अगिनि में काया जारै त्रिकुटी ही संगम जागै ।
कहै कबीर सोइ जोगेश्वर, सहज सुनि ल्यौ लागै ।।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०९ ।
[6] कबीर की विचारधारा, पृ० २८६ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रचनाओं में नहीं मिलता। संतों की यह सहज साधना जिसकी उपलब्धि पर कबीर हर्षातिरेक से गा उठते हैं कि

'अब हम पाइबो रे पाइबो ब्रह्म गियान।
सहज माधि सुख में रहिबो कोटिकलप विसराय ।।'[१]

किसी स्थिति विशेष की वाचक नहीं है। किन्तु प्रश्न यह है कि यह साधना क्या इतनी सहज उपलब्ध है कि कोई भी व्यक्ति संतों की स्थिति तक पहुँच सकता है ? संतों की वानियों के अध्ययन में इस साधना के निम्नलिखित उपकरण उपलब्ध होते हैं :

(१) गुरु कृपा।
(२) सत्सङ्गति।
(३) नामस्मरण।
(४) निष्काम कर्म और निहकामवृत्ति।
(५) समाधि अथवा सहजयोग।

संतों की साधना में गुरु को गोविन्द का पर्याय माना गया है।[२] गुरु की ही कृपा के कारण इस माया से छुटकारा मिल सकना सम्भव है —

भली भई जो गुरु मिला नहीं तर होती हांनि।
दीपक दिष्ट पतङ्ग ज्यूं पढ़ता पूरा जांणि ।।[3]

इस भरम करम के परदे से मुक्त कराने के लिए गुरु की कृपा ही चाहिए—

दादू पड़दा भरम का रह्या सकल घटि छाइ।
गुरु गोविन्द कृपा करैं सहजैं ही तिरि जाइ ।।[४]

गुरु की कृपा के साथ ही सत्सङ्गति का महत्त्व संत साधना का एक प्रमुख उपकरण है—

कबीर संगति साध की करे न निरफल होइ।
चंदन होसी बांवना, नीक न कहसी कोई ।।
कबीर बन बन मैं फिरा कारणि अपणैं राम।
राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब काम ।।'[५]

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८६।
२ गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागौं पांव।
बलिहारी गुरु आपकी गोविन्द दियो बताय ।। —संत सुधासार, पृ० १२०
३ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३।
४ संत सुधासार, पृ० ४५०।
५ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५०, ५१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गुरु की कृपा, संतों की सङ्गति और तब भगवान के नाम का स्मरण जिसने किया है वह साधक अवश्य ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। वस्तुतः भगवान का नाम स्मरण ही उसके सम्पूर्ण दुःखों को काट सकता है—

भगति भजन हरिनांव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा वाचा क्रमनां कबीर सुमिरण सार ॥[१]

दादू का कथन है—

नांव सपीड़ा लीजिये, प्रेम भगति गुण गाई।
दादू सुमिरण प्रीति सों हेत सहित ल्यौ लाई ॥[२]

संतों में सुमिरन का भाव नामस्मरण से लेकर शब्द सुरति योग की कोटि तक का मिल जाता है। संत साधना के लिए संसार में रहकर अपना कर्तव्य कर्म करना और विषय भोग से अपने को संयमित करना भी एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है। कबीर ने इसी आधार पर संत की परिभाषा भी की है।[3] यह साधना का अत्यन्त व्यावहारिक उपकरण है जो एक ओर सहजयानी सिद्धों की भोगपरक साधनाओं से बचने की ओर संकेत करता है तो दूसरी ओर केवल संसार छोड़कर धूनी रमाने की वृत्ति का विरोधी है। संतों की साधना का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपकरण समाधि अथवा सहज योग है। यह स्थिति निरन्तर अभ्यास से संतों को प्राप्त होती है। योग क्रियाओं द्वारा प्राप्त यह केवल कोई अवस्था नहीं है, जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ पूर्णतः अधीन हो जाती हैं तब यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, यहीं पर साधना का चरम समझना चाहिए। कबीर का पद है—

सहज सहज सब को कहै सहज न चीन्हें कोई।
पाँचू राखै परसती सहज कही जै सोई ॥[४]

यह संतों की साधना का संक्षिप्त परिचय है। इसके साथ ही यह तथ्य भी दृष्टि-ओझल नहीं किया जा सकता है कि यह साधना अपने उसी रूप में संतों में आज उपलब्ध नहीं है जैसा कि संत मत के निर्माताओं में मिलती है। संतों की साधना का एक लोकपरक पक्ष भी था, वह था वाह्याचारों की अवहेलना और उनका विरोध। जब से संतों के सम्प्रदाय बने तब से उन सब वाह्याचार वेश, विधि आदि को ही उनके अनुयायियों ने साधना का एक अङ्ग मान लिया, और उसी का विकास निरन्तर होता गया। फलस्वरूप, आज हम संतों की साधना पद्धति का कोई विशुद्ध स्वरूप नहीं ढूँढ़

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५।
२ संत-काव्य, पृ० २६०।
३ निरबंरी निहकामता, सांइ सेती नेह।
विषिया संन्यारा रहे संतनि का अङ्ग एह ॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५०।
४ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निकाल पाते । आध्यात्मिक जीवन की जिस उत्कृष्ट अवस्था से संतों का सम्बन्ध था, उनके अनुयायी उतने ही वाह्याचारी हो गये । संतों का वाह्याचार के प्रति विरोध उनकी आध्यात्मिकता का प्रतिपोषक था किन्तु यही बात हमें सर्वत्र संत साहित्य में नहीं मिलती । संतों की यह सहज साधना अनन्य भक्ति का रूप धारण कर लेती है किन्तु साधारणतः उनके अनुयायियों की साधना वाह्याचार और गुह्य साधना की पोषक बन जाती है । यह सब लोक प्रभाव की प्रतिक्रिया ही कही जायेगी । संतों की इस स्थिति की ओर संकेत मात्र करने के पश्चात् संत साधना के चरम, लक्ष्य भक्ति भाव, पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि संतों ने भक्ति को ही प्रमुख तत्त्व माना है । कबीर का कथन है—

हिरते कपटहरि सू नहिं साच्यौ ।
कहा भया जौ अनहद नाच्यौ ॥[1]

प्रायः सभी विद्वान इस वात से सहमत हैं कि कुछ संत उच्च कोटि के निर्गुण भक्त थे ।

भक्ति का विवेचन

संतों की आध्यात्मिक प्रेरणा का पर्यवसान भक्ति में ही मिलता है । संतों के सिद्धान्तों एवं उनके साधना पंथों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तरूप ही उनका वास्तविक रूप है ।[2] उनके अन्य रूप इसी केन्द्र के चारों ओर भरे बँधे हैं । किन्तु हम संतों को केवल भजन भाव में ही मग्न रहने वाले भक्त नहीं कह सकते ।[3] उनकी भक्ति को भाव भगति के नाम से अभिहित किया गया है । यह सर्व-सम्मत है कि निर्गुणी संतों ने प्रेम लक्षणा भक्ति को जो निष्काम होती है, बड़े उत्साह से स्वीकार किया है ।[4] कभी-कभी विद्वानों ने इस प्रश्न को उठाया है कि जब कबीर आदि संत राम को रूप-रेख, आकार-प्रकार, द्वैत-अद्वैत, भाव-अभाव से परे समझते थे तो क्या ऐसा रूपातीत भगवान भक्ति का विषय हो सकता है ?[5] ऐसा प्रतीत होता है कि साधना भेद एवं सम्प्रदायगत धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता के व्यापक प्रभाव के कारण इस सम्बन्ध में भक्तों की धारणाएँ स्वयं स्पष्ट नहीं हो पायी हैं, केवल इसीलिए रूप का आग्रह मानकर निर्गुण संतों को भक्ति के क्षेत्र में उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता । निर्गुण भक्ति को भारतीय साहित्य में बहुत प्राचीन समय से प्रायः वही स्थान प्राप्त रहा है जो सगुण भक्ति को है । अतएव भक्ति के सम्बन्ध में संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय भी इस स्थल पर किया जाना उपयुक्त होगा ।

---

१ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० १८२ ।
२ **कबीर**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २२० ।
३ **संत-काव्य**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २८ ।
४ **हिन्दी साहित्य कोश**, पृ० ५२७ ।
५ **कबीर**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १४३ ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

संतों में भक्ति का प्रादुर्भाव कबीर के गुरु रामानन्द से माना गया है। इस सम्बन्ध में एक उक्ति इस क्षेत्र में बहुत प्रचलित है—

भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्तद्वीप नव खण्ड ॥

स्वामी रामानन्द से पूर्व भी हमें भक्ति के सम्बन्ध में विशद विवेचन मिलता है। भक्ति शास्त्र के आचार्यों में नारद एवं शांडिल्य के नाम मुख्य हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि भक्ति मार्ग का प्रमुख सम्प्रदाय भागवत धर्म है जिसका उदय ईसा के लगभग १४०० वर्ष पूर्व माना जाता है[१]। इसके पूर्व भी वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, गीता, स्मृति, दर्शन शास्त्र तथा उपनिषदों में कुछ विद्वानों के अनुसार भक्ति की कल्पना का आभास मिलता है। किन्तु कुछ महानुभावों ने इस बात से मतभिन्नता प्रकट की है। उनका मत है कि बौद्ध सङ्घों में गर्भावस्था में रहकर दक्षिण में भक्ति ने जन्म ग्रहण किया, भक्ति का उज्वल रूप श्रीमद्भागवत पुराण में प्राप्त होता है। भागवत पुराण नामदेव द्वारा दक्षिण में ही लिखा गया था।[२] भक्ति की कल्पना कहाँ से भारतीय साहित्य में प्रविष्ट हुई यह एक विवाद का विषय है। विद्वान यद्यपि इस विषय में एकमत नहीं हैं फिर भी कबीर आदि संतों के आविर्भाव काल तक भारत में भक्ति को प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी इसमें दो मत नहीं हैं। भक्ति शब्द संस्कृत के 'भजसेवायाम्' धातु से बनाया गया प्रतीत होता है।[३] नारद भक्तिसूत्र में कहा गया है कि ईश्वर के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है।[४] शांडिल्य भक्तिसूत्र में ईश्वर में अतिशय अनुरक्ति ही भक्ति मानी गयी है।[५] श्रीमद्भागवत के अनुसार भक्ति वह वृत्ति है जिससे सांसारिक विषयों का ज्ञान देने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति निष्काम रूप से भगवान में लग जाये।[६] भक्ति पर अनेक आचार्यों एवं विद्वानों ने कुछ इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति का ही नाम है।[७] भक्ति की यह परिभाषा विषय-प्रधान न होकर भाव-प्रधान प्रतीत होती है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भक्ति रसामृत सिन्धु के आधार पर भक्ति को भगवद्विषयक प्रेम माना है।[८] भगवद्विषयक प्रेम के सम्बन्ध में लिखते हुए उनका

---

१ (अ) हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ४२४।
(आ) भागवत धर्म के विवेचन के लिए देखिए इसी प्रबन्ध का अध्याय २।

२ सम्मेलन पत्रिका, भाग ४४, संख्या ४, श्री रामावतार का निबन्ध 'भक्ति का उद्‌भव और विकास', पृ० ५३।

३ हिन्दी तथा कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० १।

४ सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा ॥२॥ —नारद भक्ति सूत्र।

५ सा परानुरक्तिरीश्वरे ॥२॥—शाण्डिल्य भक्तिसूत्र।

६ भागवत स्कन्ध, ३, अध्याय २५, श्लोक ३२, ३३।

७ चिन्तामणि, पृ० २०७।

८ कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १४३।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कथन है कि भगवद्विषयक यह जो अहेतुक या कारण रहित प्रेम है वह न तो निरूपाधिक स्वरूप के लिए असम्भव है और न अद्वैत भावना के विरुद्ध। भक्ति भगवान के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम का ही नाम है।[1]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भक्ति की स्थिति पर भी विचार होना चाहिए। मानव जीवन राग-विकारों की चरम परिणति है। मानव की रागात्मक अनुभूति प्रेम भाव के रूप में सदैव से विद्यमान रही है। प्रेम, चाहे वह भौतिक पदार्थ में निहित हो चाहे उसकी अभौतिक सत्ता मानी जाये,[2] जीवन के आदेशात्मक सम्बन्धों को स्थापित करने में प्रथम कोटि का सोपान है। परमतत्त्व की सत्ता का आभास प्रारम्भ से ही स्वीकार किया गया है, तब ऐसी स्थिति में उस परमतत्त्व के प्रति प्रेम भाव का निदर्शन भी होना स्वाभाविक है। शुद्ध प्रेम का रूप बड़ा व्यापक है। एक सार सत्ता का अंश होने के कारण आत्मा और परमात्मा का श्रद्धापरक प्रेम भाव 'भक्ति' के रूप में प्रकट होता है जो लौकिक रूप में अन्य प्रकार से प्रकट होता रहता है। मध्ययुग में प्रेम भाव को भक्ति के नाम से ही अभिहित किया गया है।

भक्ति को आचार्यों ने मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया है—(१) गौणी भक्ति, (२) पराभक्ति। गौणी भक्ति के भी दो भाग किये गये हैं—(१) वैधी, (२) रागानुगा। रागानुगा के और भेद किये गये हैं। गौणी भक्ति को साधन भक्ति और पराभक्ति को साध्य भक्ति कहा गया है। साधन भक्ति और साध्य भक्ति क्रमशः मर्यादा भक्ति और स्वरूपा भक्ति भी कहलाती हैं।[3] पराभक्ति अहेतुकी और अव्यवहित होती है। इसी को 'निर्गुण' भक्ति भी कहा गया है।[4] श्रीमद्भागवत में भक्ति (१) सात्त्विकी, (२) राजसी, (३) तामसी और (४) निर्गुणा मानी गयी है। प्रथम तीन भक्तियाँ काम्य हैं और चौथी निर्गुणा भक्ति निष्काम है।[5] साधना पक्ष को ध्यान में रखते हुए भागवत में भक्ति के नौ भेद किये गये हैं जो नवधा भक्ति के नाम से प्रसिद्ध

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सस्यमाल निवेदनम्॥[6]

हिन्दी के सगुण भक्त कवियों ने इसी नवधा भक्ति का निरूपण अपनी-अपनी रचनाओं में किया है। पराभक्ति का निरूपण संतों की वाणियों में उपलब्ध होता है।

---

१ **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १४२।
२ **हिन्दी काव्य में प्रेम प्रवाह**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २।
३ **हिन्दी तथा कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन**, पृ० ३।
४ **श्रीमद्भागवत**, ३/२९/११।
५ **हिन्दी तथा कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन**, पृ० ४।
६ **भागवत**, सप्तम स्कन्ध, अध्याय ५, श्लोक २३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नारद भक्ति सूत्र में परम प्रेमरूपा भक्ति को ग्यारह आसक्तियों में बाँटा है। वे हैं—(१) गुणमाहात्म्यासक्ति, (२) रूपासक्ति, (३) पूजासक्ति, (४) स्मरणाशक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्यासक्ति, (७) कांतासक्ति, (८) वात्सल्यासक्ति, (९) आत्मनिवेदनासक्ति, (१०) तन्मयासक्ति, और (११) परम विरहासक्ति।[1]

भक्ति के विकास में भागवत धर्म का विशेष हाथ है।[2] नाम रूपात्मक उपासना का प्रभाव यह हुआ कि भक्ति अवतारवाद में बद्ध होकर रह गयी और लोक में केवल सगुण उपासना ही भक्ति की मुख्य धारा मान ली गयी। अनन्यभाव से भगवान की शरणागति के रूप में अहेतुकी प्रेम की धारा क्षीण ही क्यों न हो, पर रही तो अवश्य होगी, पर पांचरात्र एवं भागवत मत के भक्ति के साधनमार्ग के निरूपण में उसका कहीं कोई विवरण नहीं मिलता। वैसे हमने वैष्णवमत के संदर्भ में यह तथ्य प्रकट ही किया है कि इन सब उपासनाओं का कोई विधिवत वृत्त नहीं उपलब्ध होता। स्वामी शंकराचार्य के वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के पश्चात पुनः वैष्णव आचार्यों ने भक्ति की उपासना को दृढ़ किया जिसके स्रोत तामिलनाड के १२ आड़वार ६३ महा शैवभक्तों की परम्परा में मिलते हैं। हिन्दी के भक्ति साहित्य के सृजन में भक्ति प्रधान सम्प्रदायों का महत्त्वपूर्ण योग है, यह सर्वविदित है।

नाथपंथीय भक्ति का साम्प्रदायिक स्वरूप

परमपद प्राप्ति के भारतीय साहित्य में तीन मार्ग माने गये हैं – योग मार्ग, ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग। नाथ पंथ का सम्बन्ध योग मार्ग से है इसलिए नाथ पंथ एक योगी सम्प्रदाय माना गया है। जब दक्षिण भारत में भक्ति का आन्दोलन भक्ति प्रधान सम्प्रदायों के रूप में तीव्रता से हो रहा था उस समय उत्तर भारत में योगमत का प्राधान्य था। उत्तर में स्वामी शंकराचार्य के अद्वैतवाद के प्रभाव ने जहाँ वाममार्गीय तथा वेद विरोधी मतों को लोकजीवन से निष्काषित किया वहाँ योगमत ने ईश्वर प्रणिधान के रूप में ब्रह्म की प्रतिष्ठा की। शैव साधना का प्रेममूलक और अद्वैतवादी स्वर भी कुछ काल बाद क्षीण पड़ गया, उसमें संयम और साधना को लेकर हठयोग का विस्तार हुआ था। इस प्रकार नाथपंथी साधना में उपर्युक्त भक्ति का कोई भी रूप उपलब्ध नहीं होता। नाथपन्थी साधना पद्धति के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाथपंथी अपने आत्मचिंतन में नामस्मरण अथवा जाप को अवश्य महत्त्व देते थे किन्तु वह उनका ब्रह्मविचार था, भावभगति नहीं।

ऐसा जाप जपो मन लाई, सोहं सोहं अजपा गाई।[3]

---

[1] **नारदभक्ति सूत्र**, ८२।

[2] **वैष्णवमत**, अध्याय २, पृ० ६५।

[3] **गोरखवानी**, पृ० १२४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भक्ति के दोनों रूपों—परा तथा गौणी—में से किसी भी रूप की साधना नाथ-पंथियों का हेतु नहीं है। उनकी साम्प्रदायिक स्थिति योग के विभिन्न मतों से सम्बद्ध मानी जा सकती है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन उपयुक्त ही है कि उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। एक को अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरे को अपने अज्ञान का भरोसा। एक के लिए पिण्ड ही ब्रह्माण्ड था, दूसरे के लिए ब्रह्माण्ड ही पिण्ड। एक का भरोसा अपने पर था, दूसरे का राम पर। एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर। एक योगी था, दूसरा भक्त। इन दोनों धाराओं का मिलन ही निर्गुणधारा का साहित्य है।[1] संतों की भक्ति भावना में जो अक्खड़पन है उसका कारण योगमत की साधना है, और भावभगति की विह्वलता उनमें वैष्णव भक्ति के फलस्वरूप मिलती है। इस सन्दर्भ में निर्गुण संत कवियों की भक्ति भावना पर आगे विचार किया जाना उपयुक्त होगा।

निर्गुण संत कवियों की भक्ति भावना

संतों की भक्ति के सम्बन्ध में कबीर का एक पद दृष्टव्य है जिससे संतों की भक्ति भावना पर कुछ प्रकाश पड़ता है—

कैसे तूं हरि कौ दास कहायौ।
करि बहु भेषह जनम गंवायौ॥
सुध बुध होइ भज्यौ नहिं सांई। काछ्यौं ड्यंभ उदर कै तांई॥
हिरदै कपट हरि सूँ नहीं सांचौ। कहा भयौ जे अनहद नाच्यौ॥
झूठे फोकट कहर मंझारा। राम कहें ते दास निहारा॥
भगति नारदी मगन शरीरा। इहि विधि भव तिरि कहै कबीरा॥[2]

कबीर ने जिस नारदी भक्ति का उपदेश दिया है वह ठीक वही नहीं है जिसका वर्णन भक्तिशास्त्रों में किया गया है, फिर भी संतों की अधिकांश रचनाएँ प्रेमाभक्ति से परिपूर्ण हैं। प्रेमाभक्ति और आध्यात्म विद्या संतों में आकर एक ही वस्तु के दो पक्ष प्रतीत होते हैं।[3] संत भक्ति को मुक्ति का एकमात्र उपाय मानते हैं किन्तु उनकी मुक्ति अन्य वैष्णव भक्तों से भिन्न कोटि की है।

कबीर कहते हैं—

भाव भगति विश्वास, बिन कटै न संशय सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुक्ति नहीं रे मूल॥[4]

---

१ **मध्यकालीन धर्मसाधना**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १०२, १०३।
२ **कबीर ग्रन्थावली**, पद २७८, पृ० १८३।
३ **प्रेम भगति ऐसी कीजिए, मुखि अमृत बरखै चन्द।**
आपहिं आप विचारिये, तब केता होई अनंद रे॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५६।
४ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० २४६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किन्तु मुक्ति के लिए संतों को किसी बैकुण्ठ की याचना नहीं है। 'राम मोहि तारि कहाँ लौ जैहो' के रूप में किया गया प्रश्न संतों की प्रेमभक्ति को पुनः उस सहज साधना से सम्बद्ध कर देता है जिसमें संत विहित कार्य करने को अपने ब्रह्म में लीन रहते हैं, उनकी अपने राम के प्रति यही तन्मयासक्ति लौ कहलाती है। दादू का कथन है—

दादू जहाँ रहूँ तहँ राम सौं, भावै कंदलि जाइ।
भावै गिरि परबति रहूँ, भावै ग्रेह बसाई॥[1]

संतों ने योग और भक्ति के सम्बन्ध में यत्रतत्र जो कुछ भी कहा है उससे हम यह धारणा नहीं बना सकते कि संतों का योग मार्ग भक्ति के ही आश्रित है।[2] संतों की भक्ति साधना सापेक्ष नहीं है अतएव उनकी रचनाओं में केवल साध्य का ही परिचय हमें मिलता है। उसके प्रति हृदय में प्रेम की पीर और अंततोगत्वा शरणागति की भावना ही उनकी भक्ति को मूर्तरूप प्रदान करती है यद्यपि कुछ विद्वानों ने संतों में नवधा भक्ति के उपकरण तथा ग्यारह आसक्तियों को खोजने का भी प्रयत्न किया है।[3] श्री परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि संतों ने अपने इष्टदेव राम व परमात्मा के प्रति अपने भक्ति भाव का प्रदर्शन उसे अपने सामने प्रत्यक्ष-सा मानकर किया। उसे उन्होंने सर्वव्यापक के रूप में सब कहीं देखने का प्रयत्न किया और उसे अपने निजी स्वरूप से अभिन्न भी माना।[4] संतों की भक्ति भावना में यद्यपि आकार अथवा रूप के विषय में कोई आग्रह नहीं है फिर भी उन्होंने अपने उपास्य को गुसाईं, सतगुरु, पीव आदि नाम देकर सम्बन्ध स्थापित किये हैं। यह भावभगति इसीलिए सगुण भक्ति से मेल नहीं खाती।

नारद की 'परम प्रेमरूपा' भक्ति के भी विभिन्न स्तर मिलते हैं,[5] संतों में जिस भावभगति का प्रचार है उसका मूल आधार भगवान के किंचित मात्र भी विस्मरण से परम व्याकुल हो जाना तथा अपने सब कर्मों को इष्टदेव अर्पित करते रहना ही है।[6] यह अवस्था किसी वाह्य प्रदर्शन अथवा साधम की अपेक्षा नहीं रखती। संतों की प्रेमभक्ति भक्ति का प्रदर्शन मात्र नहीं है और न ही केवल अपने इष्ट का गुणानुवाद करना उसका लक्ष्य है। संतों ने उसे योग की सहायता से एक व्यावहारिक रूप दिया है इसमें कहीं कोई विरोध दृष्टिगोचर नहीं होता। अहेतुकी

---

१ संत सुधासार, पृ० ४५४।

२ कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायन, पृ० २९१।

३ वही।

४ हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५९।

५ वही।

६ नारदस्तु तदर्पिताखिला चारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति।
—प्रेमदर्शन, पृ० २५।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रेम के कारण ही संतों में विरह तत्त्व की प्रधानता प्रतीत होती है। किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि कबीर आदि संतों में जो विरह की भावना है वह सूफियों से आयी है।[1] संतों की इस निरपेक्ष माधुर्य भक्ति में सूफियों के विरह तत्त्व को आधार रूप मानना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि संतों और सूफी फकीरों के तत्त्व भेद में स्पष्ट ही अन्तर है, केवल भावसाम्य के आधार पर ही हम संतों की माधुर्य परम्परा को सूफी प्रभाव नहीं कह सकते। संतों की इस प्रेमरूपा भक्ति का कुछ परिचय निम्नलिखित उद्धरणों से लग सकता है:

कबीर कहते हैं यह प्रेम कोई वस्तु नहीं है जो किसी खेत में उत्पन्न होती हो अथवा हाट में बिकती हो, इसे तो वही प्राप्त कर सकता है जो अपना सिर भेंट कर सकता हो।[2] कबीर को इस प्रेम का प्रसंग गुरु की कृपा से प्राप्त हुआ—

सतगुरु हमसूं रीझि करि कह्या एक प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग॥
कबीर बादल प्रेम का हम परिबर्ष्या आई।
अंतरि भीगी आत्मां, हरी भई बनराइ॥[3]

यह प्रेम ठीक वैसा ही है जैसा मृग अपने व्याघ्र के प्रति तन, मन समर्पित कर देता है और उसका संगीत सुनने लगता है—

ऐसा कोई ना मिलै राम भगति का मीत।
तन मन सौंपे मृग ज्यूं सुनै बधिक का गीत॥[4]

संतों में आत्मसमर्पण का यह भाव सर्वत्र मिलता है—

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता क्या लागे है मेरा॥[5]

संतों ने इस प्रेमभक्ति को दास्य और कान्ताभाव के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। कहीं वह राम रस है तो कहीं विरह का प्रतिपोषक भाव। संत रैदास की भावुकता दृष्टव्य है—

---

१ (अ) कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायन, पृ० ८६६।
(आ) हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ६१।

२ प्रेम न खेती ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाई।
राजा परजा जिस रुचै, सिरदे सो ले जाई॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ७०।

३ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४।

४ वही, पृ० ६६।

५ वही, पृ० १६।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नरहरि चंचल है मति मोरी ।
कैसे भगति करूँ मैं तेरी ॥
तू मोहिं देखै हौं तोहि देखूँ,
प्रीति परस्पर होई ।
तूं मोहि देखै मैं तोहि न देखूँ,
यह मति सब बुधि खोई ॥[1]

दादू कहते हैं—

प्रेम पियासा राम रस, हमकौं भावै मेह ।
रिधि सिधि माँगै मुकति फल चाहैं तिनकों देह ॥[2]

कबीर का कथन है—

मैं अबला पिउ पिउ करूँ निर्गुण मेरा पीव ।

संतों का विश्वास है कि साध्य से मिलाने वाला प्रमुख साधन विरह ही है—

कबीर हसणा दूरि करि करि रोवण तो चित्त ।
बिन रोये क्यों पाइये प्रेम पियारा मित्त ॥[3]

दादू का कहना है—

पहिली आगम विरह का पीछै पीति प्रकाश ।
प्रेममगन लैलीन मन, तहाँ मिलन की आस ॥
प्रीति न उपजै विरह बिन, प्रेम भगति क्यों होई ।
सब झूठे दादू भाव बिन, कोटि करै जो कोई ॥[4]

इस विरह के द्वारा संयोग की जो स्थिति उपलब्ध होती है उसे संतों ने अनेक नामों से पुकारा है । वही अनन्त जोग है । कबीर उसी को 'अनिन' कहते हैं ।[5] वहाँ हमारे हृदय का अहंता भाव अथवा कामना की समाप्ति हो जाती है और फिर सर्वत्र तद्समता की दशा आ जाती है । कबीर उसी को भक्ति कहते हैं—

निधि पाई मन थिर भया, सतगुरु कही सहाई ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राई ॥
जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं ।
सब अंधियारा मिटि गया, जब देख्या दीपक माँहि ॥३५॥[6]

---

१ रैदासजी की वानी, पृ० ७ ।
२ स्वामी दादूदयाल की वाणी, पृ० १३७ ।
३ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६ ।
४ स्वामी दादूदयाल की वाणी, पृ० ५६ ।
५ हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ६६ ।
६ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४, १५ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दादू ने उसी को स्पष्ट किया है—

भगति भगति सब को कहैं, भगति न जाणै कोई ।
दादू भक्ति भगवंत की, देह निरन्तर होई ॥[1]

यही वह स्थिति है जहाँ संत हठयोगियों से अपने को पृथक कर लेते हैं,[2] किन्तु साथ ही वे सगुण उपासकों की साधना को एक वाघ्याचार ही मानकर छोड़ देते हैं।[3] विद्वानों ने इस भक्ति को अनेक नाम और साधनों से मण्डित किया है किन्तु संतों की भक्ति उनके ब्रह्म की भाँति विलक्षण, असाधारण, सार्वकालिक और सार्व-भौमिक है। उनकी यह भक्ति भावना अव्यक्त का ऐसा गुणगान है जो रहस्य की कोटि तक पहुँच जाता है। संतों में रहस्य भावना का अत्यन्त व्यापक और चरम रूप मिलता है।

संत रहस्य भावना और उस पर नाथपंथी प्रभाव

हठयोग की साधना से सम्बद्ध कर संत रहस्य भावना के अन्तर्गत विद्वानों ने प्रायः दो दशाओं का वर्णन किया है।[4] प्रथम साधनात्मक रहस्यवाद में विकसित हुई तथा दूसरी दशा भावनात्मक रहस्यवाद में। साधनात्मक रहस्यवाद को डा० त्रिगुणायन ने भौतिक रहस्यवाद भी कहा है।[5] प्रायः साधनात्मक रहस्यवाद में संतों की उन वाणियों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जाता है जिनमें कुण्डलिनी योग, षटचक्र भेदन तथा त्रिकुटी अथवा सहस्रार में आत्मा-परमात्मा के अद्वय भाव की कल्पना की गयी है[6] जबकि भावनात्मक रहस्यवाद विशुद्ध अनुभूति प्रधान माना गया जिनमें विविध उपकरणों की सहायता से आत्मानुभूति का चरम मिलता है। रहस्य भावना पर इस दृष्टि से विचार किया जाना औचित्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता। नाथ-पंथी साधना तो स्पष्टतया साधना का ही सोपान है तथा रहस्यात्मक अनुभूति का सम्बन्ध हठयोग की क्रियाओं से मानकर हम एक प्रकार से पुनः उसी साधना मार्ग का पिष्टपेषण करते हैं जिसका संतों की तत्त्व चिंता में विशेष स्थान है, किन्तु हठयोग

---

१ **स्वामी दादूदयाल की वाणी, पृ० १०२।**

२ **साधो सहज समाधि भली ।**
गुरु प्रताप जा दिन से उपजी, दिन दिन अधिक चली ॥
जहं तहं डोलों सोई परिकरमा, जो कछु करौं सो सेवा ।
जब सोवों तब करों दण्डवत, पूजों और न देवा ॥
—कबीर वाणी, पृ० २६२।

३ **तीरथ बरत सब बैलडी सब जग मेल्या छाई ।**
कबीर मूल निकदिया कौण हलाहल खाई ॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४४।

४ **जायसी ग्रन्थावली**—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६३।

५ **कबीर की विचारधारा**—डा०.त्रिगुणायन, पृ० २२६।

६ **कबीर ग्रन्थावली**, पद ७०, ७२ आदि, पृ० ११०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की क्रियाओं का परिचय मात्र संत रहस्य भावना का परिचय नहीं है। रहस्यात्मक अनुभूतियों का संतों में उत्कृष्ट रूप उपलब्ध है। उस पर नाथपन्थी प्रभाव अत्यल्प ही माना जायगा।

संतों की वाणियों में अस्फुट अभिव्यक्ति की ही प्रधानता है। संतों की साधना पद्धति और सिद्धान्त पक्ष पर विचार करते हुए हमने देखा ही है कि संत मूलतः अनुभव को ही अपनी साधना का चरम मानते हैं। स्वानुभूति की स्थिति यथार्थ में अभिव्यक्तिपरक नहीं है। उसमें निमज्जित हो जाने पर किसी अन्य तत्त्व का स्मरण ही नहीं रहता, अतएव स्वानुभूति की अभिव्यक्ति भी अस्पष्ट हो जाती है और उसी को रहस्यमयी भी कहा जाता है। संतों की यह स्वानुभूतिपरक अस्पष्ट भावना काव्य में रहस्यवाद के नाम से अभिहित की गयी है।[१] विद्वानों का मत है कि यद्यपि हम संतों की इस प्रकार की वाणियों को रहस्यवाद की कोटि में रखते हैं किन्तु रहस्यवाद न तो कोई वाद है और न सिद्धान्त, उसमें परमसत्ता की प्रत्यक्षानुभूति का भाव निहित है।[२] यथार्थ में रहस्यवाद आत्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और वह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।[३] संतों में ब्रह्मात्मक स्वानुभूति का आनन्दातिरेक उन्हें विह्वल एवं विभोर कर देता है। ऐसी स्थिति में वे उस इन्द्रियातीत के विषय में कुछ कह नहीं पाते—

अविगत अकल अनुपम देख्या कहता कह्या न जाइ।
सैन करै मन ही मन रहसै गूंगे जानि मिठाई।।
आपै कहत सुनत पुनि अपना अपन पै आपा बूझ्या।[४]

रैदास का मत है—

जब लग नदी न समुद समावै तब लग बढ़ै हंकारा।
जब मन मिल्यै राम सागर में तब यह मिटी पुकारा।।[५]

संत एकमात्र एवं निरपेक्ष परमतत्त्व में विश्वास रखते हैं, किन्तु उनका यही सर्वात्ममय विश्वास परमात्मतत्त्व को व्यक्तित्व भी प्रदान करता है। संतों की दृष्टि में कभी वह 'दो सत' है, कभी 'हरिगुरुपीर,' कभी 'पीव'।[६] परमतत्व की अनुभूति के विषय में संतों की भिन्न-भिन्न स्थितियों के वर्णन मिलते हैं जिनके आधार पर हम

---

१ संत-काव्य—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५६।
२ **हिन्दी काव्य में रहस्यात्मक प्रवृत्तियाँ**—डा० ब्रजमोहन गुप्त, पृ० ३१।
३ **कबीर का रहस्यवाद**, पृ० ६।
४ **कबीर ग्रन्थावली**, पद ६, पृ० ९०।
५ **रैदासजी की वानी**, पद ३, पृ० ३।
६ **कबीर साहित्य की परख**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ११५, ११६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनकी रहस्य भावना का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इन स्थितियों में संतों ने अनेक प्रतीकों की अवतारणा की है। यद्यपि संतों के प्रतीक विधान और उनकी रहस्यात्मक अनुभूति किसी मत विशेष से प्रभावित नहीं है फिर भी यह दृष्टव्य है कि उनका चरम लक्ष्य नाथ पंथ द्वारा प्रभावित सहज साधना के अन्तर्गत ही हुआ है।

रहस्य भावना के अन्तर्गत सर्वप्रथम स्थिति जिज्ञासा अथवा विरह जाग्रत होने की दशा मानी गयी है। द्वितीय स्थिति उस समय आती है जब साधक को उस तत्त्व का परिचय मिल जाता है और अन्तिम दशा वह स्थिति है जब साधक के जीवन में पूरा काया-पलट हो जाता है और वह सिद्धावस्था को पहुँच जाता है। संतों की पहली दो स्थितियों में साधनात्मक एवं भावात्मक रूप मिलता है तथा अन्तिम स्थिति में पहुँचकर संत उस सहज अवस्था में पहुँच जाते हैं जिसे वेदान्ती 'ब्रह्मज्ञान'[१] कहते हैं। नाथपंथियों की दृष्टि में वही 'ब्रह्म अग्निका भेद'[२] माना गया है।

संतों ने रहस्य भावना की प्रथम दशा का वर्णन करते समय यह स्वीकार किया है कि यह अवस्था सद्गुरु की ही कृपा पर आधारित है। कबीर बताते हैं कि 'मैं तो अज्ञान के अंधकार में डूब रहा था कि सतगुरु के शब्द मेरे सामने बिजली की भाँति कौंध गये और उनके प्रकाश में अपनी स्थिति का परिचय पाते ही मैं सम्हल कर उससे बाहर आ गया और मैंने अपनी पूर्व दशा का परित्याग कर दिया।'[3] रज्जब का कथन है—

जन रज्जब गुरु की दया, दृष्टि परापति होय।
परगट गुप्त पिछानिये, जिसहि न दीखै कोय॥[४]

गुरु का शब्द-वाण लगते ही संतों ने जिस विह्वलता का परिचय दिया है उसका कारण प्रेम की वर्षा है, जिसके बरसते ही आत्मा भीतर तक भींग गयी।[५] किन्तु विरह की दशा प्रबल पिपासा के रूप में अतृप्ति बनकर फूट निकली—

सोई आँसू सजणां, सोइ लोक विड़ाहि।
जे लोइण लौंहीं चुवै तौ जाणौं हेत हियाँहि॥[६]

साधना क्षेत्र में संतों की यह स्थिति गुरु की कृपा, हृदय की शुद्धता और माया के जाल से मुक्त होने की अभिलाषा से सम्बद्ध है। परमात्मा के प्रति विरह का भाव

---

१ अब मैं पाइबौ रे पाइबौ ब्रह्म गियान।—कबीर ग्रन्थावली, पद ६, पृ० ८९।

२ धाये न षाइबा, भषे न मरिबा अहनसि लेबा ब्रह्म अगनि का भेद।
हठ न करिबा पेड्या न रहिबा यूं बोला गोरख देव॥
—गोरखवानी पृ० १२।

3 बड़े थे परि ऊवरे गुर की लहरि चमंकि।
मेरा देख्या जरजरा (तब) ऊतरि पड़े फरंकि॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३।

४ संत-काव्य, पृ० ३७४।

५ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४।

६ वही, पृ० ९।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आत्मशुद्धि के बिना सम्भव नहीं है। कबीर तो उसी को संत कहते हैं जो आत्मशुद्ध होकर परमात्मा के विरह में व्याकुल है—

निर-बैरी तिहकामना, सांई सेती नेह।
विषया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ॥[१]

इसके लिए साधनात्मक प्रयोग भी संतों की रचनाओं में मिलते हैं जिनका निकट का सम्बन्ध नाथपंथी साधना से है, किन्तु उन्हें हम संतों की रहस्य भावना के सोपान नहीं कह सकते। प्रत्येक प्रकार की रहस्य भावना में विरह की तीव्रानुभूति अपेक्षित है। यही आध्यात्मिक सक्रियता भी मानी जा सकती है।[२]

रहस्यवादी की दूसरी स्थिति विरह के तपाये जाने पर उत्पन्न होती है। सामान्यतः रहस्यवाद की यही प्रधान स्थिति भी मानी गयी है।[३] संतों ने दाम्पत्य को प्रतीक मान कर परमात्मा रूपी पीव का जितना वर्णन किया है, वह संत रहस्य भावना की अमूल्य निधि है। पतिव्रता नारी के रूप में भारतीय प्रेम पद्धति का जैसा निरूपण संतों ने किया है वह न सूफियों में मिलता है और न सगुण भक्त कवियों में।[४] संतों के मत में एक पुरुष केवल परमात्मा ही है, शेष सब उसी की नारियाँ हैं—

पुरुष हमारा एक है, हम नारी बहु अंग।
जै जै जैसी ताहिसौं षेले तिसही रंग ॥[५]

सन्त कबीर उसी को वरण करने के लिए विह्वल हैं—

दुलहिनी गावहु मंगलचार।
हम घर आये हो राजाराम भरतार ॥[६]

संत-काव्य में आध्यात्मिक विवाह के प्रसंगों को लेकर सुन्दर रहस्यात्मक अनुभूतियाँ मिलती हैं। संसार के रहस्यवादियों में आध्यात्मिक विवाह के रूपक मिलते हैं। संतों में भारतीय जीवन के विविध लोकाचारों का भी आध्यात्मिक स्वरूप प्रकट हुआ है। विवाह के पूर्व आत्मा रूपी बाला की यह मनःस्थिति कितनी स्वाभाविक है—

थहरह कपै बाला जीउ। ना जानउ किया करसी पीव ॥
रैनि गई मति दिन भी जात। भवर गए बग बैठे आय ॥[७]

---

१ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० २१८।
२ **मिस्टीसिज्म अंडर हिल**, पृ० २०७।
३ **कबीर साहित्य की परख**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ११८।
४ **संत-काव्य**—परशुराम चतुर्वेदी, भूमिका, पृ० ५९, ६०।
५ **दादूदयाल की वाणी।**
६ **कबीर ग्रन्थावली**, पद १, पृ० ८७।
७ **संत कबीर**, पृ० १४८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विवाह के समय मंगलाचार के गीत गाये जाते हैं। संतों ने भी आध्यात्मिक विवाह के अवसर पर मंगलाचार की चर्चा की है—

बहुत दिनन के प्रीतम पाए।
जाग पियारी अब का सोवै भाग बड़े घर बैठे आये॥
मंगलचार माँहि मन राखौं। राम रसायण रसना चाखौं॥
मंदिर माँहि भया उजियारा। ले सूती अपना पीव पियारा॥[१]

संतों ने उस हरि रूपी प्रियतम की स्वीकारोक्ति बड़ी विह्वलता के मध्य की है—

हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव॥
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥[२] —कबीर
क्यों बिसरै मेरा पीव पियारा। जीव की जीवनि प्राण हमारा॥[३]
—दादू

संतों में दाम्पत्य भाव के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—के वर्णन समान रूप से मिलते हैं। संतों की 'परचा' अथवा अपरोक्षानुभूति आत्मा और परमात्मा के प्रेम भाव की अलौकिक गाथा है जिसके प्रतीक विधान भी प्रायः लोक प्रचलित और सामान्य हैं, किन्तु जिनमें भावना का चरमोत्कर्ष मिलता है। कबीर की ये पंक्तियाँ मिलन के मधुर रूप का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती हैं—

अंक भरे भरि भेटिया, मन में नाहीं धीर।
कहे कबीर ते क्यूं मिले जब लग दोइ शरीर॥[४]
सुन्दर पतिव्रत राम सो सदा रहै इक नार।
सुख देवै तो अति सुखी दुःख तो सखी अपार॥
अब मैं तोहि जान न देहूँ राम पियारे।
त्यूं भावै त्यूं होउ हमारे॥[५]

संतों के इस दाम्पत्य भाव को कुछ विद्वानों ने सूफी प्रभाव माना है,[६] किन्तु हमारा निवेदन है कि दाम्पत्य भाव का यह वर्णन प्रेम की विह्वलता और चरमोत्कर्ष का पोषक होते हुए भी सूफी प्रेम पद्धति से भिन्न कोटि का है। संतों में यह मधुर

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८७।
२ वही, पृ० १२५।
३ संत-काव्य, पृ० २८५।
४ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४।
५ वही, पृ० ८७।
६ कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २०, २३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भाव दाम्पत्य प्रतीकों में ही रहता है, उसकी मर्यादा पतिव्रता नारी की मर्यादा और एकान्त निष्ठा ब्रह्म के सान्निध्य का प्रतीक है। सूफी फकीर परमात्मा को स्त्री रूप में मानकर जिन प्रतीकों का प्रयोग करते हैं उनमें आध्यात्मवादी निष्ठा का यह रूप नहीं मिलता। संतों ने भगवत् प्रेम के लिए विस्तृत क्षेत्र का परिचय भी नहीं दिया है जो सूफी फकीरों की अपनी विशेषता है। भारतीय लोक जीवन में ऐसा प्रतीत होता है कि पति-पत्नी का भाव अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रेम की पराकाष्ठा का प्रतीक रहा होगा, नहीं तो जिन संतों ने नारी को काली नागिन[1] कहा है वे स्वयं उस रूप में प्रेमोपासना न करते।

संतों में प्रेम का यह भाव पंचेन्द्रियों को अधीन कर साधनात्मक रूप में भी मिलता है जिसका अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हठयोग की भावना से भी माना जा सकता है, किन्तु उसे हम संतों का मुख्य भाव नहीं मान सकते—

मन मतवाला पीवै रामरस दूजा कछु न सुहाई।
उल्टी जग नीर बहि आया अमृत धार चुवाई॥
पंच जनै सो लग करिली ने चलत गुमारी लागी।
प्रेम पियाले पीवन लागै सोवत नागिन जागी॥[2]

संतों में रहस्यानुभूति की अन्तिम स्थिति आध्यात्मिक जीवन के अन्तिम विकसित रूप में हुई प्रतीत होती है जहाँ पहुँच कर साधक उस अनिर्वचनीय स्थिति में पहुँच जाता है जिसे योगियों की भाषा में उन्मना अवस्था[3] कहा जाता है तथा जो वेदान्त के अनुसार जीवन मुक्त[4] की स्थिति है। कबीर उसी को सहज समाधि कहते हैं।[5] इस अवस्था में पहुँचकर मनुष्य की मनोवृत्ति में आमूल परिवर्तन हो जाता है—

मन का भ्रम मन ही थैं भागा।
सहज रूप हरि खेलण लागा॥[6]

ऐसे तेजोमय लोक में प्रवेश करते ही संत सीमा छोड़कर असीममय हो जाता है[7] इस मिलनमय भावावस्था का वर्णन तब सम्भव नहीं है, केवल उसे देखा जा

---

[1] कांमणि काली नागणी तीन्यूं लोक मझारि।
रामसनेही ऊबरे, विषद खाये झारि॥ —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३९।

[2] कबीर ग्रन्थावली, पृ० १११।

[3] हंसे न बोले उन्मनी चंचल मेल्या मारि। —कबीर ग्रन्थावली, पृ० २।

[4] मैमंता अविगत रता अकलप आसा जीत।
राग अमलि भाता रहे जीवन मुकति अतीत॥ —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६।

[5] अब मैं पाई बौरे ब्रह्म गियान।
सहज समाध सुख मैं रहबो कोटि कलप विश्राम॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८९।

[6] कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५८।

[7] हठै छोड़ि बेहद गया, हुआ निरन्तर बास।
कमल जु फूला फूल बिन, को निरखे निज दास॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकता है, उसका अनुभव किया जा सकता है। यह संत रहस्य भावना की चरम स्थिति है जिसका परिचय हमें वैष्णव भक्ति भावना में, हठयोगियों के ब्रह्म ज्ञान में तथा सूफियों की प्रेम पद्धति में अंशतः तो मिल सकता है किन्तु वह संतों की अपनी साधना और भाव-विह्वलता का अत्यन्त सबल पक्ष है जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय अरु ज्ञान, अथवा ध्याता ध्येय अरु ध्यान अथवा दृष्टा, दृश्य अरु दरष की एकता हो जाती है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि इसी माधुर्य भाव और भावभगति की प्रधानता के कारण लोक जीवन नाथपंथियों की शुष्क साधना से दूर हटकर संतों की ओर उन्मुख हुआ होगा।

---

१ संत काव्य—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

५

निर्गुण संत कवि और उनका काव्य पक्ष

संत-काव्य मूलरूप में आत्मचिन्तन प्रधान एवं स्वानुभूतिपरक काव्य ही माना जा सकता है।[1] संतों ने अपने विचारों के प्रकाशन तथा अपने स्वानुभूत सिद्धान्तों के प्रचारार्थ प्रचलित शैलियों में जो रचनाएँ प्रस्तुत की हैं उनमें काव्य कौशल के प्रति उदासीन और निरपेक्ष भाव का आभास मिलना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। ये स्वानुभूतपरक रचनाएँ मनोरंजन अथवा अर्थ, यश आदि का ध्यान रख कर नहीं लिखी गयीं। इस दृष्टि से डा० बड़थ्वाल का यह विचार समीचीन ही प्रतीत होता है कि ये लोग प्रधानतः कवि नहीं थे। काव्य का कलात्मक सृजन इनका निश्चित उद्देश्य न था।[2] संतों के लिए कविता एक उद्देश्य का साधन मात्र है, उनकी अनुभूति में भावों की प्रधानता मिलती है किन्तु अभिव्यक्ति के प्रति एक निरीह भाव ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। संतों की यह प्रवृत्ति उनके अपढ़ अथवा संसार से विरक्त होने का ही परिणाम नहीं मानी जा सकती। संतों की यह धारणा सोद्देश्य भी कही जायेगी। संतों का उद्देश्य स्पष्ट ही काव्य का वह आदर्श प्रस्तुत करना है जिसमें

---

[1] तुम जिनि जानौं गीत है, यह निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समुझाइया, आतम साधन सार रे॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८६।

[2] हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ३३९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यक्तिगत स्वानुभूति विश्वजनीन अनुभूति की व्यापकता में परिणत हो जाती है,[1] भाव एवं भाषा दोनों ही दृष्टि से हम उनके आदर्श को संत-काव्य में पल्लवित होता हुआ पाते हैं। संत कबीर का यह कथन संतों के उद्देश्य को बहुत कुछ स्पष्ट कर देता है—

हरिजी यहै विचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौसागर में जीव हैं, जे कोई पकड़े तीर ॥ १ ॥
ऐसी बांणी बोलिये मन का आपा खोई।
अपना तन शीतल करै, औरन को सुख होई ॥ ६ ॥[2]

किसी भी काव्य का अनुशीलन प्रायः दो तथ्यों को ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है। उनमें से एक का सम्बन्ध उसके भाव अथवा विषय से होता है तथा दूसरे का सम्बन्ध अभिव्यक्ति अथवा भाषा से। यद्यपि दोनों तथ्य समान रूप से महत्त्वपूर्ण है किन्तु विद्वानों का मत है कि भाव ही काव्य का मुख्य उपादान है, भाषा भाव को प्रकट करने का महत्त्वपूर्ण माध्यम मानी जा सकती है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इसी बात को लक्ष्य करते हुए भाव को काव्य पुरुष का 'स्वभाव' माना है तथा भाषा को उसका 'शरीर' मात्र।[3] संतों ने काव्य के सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताओं को सम्भवतः इसी दृष्टि से देखा होगा। यह प्रायः सर्वसम्मत है कि संत कबीर ने संत-काव्य एवं संत मत को व्यवस्थित रूप प्रदान किया था। उनके समसामयिक मैथिल कवि विद्यापति यद्यपि सरस भाव प्रधान कविता के लिए प्रसिद्ध हैं किन्तु भाषा के पांडित्य एवं नागरिकों में उसके सम्मान के मुखापेक्षी भी वे थे यह उनकी अनेक रचनाओं से प्रकट होता है।[4] काव्यपक्ष का यह आग्रह अकेले विद्यापति में नहीं है अपितु वे सब कवि जो 'कविकर्म' में ही रत रहते हैं, भाव के साथ-साथ भाषा की साज-सम्हाल, अलंकारों की सजावट और शैली के चमत्कार को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। फलतः मध्ययुग में ऐसे को कवियों को राज्याश्रय भी प्राप्त रहा है। संत कबीर ने ऐसे ही कवियों को सम्बोधित करते हुए कहा है कि ये कविकर्मी कविता करते-करते व्यर्थ ही मर जाने वाले हैं।[5] कबीर अपने पदों को गीत भी कहलाने का अधिकारी नहीं मानते।[6] किन्तु क्या इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी रचनाएँ काव्य की कोटि में नहीं आ सकतीं ? भावों की व्यंजना में वर्णन के साधनों अथवा

---

१ **संत-काव्य**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४६।
२ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० ५६, ५७।
३ **संत कबीर**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४।
४ **कीर्तिलता**, पृ० ४।
५ **कवि कवीने कविता मूयें।**—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२५।
६ **जिनि जानौ यह गीत है, यहु है ब्रह्मविचार।**—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता नहीं रहती, वे शब्दों द्वारा आपसे आप रमणीयार्थों के रूप में प्रकट हो जाते हैं। वहाँ भाषा भावों की वाहिका के अनुरूप ही एक महत्त्वपूर्ण एवं प्राणवान आवश्यकता मानी गयी है, केवल ऊपरी सजावट का साधन नहीं। अतएव यह कहा जा सकता है कि उत्कृष्ट भावों से मुक्त काव्य के अनुशीलन में भावों की दृष्टि से ही विचार करना न्यायसंगत है, भाषा की दृष्टि से उसका विवेचन उसका प्रधान अंग नहीं है। संत-काव्य का प्रमुख आधार आध्यात्म तत्त्व है। संत-काव्य के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संतों ने अपनी आत्म-साधना के सार को ही भावों के द्वारा प्रकट करने की चेष्टा की है जिसका आनन्द उनकी दृष्टि में अनुपमेय है।[1]

अतएव संत-काव्य को हम भावप्रधान कह सकते हैं क्योंकि उनके रचयिताओं का ध्यान जितना भाव सौंदर्य की ओर जाता दीख पड़ता है उतना उनके शब्द एवं शैली में चमत्कार लाने की ओर दिया गया नहीं जान पड़ता।[2]

संतों के अनुसार उत्तम काव्य वही हो सकता है जो सोद्देश्य हो तथा जिसमें परमतत्त्व के सम्बन्ध में अनुभूति की चरम प्रेरणा निहित हो। संत 'राम' के उद्देश्य से किये गये कर्म ही उत्तम समझते हैं, शेष कर्म उनके लिए केवल मात्र वाह्य प्रयत्न हैं इसीलिए उनकी दृष्टि में वे उपेक्षा के कारण हैं[3]—

पोथी पठि पठि जग मुआ
पंडित हुआ न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का
पढ़े सो पंडित होय॥

कविता वह है जिसमें परमात्मा के ढाई अक्षर 'प्रेम' के प्राप्त हों। उनकी यह दृष्टि केवल 'हरिजस' पर आकर केन्द्रित हो जाती है। संतों के शृंगार, वीर आदि मानवोचित भाव भी विषयजन्य तथा निम्नकोटि के प्रतीत होते हैं। संत सुन्दरदास का निम्नलिखित पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

रसिक प्रिया रसिक मंजरी और सिंगारहि जानि।
चतुराई कहि बहुत विधि विषे बनाई आनि॥
विषय बनाई आनि लगति विषयिन को प्यारी।
ज मदन प्रचन्ड सराहे नखशिख नारी॥[4]

---

[1] आपही आप विचारिये तब केता होई आनन्द रे।—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८९।
[2] हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७८५।
[3] राम बिना संसार धुंध कुहेरा।
सारि प्रगट्य जप का फेरा॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १९५।
[4] र द्वितीय खण्ड, पृ० ४३९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यदि इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होगा कि जीवन के समस्त रागविकार मानव के दृष्टिकोण से सम्बद्ध रहते हैं, दृष्टिकोण का आधार संस्कार, पहुँच और परिस्थितियाँ मानी जा सकती हैं। उसके सम्बन्ध में यहाँ विश्लेषण अपेक्षित नहीं है। संतों में इस दृष्टि का होना उनका आध्यात्मिक वातावरण है। संत दादूदयाल अपनी वाणी को पक्षी की भाँति अपने आप प्रकट होने वाली मानते हैं जो अपने प्रिय के प्रेम में सहज ही प्रकट हो जाती है—

ऐसी प्रीति प्रेम की लागै, ज्यूं पंषी पीव सुनावै रे।
त्यूं मन मेरा रहै निसबासुरि, कोई पीव को आंणि मिलावै रे ॥[1]

उनकी दृष्टि में सच्ची अनुभूति तो कबीर की है जिसके सुनने से आनन्द उत्पन्न होता है।[2]

संत-काव्य के भाव पक्ष की ओर लक्ष्य करते हुए डा० बड़थ्वाल[3], श्री परशुराम चतुर्वेदी एवं[4] अन्य विद्वानों ने यह प्रकट किया है कि आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए भाषा एक अपर्याप्त साधन है। संतों के लिए अपनी अनुभूति सफल रूप में प्रकट करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। विद्वानों ने दूसरी ओर सत्य की अभिव्यक्ति के लिए काव्य को ही एक स्वाभाविक साधन माना है तब यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका सम्बन्ध हमारी इन्द्रियातीत अवस्था से है जहाँ भावना का अनुभव ही किया जा सकता है, यदि कुछ थोड़ी वहुत अभिव्यक्ति होती भी है तो केवल प्रतीकों के माध्यम से। इस स्थिति में संतों की भाषा सर्वथा दोषरहित नहीं रह पाती। किन्तु इसके पश्चात् भी संतों में अपनी प्रतिभा के फलस्वरूप भाषा, छन्द एवं शैली का भी निश्चित स्वरूप मिलता है।

संत-काव्य पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार किया जाना उपयुक्त है। संतों ने अपने उच्च से उच्च एवं गम्भीर से गम्भीर भाव को सर्वसाधारण तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। इसके लिए उन्होंने उनकी ही भाषा एवं उन्हीं के मुहावरों का प्रयोग कर लोक-जीवन के प्रचलित माध्यमों को अपनाया है। विद्वानों का मत है कि उनका उद्देश्य जितना अपनी कृतियों द्वारा 'सहृदयजनों' का मनोरंजन करना नहीं रहता उतना सांसारिक प्रपंचों में पड़े हुए लोगों को अपने मतानुसार सच्चे मार्ग का परिचय करना रहता है।[5] किन्तु यह परिपाटी संतों की अपनी परिपाटी नहीं है। इसके लिए हमें उनके पूर्ववर्ती साधक कवियों, सिद्ध और नाथों की रचनाओं की ओर उन्मुख होना

१ दादूदयाल की वाणी, पृ० ४१७

२ साँचा सबद कबीर का मीठा लागै मोहि।
दादू सुनता परम सुख केता आनन्द होहि ॥—संत सुधासार, पृ० ४८६।

3 हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ३३४।

४ संत-काव्य, पृ० ५५।

५ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७८५।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पड़ेगा। लोक-जीवन की ओर उन्मुख होने का कुछ भी कारण हो किन्तु यह लोक-जीवन ही वह कसौटी है जिससे हम किसी काव्य को चिरस्थायी काव्य कह सकते हैं। सच्चे काव्य के मूल्यांकन के लिए उसकी मनोरंजक अभिव्यक्ति की अपेक्षा 'लोक हृदय की पहुँच' ही मुख्य आधार माना जाता रहा है। इस दृष्टि से संत-काव्य का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

संत कवि नाथपंथी साधकों के परवर्ती हैं। डा० बड़थ्वाल निर्गुण शाखा को योग का परिवर्तित रूप ही मानते हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि संतों की सबदियों तथा बानियों के पूर्वरूप हमें नाथपंथियों की सबदियों तथा जोगेसुरी की बानियों में दीख पड़ते हैं।[1] संतों ने उसे किस रूप में ग्रहण किया है यह प्रश्न अवश्य ही विचारणीय है। डा० रामकुमार वर्मा यद्यपि संतमत पर मुसलमानी संस्कृति के प्रभाव को स्वीकार करते हैं तथापि उनका भी मत है कि नाथ पंथ का विकसित रूप संत-काव्य में पल्लवित हुआ।[2] वस्तुतः यह तथ्य निर्विवाद है कि निर्गुण मतवादी संतों की वाणियों का सीधा सम्बन्ध नाथपंथी योगियों के पदादि से है। वे ही पद, वे ही राग-रागनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ संतों ने व्यवहृत की हैं जो उनके पूर्ववर्ती नाथपंथी साधकों ने की हैं। नाथपंथी ही कबीर आदि संतों के सर्वत्र मार्गदर्शक हैं—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह मत वस्तुतः समीचीन ही है।[3] संत-काव्य के काव्य-पक्ष पर विस्तृत विचार करने के पूर्व नाथों की वाणियों और उनके स्वरूप का परिचय भी इसी दृष्टि से यहाँ दिया जा रहा है।

नाथों की वाणियाँ और उनका स्वरूप

नाथों की वाणियाँ हिन्दी काव्य के आदिकाल की रचनाएँ मानी जाती हैं।[4] नाथ साहित्य के अन्तर्गत गोरखनाथ की छोटी-मोटी चालीस रचनाएँ 'गोरखवानी' में सगृहीत हैं तथा गोरखनाथ के बाद के नाथों की वाणियाँ 'नाथ सिद्धों की वाणियों' के नाम से प्रकाशित हुई हैं।[5] इस सामग्री के अतिरिक्त नाथों की वाणियों का कोई विशेष संकलन आज हिन्दी जगत के सम्मुख नहीं है। इन रचनाओं में भी कितना अंश गोरखनाथ और उनके परवर्ती नाथों का है और कितना अंश प्रक्षिप्त है, यह कहना कठिन ही है। गोरखनाथ के परवर्ती नाथों की वाणियों में कुछ वाणियाँ राम,

---

१ (अ) **संत-काव्य की भूमिका**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १५।
(आ) **निर्गुण शाखा वास्तव में योग का ही परिवर्तित रूप है।**—योग प्रवाह, डा० पीतम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ७५।

२ **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २९८।

३ **हिन्दी साहित्य की भूमिका**, पृ० ३१।

४ **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४०।

५ **विस्तृत विवरण के लिए देखिए इसी प्रबन्ध का अध्याय १।**

लक्ष्मण, हनुमान, दत्तात्रय, महादेव, पार्वती आदि के नाम पर मिलती हैं जो निश्चित ही परवर्ती साधुओं की रचनाएँ होनी चाहिए । हिन्दी के आदिकाल की रचनाएँ अनेक कारणों से अरक्षित रही हैं । भाषा की दृष्टि से बहुत कम रचनाएँ ऐसी हैं जिनके आधार पर उस काल की भाषा प्रवृत्ति का आभास पाया जा सकता है ।[1] ये रचनाएँ मुख्यतः नाथयोगियों के लिए दिये गये उपदेश हैं जो बाद में संगृहीत कर लिये गये प्रतीत होते हैं । जिस रूप में आज ये उपलब्ध हैं उसके आधार पर ही उनके वर्ण्य विषय तथा काव्य रूप का परिचय हमें प्राप्त हो सकता है । निःसंदेह आज की स्थिति में हिन्दी काव्य के इतिहास के आदिकाल के ये भी एक महत्त्वपूर्ण उपकरण माने जा सकते हैं । नाथपंथियों की रचनाएँ प्राचीन हिन्दी के अन्तर्गत आती हैं ।

नाथपंथी साधकों के 'सिद्धान्त और साधना' के अध्ययन के अन्तर्गत हम इस बात का आभास पाते हैं कि उनकी रचनाओं में साहित्य सौन्दर्य के लिए कोई विशेष स्थान नहीं है । उनकी रचनाएँ मुख्यतः धार्मिक और योग की क्रियाओं से सम्बद्ध होने के कारण दार्शनिक भी कही जा सकती हैं, किन्तु उनका सृजन 'सहृदयजनों' के लिए निश्चित रूप से नहीं किया गया, इस सम्बन्ध में विद्वानों के दो मत नहीं हो सकते । दार्शनिक और धार्मिक विषय हिन्दी काव्य धारा के कदाचित् सबसे प्राचीन वर्ण्य विषय हैं । विद्वानों का मत है कि दार्शनिक और धार्मिक विषय का अस्तित्व नाथपंथी वाणियों के पूर्व भी पाया जाता है । सिद्धों की रचनाओं में वज्रयान एवं सहजयान सम्बन्धी साम्प्रदायिक विचारों और उनकी योगपरक साधनाओं की चर्चा मिलती है ।[2] इसके साथ ही नीतिपरक पदों एवं खण्डनात्मक अंशों की भी बहुलता सिद्ध साहित्य का मुख्य विषय है ।[3] नाथपंथी वाणियों में प्रायः ये सभी वर्ण्य विषय उपलब्ध हो जाते हैं किन्तु उसके बाद भी सिद्ध साहित्य और नाथपंथी रचनाओं में एक मूल अन्तर यह प्रतीत होता है कि सिद्धों में भावपक्ष के रूप में जिस सहजरस की प्रधानता है, नाथपंथी रचनाओं में उसके प्रति केवल व्यंग और अवहेलना का ही भाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है । सम्भवतः इसका कारण सिद्धों की गर्हित भोगपरक कामचेष्टाओं के प्रति जनसमुदाय की प्रतिक्रिया ही हो सकती है । फलतः नाथपंथी साधकों में उसकी तीव्र प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है । इसी कारण नाथपंथी रचनाओं में उसका सर्वथा बहिष्कार मिलता है, साथ ही अपनी कुछ दृढ़ स्थापनाओं के प्रति भी उन्होंने कुछ संकेत किये हैं । गोरखनाथ कहते हैं—

---

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४१ ।

२ (अ) सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, पृ० २४४ ।
(आ) संत-काव्य—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ९ ।

३ सिद्ध साहित्य, पृ० २५६ ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अवधू जाप जपौ, जपमाली चीन्हों, जाप जप्यां फल होई ।
अगम जाप जापीला गोरख, चीन्हत बिरला कोई ।।[१]

सहजरस अथवा महासुखवाद के स्थान पर नाथपंथी सहजसाधना अथवा सहजप्रकाश की चर्चा करते हैं—

एही रजाराम आछै सर्वे अंगे बासा ।
येही पांचौ तत बाबू सहजि प्रकासा ।।[२]

डा० धर्मवीर भारती ने सिद्ध काव्य की रसोद्रेकमयी धारा को अतिशयातिशय गुह्य कहा है तथा उनका मत है कि सिद्ध लौकिक रस के बजाय कमल रस, अमृत रस, सहजरस के साधक थे और वही उनके काव्य का मूल रस है।[3] नाथपंथी साधकों की वानियों में इस रस का पूर्णतया अभाव पाया जाता है। हमारा अनुमान है कि सहजरस का महत्त्व सिद्धों में नैरात्म्य की विविध चेष्टाओं के कारण अधिक प्रधान था, नाथों में वही ईश्वरत्व की भावना से अधिक समर्थ हो गया। प्रायः समान पृष्ठभूमि के बाद भी प्रचलित मान्यताओं के मध्य दोनों के काव्य विषयों में कुछ सामान्य तत्त्वों को छोड़कर विषय की दृष्टि से निश्चित ही पर्याप्त अन्तर है।

नाथों की वाणियों का मुख्य विषय है हठयोग की साधना और उसके निमित्त गुरुओं द्वारा शिष्यों को दिये गये उपदेश। इसके अन्तर्गत प्रचलित शब्दों की साम्प्रदायिक परिभाषा को लेकर साधना मार्ग के विविध प्रयोगों का वर्णन भी आ जाता है। संन्यासी की परिभाषा करते हुए गोरखनाथ कहते हैं—

सन्यासी सोई करै सर्वनास, गगन मंडल महि मांडै आस ।
अनहद सूं मन उनमन रहै, सो सन्यासी अगम की कहै ।।[४]

हठयोग की साधना के प्रसंगों से तो अधिकांश नाथपंथी रचनाएँ भरी पड़ी हैं। इड़ा, पिंगला, चन्द्र, सूर, सहस्रार, अलख आदि के प्रयोगों से भिन्न-भिन्न प्रकार से साधना मार्ग को इन नाथपंथियों ने समझाने का प्रयत्न किया है ऐसा प्रतीत होता है।[५] साधनाप्रवण इन वाणियों में ईश्वर विषयक जिज्ञासा और रहस्य साधना के कतिपय संकेत भी मिलते हैं, ऐसी रचनाएँ यथार्थ में जिज्ञासामूलक रहस्य भावना के अन्तर्गत रखी जा सकती , किन्तु उनकी संख्या अधिक नहीं है। इस अगम परमतत्त्व के विषय में एक रहस्यात्मक जिज्ञासा ही गोरखनाथ आदि की रचनाओं में देखने में आती है—

---

१ **गोरखवानी**, पृ० १०१।
२ **वही**, पृ० १००।
3 **सिद्ध साहित्य**—डा० धर्मवीर भारती, पृ० २५६।
४ **गोरखवानी**, पृ० ३६।
५ **वही**, १०५, पृ० ३६; ६०, पृ० ३२; ८१, पृ० २६ आदि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बसती न सुन्यं सुन्यं न वस्ती अगम अगोचर ऐसा ।
गगन सिषर मँहि बालक बोलें ताका नाम धरहुगे कैसा ॥[१]

साधनामूलक बातों के अतिरिक्त नाथपंथी रचनाओं में नैतिक विश्वास एवं आचरण सम्बन्धी विषयों का भी समावेश किया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि साधनामूलक हठयोग के काया-क्लिष्ट प्रयोगों को विधिवत सम्पन्न करने के लिए साधारण नैतिक मान्यताओं का परिचय होना आवश्यक रहा होगा । यह भी उपदेश शैली में वर्णित हैं । गोरखनाथ कहते हैं—

मन में रहिणा भेद न कहिणा, बोलिवा अमृत वाणी ।
अगिला अगनी होइबा अवधू, तौ आपण होइबा पाणी ॥[२]
गोरख कहै सुणहु रे अवधू जग में ऐसे रहणां ।
आंषें देषिबा कानैं सुणिबा मुख थैं कछु न कहणां ॥[३]
नाथ कहै तुम सुनहु रे अवधू दिठ करि राषहु चीया ।
काम क्रोध अहंकार निवारौ पै सबै दिसंतर कीया ॥[४]

नाथों की नैतिक धारणाएँ प्रायः मानवोचित हैं, किन्तु कहीं-कहीं उनमें तात्कालिक प्रतिक्रिया भी प्रतीत होती है । बौद्ध वज्रयानी साधकों में जिस इन्द्रिय-निग्रह का अभाव एवं कामोपभोग की प्रवृत्ति का विकास हो रहा था नाथपंथियों ने उसकी तीव्र निन्दा की है । इसका रूप एक सीमा पर जाकर ब्रह्मचर्य पालन और संसार से विरक्त रहने के उपदेशों में प्रकट हुआ है—

धन जोवन की करै न आस । चित्त न राषै कामनि पास ।
नाद बिंद जाके घटि जरै । ताकी सेवा पारबती करै ॥[५]
गोरख कहै सुणहु रे अवधू जग में ऐसे रहणां ।
आंषैं देषिबा कानैं सुणिबा मुख थैं कछू न कहणां ॥[६]

काव्य पक्ष की दृष्टि से इन योगपरक साधनाओं एवं नीतिपरक उपदेशों की गति बहुत ही शिथिल और नीरस है किन्तु उनमें एक विचित्र प्रकार का अक्खड़पन मिलता है । इसी के साथ खण्डनात्मक प्रवृत्ति का भी आभास कहीं-कहीं नाथों की

---

१ **गोरखवानी, पृ० १ ।**
२ **वही, पृ० २३ ।**
३ **वही, पृ० २६ ।**
४ **वही, पृ० ११ ।**
५ **वही, पृ० ७ ।**
६ **वही, पृ० २६ ।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाणियों में मिलता है जिनमें समसामयिक साधकों एवं धार्मिक आधारों के प्रति तीव्र व्यंग है।[1] यह एक प्रकार की चेतावनी का ही रूप हो सकती है।

नाथपंथी रचनाओं के वर्ण्य विषय के विवेचन के संदर्भ में हमें यह बात स्मरण रखनी होगी कि नाथ पंथ का प्रभाव क्षेत्र समस्त देश में विस्तृत था और उसका कलेवर अनेक प्रवृत्तियों के सम्मिश्रण स्वरूप ही बढ़ा होगा, उसमें लोक प्रवृत्तियों और मुहावरों का समावेश भी हुआ होगा जिनका रूप हमें लोकोक्तियों और जोगीड़े के मध्य प्राप्त होता है। इन दृष्टियों से नाथपंथी रचनाएँ काव्यधारा के उस स्वरूप की परिचायिका हैं जिनमें किसी विशेष सम्प्रदायगत भावनाओं का विकास और उसके साधना विषयक उपदेश वर्णित रहते हैं। रस पाक साहित्य की दृष्टि से इनका मूल्य अधिक नहीं है, यही कारण है कि साधारण जन अपनी अनुभूति का काव्यस्यल इनमें नहीं पाता और लोक-जीवन में इनके प्रति उदासीनता का भाव ही पाया जाता है।

संतों का भाव निरूपण

नाथपंथियों की प्रायः सभी वाणियों में जितनी ही अधिक रुक्षता और नीरसता है, संतों की अधिकांश रचनाएँ उतनी ही अधिक सरस और लोक प्रभावी हैं। यद्यपि संत-काव्य में लौकिक काव्य रूपों और भाव निरूपण के प्रति एक उपेक्षा भाव ही सर्वत्र पाया जाता है किन्तु फिर भी अपने सीमित विषय के अन्तर्गत संतों का भाव निरूपण लोक मानस को प्रभावित करने में समर्थ हुआ है।

संत-काव्य के मुख्य वर्ण्य विषय धार्मिक और दार्शनिक ही कहे जा सकते हैं।[2] इसके अन्तर्गत उनकी वाणियों में सत् अथवा परमतत्त्व रूपी 'राम' के प्रति आत्म-समर्पण, उसके प्रति प्रकट किये गये विविध भाव और आत्मनिवेदन प्रधान हैं। साथ ही साधनापरक उक्तियाँ, नैतिक आचरण सम्बन्धी उद्गार तथा उपदेश भी संतों की वाणियों में मिलते हैं। खण्डनात्मक वृत्ति को लेकर सामाजिक एवं धार्मिक आचारों के प्रति व्यंग्य और अन्य मतों की कठोर आलोचना संतों की रचनाओं में प्रायः सामान्य रीति से प्रयुक्त होने वाले वर्ण्य विषय हैं। संतों की वाणियों के इस विविध स्वरूप को देखकर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि संतों के पास काव्य की दृष्टि से इनको छोड़कर कोई विशेष सामग्री नहीं है। किन्तु संत-काव्य की समीक्षा करने के उपरान्त यह धारणा भ्रामक ही प्रतीत होती है। डा० बड़थ्वाल ने संतों की सफल काव्य-रचना के सम्बन्ध में प्रकट किया है कि निर्गुणियों की काव्य-रचना सम्बन्धी

---

[1] गोरखवानी, ३९, ४०, पृ० १५।

(अ) हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७८५।

(आ) तुम जिनि जानौ गीत है यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समुझाईया आतम साधन सार रे॥—कबीर ग्रन्थावली

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सफलता उनके रूपकात्मक प्रेम संगीत, विनय तथा आनन्दोद्रेक में देखी जाती है क्योंकि उन्हीं में उनकी आन्तरिक अनुभूति का पता चलता है तथा सौंदर्य, प्रेम एवं सत्य की त्रयी की अभिव्यक्ति भी उन्हीं में होती है।[1] हमारा तो यह विचार है कि संतों का भाव निरूपण मानव के सामान्य धरातल की उपज भी है जिसमें अनुभवजन्य परतीति, भावना के चरम आदर्श पर अवस्थित हो, सहजशीला आनन्ददायिनी बन जाती है। जब भावना का उद्रेक हृदय की विशालता और व्यापकता से सम्बद्ध होकर अनुभूति प्रधान हो जाता है तब वही वस्तुतः आध्यात्म काव्य माना जा सकता है। संतों की रचनाएँ इस दृष्टि से उत्तम कोटि की काव्य रचनाएँ मानी जायेंगी।

संत-काव्य की भाव धारा के सूत्र जैसा कि पूर्व में प्रकट किया गया है, संतों के अनुभवों के मध्य ही उपलब्ध होते हैं। भाव की दृष्टि से किसी भी काव्य में दो तत्त्व विशेष महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक समझे गये हैं। उनमें से प्रथम है 'हृदय की सचाई और उसकी अनुभूति' तथा दूसरा है 'कल्पना'।[2] संतों ने इन दोनों तत्त्वों का अपनी रचनाओं में प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है। यह प्रायः सर्वसम्मत है कि संतों का मुख्य प्रयोजन काव्य-सृजन नहीं था[3] किन्तु उनकी अनुभूतियाँ काव्य के अन्तर्गत ही मानी गयी हैं। इस दृष्टि से संत-काव्य के भाव निरूपण में अनेक तत्त्वों का समावेश भी हुआ प्रतीत होता है। डा० रामकुमार वर्मा ने संत-काव्य के भावपक्ष को तीन भागों में विभाजित किया है। वे विभाग हैं धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक।[4] डा० वर्मा द्वारा किया गया यह विभाजन संत सम्प्रदाय के विस्तृत कलेवर को ध्यान में रखकर किया गया एक ऐतिहासिक परिचय ही प्रतीत होता है जिसकी चर्चा पूर्व में संत-काव्य की पृष्ठभूमि के रूप में की जा चुकी है। संतों की रचनाएँ जहाँ धर्म से, दर्शन से तथा समाज के अशिक्षित वर्ग से सम्बद्ध हैं वहाँ उनमें हम हृदय की सचाई और उसकी अनुभूति का आभास भी पाते हैं। इसके साथ ही लोक चिन्ता के रूप में उनकी कल्पनाएँ तत्कालीन जीवन का भी चित्र प्रस्तुत करती हैं।[5] आध्यात्मिक जीवन से ओतप्रोत होने के कारण एक ओर उनकी यह अनुभूति रहस्य भावना की

---

१ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीतम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ३४८।

२ इस सम्बन्ध में डा० बड़थ्वाल का मत भी दृष्टव्य है। देखिए, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० २४५।

३ जिनि जानौ यह गीति है, यहु है ब्रह्म विचार।—कबीर ग्रन्थावली।

४ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, भा० हि० प०, पृ० २२५।

५ मन मेरौ रहरा रसनां पुरइया।
हरि को नांउ लैंते काति बहुरिया॥ —कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोटि के अन्तर्गत आती है तो दूसरी ओर लोक-जीवन की यथातथ्य अभिव्यक्ति भी उनकी रचनाओं में मिलती है। यही कारण है कि संत-काव्य में रस, अलंकार एवं प्रतीक योजना भी लोकप्रचलित ढंग की ही उपलब्ध होती है। मध्ययुग में जिस भक्ति भाव की प्रमुखता है, संतों में भी उसी भक्ति का प्राधान्य है। सच तो यह है कि कुछ अत्यन्त अल्प भेदों के रहते हुए भी संतों की भावभगति एवं सामान्य विश्वास प्रायः एक से ही कहे जा सकते हैं। संतों का भावनिरूपण मुख्यतः प्रेम लक्षणा भक्ति से अनुप्राणित है। अनन्त सौन्दर्य राशि की अनुभूतिमयी कल्पना और उसकी रागात्मक परिणति भिन्न-भिन्न प्रतीकों के माध्यम से संतों की वाणियों में फूट निकली है। उनकी सौंदर्य सृष्टि वस्तुवाद को स्पर्श करती हुई भी उससे ऊपर की वस्तु बन पड़ी है, संतों का भाव निरूपण इन्द्रियों का विषय न रहकर आत्मा का विषय रहा है।

कबीर ने कहा है—

आया था संसार में देषण कौं बहुरूप।
कहै कबीरा संत हो, पड़ि गया नजरि अनूप ॥[1]

संतों की वाणियों में जहाँ हृदय की विह्वलता और भावना का चरम प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त हुआ है वहाँ उनके उपदेश भी नीरस नहीं कहे जा सकते। अनुभूतिमयी तन्मयता के फलस्वरूप जीवन का सन्देश बनकर उनके उपदेश सत्य की अभिव्यक्ति करने में सफल हुए हैं। राग और बुद्धि, सौन्दर्य और सत्य संत-काव्य में एक ही आध्यात्म की पृष्ठभूमि पर आ खड़े हुए। संत-काव्य में भावधारा का यह सम्मिश्रण सहजधर्मी नहीं कहा जा सकता। यही उसकी विशेषता भी है। धर्म से अनु, प्राणित होने के कारण संत-काव्य मांगलिक पृष्ठभूमि का पोषक ही माना जायगा। संतों का भावपक्ष काव्य में 'रामरस' बनकर लोक-जीवन में साधारणीकृत स्थिति उत्पन्न कर सका, अनेक विद्वान उसी को भक्तिरस भी कहते हैं।[2] 'रामरस' की असाधारण अवस्था को प्राप्त करने में संतों की भावना सतत ही प्रयत्नशीला रही प्रतीत होती है। कबीर का यह कथन दृष्टव्य है—

राम रसायन प्रेम रस पीवत अधिक रसाल।

× × ×

हरि रस पीया जांणिये जे कबहूँ न जाई खुमार।
मैंमत्ता घूमत रहै, नांही तन की सार॥

---

[1] **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० १४।

[2] हिन्दी अनुशीलन, डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित का लेख, **'भक्ति रस स्वरूप और आवश्यकता'**, वर्ष ६, अंक १, ४, पृ० ४०।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सबै रसायण मैं किया, हरि सा और न कोई।
तिलइक घट में संचरै, तौ सब तन कंचन होई ॥[1]

—कबीर

सुन्दरदास ने उसी को इस प्रकार प्रकट किया है—

प्रेम लग्यौ परमेश्वर सौं तब भूलि गयो सब ही घरवारा।
ज्यौं उनमन फिरै जित ही तित, नैकु रही न शरीर संभारा ॥
स्वांस उस्वास उठै सब रोम, चलै दृगनीर अखंडित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधा विधि छाकि परयौ रस पी मतवारा ॥[2]

दाम्पत्य भाव

वैसे संत-काव्य सत्य की अनुभूति का हेतु लेकर चला, फिर भी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में रचे जाने वाले संत-काव्य में सबसे प्रिय भाव दाम्पत्य भाव ही लक्षित होता है। पति-पत्नी के मध्य होने वाले प्रेम के इस रूप को संत कवियों ने ही सबसे प्रथम अपने काव्य का मुख्य विषय बनाया हो यह बात नहीं है। इस भाव की प्रचुरता संतों में अनेक तत्कालीन कारणों से पायी गयी प्रतीत होती है। प्रेम के इस रूप का उपयोग आध्यात्मिक चिन्तन के रूप में अत्यन्त प्राचीनकाल से होता रहा है[3] किन्तु संतों की रचनाओं पर लोक-जीवन में प्रचलित मान्यताओं का सीधा प्रभाव ही अधिक प्रतीत होता है। संतों का यह दाम्पत्य प्रेम भारतीय ग्रहस्थ व्यवस्था की एक उत्कृष्ट धारणा, पातिव्रत भाव, से पूर्णतया सम्बद्ध है। इस सम्बन्ध में संतों ने स्पष्ट ही लोक चिन्ता का प्रतिनिधित्व किया है—

पतिबरता मैली भली, गले कांच की पोत।
सब सखियन में यों दिपै ज्यों रवि ससि की जोत ॥[4]

संतों का यह दाम्पत्य भाव सूफी प्रेम से भिन्न कोटि का है। समष्टि की मर्यादा का भारतीय आदर्श, हमारी समाज रचना का यह पति-पत्नि प्रेम लोक-जीवन में शताब्दियों से एक उच्च स्थान बनाये हुए है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्ययुग में सच्चे साधक के लिए उससे अधिक किसी सुन्दर प्रतीक की खोज नहीं थी। यही वह माध्यम था जिसके द्वारा वह अपने भागवत प्रेम की सचाई को लोक-जीवन की कसौटी पर कस सकता था और इसीलिए संतों की रचनाओं में इस प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग सर्वत्र पाया जाता है। संतों का यह दाम्पत्य भाव सगुण भक्त

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६,१७।
२ संत सुधासार, पृ० ५७७।
३ संत-काव्य—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५८।
४ संत सुधासार, पृ० १३१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कवियों में कुछ भिन्नता के साथ उपलब्ध है किन्तु जिस प्रेम भाव को संतों ने प्रधानता दी है वह अद्वय अवस्था का पोषक है। संतों का, पति परमात्मा सर्वव्यापी है, अभेद-भाव के साथ संत उसे अपने भीतर ही अपना लेना चाहते हैं। इस प्रकार वे निरर्थक आडम्बर और विस्तार से बच जाते हैं। यद्यपि कुछ विद्वानों ने संतों के दाम्पत्य भाव को सूफियों की देन माना है[1] किन्तु न तो हमें संत कवियों में प्रेम की वैसी मादकता मिलती है और न शैतान का ही कहीं कोई रूप मिलता है। संतों का दाम्पत्य भाव परमात्मा को पुरुष रूप में मानकर चला है—

हरि मेरा पीव माई हरि मेरा पीव।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव ॥[2]

× × ×

पुरुष हमारा एक है, हम नारी बहु अंग।
जे जे जैसी ताहिसौं, षेले तिसही रंग ॥[3]

संत कवियों ने उसी एक अविनासी पुरुष के वरण की चर्चा सर्वत्र की है[4] किन्तु संतों का यह दाम्पत्य भाव भौतिक रूप में कहीं प्रतिष्ठित नहीं होता। संतों का दाम्पत्य भाव एक प्रतीक ही माना जा सकता है जो आशय को सबलता से प्रकट भर कर देने में सहायक होता है। इन प्रतीकों के द्वारा लोक प्रचलित आचारों के सहारे आध्यात्मिक अर्थों को आसानी से समझा जा सकता है। वैष्णव भक्त कवियों के परकीया भाव से भिन्न संतों का यह पति-पत्नि भाव प्रेम की पराकाष्ठा का सूचक है। संत कवियों की एकान्तनिष्ठा और आत्मत्याग की यह लोकपरक अनुभूति उन्हें अपनी परम्परा से भिन्न कोटि का साधक सिद्ध कर देती है। नाथपंथी साधक जिस ब्रह्म साधना की रुक्षता को लोकवाह्य मानकर तप की ज्वाला में जलते रहे, संतों ने उसी को लोकसम्मत आचारों और संस्कारों से अनुप्राणित कर एक ऐसी मधुरता से युक्त कर दिया जो सहृदयजनों के आनन्द का कारण बन सका। निश्चित ही संतों का यह भाव निरूपण अधिक ओजस्वी, निर्भीक और कोमल भावनाओं एवं कल्पनाओं से सम्पन्न कहा जायगा।

रस, आलम्बन, अनुभाव या संचारी भाव

उपर्युक्त दाम्पत्य भाव को भक्त कवियों का मुख्य भाव मानकर अनेक विद्वानों

---

[1] हिन्दी साहित्य—डा० रामकुमार वर्मा, द्वितीय खंड, पृ० २०८।
[2] संत सुधासार—कबीर, पृ० ६६।
[3] दादूदयाल की वाणी, पृ० ३४।
[4] दुलहिनी गावहु मंगलचार।
हम घर आये हो राजाराम भरतार ॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८७।

× × ×

भनति नानकु सभना का पिउ एको सोई।
जिसनो नदारे करे सा सोहागणि होई ॥—नानक, आदि ग्रन्थ, पृ० १५३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने भक्ति काव्य में 'मधुर रस' की व्यंजना पर विचार किया है। कहीं-कहीं यह मधुर रस श्रृङ्गार रस के विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के समकक्ष भी मान लिया गया है किन्तु भक्ति रस के पोषक भक्त एवं भक्ति काव्य के मर्मज्ञ उसे एक पृथक कोटि की रसानुभूति मानते हैं।[1] भक्ति को रस के अन्तर्गत माना जाय अथवा भाव के अन्तर्गत, यह एक विवाद का विषय है।[2] यह प्रायः निश्चित ही है कि जिस अर्थ और विशेषता के साथ काव्य में रस की सृष्टि मानी गयी है वैसी विशेषता संत-काव्य में नहीं पायी जाती। उसका अनुशीलन भी किसी विशेष परिणाम की सूचना नहीं देता है क्योंकि संत कवियों ने जिस भक्ति भाव को अपनी अनुभूति का मुख्य हेतु माना है उस भक्ति का आलम्बन लौकिक न होकर अलौकिक ही बन पड़ा है।[3] काव्य में रस की निष्पत्ति को लेकर काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों ने जितना विवाद प्रस्तुत किया है, संतों की भावना उसके प्रति बिलकुल ही तटस्थ प्रतीत होती है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मानव के समस्त रागात्मक विकारों का संतों की रचनाओं में अभाव है। विद्वानों का मत है कि 'रसनिष्पत्ति का मूल आधार सौन्दर्यानुभूति है या यह भी कहा जा सकता है कि सौन्दर्य की अनुभूति के आनन्द से भिन्न रसास्वाद का अर्थ कुछ नहीं है। स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि का वर्णन, विवेचन तथा विस्तार मात्र इसलिए है कि रस सिद्धान्त काव्य की व्याख्या मनुष्य के मनोभावों के आधार पर करने का प्रयत्न करता है। रसानुभूति के क्षण में सब स्थायी समान हैं, विभाव समान हैं, अनुभाव और संचारी समान हैं। संतों की सौन्दर्यानुभूति इस दृष्टि से अत्यन्त व्यापक है। उसकी प्रेरणा का उत्स भी असीम है। उस सौन्दर्यस्रष्टा के विषय में कहा नहीं जा सकता कि वह निकट है अथवा दूर, क्योंकि वह अतीत होता हुआ भी सबके घटों में व्याप्त हो रहा है।[4] संतों की रचनाओं में, उनके रसास्वाद में यही एक मौलिक भेद है जिसके आधार पर हम उनकी प्रत्येक अनुभूति को मानव के मनोभावों की असाधारण अनुभूति के माध्यम से आँक सकते हैं। यह मात्र उद्देश्य की भिन्नता ही माना जा सकती है। इस दृष्टि से रसराज श्रृङ्गार और संतों के मधुर रस में रतिभाव की निष्पत्ति भिन्न परिणामों को अवतारणा करती है।[5] जहाँ श्रृंगार रस लौकिक और सांसारिक वातावरण की अनुभूति का पोषक है वहाँ मधुर रस में 'परानुरक्तिरीश्वरे'

---

१ (अ) **काव्य कल्पद्रुम**—कन्हैयालाल पोद्दार, प्रथम भाग, पृ० १४१।
(आ) **काव्यदर्पण**—पं० रामदहिन मिश्र, पृ० ९८।

२ **'हिन्दी अनुशीलन'**, डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित का लेख, 'भक्ति रस स्वरूप और आवश्यकता', वर्ष ९, अंक १, ४।

३ **अब हरि हूँ अपनौ करि लीनौ।**
प्रेम भगति मेरौ मन भीनौ ॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २०१।

४ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० २३६।

५ **संत-काव्य**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ६४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का भाव प्रमुख है[१] किन्तु आध्यात्मिक एकान्तिकता के कारण काव्य के लोक-प्रभावी रस रूप की व्यापकता का संतों में निश्चित अभाव है। मानव के शाश्वत राग-विकारों की सौन्दर्यमूलक अनुभूति और व्यंजना दोनों ही एक सीमित आकार में बँधकर संत-काव्य के रूप में प्रकट हुई हैं जिसमें लौकिक विस्तार के लिए अधिक स्थान नहीं रह जाता, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए संत कवियों में रसादि के सम्बन्ध में जो रूप उपलब्ध हैं उसका परिचय दिया जा रहा है।

डा० रामकुमार वर्मा ने एक स्थल पर ठीक ही प्रकट किया है कि "संत-काव्य में रस का जो विशेष गुण साधारणीकरण है वह इस काव्य में अवश्य है। वस्तुस्थिति का सौन्दर्य बोध भी संतों द्वारा ग्रहण किया गया है किन्तु स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की सम्मिलित अनुभूति से रस निष्पत्ति में संतों का काव्य नहीं लिखा गया।"[२] आत्मानन्द अथवा ब्रह्मानन्द की कोटि की अनुभूति में जिस विह्वलता का अनुभव संतों ने किया था उसमें रस के विभिन्न अंगों का सूक्ष्म विश्लेषण करना न तो उनके उद्देश्य में सहायक था और न उस स्थिति में ऐसा सम्भव ही हो सकता था। सच तो यह है कि रस के अंगों की स्वाभाविक उद्भूति एवं अवस्थिति आत्मानन्द की अनुभूति में ही खोजी जा सकती है, यही कारण है कि वैदिक आत्मवाद से निःसृत 'रसो वैसः' काव्य का उत्कृष्ट भाव ठहराया गया है। किन्तु संतों की रचनाओं में पूर्ण रस परिपाक का जो अभाव पाया जाता है उसका एक कारण और है। यह कारण है संत-काव्य में प्रबन्ध रचनाओं की कमी। संतों ने अपनी आन्तरिक अनुभूति को मुख्यतः गीतों के माध्यम से व्यक्त किया है।[३] संतों ने जिज्ञासु साधक की भाँति अपनी प्रमुख भावना को अपने आराध्य के सम्मुख विह्वलता के मध्य प्रकट किया है, निश्चित ही उस स्थिति में संतों के पास उतना अवकाश नहीं था। फिर भी प्रबन्ध-काव्य में कथा-प्रसंगों को लेकर रस परिपाक में जो सुविधा मिल जाती है, गीति-काव्य में उसका अभाव होना कोई अस्वाभाविक घटना नहीं है। रस सृष्टि का उद्देश्य लेकर काव्य-रचना करने वाले कवि के लिए, चाहे वह गीति-काव्य हो अथवा प्रबन्ध-काव्य, दोनों में ही समान रूप से रस परिपाक का अवसर उपलब्ध रहता है, किन्तु हमें यह विदित ही है कि संतों का उद्देश्य भगवत भक्ति था, काव्य की रचना नहीं। भक्तों ने इस दृष्टि से रस निष्पत्ति की कभी चिन्ता नहीं की, उनकी 'भक्ति भावना' ही उनका एकमेव रस बन गया। यही कारण है कि बहुत कम संत कवि ऐसे हैं जिनकी रचनाओं में काव्य का निखरा हुआ रूप मिलता है। इस दृष्टि से कबीर, सुन्दरदास, दरियासाहब, चरणदास आदि का

१ **हिन्दी साहित्य कोश**, भक्ति रस, पृ० ५३१।

२ **हिन्दी साहित्य**—डा० रामकुमार वर्मा, द्वितीय खण्ड, पृ० २३४।

३ **'उनमें' स्वरैक्य है, रंग है व गति भी है। वे प्रधानतया गीत होते हैं।**
—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', पृ० ३४८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्ययन पृथक से किया जा सकता है। रस के अंगों की दृष्टि से संतों में तीव्रानुभूति को ही मुख्य आधार माना जा सकता है; स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव अथवा संचारी भाव को नहीं।[1] हमें यह भी विदित है कि संतों ने अपना समस्त साहित्य मुक्तक कोटि में रखा है जो दो प्रकार का मिलता है—(१) सूक्ति, (२) गीतिकाव्य अर्थात् पद साहित्य। रस सिद्धान्त की दृष्टि से न तो उन्होंने कोई नाट्य रचना की और न कोई महाकाव्य लिखा, अतएव रस के परिपाक पर विचार करते समय महाकाव्य और नाटक का रस परिपाक तुरन्त पृथक हो जाता है। पद्यबद्ध गीतों में और सूक्तिबद्ध दोहों में भी उनका क्षेत्र हठयोग के रूपकों अथवा निराकार ब्रह्म के वर्णन तक सीमित रहा है। शास्त्रीय दृष्टि से क्षेत्र तो इस प्रकार संकुचित हो गया पर गीतिकाव्य की तीव्रात्माभिव्यक्ति धारा में उनका अदृष्टप्रिय अनन्त निराकार ब्रह्म है। अलंकार शास्त्र के अनुसार वह स्थायी रति भी रसत्व को प्राप्त नहीं हो सकती, उसे भाव ही कहा जा सकता है।[2] काव्यानन्द का सम्बन्ध लौकिक सुख से है। आत्मा और परमात्मा का रतिभाव दाम्पत्य भाव के अन्तर्गत नहीं आ सकता है। यदि यह पारलौकिक है तो उसमें शास्त्रीय रूप का निर्वाह नहीं मिलता। किन्तु संतों की फुटकर रचनाओं में ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जिनमें रस की सफल अभिव्यक्ति खोजी जा सकती है। उपर्युक्त पृष्ठभूमि में नव रसों[3] में स्वभावतः संत काव्य में शान्त रस की प्रधानता प्रतीत होती है। चेतावनी अथवा उपदेश के रूप में लिखी जाने वाली निर्वेद-प्रधान रचनाओं की बहुलता का मुख्य कारण संत-प्रवृत्ति में वैराग्य भाव की प्रधानता ही प्रतीत होती है, इसके पश्चात् दूसरा प्रधान रस शृंगार रस है किन्तु उसकी अवतारणा मधुर भाव के रूप में ही की जा सकती है। प्रेम प्रतीकों द्वारा विरह-मिलन की अद्वय अनुभूति भक्तिभाव के माध्यम से संतों की मुख्य अनुभूति मानी गयी है।[4] जहाँ अपनी परम्परा के योगी साधकों से संसार त्याग की भावना के संस्कार संतों ने ग्रहण किये हैं वहाँ भक्ति के रूप में प्रस्तुत उनकी यह मधुर भावना लोक-जीवन में उतने ही आदरभाव से स्वीकार की गयी। इन दो मुख्य रसों के पश्चात् वीर, वीभत्स, अद्भुत और हास्य रस के भी उदाहरण संतों की

---

१ **स्थायी भावादि की दृष्टि से रस की मीमांसा न कर तीव्रानुभूति की दृष्टि से रस की मीमांसा करें।**—डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० २३४।

२ **देव विषयक रति अर्थात् भक्ति रस को साहित्याचार्यों ने भाव संज्ञा दी है।** —कन्हैयालाल पोद्दार, काव्य कल्पद्रुम, प्रथम भाग, पृ० २४१।

३ **५ वीर, ४ रौद्र, ८ अद्भुत, ७ वीभत्स, ६ भयानक, २ हास्य, १ शृंगार, ३ करुण और ९ शान्त।**—काव्य कल्पद्रुम, पृ० १७८।

४ **देवता, गुरु, मुनि राजा और पुत्र आदि जहाँ रति के आलम्बन होते हैं, अर्थात् जहाँ इनके विषय में भक्ति, प्रेम, अनुराग, श्रद्धा, पूज्य भाव प्रशंसा, वात्सल्य और स्नेह ध्वनित होता है, चाहे वे सामग्री से पुष्ट हों अथवा अपुष्ट, वे रतिभाव (भक्ति आदि) भाव कहे जाते हैं।**—काव्य कल्पद्रुम, पृ० २३८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रचनाओं में मिलते हैं। करुण, रौद्र तथा भयानक रसों का संत-काव्य में अभाव है। नाथपंथी साधकों की काया-क्लिष्ट योग साधना के सम्पर्क के फलस्वरूप संतों में गलदश्रु भावुकता के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। संतों की यह रस व्यंजना उनके स्वभाव के अनुरूप ही मानी जाती है। भगवत भक्ति के प्रताप को सन्मुख रख प्रेम और अनुराग के माध्यम से संत स्वयं आत्मानन्द में निम्मजित रहा करते थे तथा जन-जीवन में उसी की अवतारणा भी करते थे। जगत की मिथ्यावादिता के कारण शान्त रस की तथा भगवत प्रेम के कारण शृंगार रस की तीव्र व्यंजना संतों की रचनाओं के मुख्य रस माने जा सकते हैं। इस दृष्टि से कतिपय उदाहरण निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं :

शान्त रस—शान्त रस का स्थायी भाव 'निर्वेद' माना गया है। मोक्ष तथा आध्यात्म की भावना से जिस रस की उत्पत्ति होती है उसी को शान्त रस कहा गया है।[१] संत कबीर से इस संसार की असारता को अनेक रूपों में प्रकट किया है। वे कहते हैं—

का माँगू कुछ थिर न रहाई। देखत नैन चल्या जगजाई ॥
इक लख पूत सवालख नाती। ता रावन घरि दिया न बाती ॥
लंका सा कोट समंद सी खाई। ता रावन की खबर न पाई ॥
आवत संग न जात संगाती। कहा भयौ दरि बाँधै हाथी ॥
कहै कबीर अंत की बारी। हाथ झाड़ि जैसे चले जुवारी ॥[२]

× × ×

रे यामें क्या मेरा क्या तेरा।
लाजन मरहि कहत घर मेरा ॥
चार पहर निसि भोरा। जैसे तरवर पंषि बसेरा।
जैसे बनिये हाट पसारा। सब जग का सो सिरजनहारा ॥
ये ले जारे वे ले गाड़े। इनि दुखिहनि दोऊ घर छाड़े ॥
कहत कबीर सुनहु रे लोई। हम तुम्ह विनसि रहेगा सोई ॥[३]

निर्वेद भाव की व्यंजना इस स्थल पर दृष्टव्य है किन्तु आलम्बन के अतिरिक्त उद्दीपन, अनुभाव एवं संचारी भाव का अभाव ही है। संतों में रसानुभूति पर इस दृष्टि से विचार भी नहीं किया जा सकता। सुन्दरदास का यह पद भी दृष्टव्य है—

मेरौ देह मेरौ गेह मेरौ परिवार सब,
मेरौ धन माल तौ बहुविधि मारौ हों।

---

१ **हिन्दी साहित्य कोश**, शान्त रस, पृ० ७६२।
२ **संत-काव्य**, प्रारम्भिक युग, पृ० १६३।
३ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० १२१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मेरौ सब सेवक हुकुम कोउ मेरे नांहि,
मेरी जुवती कौ मैं तौ अधिक पियारौ हौं ॥
मेरौ वंश ऊँचौ मेरे बाप दादा ऐसे भये।
करत बड़ाई मैं तौ जगत उज्यारौ हौं ॥
सुन्दर कहत मेरौ मेरौ करि जाने सठ,
ऐसी नहि जानै मैं तौ काल ही कौ चारौ हौं ॥[1]

जगत की इस क्षणभंगुरता के फलस्वरूप विरक्तिभाव को लेकर संतों ने जिस तीव्रानुभूति से लोक-जीवन में निर्वेद भाव की अभिव्यक्ति की है उसकी मार्मिकता हृदयग्राही है। वैराग्य भावना हिन्दू विचारधारा की अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं शक्तिशालिनी प्रवृत्ति रही है, उसका प्रभाव भारतीय साहित्य पर निरन्तर बना रहा है। संत कवियों में निर्वेद, शम और वैराग्य की भावना अत्यन्त व्यापक रूप में पायी जाना स्वाभाविक है। भक्ति के प्रभाव से यह वैराग्य भाव प्रभु के माहात्म्य और भक्ति के दैन्य के रूप में संतों द्वारा प्रकट किया गया है। दुःख-कारण संसार से मुक्ति का साधन केवल भगवान की शरणागति है। कबीर का यह पद द्रष्टव्य है—

कहा करौं कैसें तिरौं, भोजल अति भारी।
तुम्ह शरणागति केसवा, राखि राखि मुरारी ॥
घर जनि बनखंडि जाइये, खनि खइये कंदा।
विषै विकार न छूटई, ऐसा मन गंदा ॥
विष विषया की वासना, तजौं तजी न जाई।
अनेक जतन करि सुरझिहौं, पुनि पुनि उरझाई ॥
जीव अछित जोवन गया, कछू किया न नीका।
यहु हीरा निरमोलि का, कौड़ी पर बीका ॥
कहै कबीर सुनि केसवा, तूं सकल बियापी।
तुम समान दाता नहीं, हमसे नंहि पापी ॥[2]

चरणदास आत्मनिवेदन के रूप में कहते हैं—

राखो जी लाज गरीब निवाज।
तुम बिन हमरे कौन संवारे, सबहीं बिगरे काज ॥
भक्तिवछल हरि नाम कहावो, पतित उधारन हार।
करो मनोरथ पूरन जन को, सीतलसृष्टि निहार ॥
तुम जहाज, मैं काग तिहारो, तुम तजि अंत न जाऊं।
जो तुम हरि जू मारि निकासो, और ठौर नहि पाऊं ॥

---

१ सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ४१३।
२ कबीर ग्रन्थावली, पद १७८, पृ० १४८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

चरणदास प्रभु सरन तिहारी, जानत सब संसार।
मेरी हँसी सो हँसी तिहारी तुमहूँ देखि विचार ॥[1]

संतों की ज्ञानोदय विषयक एवं चेतावनी के रूप में आत्मज्ञान सम्बन्धी रचनाएं भी शान्त रस के अन्तर्गत आती हैं। पलटू साहब की यह वानी दृष्टव्य है—

बनिया समुझ के लाद लदनियां।
यह सब मीत काम न आवै, संग न जाइ परधनियां।
पाँच मने की पूंजी राखत, होइगे गर्व गुमनियां।
करिले भजन साधु की सेवा, नाम से लाव लगनियां।
सौदा चाहै तो यांही करिले, आगे न हाट दुकनियां।
पलटूदास गोहराय कहत हैं, आगे देस निरपनियां ॥[2]

सुन्दरदास की यह चेतावनी भी उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है—

तौ सही चतुर तू जान परवीन अति परै जिनि पंजरै मोहकूवा।
पाइ उत्तम जनम लाड़ले चपलमन गाइ गोविन्द गुन जीलिजूवा ॥
आपुही आप अज्ञान गलवी बँध्यौ बिना प्रभुविमुख कै बार मूवा।
दास सुन्दर कहै परमपद तौ लहै, राम हरि राम हरि बोल सूवा ॥[3]

विद्वानों एवं काव्य शास्त्रियों के मतों की मीमांसा से असंपृक्त रहकर भी निर्वेद काव्य की सर्जना का भाव संत कवियों में प्रमुख रूप से मिलता है। शांत रस के भेद-प्रभेद एवं उसके रसराजत्व का आग्रह भी संतों ने नहीं किया है जैसा कि पूर्व में ही प्रकट किया जा चुका है। यद्यपि संतों की ज्ञान भक्तिपरक रचनाओं में शांत रस के स्थायी भाव, शम, संसार की अनित्यता, वस्तु जगत की निस्सारता और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान आलम्बन, भगवान का पवित्र आश्रय तथा महापुरुषों का सत्संग उद्दीपन, विह्वलता अनुभाव और निर्वेद, हर्ष, प्राणियों पर दया आदि संचारी भाव का पूरा समावेश हुआ है[4] फिर भी लौकिक काव्य की रस निष्पत्ति को आधार मानकर संतों ने अपनी रचनाएँ नहीं लिखी हैं। उनका सृजन भक्ति के आवेश में हुआ है। नाथपंथी साधकों ने जिस वैराग्य की साधना की, संतों में उसी की भावगत अभिव्यक्ति का यही रूप उपलब्ध होता है।

शृंगार रस—संत-काव्य में जहाँ दाम्पत्य प्रतीक ग्रहण किये गये हैं वहाँ उसमें मधुर भाव की प्रधानता मिलती है। भक्तों के दाम्पत्य भाव को प्रायः कुछ विद्वानों ने 'मधुर रस' की संज्ञा प्रदान की है।[5] मधुर रस अथवा भक्ति रस नामक कोई रस अभी

---

१ **संत-काव्य—मध्ययुग,** (उत्तरार्द्ध) पृ० ४७२।
२ **पलटू साहिब की बानी,** भाग ३, पृ० ३८।
३ **संत सुधासार**—स्वामी सुन्दरदास, पृ० ६१३।
४ **कबीर ग्रन्थावली,** पृ० १४८, पद १७८।
५ **संत-काव्य**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ६४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साहित्य समीक्षकों ने स्वीकार नहीं किया है। मधुर रस को प्रायः शृङ्गार रस के अन्तर्गत रखकर विद्वानों ने विचार किया है किन्तु शृङ्गार रस और मधुर रस में मूलभूत अन्तर वस्तुगत व्यंजना का तो है ही, विषयगत पहुँच का भी माना जा सकता है। शृङ्गार रस के अन्तर्गत आने वाले रतिभाव में तीन मुख्य अर्थों की व्यंजना मिलती है। वे भाव हैं—(१) काम, (२) अनुराग और (३) रमण। यौन संसर्ग की प्रवृत्ति को ध्यान में रख आधुनिक वैज्ञानिकों ने इस भाव को 'लस्ट' कहा है जो रति का समानार्थी समझा गया है।[१] यह स्पष्ट ही है कि शृङ्गार रस की अनुभूति लौकिक अवथा सांसारिक वातावरण में की जाती है, संतों का मधुरभाव उस दृष्टि से शृङ्गार काव्य के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। संतों ने जिस निर्गुणोपासना की प्रेमाभक्ति के रूप में प्रकट किया है उसमें माधुर्य भाव की प्रधानता है। इस सन्दर्भ में श्री परशुराम चतुर्वेदी का यह कथन समीचीन ही प्रतीत होता है कि पति-पत्नि का भाव वास्तव में प्रेम की पराकाष्ठा का सूचक है। यही वह दशा है जिसमें विशुद्ध, निःसीम एवं निरुपाधि रूप की उपलब्धि होती है जिसका अन्तिम परिणाम स्वात्मार्पण द्वारा अभेद भाव की अनुभूति है।[२] संतों का मोक्ष अथवा अभेद भाव प्रतीक रूप में पति-पत्नि का आत्मार्पण एवं समर्पण भाव ही है, इससे अधिक हम मधुर भाव की अथवा शृङ्गार रस की प्रतीक योजना संतों में नहीं पाते। सगुण भक्त कवियों ने जहाँ शृङ्गार के भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव को दाम्पत्य भाव में उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत कर व्यावहारिक रूप में जगत के निकट ला दिया, संतों की यह प्रेमाभक्ति उस रूप में सहज ग्राह्य नहीं है। संत-काव्य में लोक पक्ष की प्रधानता के कारण यद्यपि मधुरभाव की अनुभूति अत्यन्त सरल और परिचित रूप में अपनी चरम तीव्रता के साथ प्रकट हुई है, फिर भी उसके द्वारा मिलने वालासुख और आह्लाद आत्मतृप्ति जनित सन्तोष एवं पूर्ण शान्ति की दशा में ही प्राप्त हो सकता है। संतों का रतिभाव, अपने उत्कृष्ट रूप में हुआ प्रतीत होता है जहाँ हमारी लौकिक एकता समाप्त हो जाती है। संत सदैव यह स्मरण रखते प्रतीत होते हैं कि उनका सम्बन्ध परमतत्त्व से है, साधारण मानव से नहीं। संत-काव्य में इस दृष्टि से संयोग और वियोग शृङ्गार के अनेक पद मिल सकते हैं। कुछ पद उदाहरणस्वरूप यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं। आत्मारूपी नायिका के मिलन-जनित सन्तोष एवं उल्लास की अनुभूति को संयोग शृङ्गार के अन्तर्गत माना जा सकता है। संत कबीर के निम्नलिखित पद इस सम्बन्ध में दृष्टव्य हैं :

संयोग शृंगार

अब तोहि जान न देहूँ राम पियारे।
ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे॥

---

१ **हिन्दी साहित्य कोश**, पृ० ६१४।

२ **संत-काव्य**, पृ० ६३।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये । भाग बड़े घरि बैठे आये ।
चरननि लागि करौं जरियाई । प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ॥
इत मन मन्दिर रहौ नित चोषै । कहै कबीर परहुमत घोषै ॥[1]

× × ×

हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव ।
हरि बिन रहि न सके मेरा जीव ॥
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया ।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया ॥
किया स्रंगार मिलन के तांई ।
काहे न मिलौ राजा राम गुसांई ॥
अब की बेर मिल जो पाँऊ ।
कहै कबीर मौ जलि नहीं आँऊ ॥[2]

उपर्युक्त पद में प्रियतम के रूप में हरि आलम्बन है, उद्दीपन तथा अनुभाव ईश्वर विषयक रति के कारण भक्ति भाव से प्लावित प्रतीत होते हैं। प्रायः संतों में शास्त्रीय दृष्टि से रस परिपाक का अभाव ही है। संत रज्जबजी का यह पद भी उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है—

राम रंगीलै कै रंग राती ।
परम पुरुष संग प्राण हमारौ, मगन गलित मनमाती ॥
लाग्यो नेह नाम निर्मल सौं, गिनत न सीली ताती ।
डगमग नहीं अडिग होइ बैठी, सिर धरि कखत काती ॥
सब विधि सुखी राम ज्यूं राखै, यहु रस रीति सुहाती ।
जन रज्जब धन ध्यान तुम्हारा बेर बेर बलि जाती ॥[3]

संत जगजीवन के संयोग की मधुर अनुभूति के रूप में यह पद कितना सरस एवं हृदयस्पर्शी बन पड़ा है—

झमकि चढ़ि जाऊँ अटरिया री ।
ए सखि पूछों सोई केहि अनुहरियारी ॥
सो मैं चहौं रहौं तेहि संगहि, निरखि जाऊं बलिहरिया जी ।
निरखत रहौं पलक नहि लाओं, सूतों सत्त से जरियारी ॥

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८७ ।
२ कबीर ग्रन्थावली—पृ० १२५ ।
३ संत सुधासार—रज्जब जी, पृ० ५२२ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहौं तेहि संग रंग रस माती, डारों सकल बिसरिया री।
जगजीवन सखि पायन परिके माँगि लेऊँ तिन सनियारी ॥[1]

संत धरनीदास की निम्नलिखित वाणी में कुछ विद्वानों के मतानुसार आगमिष्य पतिका बासकसज्जा का उदाहरण भी मिलता है[2]—

बहुत दिनन पिय बसल बिदेसा।
आजु सुनल निज अवन संदेशा ॥१॥
चित चितसरिया में लिहलौं लिखाई।
हृदय कमल धइलौं दियना लेसाई ॥२॥
प्रेम पलंग तहं घइलों विछ्वाई।
नख सिख सहज सिंगार बनाई ॥३॥
मन हित अगुमन दिहल चलाई।
नयन धइल दोउ हुअरा बैसाई ॥४॥
धरनि धनि पल-पल अकुलाई।
बिनु पिया जिवन अकारथ जाई ॥५॥[3]

वियोग शृंगार

संयोग के रूप में वर्णित उपर्युक्त उदाहरणों का केवल एक प्रतीकात्मक भाव ही मुख्य है। आत्मा की अद्वय अनुभूति का प्रसंग यद्यपि संयोग चित्रों के द्वारा प्रस्तुत किया जाना कठिन ही है फिर भी लोक-जीवन के मार्मिक गार्हस्थ रूपों की कुछ झलक एवं प्रेम-प्रसंगों का कतिपय आभास संतों की इस प्रकार की रचनाओं में मिल जाता है। संयोग के साथ-साथ विप्रलम्भ अथवा वियोगसूचक भावों से युक्त रचनाएँ भी संत-काव्य के अन्तर्गत खोजी जा सकती हैं। विरह व्यथा रहस्य भावना की एक प्रमुख अवस्था है, संत-काव्य में रहस्य भावना का उन्मेश भी कम नहीं है। किन्तु संतों की विरह भावना अनेक स्थलों पर आत्मनिवेदन के रूप में भी प्रकट हुई है। कबीर के निम्नलिखित पद में विरहिणी आत्मा-परमात्मा रूपी प्रियतम से मिलने के लिए आतुर है, किन्तु यह आतुरता मुख्यतः आत्मनिवेदन के साथ परिपूर्ण हो जाती है—

कब देखूँ मेरे राम सनेही।
जा बिन दुख पावै मेरी देही ॥
हूँ तेरा पंथ निहारूँ स्वामी। कबर मिलहुये अन्तरजामी ॥
जैसे जल बिन मीन तलपै। ऐसे हरि बिन मेरा जियरा कलपै ॥

---

१ संत सुधासार—जगजीवन साहब, पृ० ५९।
२ संत-काव्य—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ७२।
३ धरनीदासजी की वाणी, पद २, पृ० १।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निस दिन हरि बिन नींद न आवै । दरस पियासी क्यों सचुपावै ।।
कहै कबीर अब विलम्ब न कीजै । अपनौ जानि मोहि दरसन दीजै ।।[1]

संत रज्जब ने इस विरह वेदना को अपने एक पद में अनेक प्रसंगों के साथ **इस प्रकार** प्रकट किया है—

प्राणपति न आये हो, विरहिण अति बेहाल ।
बिन देखे अब जीव जात है, बिलग न कीजै लाल ।।
विरहिण व्याकुल के सदा, निसदिन दुःखी बिहाइ ।
जैसे चन्द कुमोदिनी बिन देखे कुमिलाई ।।
खिन खिन दुखिया दगधिये, विरह पिया तन पीर ।
घरी पलक में बिनसिये, ज्यूं मछरी बिन नीर ।।
पीव पीव टेरत पिक भई, स्वाति सुरूपी आव ।
सागर सलिता सब भरे, परि चातक के नहिं चाव ।।
दीन दुखी दीदार बिन, रज्जब धन बेहाल ।
दरष दया करि दीजिये, तौ निकसै सब साल ।।[2]

आत्मारूपी प्रेमिका विरह दशा में अपने हृदय की कातरता और वियोग की पीड़ा का संदेश प्रियतम तक पहुँचाना चाहती है । अनेक संत कवियों ने विरहिणी की मधुर स्मृतियों का बड़ा ही सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है । पलटू साहब का यह पद विरह की दशाओं का एक सुन्दर स्वरूप प्रस्तुत करता है—

प्रेम बान जोगी मारल हो, कसकै हिया मोर ।
जोगिया के लालि लालि अँखियाँ हो जस कमल के फूल ।
हमरी सुरख चुनरिया हो, दूनौ भये तूल ।।
जोगिया के लेउ मिर्ग छलवा हो, आपन पट चीर ।
दूनौ के सियब गुदरिया हो, होइ जाब फकीर ।।
गगना में सिंगिया वजाइन्हि हो, ताकिन्हि मोरि ओर ।
चितवन में मन हर लियो हो; जोगिया बड़ चोर ।।
गंग जमुन के बिचवा हों बहै झिरहिर नीर ।
सोहि ठैंया औरत सनेहिया हो हरि लेगयौ पीर ।।
जोगिया अमर भरै नहिं हो, पुजवल मोरी आस ।
करम लिखा वर पावल हो, गावै पलटू दास ।।[3]

दादू, तुलसी साहब, बुल्ला आदि संत कवियों की विप्रलम्भ भावना प्रेम की आतुरता से परिपूर्ण और स्मृतियाँ विविध रूपों की लोकाभिव्यक्ति सी प्रतीत होती

---

१ **कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६४ ।**
२ **संत सुधासार (रज्जबजी) पृ० ५१६, १७ ।**
३ **पलटू साहब की बानी, पृ० २२, २३ ।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं । संतों में विरह भाव की चरम परिणति प्रियतमा की संयोग चेष्टा से युक्त मात्र प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें स्थूल मानव भाव का आभास प्रायः नहीं मिलता । अद्वय अनुभूति के लिए ही मानो कबीर का यह आग्रहपूर्ण विरह प्रस्फुटित हो उठा है --

वे दिन कब आवेंगे माई ।
जा कारणि हम देह धरी है मिलि वो अंग लगाई ॥[1]

दाम्पत्य जीवन के सुखपूर्ण क्षणों की कल्पना विरहिणी की वेदना को तीव्रतर कर देती है । प्रियतमा देह की सार्थकता प्रियतम के सान्निध्य में ही मानती है, भारतीय जीवन का यह अत्यन्त प्राचीन लोकधर्म है । कबीर का निम्नलिखित पद इस दृष्टि में विप्रलम्भ भाव का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है—

बल्हा आव हमारे गेह रे, तुम्ह बिन दुखिया देह रे ।
सबको कहै तुम्हारी नारी, मोकों इहै अदेह रे ॥
एकमेव ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे ॥
आन न भावै नींद न आवै ग्रिह बिन धरै न धीर रे ।
ज्यूं कामी को काम पियारा, ज्यूं प्यासे कूं नीर रे ॥
है कोई ऐसा पर उपगारी, हरि सूं कहै सुनाई रे ॥
ऐसे हाल कबीर भये हैं बिन देखे जीव जाइ रे ॥[2]

प्रेम की यह स्थूल अभिव्यक्ति लोक-जीवन की अत्यन्त साधारण कल्पना है जिसमें किसी औपचारिक निर्वाह के लिए स्थान शेष नहीं रहता । इसमें कथन की स्पष्टता द्रष्टव्य है तथा इसी के साथ यह भी कहा जा सकता है कि श्रृङ्गारिक रीति नीति से संतों का कोई मेल नहीं प्रतीत होता । परमात्मा रूपी प्रियतम के विरह की अग्नि जब एक बार जल जाती है तब वह बुझायी नहीं जा सकती है, जो भी उसे बुझाने का प्रयत्न करता है वह स्वयं जलने लगता है ।[3] ऐसी विरहणी किसी का आश्रय भी नहीं खोजना चाहती क्योंकि उसे डर है कि जिसका भी आश्रय ग्रहण करेगी, जिस किसी वृक्ष की छाया में वह विश्राम करेगी वह स्वयं ही जल उठेगा ।[4] वह स्वयं अपने तन को जलाकर उसकी 'मसि' से राम का नाम लिखने की अभिलाषा लिये हुए है, उसका प्रणय-निवेदन इस दृष्टि से अपने में अनूठा है । यह विरह नायक-

---

१ कबीर ग्रन्थावली, १९१ ।
२ वही, १९२ ।
३ विरह जलाई मैं जलौं जलती जल हरि जाऊं ।
मो देख्या जलहरि जलै, संतों कहाँ बुझाऊं ॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १० ।
४ विरह जलाई मैं जलौं मो विरहनि के दुख ।
छाँह न बैसों डरपती, मति जलि उठे रुख ॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नायिका के भेद, उनकी अवस्थाओं और स्थितियों से एकदम ही भिन्न कोटि का है। कबीर कहते हैं—

यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम को नाँउ।
लेखणि करूँ करंक की, लिखि-लिखि राम पठाऊँ॥[1]

संयोग और वियोग पक्ष को दृष्टि में रखते हुए शृङ्गार रस अथवा मधुर भाव के अन्तर्गत संतों की जितनी भी रचनाएँ आती हैं उनमें शृंगारिकता के उपकरणों का प्रायः अभाव है। संतों की यह प्रेमानुभूति तीव्र अद्वय भाव की ललक के साथ साधारणीकृत रूप में लोक मानस में अपना स्थायी प्रभाव डालती है, संतों की इस प्रकार की रचनाएँ उनके चित्त का विपर्यय बोध नहीं करातीं जैसा कि बौद्ध सिद्धों एवं कापालिकों की अनेक ऐसी रचनाओं के भावपक्ष से विदित होता है[2] किन्तु उनका अन्तर्भाव प्रेमाभक्ति के रूप में हो जाता है। नाथपंथी रचनाओं में मधुरभाव की व्यंजना के लिए कोई स्थान नहीं प्रतीत होता है इस दृष्टि से संतों की यह उपलब्धि दृष्टव्य है।

वीर रस

संतों की रचनाओं में उत्साह भाव को प्रकट करने वाला वीर रस भी मिलता है। युद्ध वर्णन के स्थूल उपकरणों को संतों ने मन और इन्द्रियों के दमनार्थ प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया है। यह प्रसंग विशेष रूप से योग साधना विषयक प्रयासों को लेकर ही उपस्थित हुए हैं। वस्तुतः हम इन्हें आध्यात्मिक जीवन के उद्देश्य से किये गये विविध प्रयत्न ही मान सकते हैं। इस सम्बन्ध में एक-दो उदाहरण भी दृष्टव्य हैं। कबीर की दो साखियाँ इस प्रकार हैं—

कबीर मेरे को संसा नहीं, हरि संग लागा हेत।
काम क्रोध सूं झूझणा चौड़े मांड्या खेत॥[3]
गगन दमामा वाजिया पड्या निसानं घाव।
खेत बुहारया सूरिवें, मुझ मरणे का चाव॥[4]

कबीर साहब ने 'गगन' दमामा, खेत, आदि शब्दों का प्रयोग शरीर के भीतर होने वाले विकारों के लिए किया है, 'काम क्रोध सूँ झूझणा' आदि स्पष्ट ही आध्यात्मिक उत्साह के पोषक हैं। संतों ने वीर रस सूचक एवं परुषावृत्ति वाली शब्दावली का प्रयोग भी इन प्रसंगों में किया है, किन्तु ऐसे उदाहरण अधिक नहीं मिलते। संत सुन्दरदास की अग्रांकित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

---

[1] कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८।
[2] सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, पृ० २४७।
[3] कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६८/७।
[4] वही, पृ० ६८/६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तड़फड़ै सूर नीसान घाई पड़ै, कोट की वोट सब छोड़ि चाले ।
स्याम के काम कौं लोट अरु पोट है, निकसि मैदान में चोट घाले ।।
कड़कड़ै वीर गजरात हय हड़हड़ै घड़हड़ै धरनि ब्रह्मांड गाजै ।
मलहलै सार हथियार अति षड़हड़ै देखिता दूरि मकमूरि भाजै ।।[१]

वीभत्स रस

जुगुप्सा भाव को व्यंजित करने वाले वीभत्स रस की भी रचनाएँ संत-काव्य में उपलब्ध हो जाती हैं। संतों की प्रतिमूलक धारणा के कारण मानव शरीर के प्रति ममत्व और अभिमान करने वाले व्यक्तियों के लिए ऐसे कतिपय प्रसंग संत-काव्य में मिल जाते हैं जिनके कारण जुगुप्सा भाव की व्यंजना होती है। अपने एक पद में संत कबीर उस व्यक्ति को चेतावनी देते हुए प्रतीत होते हैं जो अभिमान और अहं को लेकर सरल मार्ग को छोड़कर टेढ़े मार्ग पर चलता है, जिस शरीर का उसे इतना अभिमान है वह तो नरक का आवास है, दुरगंधि का ढेर है ।[२] सुन्दरदास इसी प्रसङ्ग में प्रकट करते हैं—

जा शरीर माँहि तूँ अनेक सुख मानि रह्यौ,
ताही तू विचारि यामैं कौन बात भली है ।
मेद मज्जा मांस रग रगनि मांहि रकत,
पेट हू पिटारी सी में ठौर-ठौर मली है ।।
हाडनि सौं मुख भर्‌यौ हाड ही के नैन नाक,
हाथ पांव सोऊ सब हाड ही की नली है ।
सुन्दर कहत याहि देखि जिनि भूलै कोई,
भीतरि भंगार भरि ऊपर ते कली है ।।[३]

संसारी मानवों के लिए नारी की कमनीयता उनकी भावनाओं के शमन में सहायक होती है किन्तु संतों ने नारी की इस कमनीयता को जुगुप्सा भाव के अन्तर्गत भी प्रकट किया है। सुन्दरदास का यह पद उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत है—

उदर में नरक नरक अधद्वारनि में,
कुचनि में नरक नरक भरी छाती है ।
कंठ में नरक गाल चिबुक नरक बिंब,
मुख में नरक जीभ लार चुचाती है ।।

---

१ सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ८८१ ।

२ चलत कत टेढ़ौ टेढ़ौ रे ।
नऊँ दुवार नरक धरि मूँदे, तूं दुरगंधि कौ बैटौ रे ।।
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६३ ।

३ संत सुधासार—स्वामी सुन्दरदास, पृ० ६१९ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाक में नरक आषि कान में नरक बहै,
हाथ पाँव नखशिख नरक दिखाती है ।
सुन्दर कहत नारी नरक को कुण्ड यह
नरक में जाइ परै सो नरक पातो है ।।[१]

इस पद में जुगुप्सा का भाव प्रधान है । आलम्बन नारी है तथा उद्दीपन नरक, अनुभाव की दृष्टि से लार आदि का वर्णन दृष्टव्य है ।

अद्भुत रस

संतों की रचनाओं में कभी-कभी स्पष्ट ही कुछ ऐसे वर्णन मिलते हैं जो ऊटपटांग तथा अलौकिक कहे जा सकते हैं, उन्हें सुनकर अथवा पढ़कर श्रोता अथवा पाठक के हृदय में विस्मय उत्पन्न होता है । ऐसी रचनाओं को उलट-वासियाँ कहा गया है[२] ऐसे पदों का वास्तविक अभिप्राय प्रतीकों के माध्यम से ही समझा जा सकता है । दूसरे प्रकार की रचनाओं में अद्भुत घटनाओं, बाजीगरों के तमाशों आदि के प्रसंग आते हैं, संतों ने जिसका वर्णन कतिपय स्थलों पर किया है । दो पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

(१) भाई रे बाजीगर नट खेला । कैसै आपै रहै अकेला ।।
यहु बाजी खेल पसारा । अब मोहे कोतिग हारा ।।
यहु बाजी खेल दिखावा । बाजीगर किनहूँ न पावा ।। आदि[३]

(२) एक अचम्भा देखा रे भाई । ठाड़ा सिंघ चरावै गाई ।।
पहले पूत पीवै भई माइ । चेला के गुर लागै पाई ।।
जल की मछली तरवर ब्याई । पकड़ि बिलाई मुरगै खाई ।।
कैलहि डारि गूंनि धरि आई । कुत्ता कूं लै गई बिलाई ।।
तलिकरि शाखा ऊपर करि मूल । बहुत भाँति जड़ लागे फूल ।।
कहै कबीर या पद को बूझै । ताकूं तीन्यू त्रिभुवन सूझै ।।[४]

इस प्रकार संतों की रचनाओं में विभिन्न साहित्यिक रसों का स्वाद भी मिल जाता है यद्यपि संतों ने कविकर्म को अधिक महत्त्व नहीं दिया है और कविता अथवा पद्य रचना को अपनी भावना को प्रकट करने का एक साधन ही माना है । काव्यशास्त्र की दृष्टि से संत-काव्य में विभिन्न रसों और उनके भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों की खोज करना संतों के उद्देश्य की अलौकिकता के कारण उपादेय नहीं है । संतों में बहुत कम ऐसे प्रतिभाशाली कवित्वसम्पन्न संत मिलेंगे जिन्होंने

---

१ सुन्दर ग्रन्थावली—पृ० ४३८ ।
२ इसी ग्रन्थ का अध्याय ६ (उलटवासियाँ उपशीर्षक) ।
३ दादूदयाल की वाणी, पृ० ४८८ ।
४ कबीर ग्रन्थावली—पृ० ९१, ९२ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काव्य की रचना काव्य को ध्यान में रखकर तो नहीं की किन्तु उनकी अनुभूति में इतनी सचाई एवं उनकी कल्पना में इतना उन्मेश था कि ये रागात्मक अनुभूतियाँ काव्य के अन्तर्गत मानी जाती हैं उसी प्रकार उनकी ये रचनाएँ काव्यशास्त्र की कसौटी पर नहीं कसी जा सकतीं, यथार्थ में वे जिस अवस्था में अभिव्यक्ति प्राप्त करती हैं, काव्यशास्त्र विधाएँ वहाँ तक पहुँचने में अपने को पंगु पाती हैं।

संतों की इन रचनाओं का सम्बन्ध यद्यपि सिद्धान्त और शैली की दृष्टि से नाथपंथी साधकों की रचनाओं से है तथापि साधारण जन की भावना को स्पर्श करने के कारण यह काव्य अपनी पिछली परम्परा को छोड़कर लोककाव्य अथवा प्रकृत काव्य के रूप में लोक-जीवन के उन्मेश का कारण बना। सहजसुख के फलस्वरूप जिस महाराग की उपासना सिद्ध साहित्य के भावपक्ष में हुई थी तथा जिसका मुख्य प्रयोजन केवल कामवासना तक ही सीमित रह गया था, नाथपंथी उस दृष्टि से नीतिवादी और ज्ञान तथा योग के पोषक थे, उनकी रचनाओं पर रस आदि की दृष्टि से विचार किया जाना कठिन ही है किन्तु संतों की भावुकता अपनी इस पृष्ठभूमि के कारण कहीं उच्छृङ्खल होकर नहीं प्रकट हुई है। नीति एवं साधनापरक रचनाओं में सिद्धान्तों के प्रतिपादन के अतिरिक्त कोई विशेष सामग्री काव्य की दृष्टि से संतों में भी नहीं है किन्तु भाव-पक्ष की दृष्टि से संतों की वे रचनाएँ अत्यन्त ही उच्चकोटि की कही जायेंगी जो अनुभूति की तन्मयता के फलस्वरूप प्रकट हुई हैं, जिनका सौंदर्य-बोध वस्तुगत न होकर विषयगत भी हुआ है। यही वह स्थिति है जहाँ काव्य काव्य-शास्त्र की सीमाओं के बन्धन को छोड़कर उन्मुक्त रूप में बह पड़ता है।

संतों में यद्यपि विभाव, अनुभाव तथा संचारी का कोई सप्रयोजन रूप नहीं मिलता तथापि प्रकृति चित्रण की दृष्टि से कतिपय रचनाएँ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं। वैसे संत अन्तर्मुखी साधना के प्रतिपक्षी ही हैं किन्तु जहाँ संतों ने सर्वव्यापी परमात्मा के अस्तित्व अथवा संकेत रूप में उसके प्रभाव को प्रकट किया है वहाँ प्रकृति चित्रण का कुछ आभास मिल जाता है। उद्दीपन अथवा आलम्बन आदि की दृष्टि से रचनाएँ बहुत ही कम हैं। भादों मास की भयानक रात्रि का चित्रण दृष्टव्य है। इसमें भी मोहांधकार में पड़े जीवन की स्थिति को ध्यान में रखकर कबीर कहते हैं —

गहन ब्यंद कछु नहीं सूझै। आपन गोप भयौ आगम बूझै॥
भूलि पर्यौ जीवन अधिक डराई। रजनी अंधकूप है जाई॥
माया मोह उनवै भर पूरी। दादुर दामिनी पवना पूरी॥
तरियै वरखै अखंड धारा। रैनि भामनी भया अंधियारा॥[1]

संत सुन्दरदास का प्रातःकाल का यह वर्णन भी दृष्टव्य है जहाँ आध्यात्मिक परिणति में प्रकृति चित्रण की छटा देखी जा सकती है—

---

[1] **कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२६।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अंधकार मिटि गइले अगल भान ।
हंस चुगै मुक्ताफल सरवर मान ।।
सहज फूल फर लागत बारह मास ।
भवर करत गुंजारनि विविध विलास ।।
अंब डाल पर वैसल कोकिल कीर ।
मधुर-मधुर धुनि बोलहिं सुखकर सोर ।।
सबकोहु मन भावन सरस बसंत ।
करत सदा कौतूहल कामिनी कंत ।।[1]

संतों में स्वतन्त्र रूप से प्रकृति चित्रण नहीं पाया जाता । संतों ने जगत का अस्तित्व पृथक से स्वीकार नहीं किया । ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि वे उसके सौन्दर्य से कभी प्रभावित ही न हुए हों ।[2] प्राकृतिक सौन्दर्य मानव के रागात्मक तत्त्वों का रूपात्मक प्रतिबिम्ब ही माना जा सकता है । जगत के प्रति सन्निवेश संतों की रचनाओं में नहीं मिलता इसका कारण संतों का दृष्टिकोण ही है ।

नाथपंथी साधकों की वाणियों के संदर्भ में निर्गुण संत-काव्य की रस, आलम्बन आदि के साथ में यह संक्षिप्त समीक्षा इस तथ्य को प्रकट करती है कि प्रकृत काव्य के रूप में निःसृत भक्ति भावमयी संत-काव्य की इस धारा में अनेक स्थलों पर नाथपंथी परम्पराओं का निर्वाह हुआ है, फिर संत कवियों ने अपनी स्थापनाओं को दृढ़ करने का प्रयत्न किया है । यह स्पष्ट है कि संतों का दृष्टिकोण यहाँ एकांगी है, उनके इस पक्ष के लिए उनकी विचारधारा ही उत्तरदायी मानी जायगी । उन्होंने काव्यशास्त्र के साथ ही प्रत्येक शास्त्र की अवहेलना की है किन्तु भावों की दृष्टि से उनकी अनुभूति का महत्त्व सर्वत्र स्वीकार किया गया है । वस्तुतः अलौकिक ब्रह्म की ज्योति का साक्षात्कार करने वाले साधकों की पूर्व परम्परा पाकर संतों का यह भाव-निरूपण भी अलौकिक बन पड़ा है । उस प शास्त्रीय काव्य समीक्षा का यह प्रयत्न पगु ही माना जायगा ।

प्रतीक पद्धति

संत मत में नाथपंथीय प्रतीक योजना

प्रतीक पद्धति वस्तुतः अभ्यिंजन की अत्यन्त प्राचीन पद्धति है । कुछ विद्वानों का मत है कि आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति में वैदि ऋषियों ने भी प्रतीक पद्धति का आश्रय लिया था ।[3] देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने इसके महत्त्व

---

[1] सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ३७८ ।

[2] मन ही के भ्रम तें जगत सब देखियन,
मन ही मुय गये जगत बिलात है ।—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ४५३ ।

[3] कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायन, पृ० ३४६ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर प्रकाश डाला है। डा० बड़थ्वाल का मत है कि 'आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ही प्रतीक पद्धति की आवश्यकता सबसे अधिक प्रतीत होती है जहाँ उसे ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म सत्य को भी स्पष्ट व भावपूर्ण बनाकर प्रकट करना पड़ता है, जो सर्व-साधारण के लिए किसी भी अन्य प्रकार से, बोधगम्य नहीं हो पाता।[1] धार्मिक क्षेत्रों में प्रतीक पद्धति का बहुत महत्त्व माना गया है। वस्तुतः प्रतीक मनुष्य के सहज स्वभाव के फलस्वरूप लोक प्रचलित पद्धति के रूप में ग्रहीत होते चले आ रहे हैं, राजनीति, कला, साहित्य, शिष्टाचार, सामाजिक व्यवहारों में अनेक प्रतीक खोजे जा सकते हैं। जितना विषय अप्रेषणीय होगा उतनी ही प्रतीकात्मक उसकी अभिव्यक्ति हो जायगी। रहस्य भावना परक रचनाओं में प्रतीक पद्धति का विपुल प्रयोग किया गया है।[2]

कबीर आदि संत कवियों की रचनाओं पर जब इस दृष्टि से विचार किया जाता है तब यह अनुमान निराधार ही ठहरता है कि संतों ने प्रतीक योजना आदि को लेकर कोई साहित्यिक प्रयत्न जान-बूझकर अपनी वाणियों के मध्य अभिव्यक्त किया होगा। कवि-कर्म का संतों की दृष्टि में विशेष महत्त्व नहीं था यह बात अनेक संतों ने स्वयं ही प्रकट की है।[3] प्रायः संत उच्चकोटि के साधक और आत्मचिन्तन प्रधान व्यक्ति माने गये हैं, उनमें सत्य के अनुभव करने की बलवती क्षमता थी और यही कारण है कि उच्चकोटि के संतों ने अपने अनुभवों को साधिकार कहने की चेष्टा की है। संतों ने अपने आध्यात्मिक अनुभवों को पूर्णतया व्यक्त करने का प्रयत्न तो किया है किन्तु वे प्रयत्न उस दृष्टि से अस्पष्ट ही होते चले गये हैं। अतएव उन्होंने ऐसे साधकों का उपयोग भी किया जो काव्यशास्त्र के अन्तर्गत भी आते हैं। उनका यह प्रयत्न सप्रयोजन नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से संतों को प्रतीक पद्धति एक ऐसी प्रक्रिया मानी जायगी जिसे संत अपने भावों की यथेष्ट अभिव्यक्ति के लिए बहुत दिनों से काम में लाते आये होंगे तथा जिनका रहस्य उनके मानसिक व्यापार पर किंचित विचार करने से बहुत स्पष्ट हो सकता होगा।[4]

आत्मतत्त्व अतीन्द्रिय अनुभव की वस्तु माना गया है। प्रत्यक्ष अथवा इन्द्रिय-गम्य अनुभव की अपेक्षा अनेक विषय ऐसे भी हैं जहाँ विश्वास अथवा अनुमान के के आधार पर भी अनुभूति का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। उदाहरण रूप में हम आत्मा और परमात्मा को ले सकते हैं। धार्मिक क्षेत्र को छोड़कर ब्रह्मविद्या, मनो-विज्ञान आदि में आत्मा, परमात्मा की विभिन्न रूपात्मक स्थितियाँ मिलती हैं[5] किन्तु

---

१ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ३३७।

२ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ४७३।

३ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १९५।

४ कबीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १३६।

५ वही, पृ० १४०, १४१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हमारी भाषा उसका समुचित वर्णन नहीं कर सकती। सगुण रूप में साधना करने वाले आध्यात्मिक साधक किसी अवतार की प्रतिष्ठा कर अनुभूति से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं,[1] किन्तु अन्य साधकों के लिए ऐसा कर सकना ज्ञानाधार की दृष्टि से सम्भव नहीं होता और इसीलिए ऐसा प्रतीत होता है कि निर्गुण संत कवियों ने लौकिक स्तर से आध्यात्मिक अनुभूति के प्रतीकों का चयन किया होगा जो आधुनिक युग में प्रचलित साहित्यिक प्रतीकों से भिन्न कोटि का ही माना जायगा। संतों की प्रतीक पद्धति मूलतः धार्मिक एवं साधनापरक मानी जा सकती है।

आध्यात्मिक एवं साधना प्रधान मार्गों में प्रतीक पद्धति का उपयोग प्राचीन काल से होता आया है। ब्रहदारण्यक उपनिषद में एक स्थल पर प्राज्ञात्मा की रहस्यमयी अनुभूति का प्रतीक प्रियतमा के गाढ़ालिंगन की अवस्था माना गया है[2] जो आध्यात्मिक प्रेम प्रतीकों के रूप में आज भी प्रचलित है। विद्वानों का मत है कि यह प्रतीक पद्धति विभिन्न युगों में अपनी विशेषताओं के साथ पल्लवित होती रही होगी।[3] संत-काव्य के पूर्व नाथपंथी रचनाओं तथा उससे पूर्व सिद्धों के चर्चा गीतों में प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। बौद्धों एवं सिद्धों में यह प्रतीक योजना तंत्र साहित्य की देन मानी गयी है। डा० धर्मवीर भारती का मत समीचीन प्रतीत होता है कि तंत्रों तक आते-आते इनमें से बहुत-से अप्रस्तुत रूढ़ होकर सर्वमान्य प्रतीक हो गये और बौद्ध तंत्र ग्रन्थों में अक्सर साधना शैली में प्रयुक्त इन प्रतीकों के गुह्यार्थों की व्याख्या मिलती है।[4] सिद्धों की प्रतीक पद्धति विज्ञानवादी दर्शन तथा योगाचार की साधनाओं से प्रभावित प्रतीत होती है। अप्रस्तुतों तथा उपमानों के द्वारा सिद्धों ने इस संसार के लिए मरु मरीचिका, गंधर्वनगरी, रज्जु में सर्प, दर्पण में प्रतिबिम्ब, वन्ध्यासुत, खपुष्प, बालुका का तेल, शशश्रंग आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है।[5] सामान्यतः ये उपमान केवल बौद्ध सिद्धों में ही नहीं मिलते वरन् अन्य दर्शनों तथा विचारधाराओं में भी मिलते हैं। सिद्ध साहित्य के कुछ प्रतीक योगाचार की साधना से प्राप्त हुए माने गये हैं। चित्तवृत्ति के अन्तर्मुखी प्रयोगों में पंच महाभूतों को प्राणायाम द्वारा नासाग्र पर केन्द्रित कर सिद्धों ने प्रतीकों की सृष्टि की है, साथ ही ध्यान की स्थिति में उत्पन्न

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७६।

२ तद्यथा प्रियया स्त्रिया सं परिष्वक्तो न वाह्यं किंचन वेदनांतरमेव यं पुरुषः प्रज्ञानेनात्मना सं परिष्वक्तो-न बाह्यं किंचन वेदनांतरम् तद्वा अस्य एतदाप्त कामं आत्म कामं अकाम रूपम्। —वृहदारण्यक, ४/३/२९।

३ मीमांसकों ने शब्दों के इन्हीं निहित, प्रच्छन्न अभिप्रायार्थों के आधार पर अपने सिद्धान्तों का विकास किया था।
—डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० २७०।

४ सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती पृ० २७१।

५ वही, पृ० २७८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बहुत-से चित्रात्मक प्रतीक भी सिद्ध साहित्य में मिलते हैं। बोधिचित्त समुत्पाद को इसी लिए कभी पृथ्वी के समान, यान के समान, राजा के समान, गंधर्वों के मधुर घोष के समान बताया गया है।[1] इसके अतिरिक्त सिद्ध साहित्य में तान्त्रिक पद्धतियों से भी प्रतीकों की उद्भावना मानी गयी है। सिद्ध साहित्य में कुछ प्रतीक शब्द चमत्कार पर भी आधारित माने गये हैं। उनके दो रूप मिलते हैं—एक शब्द साम्यमूलक प्रतीक तथा दूसरे साधर्म्यमूलक प्रतीक। चर्या गीतों के प्रतीक इनसे भिन्न कोटि के प्रतीक माने जा सकते हैं जिनकी एक पूरी शृंखला मिल सकती है। सिद्धों की प्रतीक पद्धति का यह संक्षिप्त परिचय साधनामूलक प्रतीक योजना की पृष्ठभूमि माना जा सकता है। किन्तु सिद्धों की साधना पद्धति जब लोक-जीवन में सम्मान की दृष्टि से न देखी जाकर कामोपयोग की एक गर्हित साधना मानी जाने लगी तब प्रतीक पद्धति की दृष्टि से उसमें जिस सदाचार वृत्ति का आविर्भाव हुआ उसका मुख्य आधार नाथपंथी साधना ही माना जायगा। जैसा कि पूर्व में ही प्रकट किया जा चुका है कि नाथपंथी साधना बौद्ध सिद्ध साधना का विकसित रूप नहीं थी वरन् उसके सूत्र जिस योगमूलक आध्यात्मिक साधना से सम्बद्ध हैं वह साधना हिन्दू ईश्वर अद्वयवाद की पोषक है। इस दृष्टि से नाथपंथी प्रतीक योजना और संतों की प्रतीक पद्धति का एक-दूसरे से निकट का सम्बन्ध है यह धारणा भी उपयुक्त ही प्रतीत होती है।

नाथपंथी साधकों की हिन्दी रचनाओं में यद्यपि उल्लेख्य योग साहित्य बहुत ही कम उपलब्ध है फिर भी लोकसुलभ उपदेशों, नीति कथनों एवं हठयोग की क्रियाओं पर आधारित जो रचनाएँ आज उपलब्ध हैं, उसमें प्रतीकों का प्रयोग योग साधना के साथ-साथ लोकसुलभ उपमानों और दृष्टान्तों के रूप में भी मिलता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह मत समीचीन ही प्रतीत होता है कि गोरखपंथी साहित्य में साधनामूलक विधियों और वैराग्योत्तेजक विचारों का बाहुल्य होने से नीरसता ही अधिक है तथापि गोरखनाथ के लिखे पदों में एक प्रकार का मानवीय रस भी है जो इन उपदेशों को सरस और सहजग्राह्य बना देता है।[2] नाथपंथी साधकों द्वारा प्रयुक्त लोकसुलभ उपमानों और दृष्टान्तों ने योग साधना के क्लिष्ट उपदेशों को सहज ग्राह्य बनाने में जिस प्रतीक पद्धति को अपनाया उसका मध्ययुग की हिन्दी कविता पर विशेष प्रभाव है। संतों ने इन अप्रस्तुतों और उपमानों को अनेक रूपों में ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि मध्ययुग में साधना मार्गों के नियमन में जितना प्रयत्न गोरखनाथ के द्वारा हुआ उतना सम्भवतः अन्य व्यक्ति अथवा पंथ के द्वारा न हो सका। यही कारण है कि नाथपंथी साहित्य समूचे भारत में एवं प्रायः सभी देश की भाषाओं में मिलता है।[3] संत-काव्य की प्रतीक

---

१ **हिन्दी साहित्य**, द्वितीय खण्ड, पृ० २७८।

२ वही, पृ० ८६।

३ वही, पृ० ७५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पद्धति उसी रूप में नवीन परिस्थितियों को लेकर आगे चली है इसमें दो मत नहीं हैं।

नाथपंथी प्रतीक योजना

नाथपंथी प्रतीक पद्धति का परिचय हमें अनेक रूपों में मिलता है। मोटे रूप में हम उन्हें दो मुख्य भागों में बटा हुआ पाते हैं जिसमें प्रथम का सम्बन्ध उनकी हठ-योग साधना से है तथा दूसरे का सम्बन्ध लोकमत प्रधान आचार-विचार से है। हठयोग सम्बन्धी प्रतीक (१) सांकेतिक रूप में, (२) पारिभाषिक रूप में, तथा (३) संख्यामूलक रूप में मिलते हैं। (१) सांकेतिक प्रतीकों का सम्बन्ध हठयोग के षटचक्रों, प्राणायाम, ध्यान तथा कुण्डलिनी योग से है। गगन शिखर[१], पाताल की गंगा[२], गगन मंडल में अंधा कुआ[३], अमृत[४], काचै माडा[५], अरघ उरध[६], चन्द्रभान[७], दसवाँ द्वारा[८], पंच कटार,[९], गंग जमुन[१०], हंस[११], आदि उपमानों एवं प्रतीकों के द्वारा नाथपंथी साधकों ने अपनी साधना को प्रकट किया है जिनका सीधा सम्बन्ध हठयोग की क्रियाओं से है। हठयोग की क्रियाएँ लोक सुलभ नहीं थीं किन्तु साधक इन प्रतीकों के माध्यम से उन्हें ग्रहण करते रहे हैं। इन प्रतीकों में कभी साधना की अवस्था और कभी उसके स्वरूप का सुलभ चित्र मिलता है, जो आगे चलकर रूढ़ि हो गया प्रतीत होता है। गुरु से प्राप्त होने वाली इस साधना के महत्त्व पर प्रकाश डालने वाली गोरखनाथ की वाणियों में इन प्रतीकों का इसी रूप में उपयोग हुआ है—

गगन मंडल में अंधा कुआ तहाँ अमृत का वासा।
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै निगुरा जाय पियासा ॥[१२]

यह गगन मंडल ब्रह्मरंध्र है। हठयोग की मुख्य प्रक्रिया श्वास निरोध द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत करना है। कुण्डलिनी वास्तव में मूलशक्ति है। वह अग्निचक्र में साढ़े तीन कुण्डल मारकर सोती है, मेरुदण्ड में छः चक्र माने गये हैं। छः चक्रों को भेदकर कुण्डलिनी अन्तिम चक्र में पहुँचती है जिसमें सहस्त्र दल हैं। इसी को सहस्त्रदल कमल, शून्यचक्र, शून्य मंडल, गगन मंडल आदि कहा गया है। इसी को दस द्वार भी कहा गया है। यही ब्रह्मरन्ध्र है जो बन्द रहता है, जिसे साधना के द्वारा ही खोला जा सकता है। इसी ब्रह्मरन्ध्र के खुलते ही सहस्त्रार चक्र से अमृत रस झरने लगता है और योगी को अमर काया की उपलब्धि हो जाती है। इसी

---

१ **गोरखवानी**, सबदी १
२ **गोरखवानी**, सबदी २।
३ ,, २३।
४ ,, २३।
५ ,, ३७।
६ ,, ७९।
७ ,, ९३।
८ ,, १३५।
९ ,, २३६।
१० ,, पद ७, पृ० ९३।
११ ,, पद ७, पृ० ९३।
१२ ,, सबदी २३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को अंधा कुआ भी कहा गया है जिसमें अमृत तत्त्व भरा हुआ है। सांकेतिक प्रतीकों से परिचित होने के लिए साधक को पूरी साधना प्रणाली का ज्ञान होना आवश्यक प्रतीत होता है। कभी-कभी ये प्रतीक विशेषण-विपर्यय के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। सांकेतिक प्रतीक पद्धति नाथपंथियों के पूर्व भी मिलती है, सिद्धों की रचनाओं में योगाचार सम्बन्धी वर्णनों में इसको अपनाया गया है किन्तु नाथपंथी सांकेतिक प्रतीक का सीधा सम्बन्ध हठयोग की काया साधना से ही माना जा सकता है। सिद्धों के योगाचार और उनकी प्रतीक पद्धति पर दार्शनिक और तान्त्रिक प्रभाव है, नाथपंथियों की प्रतीक पद्धति इस दृष्टि से दर्शन के प्रत्यक्ष प्रभाव से दूर रहकर केवल एक साधना-प्रवण सांकेतिक उपमान के रूप में ही ग्रहण की गयी प्रतीत होती है।

(२) पारिभाषिक रूप में भी नाथपंथी रचनाओं में प्रतीक योजना मिलती है। पारिभाषिक प्रतीक मुख्यतः धर्मसाधना के अंतर्गत आते हैं जिनमें चिन्तन के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली शब्दावली उपमाओं के रूप में ग्रहण कर ली गयी है। मुख्यरूप से इस प्रकार के अप्रस्तुतों अथवा प्रतीकों को किसी एक साधना अथवा सम्प्रदाय का नहीं माना जा सकता। मध्ययुग में जिस धार्मिक संक्रमण ने अनेक साधना मार्गों को जन्म दिया उन्होंने सामान्य सिद्धान्तों को यदि अपने अनुकूल प्रतीकात्मक रूप में स्वीकार कर लिया हो तो उस युग की परिस्थितियों में वह असामान्य बात नहीं मानी जायगी। नाथपंथियों में शून्य,[१] अदेखि[२], अलख बिनाणी[३], ब्रह्म अगनि[४], सहज[५], सुरति निर्वान[६], निरंजन[७], महारस[८], आदि प्रतीक पारभाषिक रूप में लिये गये प्रतीत होते हैं। इन प्रतीकों के यद्यपि समकालीन सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न अर्थ अपनी परिभाषाओं के अनुसार कर लिये गये हैं फिर भी उनमें अपनी साधनाओं के विशेष भाव रूढ़ि हो गये प्रतीत होते हैं। पारिभाषिक प्रतीकों को चिन्तन के मुख्य भाव के आधार पर ही ग्रहण किया जा सकता है। 'शून्य' जहाँ बौद्ध मतावलम्बी सिद्धों के लिए 'नैरात्म्य' का सूचक है वहाँ वह नाथपंथियों के लिए 'परमतत्त्व' का।[९] उसी प्रकार जिस सहज भाव का वर्णन सिद्धों में मिलता है, नाथपंथियों में प्रयुक्त 'सहज' भोग-जनित सहज रस के विरोधी भाव में तथा साधना के सरल रूप के लिए प्रयुक्त किया गया प्रतीत होता है—

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा धीरै धरिबा पाँव।
गरब न करिबा सहजै रहिबा भंणत गोरख रांव॥[१०]

---

१ गोरखवानी, सबदी १   २ गोरखवानी, सबदी, २।
३ ,, ४।   ४ ,, ३०।
५ ,, ४५।   ६ ,, ७५।
७ ,, १११।   ८ ,, १३०।
९ ,, १।   १० ,, २७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाथपंथियों की रचनाओं में पारिभाषिक प्रतीकों का प्रयोग साधना पंथ के उद्देश्य के पूर्ति में हुआ प्रतीत होता है। हठयोग की साधना के अन्तिम परिणामों के साथ इन प्रतीकों की संगति खोजी जा सकती है। नाथपंथियों के इस दृष्टिकोण के कारण जहाँ उनकी रचनाओं में केवल साधना सम्बन्धी वाणियों की भरमार है वहाँ उसमें परम्परा से प्राप्त होने वाली दार्शनिक अथवा धार्मिक व्याख्याओं का अभाव भी है। बौद्ध सिद्धों के साधनाहीन भोगपरक दार्शनिक चिन्तन और तर्क ने सम्भवतः उस युग में ऐसी स्थिति उत्पन्न की होगी जिसमें पारिभाषिक प्रतीकों पर अधिक बल न दिया जा सका होगा। वे साधना की दृष्टि से ही प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं।

(३) संख्यामूलक प्रतीक भी नाथपंथियों की रचनाओं में मिलते हैं। ये संख्यामूलक प्रतीक किसी एक ही आधार पर नहीं लिये गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि संख्यामूलक प्रतीकों को बहुत प्राचीनकाल से व्यवहार में लाया जाता रहा है। सिद्धों की रचनाओं में भी संख्यावाचक शब्दों अथवा अप्रस्तुतों का प्रयोग हुआ है।[1] नाथपंथी रचनाओं में अठसठि तीरथ[2], पंत्रतंत्र[3], बहत्तरि चन्द्रमा[4], षोड़स नाड़ी[5], नव नाड़ी बहत्तर कोठा[6], पंचे पवन[7], आदि शब्द कहीं प्रतीक रूप में और कहीं संख्या के रूप में मिलते हैं। अठसठि तीरथ को कहीं तीर्थों के रूप में तथा कहीं नदियों की संख्या के रूप में वर्णित किया गया है। पंचतत्त्व की कथा एक ओर जल, क्षिति, पावक गगन और समीर की है तो दूसरी ओर क्षमा, ज्ञान, सद्बुद्धि और विचार की है—

मनवा जोगी काया मढ़ी। पंचतत्त्व लै कंथा गढ़ी।
षिमा षड़ासड़ ज्ञान अधारी। सुमति पावड़ी डंड विचारी॥[8]

इन प्रतीकों का सम्बन्ध अनेक रूपों में खोजा जा सकता है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि नाथपंथियों की रचनाओं में साधर्म्यमूलक उपमानों का अभाव है।

साधना सम्बन्धी प्रतीकों के अतिरिक्त लोक-जीवन से लिये गये आचार-विचारों सम्बन्धी उपमान भी उनकी वाणियों में मिलते हैं। सुवा[9], बिलाई[10], हींग कपूर, काली हांडी[11], आदि उपमानों और दृष्टान्तों से उपदेश सहज ग्राह्य हो सके

---

१ सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, पृ० २७७।

२ गोरखबानी, सबदी १३। ३ गोरखबानी, सबदी ४८।

४ ,, ५३। ५ ,, ९३।

६ ,, १३३। ७ ,, १८२।

८ ,, ४८। ९ ,, ११९।

१० ,, १२०। ११ ,, २५०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होंगे ऐसा अनुमान किया जा सकता है। पढ़े-लिखे व्यक्ति की उपमा तोते के रूप में तथा गुने हुए व्यक्ति की उपमा बिल्ली के रूप में बताते हुए कथनी और करनी का भेद गोरखनाथ की एक वाणी में इस प्रकार मिलता है—

कहणि सुहेली रहणि दुहेली,
कहणि रहणि बिण थोथी।
पढ़्या गुणा सुवा बिलाई खाया
पंडित के हाथि रहि गई पोथी ॥[1]

ये प्रतीक कभी व्यंग्य प्रधान और कभी साधर्म्यसूचक बन पड़े हैं। 'काली हांडी' के रूप में नारी का प्रतीक नाथपंथियों की अपनी हृदय की भावना और साधनाजनित परिणाम से सम्बद्ध कहा जा सकता है। इस प्रकार यह तथ्य प्रकट है कि संतों को प्रतीकों की दृष्टि से उल्लिखित पृष्ठभूमि उपलब्ध थी। संतों की प्रतीक पद्धति का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्राप्त कर लेना उपयुक्त होगा जिसके आधार पर हम यह देख सकें कि उनकी प्रतीक पद्धति कहीं नाथपंथियों के कतिपय रूपों को लेकर चली है तो कहीं पर उसका स्वतंत्र विकास हुआ है।

संतों की प्रतीक पद्धति

प्रतीकों को अभिव्यक्तिपरक प्रयोग कहा जा सकता है।[2] संतों की अभिव्यक्ति का मुख्य हेतु ब्रह्मविचार और ईश्वर की प्रेमाभक्ति था यह बात प्रायः सर्वमान्य ही मानी जा सकती है। नाथपंथी साधना से प्रभावित और उसी के ज्ञानपरक दृष्टिकोण को अपनाते हुए भी संत इस दृष्टि से नाथपंथियों से भिन्न कोटि की साधना के पोषक थे। हेतु की भिन्नता होने के पश्चात् अभिव्यक्तिपरक प्रयोगों की भिन्नता होना स्वाभाविक है, किन्तु संतों और नाथपंथियों के अभिव्यक्तिपरक प्रयोग कुछ बातों को छोड़कर प्रायः समान ही हैं। संतों में नाथपंथी प्रतीक योजना के अतिरिक्त दाम्पत्य और वात्सल्य प्रतीकों का प्रयोग प्रचुर रूप से हुआ मिलता है किन्तु साधनात्मक प्रतीकों तथा लोकसुलभ उपमानों का ठीक वैसा ही प्रयोग हुआ है जैसा कि नाथपंथी रचनाओं में हुआ है। इसका एक मुख्य कारण मेरी दृष्टि में यह था कि पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्ति के प्रभाव के फलस्वरूप उत्तर में फैले हुए इन योगी सम्प्रदायों के विचारों एवं भावनाओं में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ किन्तु अभिव्यक्ति की दृष्टि से उसके रूप विधान और शैलीगत प्रयोगों में कोई परिवर्तन न हो सका। उनका यह पक्ष ज्यों का त्यों बना रहा। इस दृष्टि से जहाँ संतों ने आध्यात्मिक प्रसंग को प्रतीक रूप में अपनाया है

---

१ गोरखवानी, सबदी, पृ० ४२।

२ इस प्रकार के अभिव्यक्तिपरक प्रयोगों को ही साहित्यिक भाषा में प्रतीक योजना का नाम दिया गया है।—परशुराम चतुर्वेदी, कबीर साहित्य की परख, पृ० १४१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वहाँ उनमें दाम्पत्य भाव की प्रधानता मिलती है तथा जहाँ संतों ने साधनात्मक प्रसंगों की चर्चा की है वहाँ विशुद्ध हठयोगी साधना की प्रतीक पद्धति को अपनाया है। संतों की प्रतीक पद्धति इस दृष्टि से नाथपंथियों की प्रतीक योजना से बहुत आगे निकल जाती है।

इस प्रकार संतों की प्रतीक पद्धति के तीन मुख्य रूप मिलते हैं—(१) आध्यात्मिक सम्बन्धमूलक, (२) साधनाप्रधान, और (३) लोकसुलभ उपमानों के रूप में।

(१) आध्यात्मिक सम्बन्धमूलक प्रतीकों में हम सर्वप्रथम दाम्पत्य प्रतीक को लेते हैं। इस प्रतीक का प्रयोग प्रायः अनेक संतों ने किया है। संतों के दाम्पत्य प्रतीक में भाषा के चमत्कार अथवा उक्ति वैचित्र्य के दर्शन नहीं होते। कभी-कभी वे सादृश्य-मूलक से प्रतीत होते हैं किन्तु प्रायः उनका उपयोग उस समय किया जाता है जहाँ हमारी भाषा पंगु हो जाती है। संतों की दाम्पत्य प्रतीक की भावना किन्हीं अंशों में इसी प्रकार की है, न तो वे सूफी भावना की हूबहू अनुकृति हैं और न ईसाई धर्म की। कबीर ने आत्मा को वधू और परमात्मा को उसका प्रियतम माना है। और इस प्रकार पति-पत्नि के प्रतीक का सुलभ परिचय आध्यात्मिक सम्बन्ध के रूप में संतों में सर्वत्र पाया जाता है—

कियौ सिंगार मिलन के ताईं। हरि न मिले जगजीवन गुसाईं॥
हरि मेरो पीव हौं हरि की बहुरिया। राम बड़े मैं तनक लहुरिया॥
धनि पिय एकै संग बसेरे। सेज एक पै मिलन दुहेरे।
धन्न सुहागनि जो पिय भावै। कहि कबीर फिर जनमि न आवै॥४५॥[1]

आत्मा-परमात्मा के लिए आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रेम प्रतीकों का यह रूप संतों का पूर्णतया अपना प्रयोग नहीं है, संतों ने परमात्मा को पति और आत्मा को उसकी वधू माना है। संतों ने इस प्रकार परमात्मा के लिए भरतार,[2] प्रीतम,[3] बालम[4], नाह[5] के अप्रस्तुतों के मध्य उसी आध्यात्मिक भावना की अभिव्यक्ति की है जिसकी भक्ति ही संतों का लक्ष्य है। दाम्पत्य प्रतीकों में संयोग और वियोग दोनों अवस्थाओं का चित्रण संतों ने किया है।

यद्यपि आध्यात्मिक सम्बन्धों को लेकर दाम्पत्यभाव-सम्बन्धी प्रतीकों की ही संत-काव्य में बहुलता है किन्तु उसके साथ ही, साख्य अथवा वात्सल्य और दास्य

---

[1] **कबीर ग्रन्थावली, पृ० २७७**
[2] **वही, ८७।**
[3] **वही, ८७।**
[4] **संत सुधासार, पृ० १०५।**
[5] **वही, ४३४।**

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भाव भी कहीं-कहीं प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया गया है। माता और पुत्र का प्रतीक परमात्मा और आत्मा के रूप में कबीर के एक पद में इस प्रकार मिलता है—

हरि जननि मैं बालिक तेरा, काहेंन औगुण बकसहु मेरा।
सुन अपराध करै दिन केते, जननि के चित रहै न तेते ॥[1]

उसी प्रकार कबीर के एक पद में दास्य भाव के प्रतीक 'गुलाम' का प्रयोग भी हुआ है—

मैं गुलाम मोहि बेंचि गुसांई।
तन मन धन मेरा रामजी के तांई ॥[2]

गुरु नानक ने परमात्मा को 'मीतु' के रूप में प्रयुक्त किया है।[3]

संतों की यह आध्यात्मिक सम्बन्धमूलक प्रतीक पद्धति अन्य कवियों से तुलना करने पर विलक्षण ही प्रतीत होती है। दाम्पत्य प्रतीक को छोड़कर दास्य तथा वात्सल्य भाव में भी संतों ने अद्वैत अनुभूति को मुख्य मानकर उसको समझने में विलक्षण ही बना दिया है। पृथक सत्ता के स्थान पर भक्ति सुलभ भावुकता और अद्वैत भावना की प्रबलता के कारण ये प्रतीक उतने सफल नहीं माने जा सकते किन्तु दाम्पत्य प्रतीक वैष्णव भक्त कवियों के परकीया भाव से अधिक स्वाभाविक और नैतिक बन पड़े हैं। उनमें आत्मोत्सर्ग तथा आत्मसमर्पण जैसी पत्नि सुलभ वृत्तियों का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

(२) साधना प्रधान प्रतीकों के प्रयोग संत कवियों ने अनेक रूपों में उपलब्ध हैं। वे मुख्यतः (क) सांकेतिक रूप में, (ख) पारिभाषिक रूप में, (ग) संख्यामूलक रूप में, तथा (घ) रूपात्मक प्रतीक रूप में मिलते हैं। नाथपंथी प्रतीक योजना की चर्चा करते हुए हमने इनमें से रूपात्मक प्रतीक को छोड़कर शेष सबका सम्बन्ध हठयोग की साधना से माना है।[4] संतों में भी हठयोग की साधना का रूप तो मिलता है किन्तु उसका ठीक वही रूप नहीं है जिसे नाथपंथी साधना कहा गया है। प्रायः संतों की साधना आत्मविचार एवं भावभगति प्रधान है। साधना के अन्तर्गत सुरति शब्दयोग और सहजशील का महत्त्व अधिक है। नाथपंथी साधना की स्थिति इस दृष्टि से भिन्न कोटि की स्थिति ही मानी जायगी किन्तु हठयोग आदि की चर्चा संतों ने विशेष रूप से की है जिनमें प्रायः उन्हीं प्रतीकों का प्रयोग किया गया है जो नाथपंथियों द्वारा स्वीकार कर लिये गये थे। इस दृष्टि से साधनाप्रधान प्रतीकों का निर्वाह संत-काव्य में सफल रूप में हुआ है।

---

१ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० १२३।
२ **वही**, पृ० १२४।
३ **सन्त-काव्य**, मध्ययुग, पूर्वार्द्ध, पृ० २४८।
४ **इसी प्रबन्ध का अध्याय २।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(क) सांकेतिक प्रतीक प्राणायाम, ध्यान षटचक्र तथा कुण्डलिनी की अवस्थाओं के द्योतक माने गये हैं। संतों ने भी नाथपंथियों के समान गगन मंडल,[१] अमृत,[२] अरघ उरघ[३] का चै भांडा,[४] चन्द्र सूर्य,[५] ब्रह्मरन्ध्र,[६] बंक नाल[७] आदि उपमानों के द्वारा साधना सम्बन्धी प्रतीक सांकेतिक रूप में प्रकट किये हैं। कबीर के सांकेतिक प्रतीक साधनामूलक एवं प्रेमाभक्ति मूलक दोनों ही अर्थों में कहीं-कहीं प्रकट हुए हैं। यद्यपि अन्य कतिपय संत ठीक प्रकार से हठयोग की साधना को भी इन प्रतीकों के द्वारा प्रकट नहीं कर सके हैं। संत कबीर का एक पद दृष्टव्य है:

हिंडोलनां तहाँ झूलै आतम राम।
प्रेम भगति हिंडोलनां, सब संतनि कौ विश्राम।।
चन्द सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि।
झूलें पंच पियारियाँ तहाँ झूलै जीव मोर।।
द्वादस गम के अन्तरा, तहाँ अमृत कौ ग्रास।
जिनि यहु अमृत चाखिया सो ठाकुर हम दास।।
सहज सुंनि कौ नेहरौ, गगन मंडल सिर मौर।
दोउ, कुल हम आगरी जौ हम झूलैं हिंडोल।।
अरघ उरघ की गंगा जमुना, मूल कवल कौ घाट।
षटचक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट।।
नाद व्यंद की नादरी, राम नाम की नहार।
कहै कबीर गुण गाइले, गुरगंनि उतरौ पार।।[८]

इस पद के अनुसार प्रेम भक्ति का यह हिंडोलना कुण्डलिनी योग की पूर्ण साधना पर ही निर्भर है, कबीर ने हठयोग की साधना को इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के मध्य प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त किया है। यहाँ पर यह भी दृष्टव्य है कि ये सांकेतिक प्रतीक सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए नहीं प्रयुक्त हुए। इनका उपयोग साधना की स्थितियों तथा अवस्थाओं को प्रकट करना है। कभी ये साधनामार्ग के साधर्म्यस्वरूप में तो कभी विरोधी स्वरूप में अभिव्यक्त हुए हैं। संतों के कुछ सांकेतिक प्रतीक सिद्धों के

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पद १८, पृ० ९४।
२ वही।
३ वही।
४ वही।
५ वही।
६ वही।
७ वही, पद ७०, पृ० ११०।
८ वही, पृ० ९४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतीकों से प्रभावित प्रतीत होते हैं। 'खसम' शब्द सहजयानी लोगों की सहजावस्था का वाचक शब्द माना गया है।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर ने उसको निकृष्ट पति के रूप में ग्रहण किया है[२] यद्यपि वे उसकी परम्परा से परिचित प्रतीत होते हैं। 'धरणि' शब्द भी सांकेतिक प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। संतों की रचनाओं में अनेक सांकेतिक प्रतीकों का परिचय मिलता है जिनका साधनामार्ग से पुराना सम्बन्ध माना जा सकता है।

(ख) पारिभाषिक रूप में भी संतों की रचनाओं में प्रतीक योजना मिलती है। पारिभाषिक प्रतीक मुख्यत: धर्मसाधना के अन्तर्गत आते हैं, अनुभव के पश्चात् साधक उन्हें अपने अप्रस्तुतों और उपमानों में अभिव्यक्त करते रहे हैं। परम्परा से प्राप्त इन धार्मिक साधनाप्रधान प्रतीकों के समझने में साधक को उस धार्मिक रीति-नीति का ज्ञान होना आवश्यक रहा होगा क्योंकि भिन्न-भिन्न साधना पंथों में उनकी अपनी पृथक पृथक परिभाषाएँ उपलब्ध होंगी। मध्ययुग में बौद्ध धर्म और उसके तान्त्रिक प्रभावों तथा स्वामी शंकराचार्य और उनके दार्शनिक सिद्धान्तों ने अनेक पारिभाषिक शब्दों के अर्थों को बदलकर अपने मतानुसार नये प्रतीक विधान की सृष्टि की यह प्राय: सभी विद्वान मानते हैं। संतों में इस प्रकार अनेक पारिभाषिक प्रतीक मिलते हैं। जिनका अर्थ उन्होंने अपनी दृष्टि से किया है उनमें मुख्य शून्य,[3] सहज,[४] निरंजन,[५] सुरति,[६] निरति,[७] अजपाजाप,[८] अनहद[९], रस[१०] आदि हैं।

संतों में शून्य और सहज को सिद्धों के प्रतीक विधान के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। संतों का शून्य, नैरात्म्य भाव का पोषक न होकर कहीं नाथपंथियों की

---

१ कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७५।

२ माई मैं दूनों कुल उजियारी।
बारह खसम नैहरे खायो, सोरह खायो ससुराई ॥—कबीर, शब्द ६२।
अथवा खसम न चीन्हे बावरी का करत बड़ाई।
बातन लगन न होयेंगे छोड़ो चतुराई ॥
—कबीर वाणी, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २६६।

3 कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६०।

४ वही, ६०।

५ वही, ६६।

६ वही, १४।

७ वही, १४।

८ वही, १५।

९ वही, १६।

१० वही, १६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिद्धावस्था है तो कहीं सहज-शून्य का पर्याय ।[१] उसी प्रकार सहज भी सुखवाद का पोषक न होकर सहजावस्था अथवा सहज समाधि का पर्याय है—

अपने विचारि असवारी कीजै । सहज के पाइडै पाव जब दीजै ।।
दे मुहरा लगाम पहिराऊँ । सिकली जीन गगन द राऊँ ।।
चलि बैकुण्ठ तोहि लै तारों । थकहिन प्रेम ताज नै मारूँ ।।
जन कबीर ऐसा असवारा । वेद कतेब बहूँ थैं न्यारा ।।[२]

(ग) संतों की रचनाओं में कतिपय संख्यावाचक प्रतीकों का भी प्रयोग किया गया है । इन प्रयोगों के सूत्र बहुधा भारतीय आध्यात्मिक ग्रन्थों में पाये जाते हैं । चार पहर,[३] पंच पखुरिया,[४] नव गज दस गज,[५] सात सूत,[६] द्वादस कुवा,[७] पाँच किसान अदि के रूप में अनेक संख्यावाचक प्रतीकों के द्वारा कहीं संतों ने पारिभाषिक प्रतीकों का संख्यावाचक परिचय दिया है, कहीं पर उनका सम्वन्ध तत्त्वों से लगाया जा सकता है । 'पंच पखुरिया' पंचेन्द्रिय के रूप में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है, इसी प्रकार अन्य संख्यावाचक प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति का स्वरूप कुछ स्पष्ट होता है किन्तु साधक को उसका पूर्ण परिचय होना चाहिए ।

सांकेतिक रूप में, पारिभाषिक रूप में तथा संख्यावाचक रूप में प्रयुक्त सन्तों के ये प्रतीक मूलतः उनकी साधना से सम्बन्धित हैं ।

(घ) संतों ने इसके अतिरिक्त रूपात्मक प्रतीकों का प्रयोग भी किया है । ये प्रतीक सामान्य जीवन की घटनाओं पर आरोपित कहे जा सकते हैं, इसीलिए इस प्रकार इन अप्रस्तुतों को रूपात्मक प्रतीक ही कहना उपयुक्त है । कबीर की एक साखी उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत है—

कबीर ऐसा कोई न जनमिया, अपने घर लावै आगि ।
पांचऊ लरिका जारि कै रहे राम लिव लागि ।।[८]

इसमें प्रतीकों का प्रयोग निम्नलिखित रूप में हुआ है—

घर शरीर के लिए, आगि ब्रह्म अग्नि के लिए तथा पाँच लरिका पंचेन्द्रियों के लिए, ये सब रूपात्मक प्रतीक कहे जा सकते हैं । इन प्रतीकों से जहाँ एक ओर भाव

---

१ **कबीर की विचारधारा,** पृ० २८६ ।
२ **कबीर ग्रन्थावली,** ९६ ।
३ **वही,** पृ० १२१ ।
४ **वही,** १२१ ।
५ **वही,** १५३ ।
६ **वही,** १५३ ।
७ **वही,** १६३ ।
८ **संत कबीर,** पृ० २५४ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सौंदर्य बढ़ता है वहाँ अर्थ भी सरल होकर सामने आता है। धर्म और दर्शन की दुरूह बातें इन प्रतीकों के प्रयोग से सरल हो जाती हैं। इनमें किसान, कुत्ता, पनिहारी, मछली आदि अनेक प्रयोग भी संतों ने किये हैं।

संतों में लोक-जीवन के विभिन्न प्रतीक भी प्रयुक्त हुए हैं। इनमें से कतिपय साधारण जन जैसे कुम्हार, कलाल, माली आदि भी अपने कार्यक्षेत्र के अनुसार प्रतीक रूप में आये हैं। दृष्टांत एवं उपमानों के रूप में लोक-जीवन से लिये गये आचार-विचार सम्बन्धी प्रतीक भी इसी कोटि में आते हैं। कभी ये प्रतीक सामान्य घटनाओं से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं तो कभी उनमें गूढ़ पारिभाषिक अर्थ छिपा रहता है, यथा—

राम वियोगी तन विकल, ताहि न चीन्है कोई।
तंबोली के पांन ज्यूं, दिनदिन पीला होई॥[1]

संत प्रतीक पद्धति की मुख्य अभिव्यक्ति धर्मसाधना के रूप में हुई है यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। एक ओर जहाँ यह प्रतीक पद्धति परम्परागत नाथपंथी प्रतीक योजना की यथातथ्य प्रतिकृति है, वहाँ दूसरी ओर संतों की प्रतीक योजना का स्वतन्त्र विकास भी उसमें मिलता है। प्रेमभक्ति सम्बन्धी प्रतीक संतों के अपने अनुभव की वस्तु है, जिसका नाथपंथियों में निश्चित ही अभाव था। जहाँ उसमें हम नाथपंथी प्रतीक योजना का अतिशय साम्य पाते हैं वहाँ उसमें मूलभूत अंतर भी उपलब्ध है। सम्भवतः इसका कारण युग और उसकी परिस्थितियों का परिवर्तित होना ही समझना चाहिए। संतों के प्रतीक अनायास ही ऊपर से ग्रहण किये हुए नहीं माने जा सकते हैं, उनका प्रचार आज भी इसीलिए लोक-जीवन में है कि वे अनुभूति पर आधारित हैं जिसके पीछे एक विस्तृत पृष्ठभूमि है। नाथपंथी साधकों तथा संतों की रचनाओं में प्रयुक्त ये प्रतीक आधुनिक प्रतीकवादी आन्दोलन की सीमित धारा से पृथक उन्मुक्त कोटि की अभिव्यक्ति की शैली मानी जा सकती है, जिनका प्रयोग आध्यात्मिक रचनाओं में सर्वत्र पाया जाता है।

शैली

अभी तक के अनुशीलन से स्पष्ट है कि संत-काव्य मूलतः अनुभूति प्रधान है। उच्च कोटि के संत-काव्य में सिद्धान्त विशेष के प्रतिपादन का आग्रह नहीं है, उसकी मूल चेतना भावप्रवण ही बन पड़ी है। संतों की वाणियों में कथनी की अपेक्षा करनी का महत्व अधिक प्रतीत होता है यद्यपि उन्होंने स्वयं कथनी और करनी को सापेक्ष्य रूप में माना है।[2] संत-काव्य के शैली पक्ष पर जब हम इस दृष्टि से विचार करते हैं तो

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५१।

२ कथणी कथी तौ क्या भया, जे करणा ना ठहराइ।
कालबूत के कोट ज्यूं, देखत ही ढहि जाइ।
मैं जानूं पढ़िबा भलौ, पढ़िबा थैं भलौ जोग।
राम नाम सूं प्रीति कर भलभल नींदौ लोग॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसमें साहित्यिक मान्यताओं की अवहेलना ही पाते हैं। संतों की अनुभूति उनके ही मतानुसार गूँगे के गुड़ के समान है, उसकी शोभा कथन में नहीं, अनुभूति में ही निहित है।[1] डा० रामकुमार वर्मा का यह विचार समीचीन ही प्रतीत होता है कि जो आनन्द रहस्यवाद में गूँगे के गुड़ का है वह किस मुख से कहा जा सकता है। यदि उसे स्पष्ट करने की आवश्यकता भी हुई तो वह टेढ़े-मेढ़े रूप में ही स्पष्ट हुआ है। उपदेश और चेतावनी के रूप में यदि कुछ कहने का प्रसंग आया तो वह ऐसे रूप में कहा गया जो सरलता से समझ में आ सके।[2] वस्तुतः संत-काव्य का शैलीगत स्वरूप उसके भावपक्ष की तुलना में अत्यन्त ही अनुपयुक्त ठहरता है किन्तु इसके बीज जहाँ उस युग की पृष्ठभूमि में निहित हैं वहाँ संतों का दृष्टिकोण भी बहुत सीमा तक इसके लिए उत्तरदायी है। संत-काव्य जैन, चारण और नाथ साहित्य की परम्परा में आता है। यह परम्परा प्रवृत्ति काव्य की परम्परा मानी गयी है।[3] संतों की दृष्टि में किसी भी शास्त्रीय परम्परा तथा मान्यता के लिए कभी कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रहा, वह सामान्य जनता के बीच सत्य के प्रयोगों की अभिव्यक्ति मात्र माना गया है। इसके साथ ही संतों का कार्यक्षेत्र कोई एक प्रान्त न होकर सम्पूर्ण देश था, ऐसी स्थिति में उसकी अभिव्यक्ति में किसी एक ही प्रकार की अवतारणा भी नहीं खोजी जा सकती। इन्हीं कुछ प्रसंगों को लेकर विद्वानों का विचार है कि संत-काव्य की शैली को साहित्यिक शैली नहीं माना जा सकता।[4]

शैली वस्तुतः अनुभूत विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति का ही नाम है। किसी रचना के प्रभाव को उसकी विषय-वस्तु से पृथक कर नहीं देखा जा सकता। यदि संतों के अनुभूति विषय को साहित्य अथवा काव्य की कोटि में नहीं माना जाय तब तो यह बात उपयुक्त कही जा सकती है अन्यथा हम इतना ही कह सकते हैं कि संतों में अनुभूत विषय-वस्तु को समाहित करने अथवा व्यवस्थित करने की लगन नहीं थी।

---

[1] पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान। कहिबे कूँ शोभा नहीं, देख्या ही परवान॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२।

[2] हिन्दी साहित्य (द्वितीय खंड), पृ० २३३।

[3] प्रथम परम्परा प्रकृत काव्य की परम्परा है, जहाँ द्वितीय कल्पनात्मक रचनाओं की प्रणाली है। अतएव, प्रथम में जहाँ हमारी आदिम मनोवृत्तियों का सरल और विशुद्ध रूप दीख पड़ता है वहाँ द्वितीय में बहुत कुछ कृत्रिमता का समावेश रहता है। प्रकृत काव्य एवं शिष्ट व कलात्मक काव्य के बीच इस प्रकार का अन्तर देखकर ही संत-काव्य को उक्त पहले कोटि में रखने की प्रवृत्ति होती है। —परशुराम चतुर्वेदी, संत-काव्य की परम्परा, आलोचना, वर्ष २, अंक १, अक्टूबर, १९५२।

[4] हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ३१०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकृत रूप में उनकी अभिव्यक्ति अपनी परम्परा की पोषक है, नाथ पंथ की रुक्ष उदासीन प्रवृत्ति के फलस्वरूप संतों में भी वही भाव उसी रूप में मिलता है किन्तु कतिपय प्रसंगों में संतों की अभिव्यक्ति अपनी अनुभूति के साथ समाहित होकर सुन्दर गीतों के रूप में भी प्रस्फुटित हुई है। मध्ययुग में गीतों की अभिव्यक्ति भगवतभक्ति का ही परिणाम मानी गयी है।[1]

वस्तुतः काव्य के दो पक्षों में अनुभूति को काव्य की आत्मा तथा अभिव्यक्ति को उसके शरीर के रूप में माना गया है। अभिव्यक्त स्वरूप की श्रेष्ठता इसी आधार पर मानी गयी है कि उसके माध्यम से आत्मा अपने को प्रकाशित करने में सफल होती है। आत्मा के बिना शरीर की कोई महत्ता नहीं है और न शरीर की कोई मुखर स्थिति। दोनों का सुन्दर समन्वय ही भारतीय काव्य शैली का लक्ष्य रहा है। इस दृष्टि से संत-काव्य में दोनों के समन्वय का अभाव है फिर भी कतिपय प्रसंगों में अनुभूति और अभिव्यक्ति का सुन्दर समन्वय बन पड़ा है। इस दृष्टि से संतों की वस्तु-योजना कम महत्त्वपूर्ण नहीं मानी जा सकती।

शैली के अन्तर्गत संतों की वस्तु-योजना, भाषा, छन्द और अलंकार पर भी इसी संदर्भ में विचार कर लेना न्यायसंगत होगा।

वस्तु-योजना एवं काव्य रूपों की उद्भावना

संतों की सभी रचनाओं को शास्त्रीय परिभाषाओं के अनुसार 'काव्य' की कोटि में नहीं रखा जा सकता। वस्तुतः संतों ने इस हेतु रचना भी नहीं की। उन्होंने अपने भावों को सरल ढंग से लोक-जीवन के अनुकूल अभिव्यक्त मात्र किया है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह अभिव्यक्ति पद्य के रूप में अनायास ही बन पड़ी है? इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि संतों की यह वस्तु-योजना अनायास ही प्रकट नहीं हुई है। इन रचनाओं का मुख्य हेतु धार्मिक एवं आध्यात्मिक ही माना जाता है। श्री परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि 'दार्शनिक एवं धार्मिक विषय हिन्दी काव्यधारा की कदाचित सबसे प्राचीन वर्ण्य वस्तु है। इसका अस्तित्व उसके अपभ्रंश रूप में भी पाया जाता है।'[2] वस्तु-योजना की दृष्टि से संतों ने अपने पूर्ववर्ती साधना पंथों तथा सम्प्रदायों का अनुसरण किया है। दार्शनिक और धार्मिक साधना पंथों के साधक अपने अनुभवों को इसी रूप में प्रकट करते रहे हैं। वस्तु-योजना की दृष्टि से संत-काव्य एक दीर्घ परम्परा से अपने आप को सम्बद्ध पाता है। संत-काव्य की वस्तु-योजना संतों के आध्यात्मिक विचारों का ही परिणाम है जिसमें अनुभव प्रधान है। संतों ने अपने अनुभवों के स्पष्टीकरण में भी अधिकांश रचनाओं का सृजन किया है, यह भी संत-काव्य के अध्ययन से स्पष्ट है। संत-काव्य का कलेवर विस्तृत है, जिसमें

---

१ काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे, पृ० २२।

२ संत-काव्य, भूमिका, पृ० ६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक ओर व्याख्यात्मक प्रसंगों की भरमार है तो दूसरी ओर पंथीय रचनाओं की भी कमी नहीं है। संतों के नाम पर चलने वाले पंथों में अनेक पौराणिक प्रसंगों को लेकर विविध रचनाओं का सृजन भी हुआ है, पौराणिक देवताओं के साथ वार्ता प्रसंगों की भी संत-काव्य में कमी नहीं है। पंथीय साहित्य मुख्यतः स्तुतियों और प्रार्थनाओं से भरा हुआ है जिसमें पंथ प्रवर्तकों की ईश्वर तुल्य स्तुति भी की गयी है। ऐसी स्थिति में संत-काव्य का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत किया जाना एक समस्या ही है। किन्तु इन वाह्य प्रसंगों को छोड़कर यदि संत-काव्य की वस्तु-योजना पर विचार किया जाय तब निश्चित ही संतों में प्रचलित काव्य रूपों का एक सुन्दर स्वरूप उपलब्ध होता है जो हिन्दी काव्यधारा की ही एक लड़ी है।

संतों में सिद्धान्तों और अनुभवप्रसूत भक्ति भावों का विलक्षण समन्वय मिलता है। ऊपर से देखने पर संत-काव्य में यही समन्वय उत्तम कोटि की काव्य-रचना के सृजन में बाधक प्रतीत होता है। साधारणतया काव्य में एक ओर कवि, दूसरी ओर पाठक अथवा श्रोता और मध्य में काव्य रूप हुआ करता है[१] किन्तु संत-काव्य में यह प्रक्रिया कुछ भिन्न ही बन पड़ी है। संतों के लिए अनुभूति ही प्रधान है, अनुभूति के सहारे साधक काव्य रूप तक अनायास ही पहुँच जाता है और वहीं उसका श्रोता का सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध अपने प्रकृत स्वभाव के अनुसार बद्धमूल होता रहता है। कुछ स्थलों पर संतों ने अपनी चित्तवृत्ति को अनुभूति में डुबोकर अभिव्यक्त किया है, वे अनुभूतियाँ बिखरी हुई रहती हैं। किन्तु उन्हें मिलाकर ही काव्य रूप की सञ्ज्ञा दी जाती है[२] भले ही भावुक उसका नामकरण न कर पाता हो। संतों ने भी अपनी अनुभूति को किन्हीं नामों के द्वारा प्रकट नहीं किया, उन्हें वे साखी भर कहते हैं जो साक्षीस्वरूप प्रस्तुत की गयी हैं।[3] काव्य रूप मुख्यतः दो तत्त्वों का समन्वय है।[४] चित्तवृत्ति और विधान इन दो तत्त्वों का विवेचन करने के पश्चात ही काव्य रूपों का विवेचन सम्भव है। संतों की चित्तवृत्ति का विस्तृत परिचय उनके सिद्धान्तों के संदर्भ में दिया जा चुका है। संत मूलतः अन्तर्मुखी साधना में विश्वास करते थे, अन्तर्मुखी

---

१ 'एक ओर कवि होता है, दूसरी ओर पाठक तथा दोनों के बीच होता है काव्य रूप।—डा० शकुन्तला दुबे, काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास, पृ० ११।

२ काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे, पृ० १५।

3 साखी शब्द संस्कृत 'साक्षी अन्यतम रूप मान लिया जा सकता है जिसका अभिप्राय उस पुरुष से है जिसने किसी वस्तु अथवा घटना को अपनी आँखों देखा हो। ऐसे साक्षात अनुभव द्वारा ही ऐसी वस्तु व घटना का प्रत्यक्ष अथवा यथार्थ ज्ञान सम्भव है।—परशुराम चतुर्वेदी, कबीर साहित्य की परख, पृ० १८४।

४ काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे, पृ० १६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कवि वस्तु वर्णनात्मक प्रसंगों के प्रति उदासीन हो, तो यह एक स्वाभाविक परिणति ही मानी जायगी। काव्य रूपों में भेद भी बहुत कुछ जीवन के प्रति दृष्टिकोण के कारण माना गया है।[१] सामान्य रूप से संतों के काव्य का रूप मुक्तकों का ही है जिसमें उपदेश नीति तथा वैराग्य की ही प्रधानता है, उनकी भावना इसी रूप में अङ्कित की गयी प्रतीत होती है। विषय के अनुरूप मुक्तकों के वाह्य रूप भी परिवर्तित होते गये हैं।

श्री परशुराम चतुर्वेदी का विचार है कि 'पहले के संतों ने अपनी रचनाएँ किसी व्यवस्थित रूप में नहीं की थीं। उन्होंने अपने भावों को केवल प्रकट मात्र कर दिया था। वे जो कुछ अनुभव करते थे उसे विविध पद्यों द्वारा व्यक्त कर देते और उनकी ऐसी पंक्तियों को लोग बहुधा लिख भी लिया करते थे। संतों की भावाभिव्यक्ति इस दृष्टि से कथात्मक रचनाओं की ओर उन्मुख नहीं प्रतीत होती किन्तु बाद के संतों में, अत्यल्प रूप में ही क्यों न हो, कथात्मक रूप का भी अनुसरण हुआ है।[२] विद्वानों का मत है कि संतों ने लोक प्रचलित काव्य रूपों को ही अपनाया है और उसमें ही अपना उपदेश प्रचारित किया है।[3] गोस्वामी तुलसीदास ने संतों में प्रचलित काव्य रूपों को इसी दृष्टि से लक्ष्य करते हुए एक स्थल पर प्रकट किया है कि वे अधमकवि वेद-पुरान की निन्दा करते हैं और भक्ति का निरूपण करते हैं। इन काव्य रूपों में उन्होंने साखी, सबदी और दोहा का स्पष्ट निर्देश किया है।[४]

डा० शकुन्तला दुबे ने काव्य विभाजन की दृष्टि से काव्य को प्रबन्ध, अबन्ध तथा बन्धाबन्ध के रूप में विभाजित किया है। काव्य को विभिन्न रूपों में अनेक दृष्टियों से विभाजित किया गया है किन्तु बन्ध की दृष्टि से काव्य का यह विवेचन उपयुक्त एवं वैज्ञानिक प्रतीत होता है।[५] प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य और खण्डकाव्य, अबन्ध के अन्तर्गत गीतिकाव्य और मुक्तक तथा बन्धाबन्ध काव्य या मिश्रकाव्य माना जा सकता है। संतों में इस दृष्टि से प्रबन्ध-काव्य की ही प्रधानता है जिसमें गीतिकाव्य तथा मुक्तक दोनों ही अंगों में रचनाएँ मिलती हैं।

संतों की रचनाओं में प्रायः निम्नलिखित काव्य रूपों का प्रयोग मिलता है—

(१) साखी
(२) शब्द अथवा गेय पद

---

१ **काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास**—डा० शकुन्तला दुबे, पृ० २१।
२ **संत-काव्य**, भूमिका, पृ० ३१।
3 **धरणीदास का 'प्रेम प्रयास'**।
४ **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १०४।
५ **वही**, पृ० १०२।
६ **काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास**—डा० शकुन्तला दुबे, पृ० ३७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३) रमैणी
(४) बावती
(५) चौंतीसा
(६) थिंती
(७) वार
(८) चांचर
(९) बसंत
(१०) हिंडोला
(११) ककहरा
(१२) बेलि
(१३) बिरदुली
(१४) विप्रमतीसी
(१५) आदिमंगल

संतों में मुक्तक के अन्तर्गत 'साखी' शब्द का प्रचलन विशेष अर्थ में हुआ प्रतीत होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि कबीर ने सिद्धों, निरंजनियों और नाथों के दिखाये मार्ग को ज्ञान का सहारा लेकर अपने उपदेशात्मक मुक्तक रचे और इस प्रकार सत्य के साक्षात्कार रूप में उन्होंने साक्षी दी। यही साक्षी शब्द बिगड़कर साखी हो गया, परन्तु यह शब्द कबीर का अपना मौलिक शब्द है जो विशेष प्रकार के मुक्तकों के लिए रूढ़ है।[1] जो भी हो, साखी सिद्धों और नाथपंथियों में प्रचलित काव्य रूप रहा होगा। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि बौद्ध सिद्धों को भी इस शब्द का पता था। धीरे-धीरे गुरु के वचनों को साखी कहा जाने लगा होगा। बौद्ध सिद्धों के ये उपदेश दोहा छन्दों में लिखे गये थे। इसलिए दोहा और साखी समानार्थक शब्द मान लिये गये होंगे।[2] साखी के अन्तर्गत साधना और ज्ञान सम्बन्धी मुक्तकों का ही संग्रह है। तात्पर्य यह है कि शान्त रस के दोहे ही साखी कहे जाते हैं। निर्गुण संत कवियों में यह प्रकार इतना रूढ़ हो गया कि केवल संतों के ही ज्ञान विषयक दोहे बाद में साखी माने जाने लगे, अन्य नहीं। डा० शकुन्तला दुबे का मत है कि हिन्दी में मुक्तक का वास्तविक प्रादुर्भाव संतों की निर्गुण काव्यधारा के बीच हुआ[3]

---

[1] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर के बीजक में निम्नलिखित काव्य रूपों का प्रयोग माना है—(१) आदिमंगल, (२) रमैनी, (३) शब्द, (४) ज्ञान चौंतीसा, (५) विप्रमतीसी, (६) ककहरा, (७) बसंत, (८) चांचर, (९) बेलि, (१०) बिरहुली, (११) हिंडोला, (१२) साखी।—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० १०४।

[2] काव्य रूपों के मूल-स्रोत और उनका विकास — डा० शकुन्तला दुबे, पृ० ३८४।

[3] हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० १०५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दोहा छन्द में उपदेश देने की पुरानी पद्धति को संतों ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया। मुक्तकों का इस रूप में ग्रहण किया जाना नाथपंथिय की साधना-पद्धति के अनुरूप स्वाभाविक ही माना जा सकता है। नाथपंथियों ने भी सबदी के अन्तर्गत अपने उपदेश दिये थे, संतों ने दोहों में अपने उपदेश दिये जिन्हें साखी कहा गया। बीजक में साखी का परिचय इस रूप में मिलता है—

साखी आंखी ज्ञान की समुझि देखु मन माँहि।
बिनु साखी संसार का झगरा छूटत नाँहि॥[1]

संतों की साखियों में उन विषयों का समावेश है जिनका अनुभव दैनिक जीवन में संतों को होता रहता था और जिन्हें अपनी कसौटी पर कसकर वे साधिकार व्यक्त कर दिया करते थे। संतों ने इस दृष्टि से मुक्तक की ही एक प्राचीन परम्परा का निर्वाह किया है किन्तु भावना के जिस मौलिक स्वरूप के दर्शन कबीर आदि संतों की साखियों में होते हैं उसे देखते हुए यही मानना पड़ता है कि मुक्तक का यह काव्य रूप जो साखियों के नाम से अभिहित किया गया, भावना की दृष्टि से अपनी मौलिकता में अवश्य महत्त्वपूर्ण है।[2]साखी की रचना दोहा छन्द में की गयी है किन्तु सभी साखियाँ इसी छन्द में नहीं मिलती हैं। इन साखियों में अन्य छन्द जैसे दोही, चौपई, श्याम, उल्लास, हरिपद, गीता, सार आदि के भी अनेक उदाहरण मिल जाते हैं।[3] वस्तुतः संतों ने न तो भाषा पर ही ध्यान दिया और न छन्दों पर, किन्तु भावना की दृष्टि से साखियों का विशेष महत्त्व है। कबीर साखी के द्वारा आनन्द की अनुभूति करते हैं, उनका मत है कि तत्त्व ज्ञान के पश्चात् ही मुक्ति सम्भव है।[4]

संतों के 'साखी' संग्रह विविध अंगों में विभाजित किये गये प्रतीत होते हैं। गुरुदेव को अंग, सुमिरण को अंग, परचा को अंग, लांवि को अंग, लौ को अंग, चांणक को अंग[5] आदि के नाम से साखी विभाजित की गयी हैं। 'अंग' से प्रायः साखी संग्रह के किसी खण्ड का बोध होता है, किन्तु कबीर साहब ने 'अंग' का प्रयोग लक्षण के रूप में भी किया है—

निर वैरी निहकामता, साईं सेती नेह।
विषयासू न्यारा रहे संतनि का 'अंग' एह॥[6]

---

१ बीजक, साखी ३५३
२ संत-काव्य पृ० ३५।
३ कबीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १८६।
४ पद गाए मन हरषिया, साषी कह्या अनंद।
सो तत नांव न जाणिया गल में पड़ियां फंद॥ —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५५।
५ कबीर ग्रन्थावली—विषय सूची, पृ० १, २, ३।
६ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्री परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि दादूदयाल की साखियों के पहले इस प्रकार का क्रम नहीं लगा था। सर्वप्रथम ऐसे अंगों में विभाजित करने वाले उनके शिष्य रज्जब जी थे।[१] संत-काव्य की उपलब्ध सामग्री के आधार पर जिसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है, साखियों के अनेक अंग-क्रम उपलब्ध होते हैं जिनमें एकरूपता का अभाव है।[२] संतों की साखी के मुक्तक मुख्यतः चार प्रकार के माने जा सकते हैं—(१) रहस्यवादी मुक्तक, (२) ज्ञान सम्बन्धी मुक्तक, (३) नीतिपरक मुक्तक, (४) साधना सम्बन्धी मुक्तक।[3]

संतों की साखी में संगीत का अभाव है किन्तु जहाँ भावना को खुल खेलने का अवसर मिला है उन प्रसंगों में एक सुन्दर काव्यात्मक अभिव्यक्ति मिलती है। कतिपय उदाहरण दृष्टव्य —

अंषड़ियां झांई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियां छीला पड़्या राम पुकारि पुकारि ॥२॥
कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ।
विरहणि पिव पावै नहीं, जियरा तल पै माई ॥३४॥[४]

—कबीर

× × ×

ना वहु मिलै न मैं सुखी, कहु क्यों जीवन होइ।
जिन मुझकौं घाइल किया, मेरी दारु सोई ॥६॥[५]

—दादू

× × ×

विरहिण विहरै रैन दिन, बिन वेखे दीदार।
जन रज्जब जलतो रहै, जाग्या विरह अपार ॥२०॥[६]

—रज्जब

संतों में प्रचलित द्वितीय काव्य, पकार शब्द अथवा गेय पद माना गया है। संतों के गेय पदों को शब्द कहा गया है। डा० रामकुमार वर्मा उन्हें शब्द ब्रह्म के लिए प्रयुक्त कथन मानते हैं अथवा वह उपदेश शब्द रूप में पद का ही रूप है, जो

---

१ **संत-काव्य**, पृ० ३८।
२ **हिन्दी साहित्य**—डा० रामकुमार वर्मा, द्वितीय खण्ड, परिशिष्टसंत-काव्य।
3 **काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास**—डा० शकुन्तला दुबे, पृ० ३८७।
४ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० ९, १०।
५ **संत सुधासार**—स्वामी दादूदयाल, पृ० ४५९।
६ वही, रज्जबजी, पृ० ५२६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संगीत के स्वरों में गाया जाता है।[१] वस्तुतः संतों के 'शब्द' 'भजन' अथवा 'गेय पद' ही हैं, विषय की दृष्टि से ये पद मुख्यतः ब्रह्मगत भावों की अभिव्यक्ति के साधन माने जा सकते हैं।

हिन्दी भाषा में पदों की रचना बहुत प्राचीनकाल से होती आयी है। सिद्धों के चर्यागीतों में उनका प्रारम्भिक रूप मिलता है, इन चर्यागीतियों के भी पहले कतिपय वज्रगीतियों की रचना होती आ रही थी।[२] ये गीत राग-रागनियों में बँधकर लोक-जीवन के अंग बने रहते थे। शब्द अथवा पद गोरखनाथियों में भी प्रचलित था[3] जो अनेक राग-रागनियों में प्रकट हुआ है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान है कि संत कवियों के गेय पद संगीतज्ञों के 'प्रबन्ध' तथा नाम सादृश्य पर रचित दक्षिण भारत के 'प्रबन्धम्' में संगृहीत पदों की पद्धति का स्मरण दिलाते हैं।[४] संतों के शब्द गहरी अनुभूति और व्यक्तिगत उद्‌गारों से परिपूर्ण प्रतीत होते हैं। विषय की दृष्टि से शब्द परमतत्त्व की अनुभूति राम के प्रति प्रदर्शित विविध भाव, संसार की दूरावस्था, आत्मनिवेदन एवं चेतावनी को लेकर अभिव्यक्त हुए हैं। संतों के 'शब्द' बानी भी कहे जाते हैं। मूलतः हम इन्हें भक्ति अथवा आत्मज्ञान की रागात्मक अभिव्यक्ति मान सकते हैं। इस दृष्टि से कुछ शब्द गीतिकाव्य के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

पद साहित्य की दृष्टि से संतों के पद चार वर्गों में रखे गये हैं—(१) उपदेशात्मक और नीति परक, (२) वैराग्य सम्बन्धी, (३) सिद्धान्त निरूपक, (४) विरह मिलन के पद।[५] इनमें से प्रथम तीन वर्ग के साहित्य की सृष्टि नाथपंथी साधकों ने भी की किन्तु विरह के पदों में ही संतों का गीतात्मक स्वरूप देखने को मिलता है। विरह के पदों में वियोग का मर्मस्पर्शी भाव तो मिलता ही है,[६] संयोग का आह्लाद भी कम नहीं है।[७] संतों के ये पद विचार और अनुभूति के समन्वय से गीतकाव्य के नवीन रूप को प्रस्तुत करते हैं। उनका संगीत पदकाव्य में एक रूप हो गया प्रतीत होता है। हम संतों में जहाँ भाव गाम्भीर्य पाते हैं वहाँ संगीत की स्वच्छता और अभि-

---

१ **हिन्दी साहित्य**, द्वितीय खण्ड, पृ० २३८।

२ **संत-काव्य**, पृ० ३२।

3 **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १०५।

४ **संत-काव्य**, पृ० ३४।

५ **काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास**—डा० शकुन्तला दुबे, पृ० १७७।

६ बाल्हा आव हामारे गेह रे। तुम बिन दुखिया देह रे॥ —कबीर ग्रन्थावली, पद ३०७, पृ० १९२।

७ बहुत दिनन थें मैं प्रीतम पाये।
भाग बड़े घरि बैठे आये॥—कबीर ग्रन्थावली, पद १, पृ० ८७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यक्ति का मुखर रूप भी। वैसे अनेक संतों को संगीत का ज्ञान भी था[१] किन्तु संगीत का ज्ञान ही गीतिकाव्य का प्रेरक नहीं है। संतों में यद्यपि राग गौड़ी, राग बिलावल, राग सोरठ, राग वसंत, राग सारंग तथा राग घनाश्री आदि में अपने पदों को सजाया है, किन्तु ये राग-रागनियाँ संत-काव्य के गीतितत्त्व से सीधी सम्बन्धित नहीं मानी जा सकती हैं। साधु संतों की यह एक वृत्ति ही मानी जायगी। छन्दों की दृष्टि से संतों में पूर्ण स्वतन्त्रता का भाव मिलता है। उन्होंने पदों में छन्द के बन्धन को स्वीकार नहीं किया जो उनके स्वभाव की ही एक विशेषता मानी जा सकती है। पद छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के मिलते हैं जिनमें अनुभूति की तीव्रता देखी जा सकती है।

संतों में तीसरा मुख्य काव्य प्रकार रमैनी मिलता है। रमैनी दोहा चौपाइयों में लिखी गयी वर्णनात्मक रचना को कहा जाता है जिसमें कतिपय चौपाइयों के अनन्तर दोहे का क्रम बँधा रहता है।[२] इसी प्रकार का प्रयोग स्वयं कवि की 'पदुम चरिउ' में भी मिलता है तथा गुरु गोरखनाथ की समझी जाने वाली 'प्राण संकली' में भी, किन्तु चौपाइयों और दोहों के क्रम की नियमबद्धता कबीर साहब की रमैनी में ही मिलती है।[३] यह काव्य रूप प्रबन्ध-काव्य के बहुत अनुकूल प्रतीत होता है, संतों ने मुख्यतः इसका प्रयोग सृष्टि रचना सम्बन्धी वर्णनों एवं पौराणिक रचनाओं में किया है।

संतों में प्रचलित इन तीन मुख्य काव्य प्रकारों के साथ अन्य रूप भी मिलते हैं। 'बावनी' अथवा 'बावन अक्षरी' में प्रमुख द्विपक्षियों का आरम्भ बावन अक्षरों अर्थात् नागरी लिपि के क्रमशः अकारादि सोलह स्वरों से व ककारादि छत्तीस व्यंजनों से होना चाहिए। प्रत्येक अक्षर से अक्षरानुक्रम लिखने की यह प्रणाली भी कम पुरानी नहीं है और इसका भी प्रारम्भ अपभ्रंश काल से ही बताया जाता है।[४] संतों में बावनी के रूप में पायी जाने वाली रचनाओं में प्रायः बावन अक्षरों की संख्या नहीं मिलती। संतों की दृष्टि से उस अद्वितीय तत्त्व का ज्ञान बावन अक्षरों में व्याप्त है।[५] कबीर साहब की 'ग्रन्थ बावनी' इस काव्य प्रकार की एक प्रसिद्ध रचना है।

इसी प्रकार संतों की केवल 'व्यंजनों' के प्रयोगों के अनुसार ज्ञान चौंतीसा नाम की रचनाएँ मिलती हैं जिन्हें 'ककहरा' नाम भी दिया गया है। अक्षरों के प्रयोग केवल नागरी लिपि तक सीमित नहीं प्रतीत होते। फारसी लिपि का व्यवहार करते

---

१ संत-काव्य—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०८।

२ संत-काव्य, पृ० ३८।

३ कबीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १९५।

४ संत-काव्य, पृ० ३९।

५ वा का ज्ञान अखरावति सारा। बावन अच्छर का विस्तारा॥—अखरावती कबीर साहेब, पृ० ४२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समय संतों ने ऐसी ही रचनाओं को 'आलिफ नामा' नाम भी दिया है। यारी साहब का आलिफ नामा एक ऐसी ही रचना है। इन काव्य रूपों का व्यवहार नाथपंथी साधकों ने भी किया होगा क्योंकि उनका लोक-प्रचलित रूप ही संत-काव्य में मिलता है।

संतों ने काल अथवा समय के पृथक-पृथक अंशों को लेकर भी कुछ रचनाएँ की हैं जिनकी परम्परा नाथपंथियों के पन्द्रह तिथि, सप्तवार शीर्षक रचनाओं से सम्बद्ध मानी जा सकती है।[१] संतों में संत रज्जबजी ने पन्द्रह तिथि नाम से रचना की है तथा सहजोबाई की 'सोलह तिथि निर्णय' नामक रचना भी मिलती है। सहजोबाई ने कहा है कि इन तिथियों के द्वारा मैं ज्ञान, भक्ति और योग कह रही हूँ।[२] इसी प्रकार कुछ संतों की 'बड़ी तिथियोग' तथा 'लघु तिथियोग'[3] सातवारों के नाम के प्रयोग को लेकर रचनाएँ मिलती हैं।

संतों के कतिपय काव्य रूप लोकगीतों से लिये गये भी प्रतीत होते हैं। इन रूपों में विशेषकर चांचर, बसंत, हिंडोला, कहरा, बेलि, बिरहुली अधिकांश रूप में संतों के द्वारा गृहीत हुए हैं। यद्यपि इन रचनाओं में लोकगीतों की छटा है फिर भी भाव की दृष्टि से ये काव्य रूप लोकगीत से भिन्न ही माने जायेंगे। 'कहरा' का रूप बिलकुल लोकगीतों जैसा ही है—

ओढ़न मेरे राम नाम के।
रामहि के बनिजारा हो॥
राम नाम के करौं बणिजारा।
हरि मोरे हरवाई हो॥
सहस्र नाम का करौं पसारा।
दिन दिन सेत सवाई हो॥
× × ×
कहहि कबीर सुनहु हो संतों।
जोर चला जहँ डाई हो॥

'बसंत' में ऋतु-वर्णन के स्थान पर संतों ने योग की बातों का गुम्फन किया है, 'बेली' में उपमान के द्वारा उपदेशात्मक भाव भरे गये हैं तथा 'बिरहुली' में आध्मात्मिकता के अनुरूप मायारूपी सर्प के काटने का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार 'विप्रमतीसी' के नाम से कबीर बीजक की एक विलक्षण रचना भी मिलती है

---

१ गोरखबानी, 'पन्द्रह तिथि' तथा 'सप्तवार' शीर्षक।
२ ज्ञान भक्ति और योग कूँ तिथि पैं करूँ बखान।—सहज प्रकाश, पृ० ४५।
३ (१) बड़ी तिथियोग, (२) लघु तिथियोग—संत हरिदास।
४ मूल बीजक—राम खिलावन गोस्वामी, सन् १९३८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसमें चौपाइयों की ३० अर्धलियाँ हैं और इसके अन्त में एक साखी द्वारा ब्राह्मणों को उनके न समझने पर दुत्कार देने का उपदेश दिया गया है।[1] मंगलकाव्य की परम्परा में कबीर के नाम तीन रचनाएँ 'आदि मंगल' 'अनादि मंगल' और 'अगाध मंगल' भी मिलती हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी मंगलकाव्य की परम्परा बंगाल से मानते हैं।[2]

संतों के इन काव्य रूपों का साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन किया जाना बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। विद्वानों का अनुमान है कि संतों ने अपने आस-पास के लोक-प्रचलित काव्य रूपों को अपनाया होगा और उनमें अपने उपदेशों को भरकर जनता के उपयोग के लिए प्रचारित किया होगा। संतों के इन लोक-प्रचलित काव्य रूपों का साहित्य में बहुत बाद में प्रवेश हुआ।[3] लोक-प्रचलित काव्य रूपों की परम्परा पर्याप्त पुरानी है इसमें दो मत नहीं हो सकते। नाथपंथी साधकों में भी उसका स्वरूप मिलता ही है।

भाषा

संतों की भाषा को सामान्य जनता की भाषा ही कहा जा सकता है। यद्यपि बहुत-से लोग संतों की भाषा को खिचड़ी व सधुक्कड़ी भाषा का नाम दे दिया करते हैं[4] किन्तु इस नामकरण के पीछे कोई भाषा-वैज्ञानिक कारण नहीं है। वस्तुतः संतों की भाषा पद सौष्ठव एवं साहित्यिक भाषा के बिलकुल अनुरूप नहीं है। उसमें शास्त्रीय परम्परा के बन्धन, व्याकरण एवं पिंगल का अभाव है किन्तु भावों को जन-समुदाय तक सरलता से पहुँचाने के लिए जिस भाषा का संतों ने प्रयोग किया है वह लोकरुचि के अनुकूल प्रतीत होती है। संतों की रचनाओं के प्रामाणिक संस्कारों का भी अभाव है जिसके आधार पर हम संतों की भाषा का मूल्यांकन कर सकते हैं।

कबीर के नाम से एक साखी इस रूप में प्रचलित है—

संसकिरत पंडित कहै बहुत करै अभिमान।
भाषा जानी तर्क करै तै नर मूढ़ अजान॥

सस्कृत भाषा के व्यवहार को उस समय सीमित रूप में पाकर ही संतों ने उसे 'कूप जल' की उपाधि दी प्रतीत होती है तथा भाषा को 'बहता हुआ नीर' माना है। बोलचाल की भाषा के द्वारा ही सिद्धों, नाथों और संतों ने अपनी परम्परा के

---

१ कबीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २०६।
२ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पंचम व्याख्यान, पृ० १०३।
३ वही, पृ० १०४।
४ संत-काव्य—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ११८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुसार अपने विचारों को सामान्य जन तक पहुँचाया है। लोक भाषा में हृदय को स्पर्श करने की प्रवृत्ति सबसे अधिक है, यही कारण है कि सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में साधनात्मक सुधारवादी आन्दोलन उसी का आश्रय लेकर उस समय बढ़ सका। संत-काव्य की भाषा इस दृष्टि से नाथपंथी परम्परा का निर्वाह करती है। नाथपंथी शब्दावली का व्यवहार तो संत-काव्य में हुआ ही है किन्तु कहीं-कहीं उनकी रचनाओं को संतों ने अपनी वाणियों में सम्मिलित भी कर लिया है।[1]

संत-काव्य की भाषा मिश्रित भाषा मानी जा सकती है। संतों के पहले नाथ-पंथी साधकों में भी अपने-अपने क्षेत्र की क्षेत्रीय भाषा का व्यवहार मिलता है। वे ही क्रियापद, कर्ता तथा विशेषण बोलियों के अनुरूप परिवर्तित होते रहे हैं।

संतों की रचनाएँ बहुत समय तक लिपिबद्ध नहीं हुईं अतएव जिन स्थानों पर उनका प्रचलन हुआ उनमें स्थानीय प्रभाव का हो जाना कोई असामान्य बात नहीं है। संतों की भाषा का यह रूप निम्नलिखित कारणों से हुआ होगा ऐसा प्रतीत होता है—

(१) संत विभिन्न क्षेत्रों के निवासी थे तथा विविध बोलियों के ज्ञाता थे।

(२) संत अधिकतर अशिक्षित अथवा अर्द्ध-शिक्षित व्यक्ति ही हुए हैं जिन्हें अपने अनुभव पर अधिक विश्वास था।

(३) संतों ने भाषा से अधिक अपने भावों को महत्त्व दिया है।

(४) संत भ्रमणशील थे अतएव अपने उपदेशों को स्थानीय लोगों तक पहुँचाने में वहीं के शब्दों का प्रयोग उन्हें करना पड़ता होगा।

(५) संतों के अनुयायी उनकी रचनाओं के स्वरूप को मनमाने ढंग से प्रयोग करते थे क्योंकि इनकी रचनाएँ अलिखित ही रही हैं।

इन कारणों को ध्यान में रखते हुए संतों की भाषा के मौलिक रूप का अध्ययन करना दुष्कर कार्य है किन्तु जिस रूप में संतों की भाषा आज उपलब्ध है उसमें कुछ सम्मिश्रण अवश्य है, इसमें मत विभिन्नता नहीं है।[2] डा० रामकुमार वर्मा का यह मत उचित ही प्रतीत होता है कि संत-काव्य की भाषा का रूप अत्यन्त अस्थिर और अप्रामाणिक बन गया। पन्द्रहवीं शताब्दी में कही हुई संत कबीर की रचना वर्तमान भाषा के रूप में कहीं-कहीं पढ़ने को मिल जाती है।[3]

संतों की भाषा पर लोक-जीवन का प्रभाव अधिक प्रतीत होता है। उन्होंने साधारण प्रतीकों, प्रचलित मुहावरों, लोकोक्तियों को अपनी भाषा में स्वीकार किया है। कहीं-कहीं अपरिचित शब्दों का भी प्रयोग संतों की भाषा में मिलता है किन्तु उन्हें

---

१ **गोरखबानी**, पृ० ७३, १०६, १०८; **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० २०२ १५४, १४२।

२ **संत-काव्य**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ११६।

३ **हिन्दी साहित्य**, द्वितीय खण्ड, पृ० २३६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वे अपने आध्यात्मिक ढंग में रँगकर अपने अनुकूल बनाते से प्रतीत होते हैं।[१] श्री परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि संतों की भाषा में जो विकृति मिलती है वह सप्रयोजन नहीं मानी जा सकती है। संतों की अभिव्यक्ति के पीछे आनन्द का कोई उत्स काम करता हुआ प्रतीत होता है जिस कारण उनके अल्हड़ प्रयत्न भी कुछ अनोखे परिणाम लाते दीख पड़ते हैं, और इस प्रकार उनके टूटे-फूटे शब्दों तथा अटपटी वानियों में भी हमें स्वाभाविकता की शक्ति और अकृत्रिमता के सौंदर्य का आभास होने लगता है।[२]

संतों का कार्यक्षेत्र भाषा की दृष्टि से बहुत बटा हुआ है। कुछ संत भोजपुरी क्षेत्र में हुए[३], कुछ अवधी क्षेत्र में[४], कुछ पंजाबी क्षेत्र में[५] तथा कुछ राजस्थानी[६] और ब्रजभाषा खड़ीबोली क्षेत्र में।[७] संतों की इतनी क्षेत्रीय विभिन्नता होने के बाद भी संतों की भाषा में वर्णनशैली की दृष्टि से सर्वत्र एकरूपता दृष्टिगोचर होती है किन्तु क्रियापद एवं कारक चिह्नों की दृष्टि से अवश्य अन्तर मिलता है। एक कबीर साहब की रचनाओं में ही विभिन्न क्षेत्रों का प्रभाव मिलता है। कहीं-कहीं एक ही पद में पाठभेद के कारण क्रियापदों में अन्तर आ गया है तथा उसी पद को हम अवधी, पुरानी खड़ी बोली तथा ब्रज कह सकते हैं। इस प्रकार के उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि संतों की भाषा का एक ही प्रामाणिक रूप नहीं है।

संतों की कुछ रचनाओं में फारसी भाषा एवं शब्दों का प्रयोग भी पाया जाता है। कबीर ग्रन्थावली का यह पद तथा कतिपय अन्य पदों से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

रे दिल खोजि दिलहर खोजि, ना परि परेसानी मांही।
महल माल अजीज़ औरति, कोई दसा गीरी क्यूं नांहि।।[८]

× × ×

खालिक हरि कहीं दर हाल।
पंजर जसि करद दुसमन मुख करि बैमाल।।[१०]

---

१ जियरा जाहि गौ मैं जाना।
जो देख्या सो बहुरिन पेख्या, मारी सूं लपटाता।—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११६।

२ संत-काव्य, पृ० १२०।

३ कबीर, रैदास, बुल्ला, गुलाल, भीखा, धरनी, शिवनारायन, कमाल, दरिया आदि।

४ मलूकदास, जगजीवन, दूलन, पलटू आदि।

५ गुरुनानक, अंगद, अमरदास, रामदास, गुरुअर्जुन, बाबूलाल, गरीबदास आदि।

६ दादू, रज्जब, सुन्दरदास, रामचरण, पीपा आदि।

७ तुलसी साहब, शिवदयाल, यारी साहब आदि।

८ कबीर बीजक, पद ७३, पृ० ५४; 'आदि ग्रन्थ राग सोरठि' पद २; कबीर ग्रन्थावली, पद २४१, पृ० १६९-७०।

९ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १७५।

१० वही, पृ० १७५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संतों की लगभग ८० प्रतिशत भाषा को भाषा व्याकरण के अनुसार अशुद्ध माना जाता है, उनमें बहुत-कुछ अंश शुद्ध एवं सुधरी हुई भाषा का मिलता है। जब तक संत-काव्य के प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध नहीं होते तब तक संतों की भाषा के विषय में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। किन्तु यह तथ्य भी उतना महत्त्वपूर्ण है कि संतों ने अपने भावों को यथावत और उपयुक्त शब्दों में व्यक्त करते रहने की सदैव चेष्टा की है। संत-काव्य की भाषा विकासशील अवस्था की भाषा कही जा सकती है। संतों ने साहित्यिक भाषा की अवहेलना कर लोक-प्रचलित बोलियों में अपने भावों को व्यक्त किया है। संतों का यह प्रयत्न सम्भवतः उनके दृष्टिकोण के कारण भी माना जा सकता है। साहित्यिक तथा परिमार्जित स्थिति की कृत्रिमता से असम्बद्ध रहकर संतों ने विकासशील रूप को ग्रहण किया है किन्तु उससे भाषात्मक दोषों से मुक्ति सम्भव नहीं है। संतों की भाषा सदोष मानी जायगी।

गुणगत रमणीयता को ध्यान में रखते हुए संतों की रचनाओं में माधुर्य एवं प्रसाद गुण मिलते हैं यद्यपि शास्त्रीय ढंग से संतो की रचनाओं पर विचार नहीं किया जा सकता। संतों ने गुणों का अध्ययन नहीं किया था किन्तु उनकी वाणी आत्मा की मुखर अभिव्यक्ति है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। शब्दों के मधुर वर्णों की योजना भी संतों में मिलती है किन्तु उसे प्रयत्नजः नहीं माना जा सकता है। कुछ उदाहरण निम्नलिखित रूप में मिल सकते हैं—

माधुर्य : **पंथु निहारे कामिनी लोचन भर ले उसासा।**
उरन भीजै पथ नाहरि दर्शन की आशा॥[1]

× × ×

रे मन जाहि जहाँ तोहि भावै।
अब न कोई तेरे अंकुस लावै॥[2]

× × ×

बरसहु राम सदा सुष अमृत, नीझर निर्मल धारा।
प्रेम पियाला भरि भरि दीजै, दादूदास तुम्हारा॥[3]

प्रायः भक्ति की विह्वलता में कठिन वर्णों का प्रयोग जब नहीं होता तब माधुर्य गुण का कुछ रूप देखने को मिल जाता है।

प्रसाद—संतों की उपदेशपूर्ण तथा सुधारात्मक उक्तियाँ प्रसादगुण सम्पन्न मानी जा सकती हैं। ऐसी उक्तियाँ प्रायः खड़ी बोली में मिलती हैं, उनकी भाषा सरल और स्पष्ट होती है। कबीर के दो उदाहरण इस सम्बन्ध में दृष्टव्य हैं—

---

१ कबीर की विचारधारा, पृ० ३७० ।
२ संत-काव्य—कबीर, पृ० १७७ ।
३ संत-काव्य—दादू, पृ० २८५ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कस्तूरी कुन्डलि बसै, मृग ढूँढै बन माँहि ।
ऐसे घटि घटि राम हैं, दुनिया देखे नाँहि ॥[1]

× × ×

यहु तन काचा कुम्भ है, चोर चहुँ दिसि खाई ।
एक राम के नांव बिन, जदि तवि भूलै जाई ॥[2]

छन्द

संतों को छन्द प्रयोग के भेद तथा उपभेद का ज्ञान था यह नहीं कहा जा सकता । सुन्दरदास, रज्जब, पलटू, गरीबदास और गुरु गोविन्दसिंह को छोड़कर शेष संतों ने प्रायः प्रचलित साखी और शब्द में ही अपनी रचना की है । साखी दोहा[3] का ही संतों द्वारा प्रयुक्त नाम माना जा सकता है । दोहा मात्रिक छन्द है जिसमें विषम चरणों में १३ तथा सम चरणों में ११ मात्राएँ रहा करती हैं कुल २४ मात्राएँ होती हैं तथा इसके पहले और तीसरे चरणों में जगण से प्रारम्भ नहीं होना चाहिए । दूसरे और चौथे सम चरणों में लघु का आना भी आवश्यक है । दोहा की उत्पत्ति कुछ लेखकों ने दोधक से मानी है तथा दूसरी ओर यह भी विद्वानों का अनुमान है कि दोहा लोक-प्रचलित छन्द रहा होगा जो उत्तरकालीन अपभ्रंश का प्रमुख छन्द था ।[4] राजस्थानी दूहा, पंजाबी सिलोक तथा साखी इसी दोहे के प्रयोगगत भेद प्रतीत होते हैं । संतों ने साखी को अनेक अंगों में विभाजित किया है ।

कबीर की साखी और ढोलामासरा दोहों में कई दोहे प्रायः एक से ही हैं ।[5] विषय को छोड़कर उनमें इतनी अधिक एकरूपता मिलती है जिनसे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि संतों ने लोक-प्रचलित दोहे को स्वीकार कर लिया था किन्तु जिसका शुद्ध निर्वाह भी उनकी रचनाओं में नहीं मिलता ।

संतों में साखी के साथ-साथ शब्द अथवा गेयपदों का भी प्रयोग मिलता है । छन्द की दृष्टि से संतों के इन गीतों का कोई एक आधार नहीं प्रतीत होता । कभी वे आकार में छोटे हैं तो कभी बढ़े हैं । कबीर के समय तक पद अथवा गीत का प्रचलन हो चुका होगा,[5] संतों ने उन्हें अपनी परम्परा के अनुरूप ग्रहण कर लिया है । संतों ने तो अपने छन्दों को गीत भी कहना स्वीकार नहीं किया, कबीर के इस कथन से ऐसा ही अनुमान लगाया जा सकता है—

---

[1] कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८१ ।
[2] वही, २४ ।
[3] हिन्दी साहित्य कोश, (दोहा, साखी), पृ० ३४३ ।
[4] काव्यरूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे ।
शीर्षक कबीर के मुक्तक और राजस्थानी काव्य ढोलामासरा दूहा, पृ० ३९४ ।
[5] पद गांऐ मन हरषिया, साखी कह्या अनंद ।
सोतत नांव न जाणियां, गल में पडिया फंद ॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३८ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तुम जिनि जानो गीत है यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समुझाइया, आतम साधन सार रे।[1]

संतों के एक ही पद के अन्तर्गत अनेक प्रकार के छन्दों का समावेश मिलता है[2] उनमें किसी शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह नहीं मिलता जो उनके स्वभाव के अनुकूल ही प्रतीत होता है। रीति मुक्तस्थिति के साधक इस दृष्टि से किसी छन्द के बन्धन को स्वीकार नहीं करते। उनके कतिपय गीत अत्यन्त सुन्दर एवं लोक-प्रचलित माने जा सकते हैं।

संतों में साखी तथा पद के साथ-साथ रमैनी का भी प्रचलन मिलता है। रमैणी दोहा चौपाइयों का सम्मिलित रूप है।[3] दोहा का परिचय 'साखी' संदर्भ में दिया जा चुका है, चौपाई भी एकमात्रिक छन्द है इसमें चार चरण होते हैं जिनमें प्रत्येक में १६ मात्राएँ होती हैं और इसके दोनों चरणों को अर्धाली कहा जाता है।[4]

संतों में इन छन्दों के अतिरिक्त सवैया, कवित, छप्पय, अरिल्ल, कुण्डलियाँ और त्रिभंगी, बरवै आदि छन्दों के प्रयोग भी मिलते हैं।[5] इनमें से कतिपय छन्द राग-रागनियों में प्रयुक्त होने से लोक में प्रचलित रहे होंगे ऐसा प्रतीत होता है किन्तु संतों के छन्दों पर पिंगल शास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाना उनके दृष्टिकोण के कारण बहुत उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। संतों की रचनाएँ छन्द की दृष्टि से लोकगीतियों, लोक-प्रचलित छन्दों का ही प्रतिनिधित्व करती हैं उनका हम विषय की दृष्टि से वर्गीकरण तो कर सकते हैं किन्तु वस्तु की दृष्टि से उनके दोष अनेक हैं। संतों ने छन्दों अथवा काव्यशास्त्र के नियमों की कभी चिन्ता नहीं की। वस्तुतः संतों के छन्द उनके भाव के अनुगामी हैं, उन्हें छन्द के बन्धन में बिठाकर काव्य-रचना करना संतों का हेतु प्रतीत नहीं होता। काव्य रूपों में जिन छन्दों को ग्रहण किया गया है वे नाथपंथी प्रभाव से मुक्त नहीं माने जा सकते, यह परम्परागत रूप ही कहा जायेगा।

अलंकार

डा० रामकुमार वर्मा का यह कथन उपयुक्त ही प्रतीत होता है कि जब संत कवियों में काव्योत्कर्ष ही नहीं था तो अलंकारों का साभिप्राय प्रयोग उनकी

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८६।

२ वही, पद १३, पृ० ६२।

३ रमैनी की रचना दोहों, चौपाइयों में की गयी पायी जाती है और इनका विषय भी प्रधानतः वर्णनात्मक है। दोहा, चौपाइयों का यह प्रयोग भी हमें अपभ्रंश भाषा अथवा साहित्य की ही देन समझ पड़ता है यद्यपि इसका नाम वहाँ पर भिन्न है।—परशुराम चतुर्वेदी, कबीर साहित्य की परख, पृ० १६५।

४ हिन्दी साहित्य कोश, (चौपाई), पृ० २६०।

५ सुन्दर विलास—संत सुन्दरदास।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रचनाओं में आ ही नहीं सकता।[१] किन्तु जिस प्रकार विभिन्न काव्य रसों का स्वाद हमें संतों की रचनाओं में मिलता है उसी प्रकार कतिपय अलंकारों का सौन्दर्य भी हमें संत-काव्य में मिल जाता है। संतों ने अलंकारों का प्रयोग अपने विचार निरूपण में किया है।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि संतों का उद्देश्य अपने विचारों को साधारण लोगों तक पहुँचाना भी था इसलिए वे गूढ़ विषयों की चर्चा करते समय प्रतीकों का आश्रय लेने तथा अन्य दृष्टान्तों आदि के द्वारा वे अपने उपदेशों को भलीभाँति प्रस्तुत करने में प्रयत्नशील प्रतीत होते हैं। अलंकारों का जितना भी प्रयोग संत-काव्य में मिलता है उसका हेतु अपने विचारों का स्पष्टीकरण तथा रोचकता का समावेश ही माना जा सकता है। संतों की रचनाओं में मिलने वाला अलंकार-विधान ऊपर से लादा हुआ नहीं माना जा सकता यद्यपि जहाँ पर संतों ने सप्रयत्न उसका व्यवहार किया है वहाँ वह कृत्रिम और अनुपयुक्त ही प्रतीत होता है।[३] रीतिकाल[४] के मध्य होने वाले संतों की और पूर्ववर्ती संतों की प्रवृत्तियों में इस सम्बन्ध में कुछ भेद होना स्वाभाविक भी है फिर भी संत-काव्य में अर्थालंकारों का ही प्रयोग अधिक रूप में मिलता है। संतों के अर्थालंकार आध्यात्मिक अभिव्यक्ति में सहायक प्रतीत होते हैं। इस प्रकार गूढ़ एवं अप्रस्तुत रूपों की अभिव्यक्ति में ही संतों में अलंकारों का प्रयोग विशेष दृष्टव्य है जो प्रतीकात्मक ढंग से प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करने के लिए प्रयोग में लाये गये हैं। आध्यात्मिक तत्त्वों की स्थूल अभिव्यक्ति एक कठिन कार्य है उसका स्पष्टीकरण दृष्टांत के द्वारा किया गया है जिसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। आनन्दातिरेक में विह्वल संतों की वानियों में यमक, अनुप्रास आदि का स्वरूप भी मिल जाता है। संतों की रचनाओं में मिलने वाले मुख्य अलंकार निम्नलिखित माने जा सकते हैं—

अर्थालंकार—रूपक, विभावना, अन्योक्ति, अर्थांतरन्यास, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, एकावली, काव्यलिंग, उपमा, अनन्योपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, विचित्र, विषय, व्यतिरेक, कारणमाला, क्रम, परिणाम, भेदकातिशयोक्ति, लोकोक्ति।

शब्दालंकार—अनुप्रास, यमक, विप्सा, निर्मात्रिक।

इस संदर्भ में कुछ उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं। कबीर का निम्नलिखित ज्ञान की आंधी का एक रूपक दृष्टव्य है—

संतों भाई आई ज्ञान की आंधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उड़ाणो, माया रहे न बांधी॥

---

१ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खंड, पृ० २३४।
२ वही, पृ० २३४।
३ संत-काव्य, पृ० ७७।
४ हिन्दी साहित्य का रीतिकाल (१७००–१६००)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिति चित की द्वै थूनी गिरानी, मोह बलींदा टूटा ।
त्रिस्ना छांनि परी घट ऊपरि, कुबधि का भांडा फूटा ।।
जोग जुगति करि संतौ बाँधौ, निरचू चुवै न पाणी ।
कूड कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जाणी ।।
आँधी पीछे जो जल बूठा, प्रेम हरीजन भीना ।
कहै कबीर मान के प्रगटै उदित भया तम्र खीना ।।[1]

संत रज्जब का यह मत और हाथी का रूपक इस प्रकार है—

मन हस्ती मैला भया, आप वाहि सिर धूरि ।
रज्जब रज क्यूं अतरै, हरि सागर जल दूर ।।[2]

पलटू घुड़सवार का रूपक इस प्रकार बाँधते हैं—

बखतर पहिरे प्रेम का घोड़ा है गुरु ज्ञान ।
पलटू सुरति कमान ले जीति चले मैदान ।।[3]

संतों में रूपक का प्रयोग परम्परागत मिलता है । सिद्धों के कतिपय रूपक बदली हुई भावधारा के अनुसार संतों में भी ग्रहण कर लिये गये प्रतीत होते है[४] किन्तु वे संतों की मौलिक आध्यात्मिक भावधारा के ही स्पष्ट उदाहरण माने जायेंगे । संत कबीर तक आते-आते रूपक योजना जिस रूप में आगे व्यवहृत हुई वह संतों की अपनी मौलिक उद्भावना ही है । सिद्धों की अपेक्षा नाथपंथी रूपकों का प्रभाव विचार-साम्य की दृष्टि से संत-काव्य में अधिक पाया जाता है । पवन को घोड़ा मानकर गोरखनाथ की एक सबदी इस प्रकार है—

सहज पलांग पवन का घोड़ा, लै लगाम चित चवका ।
चेतनि असि बार ग्यान गुरु करि और तजौ सब दबका ।।[५]

कबीर ने उसी रूपक को सविस्तार इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

देह मुहार लगामु पहिरावउ । सगलत जीन गगन दहरावउ ।।
अपनै वी चारि असवारी कीजै । सहज कै पावड़ै पगु धरि लीजै ।।
चलिरे बैकुण्ठ तुझरि लै तारउ । हित हित प्रेम के चाबुक मारउ ।।
कहत कबीर भले असवारा । वेद कतेब तै रहै विनारा ।।[६]

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६३ ।
२ रज्जबजी की बानी, पृ० ३२७ ।
3 पलटू साहब की बानी, पृ० १०४ ।
४ सिद्ध साहित्य (वीणापा तथा कबीर के तूँबा का रूपक), पृ० ४५७ ।
५ गोरखबानी, पृ० १०३ ।
६ संत कबीर, पृ० ३३ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संतों में और विशेषकर कबीर में रूपकों का अत्यन्त विस्तृत और स्वाभाविक चित्रण मिलता है। डा० त्रिगुणायन कबीर के रूपकों की तुलना कवि कालिदास की उपमा से करते हैं।[१] इस दृष्टि से यद्यपि कबीर के रूपकों पर विचार नहीं किया जा सकता फिर भी कबीर के रूपकों में विषय और वस्तु की दृष्टि से पर्याप्त नवीन अभिव्यक्ति मिलती है। कबीर में पाये जाने वाले मुख्य रूपकों में तंत्री का रूपक, कलाली का रूपक, विवाह का रूपक, सुमेर का रूपक, घोड़ा सवार का रूपक, ताला कुंजी का रूपक, चोर का रूपक, नाथपंथी परम्परा से सम्बद्ध हैं। फिर भी जितनी सफल अभिव्यक्ति संतों में मिलती है उतनी परवर्ती साधकों की रचनाओं में नहीं मिलती। संतों में सांगरूपक तथा अभेद रूपकों के उदाहरण स्पष्ट हैं।

इसी प्रकार ब्रह्मनिरूपण में संतों में प्रायः विभावना अलंकार का प्रयोग मिलता है। कारणों के अभाव में भी कार्यों के घटित होने की कल्पना की गयी है—

बिन मुख खाई चरन बिन चाले बिन जिभ्या गुण गावै।[२]

× × ×

बिन जल कवला विगसेऊ, बिना भँवर गुंजार।
नाभि कंवल जोती बरै तिरवैनी उजियार॥[३]

संतों में अन्योक्तियों का प्रयोग भी पर्याप्त रूप में मिलता है। हिन्दी में कबीर की अन्योक्तियों का अपना विशेष स्थान है। अन्योक्ति में संतों ने मानव-जीवन के अनेक प्रसंगों को दूसरों के ऊपर ढाल कर प्रकट किया है। यथा—

काहेरी नलिनी तू कुमिलानी।
तेरे ही नाल सरोवर पानी॥[४]

× × ×

बाढ़ी आवत देखकर, तरवर डोलल लाग।
हम कटै की कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग॥[५]

× × ×

नीर पिलावत क्या फिरै, सागर घर घर वारि।
जो त्रिषावंत होइगा, सौ पीवेगा झषमार॥[६]

× × ×

रज्जब बूंद समंद की, किन सरकै कह जाय।
साझा सकल समंद सौं, ज्यू आतम राम समाय॥[७]

---

[१] कबीर की विचारधारा, पृ० ३६७।
[२] कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४०।
[३] गुलाल साहब की बानी, पृ० १४१।
[४] कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०८।
[५] वही, पृ० १२।
[६] वही, पृ० ६१।
[७] रज्जब जी की बाणी, पृ० ८१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपमा की दृष्टि से भी संतों की वाणियों में पर्याप्त सामग्री मिलतो है। कबीर, सुन्दरदास, चरणदास आदि की उपमा मर्मस्पर्शी एवं प्रभावी मानी जा सकती है—

हाड़ जलै ज्यूं लाकड़ी, केस जलै ज्यूं घास।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास॥[1]

× × ×

सत गुरु शब्दी लागिया, नावक का सा तीर।
कसकत है निकसत नहीं, होत प्रेम की पीर॥[2]

उत्प्रेक्षा की दृष्टि से सुन्दरदास की कामिनी की देह की यह उत्प्रेक्षा वस्तु उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत आती है—

कामिनी की देह मानौ कटि बस घन बन,
ऊहां कोऊ जाई सुनौ भूलि कै परतु हैं।
कुंजर हैं गति करि के हरि को भय जा में।
बेनी काली नाग नीऊ फनकों घटतु हैं॥
कुच है पहार जहाँ काम जोर रहै तहाँ,
साधि कै कटाक्ष बान प्राण को हरतु हैं।
सुन्दर कहत एक और डर अति तामें,
राक्षस बदन षाऊं षाऊं ही करत है॥[3]

शब्दालङ्कार के अन्तर्गत छेका तथा वृत्यानुप्रास के भी उदाहरण संतों की रचनाओं में मिलते हैं।[4]

इन कतिपय उदाहरणों को प्रस्तुत करने का हेतु यही है कि काव्योत्कर्ष से दूर संतों की असाहित्यिक प्रवृत्ति में भी अनेक अलंकारों का सुन्दर रूप अनायास ही मिल जाता है, वस्तुतः प्रकृत काव्य के लक्षणों में यह अलंकार-विधान एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। संत-काव्य और उनके काव्यपक्ष का यह संक्षिप्त परिचय नाथपंथी रचनाओं की तुलना में हिन्दी कविता की ऐतिहासिक परिस्थिति को भलीभाँति प्रकट कर सकता है। संतों की अभिव्यक्ति इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जायगी।

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० २२।
२ चरणदास की वाणी, पृ० ३।
३ सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ८७।
४ कबीर ग्रन्थावली, पद १६८, पृ० १४४; सुन्दर ग्रन्थावली, पद १५, पृ० ४००।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खण्ड ३

प्रभाव एवं संस्कृति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

९

नाथपंथी प्रवृत्तियाँ तथा शब्दावली और संत-काव्य

संत-काव्य काव्य कौशल प्रदर्शित करने के उद्देश्य से नहीं लिखा गया, न संतों ने इसकी रचना परमात्मा के केवल गुणगान के रूप में की है। वह आत्मचिन्तन तथा स्वानुभूतिपरक है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। संतों की रचनाओं में अपने ही पारिभाषिक शब्दों का प्रायः प्रयोग मिलता है, किन्तु जैसा कि पिछले प्रकरणों से स्पष्ट है, संतों की शैली, काव्य रूप प्रतीक, छन्द तथा रूपक योजना आदि, नाथपंथी साधकों की ही परम्परा में अग्रसर हुए प्रतीत होते हैं। नाथपंथी शब्दों का अर्थ विकास संतों की रचनाओं में हुआ है किन्तु नाथपंथी शब्दावली भी किसी न किसी रूप में बज्रयानी सिद्धों की शब्दावली से सम्बद्ध है, यह भी विचारणीय बात है।[१] संतों की अपनी देन निश्चित ही इन सबसे पृथक है। संतों ने यद्यपि अपनी भावना को निर्गुण भक्ति के नाम से व्यक्त किया है किन्तु साधना के क्षेत्र में अपनी प्राचीन परम्परा से वे बिलकुल ही असम्बद्ध नहीं हुए हैं। नाथपंथी प्रवृत्तियों के रूप में जो शब्दावली उन्हें उपलब्ध थी, संत-काव्य में उसका निश्चित विकास हुआ है। सिद्ध साहित्य, नाथपंथी रचनाएँ तथा संतों की वानियाँ अभिव्यक्ति की दृष्टि से एक ही परम्परा के अन्तर्गत आती हैं, किन्तु शैलीगत साम्य को छोड़कर इन तीनों के तत्त्वचिन्तन एवं रूप में पर्याप्त भेद भी है, यह भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इस अध्याय में संत-काव्य में प्रचलित शब्दावली की दृष्टि से कुछ विचार किया जाना उपयुक्त होगा।

नाथपंथी रचनाओं की प्रामाणिकता संदिग्ध है। 'गोरखवानी' में संगृहीत गोरखनाथ की रचनाएँ उन्हीं के द्वारा रचित तथा उन्हीं के युग की हैं इसके भी हमारे पास कोई प्रमाण नहीं हैं, किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि उनमें प्राचीनता के

१ **नाथ सम्प्रदाय**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ९८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रमाण भी मिलते हैं।[1] ऐसी स्थिति में नाथपंथी शब्दावली से हमें केवल थ पंथ की प्रवृत्तियों का ही बोध हो सकता है। नाथ पंथ एक साधना प्रधान पंथ माना गया है जिसका मिश्रित स्वरूप ही प्रायः विद्वानों के सामने है।[2] उसकी प्रवृत्तियों का आभास नाथपंथी रचनाओं में प्रयुक्त शब्दावली के द्वारा ही भलीभाँति हो जाता है। संतों ने उन्हें कहीं यथातथ्य, कहीं परिवर्तित रूप में तथा कहीं बिलकुल ही भिन्न रूप में स्वीकार किया है। नाथपंथी प्रवृत्तियों के वाचक शब्द प्रधानतः हठयोग की साधना तथा आचार प्रधान जीवन से सम्बन्धित हैं, तथापि कहीं-कहीं उनकी उद्भावना किसी अवस्था विशेष अथवा प्रवृत्ति विशेष की सूचक भी है। नाथपंथी साधना की आधार-शिला काया की साधना है, यह प्रायः सर्वमान्य मत है। पिण्ड में ही ब्रह्मांड की कल्पना कर नाथपंथी साधक उसकी अनेक प्रक्रियाओं को विशेष शब्दों से सम्बोधित करते थे। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना के द्वारा नाड़ियों की साधना भी हठयोग के अन्तर्गत आती है जिसके लिए षटचक्रों, सहस्रार तथा कुण्डलिनी आदि का विस्तृत परिचय उनकी शब्दियों से मिलता है। पंचतत्त्व धारणा भी उनकी साधना में सहायक थी। पवन निरोध के लिए भी उन्होंने उपदेश दिये हैं। अजपाजाप योग साधना में प्रारम्भिक महत्त्व की वस्तु माना गया है। उसी प्रकार सुरति-निरति के द्वारा साधना का एक दूसरा अनुभवप्रसूत स्वरूप भी मिलता है। श्वास निरोध की साधना को उलटी साधना के रूप में नाथपंथियों ने ग्रहण किया है, किन्तु अन्ततोगत्वा गंगा-यमुना संगम अथवा त्रिवेणी संगम ही योगी का लक्ष्य रहा है यह भी नाथपंथी शब्दावली से स्पष्ट है। सहजशून्य की साधना भी नाथपंथियों का लक्ष्य है, कहीं-कहीं नारी को लेकर उसके प्रति एक तीव्र विरोध का भाव भी मिलता है। अन्त में निर्वाण के स्वरूप पर भी नाथपंथी साधकों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। अमृत की प्राप्ति अथवा अमरत्व का बोध भी इस साधना के द्वारा उन्हें हुआ है। गुरु के बिना यह साधना सम्भव नहीं है, यह भी उनकी स्पष्ट धारणा थी। नाथपंथी वानियों में अपनी इन प्रवृत्तियों का प्रतीकात्मक अथवा सांकेतिक वर्णन सर्वत्र मिलता है जिसके आधार पर साधक उसमें निहित भाव अथवा अभिव्यक्ति को सहजरूप में ही हृदयंगम कर सकता होगा।

हठयोग की साधना में यह सांकेतिक शब्दावली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी गयी है। निर्गुण संत कवियों के साहित्य में भी हम उसी साधना के सांकेतिक शब्दों को व्यवहृत पाते हैं। ऐसी स्थिति में यह सांकेतिक शब्दावली परम्परागत महत्त्व की

---

१ 'ये रचनाएं जैसी हमें उपलब्ध हो रही हैं, ठीक वैसी ही उस समय की हैं यह नहीं कहा जा सकता किन्तु इनमें भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं।
—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, गोरखवानी, भूमिका, पृ० २०।

२ मध्यकालीन धर्मसाधना—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ८१।

३ कबीर की उलटबासियाँ और योगात्मक रूपकों की कुंजी के समान इन सांकेतिक शब्दों को नहीं भूलना चाहिए।—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० ४६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सूचक है। संत-काव्य में जिस नाथपंथी शब्दावली का प्रयोग हुआ है वह अपने पूर्ववर्ती सिद्ध साहित्य से किस रूप में सम्बद्ध है इस पर भी विचार किया जाना उपयुक्त होगा।

सिद्ध शब्दावली और नाथपंथी प्रवृत्तियाँ

वज्रयानी शब्दों की परम्परा संत-काव्य में भी किसी-न-किसी रूप में मिलती है। यद्यपि सिद्ध साहित्य[1] का सीधा सम्बन्ध संत कवियों से नहीं माना जा सकता किन्तु भारतीय लोक चिन्ता के माध्यम से सिद्धों की शब्दावली उन तक पहुँची अवश्य है। मध्ययुग में जिस नाथपंथी साधना ने तत्कालीन भारतीय धर्मसाधना को प्रभावित किया था उसके फलस्वरूप सिद्ध शब्दावली लोक-जीवन में विभिन्न माध्यमों से ग्रहण कर ली गयी। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह मत उपयुक्त ही प्रतीत होता है कि महायान सम्प्रदाय की अनेक विशेषताएँ उत्तर भारत के हिन्दू धर्म में रह गयी हैं और बौद्धतत्त्व-वाद, जो निश्चित ही बौद्ध आचार्यों की चिन्ता की देन था मध्ययुग के हिन्दी-साहित्य के उस अंग पर अपना निश्चित पदचिह्न छोड़ गया है जिसे 'संत साहित्य' नाम दिया गया है।[2] सहजयानी सिद्धों के तत्त्ववाद पर विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। सामान्यतः जिस शब्दावली का लोक-जीवन में प्रचलन हुआ था तथा जिसका नाथ-पंथी प्रवृत्तियों से निकट का सम्बन्ध है उन्हीं पर यहाँ विचार किया जा सकता है। शून्य[3], वज्र[4], खसम[5] तथा सहज[6] इन मुख्य वज्रयानी शब्दों की परम्परा नाथपंथी प्रवृत्तियों में विकसित होती हुई प्रतीत होती है किन्तु उद्देश्य की भिन्नता के कारण वही शब्दावली भिन्नार्थों में भी प्रयुक्त हुई है। वज्रयानी शब्दों की परम्परा के साथ-साथ साधना प्रधान पंथों में हठयोग आदि की क्रियाओं के लिए भी जिस शब्दावली का उपयोग किया गया है यह वहाँ विशेष अर्थों में प्रयुक्त हुई प्रतीत होती है। यही कारण है कि शैली की दृष्टि से शब्द-योजना में जो एक प्रकार की समानता मिलती है, भाव तथा साधना की दृष्टि में उसमें पर्याप्त अन्तर है। शब्दों की परम्परा के रूप में प्रस्तुत यह विवेचन इस तथ्य को स्पष्ट करने में सहायक होगा।

---

१ सिद्ध साहित्य से हमारा तात्पर्य वज्रयानी परम्परा के उन सिद्धाचार्यों के साहित्य से है जो अपभ्रंश दोहों तथा चर्यापदों के रूप में उपलब्ध हैं और जिसमें बौद्ध तान्त्रिक सिद्धान्तों को मान्यता दी गयी है।
—डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० १९।

२ हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १०।

३ सिद्ध साहित्य, पृ० ३३६।

४ वही, पृ० ३५९।

५ वही, पृ० ३६२।

६ वही, पृ० ३६७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शून्य—डा० धर्मवीर भारती ने शून्य के सम्बन्ध में लिखा है कि 'सिद्धों के समस्त तत्त्वज्ञान की मूलभित्ति विज्ञानवाद की शून्य कल्पना थी जिसमें शून्य को तथतारूप माना गया था। बौद्ध सिद्धों ने अपनी प्रज्ञोपाय योग प्रणाली में इसी शून्य को नैरात्म्य बालिका, प्रज्ञा या महामुद्रा रूप में ग्रहण किया और साथ ही महासुख चक्र में इस शून्यता की स्थिति मानी।[1] भारतीय तत्त्वचिन्तन में प्रयुक्त शून्य शब्द का अध्ययन अत्यन्त मनोरंजक है, जितनी तीव्रता से इसका इस क्षेत्र में प्रचार हुआ उतने ही इसके अर्थ किये गये प्रतीत होते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि बहुत पहले से शून्य अबौद्ध परम्पराओं में परमतत्त्व की एक संज्ञा के रूप में परिकल्पित कर लिया गया था। शून्य अथवा शून्यवाद की कोई भी चर्चा हमें उपनिषद में नहीं मिलती। महाभारत में भीष्म ने विष्णु के सहस्रनामों का उपदेश देते हुए उनका एक नाम शून्य भी बताया है।[2] स्वामी शंकराचार्य ने उस नाम की व्याख्या करते हुए बताया है कि समस्त विशेषणों, गुणों तथा प्रवृत्तियों से रहित होने के कारण वह शून्यवत हैं।[3] बौद्ध विचारधारा में इस शब्द का विशेष महत्त्व नागार्जुन के शून्यवाद के पश्चात् हुआ प्रतीत होता है। नागार्जुन ने शून्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि इसे शून्य भी नहीं कह सकते अशून्य भी नहीं कह सकते और दोनों (शून्य-अशून्य) भी नहीं कह सकते। इस भाव की प्रज्ञप्ति के लिए 'शून्य' शब्द का व्यवहार होता है।[4]

सिद्ध साहित्य में शून्य का प्रयोग शून्य से भी विस्तृत अर्थ में किया गया है। सिद्धों ने अपनी प्रज्ञोपाय प्रणाली में इसी शून्य को नैरात्म्य बालिका, प्रज्ञा या महामुद्रा रूप में ग्रहण किया और साथ ही महासुख चक्र में इस शून्यता की स्थिति मानी। सिद्धों की दृष्टि में शून्य अद्वय तत्त्व माना गया तथा करुणा तत्त्व से मिलकर उसका विवेचन ही भिन्न कोटि का हो गया। यही करुणातत्त्व वज्ररूप में प्रतिष्ठित हुआ तथा सिद्धों ने उसे मणि, कुटिला तथा उपायरूप में स्वीकार किया।[5] सिद्धों की शब्दावली में तत्त्वचिन्तन के रूप में जिस प्रज्ञोपाय का विवेचन मिलता है साधना के क्षेत्र में उसका स्वरूप मैथुनपरक हुआ प्रतीत होता है। प्रज्ञा तथा उपाय का युगनद्ध सिद्धों द्वारा विभिन्न रूपकों में अभिव्यक्त किया गया है। विद्वानों का मत है कि इनका स्वरूप मैथुनपरक है। प्रज्ञा तथा उसके अप्रस्तुत भाग के प्रतीक हैं, और उपाय तथा उसके अप्रस्तुत लिंग के प्रतीक।[6] शून्य की यह परिणति इस प्रकार एक ओर

---

[1] सिद्ध साहित्य, पृ० ३३६।
[2] हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७६८।
[3] 'सर्वविशेष राहित्यात् शून्यवत् शून्यम्, विष्णु सहस्रनाम, पृ० २१३।
[4] (अ) हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७६८।
(आ) शून्यमिति न वक्तव्यं अशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं नैव प्रज्ञात्प्यर्थं तु कथ्यते॥
[5] हिन्दी साहित्य कोश, शून्य, पृ० ७६८,७७०।
[6] सिद्ध साहित्य, पृ० १८२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

केवलावस्था[1] से सम्बद्ध है तो दूसरी ओर गुह्य साधना से। परमतत्त्व के रूप में गृहीत 'शून्य' बौद्ध शब्दावली को लिये हुए भी कई सम्प्रदायों में परमतत्त्व के वाचक रूप में स्वीकार कर लिया गया।

शून्य 'शब्द' नाथपंथी प्रवृत्तियों में किसी एक ही रूप में व्यवहृत नहीं हुआ। परमतत्त्व की प्रचलित परम्परा के रूप में स्वीकृत होने के बाद भी उसकी व्याख्या नाथ परम्परा में भिन्न रूप में की गयी है। कुछ विद्वानों का मत है कि नाथपंथियों ने इस शब्द का संशोधन कर उसका विकसित रूप ग्रहण कर लिया[2] किन्तु 'शून्य' का नाथपंथी प्रयोग इस रूप में प्रायः नहीं मिलता। अबौद्ध परम्परा से सम्बद्ध होने के कारण यह शब्द नाथ पंथ में ब्रह्मवाचक रूप में स्वीकार किया गया हो तो कोई अत्युक्ति नहीं मानी जायगी। वैसे शून्य शब्द नाथपंथी साहित्य में मुख्य तीन प्रसंगों में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है—

(१) शिव लोक, परमपद आदि के रूप में;
(२) ब्रह्मरन्ध्र, दशम द्वार, गगन मण्डल आदि के रूप में;
(३) ब्रह्म, परमतत्त्व के रूप में।

'शून्य' शब्द हठयोग की दार्शनिक पद्धति में स्वीकृत किया जाकर नाद तत्त्व से पूर्णतया एकरूप हुआ प्रतीत होता है। गोरखनाथ की एक प्रसिद्ध सवदी इस संदर्भ में दृष्टव्य है—

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती, अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महि बालक बोलै ताका नांव धरहुगे कैसा॥[3]

'शून्य' शब्द का परमतत्त्व के रूप में ऐसा प्रयोग किसी अन्य साधना पंथ में नहीं मिलता। यदि उसके सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है तो यही कि वह आकाश मण्डल में बोलने वाला बालक है, जो नाम और रूप दोनों से परे है, परमतत्त्व तक किसी की पहुँच नहीं है। वस्तुतः हठयोग के अनुसार गगन मण्डल अथवा ब्रह्मरन्ध्र में ही ब्रह्म का निवास माना गया है, साधक योग के द्वारा उसी स्थिति में साक्षात्कार कर सकता है। यहाँ नादतत्त्व का संकेत भी माना जा सकता है। नाद को लेकर सृष्टि के आविर्भाव पर भी विचार किया गया है। सच तो यह है कि नाथ पंथ में शून्य को ही सब कुछ मान लिया गया प्रतीत होता है।[4] शून्य द्वारा सिद्धों में जिस परमार्थसत्ता का बोध होता है, नाथपंथियों में वहाँ वह ब्रह्म अथवा परमतत्त्व की

---

1 चर्या पद, १३-१, १७-२।
2 सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, पृ० ३३७।
3 गोरखबानी, सबदी १, पृ० १।
4 वास्तव में शून्य ही इनके यहाँ आकर सभी कुछ दीख पड़ने लगा।
—परशुरामचतुर्वेदी, कबीर साहित्य की परख, पृ० २४०।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सत्ता का बोधक माना गया है। योग की जिस हठयोग प्रधान साधना ने सिद्धों के तत्ववाद और साधना मार्ग की उपेक्षा की है उसका आधार बौद्धेतर धर्मों का वही ब्रह्मवाद माना जा सकता है जिसके मूल में परमतत्त्व का यह देशकालातीत स्वरूप ही होगा। नाथ पंथ में इसीलिए शून्य को ही सब कुछ मान लिया गया प्रतीत होता है—

सुंनि ज माई सुंनि ज बाप। सुंनि निरंजन आपै आप ॥
सुंनि के परचै भया सथीर। निहचल जोगी गहर गंभीर ॥[1]

पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड की साधना करने वाले नाथपंथियों ने शून्य का सम्बोधन स्थान विशेष के रूप में भी किया है। गोरखनाथ की एक सबदी इस प्रकार है—

गगन मंडल में सुंनि द्वार। बिजली चमकै घोर अंधकार ॥
ता महि त्यन्द्रा आवै जाइ। पंच तत्त्व में रहै समाइ ॥[2]

गगन मंडल में जब शून्य द्वार की चर्चा की गयी है तब उसका संदर्भ निश्चित ही हठयोग की साधना से है। हठयोग के संस्कृत ग्रन्थों में शून्य कहीं सुषुम्ना नाड़ी के अर्थ में तथा कहीं अनाहत चक्र के पर्याय रूप में प्रयोग में आया है।[3] नाथपंथीय हिन्दी रचनाओं में शून्य परमपद अथवा शिवलोक का भी वाचक बन पड़ा है।[4] इस प्रकार यह तथ्य विचारणीय है कि नाथपंथी प्रवृत्तियों के अनुसार शून्य का प्रयोग सिद्ध शब्दावली के प्रयोग की अपेक्षा अधिक विकसित और व्यापक रूप में हुआ है। उसका सम्बन्ध परमपद, परमतत्त्व तथा गगन के साथ स्पष्ट रूप में हुआ है। इस दृष्टि से श्री परशुराम चतुर्वेदी का यह विचार उपयुक्त ही प्रतीत होता है कि नाथ-पंथियों द्वारा प्रयुक्त 'गगन' शरीर के भीतर का वह आकाशवत अन्तराल बन गया जिसमें ज्योतिर्मय तत्त्व का प्रकाश दीख पड़ता है और जहाँ से 'अनहद' की ध्वनि भी सुन पड़ती है।[5]

नादतत्त्व जिस रूप में नाथ पंथ में गृहीत किया गया उसका पूर्वरूप अवश्य ही प्रचलित रहा होगा।[6] यह अनुमान किया जा सकता है कि शून्य और नाद की कल्पनाएँ उस समय तक निकट आ चुकी थीं। गोरखनाथ की एक सबदी में शून्य की गर्जना का उल्लेख मिलता है जिसे अनहद नाद की ध्वनि माना गया है—

सुंनि गरजत बाजन्त नाद आलेष तेखंत तेनिज प्रवाणी ।[7]

शिव और शक्ति की कल्पना के साथ-साथ नाद और बिन्दु की कल्पना भी नाथ पंथ के पूर्व प्रचलित थी।[8] नाद पूर्णता का द्योतक है तथा कहीं-कहीं एक ही अर्थ

---

1 गोरखवानी, सबदी २३१ पृ० ७३।
2 वही, सबदी १७६, पृ० ६०।
3 हठयोग प्रदीपिका, ४/४४,४/७३।
4 सुंनि कै परचा भया सथीर। निहचल जोगी गहर गम्भीर।—गोरखवानी, पृ० ७३।
5 कबीर साहित्य की परख, पृ० २४०।
6 सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, पृ० ३३९।
7 गोरखवानी, सबदी ६१, पृ० ३२।
8 वाक्य प्रदीप, ११, १, १२०।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

में भी प्रयुक्त किया गया है। नाथ पंथ में यह प्रयोग शून्य की दुर्लभ और व्यापक प्रवृत्ति का वाचक है, इसीलिए परमतत्त्व के ज्ञान को भी दुर्लभ माना गया है—

घटि घटि सुरायां ग्यानं न होइ बनि-बनि चंदन रुख न कोई।[1]

शून्य रूपी परमतत्त्व सत, रज और तम से विवर्जित है—

अपरा निरमल पाप न पुंनि। सत रज तम विवरजित सुंनि।[2]

शून्य शब्द अद्वय कल्पना का वाचक भी माना जा सकता है। नाथ पंथ में अद्वैत भावना की प्रधानता के कारण उसका स्वरूप नाथपंथी ब्रह्मभावना के अनुरूप कहीं-कहीं द्वैताद्वैत विलक्षण के रूप में भी हुआ है।[3] इस प्रकार शून्य शब्द अपनी प्राचीन प्रवृत्तियों को अपने में सहेजता हुआ भी नाथ पंथ में असामान्य अर्थों में प्रयोग में लाया गया प्रतीत होता है किन्तु उसके बाद भी उसका सम्बन्ध नाथपंथी साधना से हठयोग की क्रियाओं तक विशेषरूप से माना जायगा। शून्य की कल्पना के लिए चिन्तन में जितनी अधिक कठिनाई अनुभव की जा सकती है, साधना के क्षेत्र में उतना ही उसका प्रयोग कठिनतम माना गया है। यह परम्परा नाथ पंथ के साथ-साथ संत-मत में भी विकसित होती हुई प्रतीत होती है। शून्य की दृष्टि से संतों के पास एक विस्तृत और प्राचीन परम्परा उपलब्ध थी यह निर्विवाद है।

वज्र—सिद्ध शब्दावली में शून्य का पूरक तत्त्व वज्र माना गया है जो पुरुष रूप में बोधचित्त में जाग्रत होकर नैरात्मज्ञान में लीन होने के लिए अग्रसर होता था।[4] वज्रयानी सिद्धों ने इसे परमतत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त किया है तथा साधना के क्षेत्र में यही शब्द पुरुष, पति या उपाय के रूप में कुलिश कमल योग के अन्तर्गत सिद्धों में व्यवहृत हुआ है। अभी तक की उपलब्ध नाथपंथी रचनाओं में इस शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं मिलना, एक आश्चर्य की बात अवश्य मानी जा सकती है, किन्तु नाथ-पंथी साधना के क्लिष्ट कायायोग और मुद्रामैथुन प्रयोगों के विरोधी शुद्धतावादी योगियों की विचारधारा के अध्ययन के फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि नाथपंथी रचनाओं के अभ्युदय के पूर्व ही वज्रयानी सिद्धों की ऐसी योगपरक शब्दावली लोक-जीवन में सम्मान की दृष्टि से नहीं देखी जाती थी। वज्रयोग की साधना यद्यपि किसी न किसी रूप में उस युग में प्रचलित रही होगी किन्तु नाथपंथी प्रवृतियों मे उस साधना के लिए कोई स्थान नहीं था यह स्पष्ट है और इस प्रकार सिद्ध शब्दावली मे प्रयुक्त 'वज्र' शब्द आगे की रचनाओं में प्रयुक्त नहीं मिलता। यद्यपि कुछ विद्वानों का मत है कि संतों ने वज्रकपाट[5] आदि के रूप में आगे चलकर कहीं-कही इस शब्द का प्रयोग

---

१ **गोरखबानी**, सबदी १७०, पृ० ५८।

२ **वही**, सबदी ४६, पृ० १७।

३ **हिन्दी काव्यधारा**—राहुल सांकृत्यायन।

४ **सिद्ध साहित्य**—डा० धर्मवीर भारती, पृ० ३५९।

५ **धरे ध्यान गगन के मांहिलाये वज्र किवार।**—कबीर ग्रन्थावली।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया है[१] किन्तु नाथपंथी परम्परा के प्रभाव के कारण हम वज्र शब्द का वही अर्थ उनमें नहीं पाते जो सिद्धों की गीतियों में मिलता है। नाथपंथी तत्त्वचिन्ता और साधना पद्धति का यह प्रभाव ही माना जायगा जिसके द्वारा परम्परा से प्राप्त शब्द का प्रयोग उद्देश्य की भिन्नता के कारण नहीं किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती साधनाओं में भी उसका बहिष्कार कर दिया गया।

खसम—सिद्ध शब्दावली में 'खसम' शब्द (ख=आकाश, शून्य+सम=समान) शून्यवत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि 'खसम' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सिद्ध साहित्य में ही हुआ है।[२] डा०हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि 'खसम' वस्तुतः सहजयानी लोगों की सहजावस्था या शून्यावस्था का वाचक शब्द है।[3] बोधिचित्त की साधना में सिद्धमत को शून्य या खसम स्वभाव धारण करने का अभ्यास करते थे।[४] इस शब्द का प्रयोग सिद्ध साहित्य में अनेक स्थलों पर मिलता है किन्तु नाथपंथी प्रवृत्तियों से साम्य रखते हुए भी यह शब्द नाथपंथी रचनाओं में नहीं मिलता। योगियों ने समाधिस्थ मत का वर्णन शून्योपम तथा गगनोपम रूप में अवश्य किया है[५] किन्तु सिद्धों की भाँति नाथपंथियों में 'खसम' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। नाथपंथियों की 'दुर्लभ' सहजावस्था को किसी रूप में हम यह अवस्था मान भी सकते हैं किन्तु हठयोग की क्रियाओं के अनुरूप न होने के कारण इसका प्रयोग सिद्धों की परम्परा तक ही सीमित रह गया।

यद्यपि नाथपंथियों में 'खसम' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता किन्तु कबीर आदि संतों की रचनाओं में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। कुछ विद्वानों के मतानुसार इस शब्द का अर्थ-विकास सम्भवतः सबसे अधिक रोचक है[६] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि कबीरदास 'खसम' शब्द की पुरानी परम्परा से जरूर वाकिफ थे और उन्होंने जान-बूझकर खसमावस्था की तुलना निकृष्ट पति से की है।[७] संतों में 'खसम' शब्द का प्रयोग दो रूपों में मिलता है एक रूप है खसमावस्था या शून्यावस्था का, दूसरा रूप अरबी शब्द खसम के अधार पर पति का है। इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

यद्यपि शून्यावस्था का बोध कराने वाले पदों में 'खसम' शब्द का प्रयोग सरलता से नहीं खोजा जा सकता किन्तु संकेत रूप में उसका आभास मिल सकता है—

---

१ सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, पृ० ३६२।

२ कबीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २३८।

3 कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७५।

४ (अ) सब्बरुअ तहि खसम करिज्जइ, खसम सहावें मणिव धरिज्जइ।—सरहपा
(आ) सिद्ध साहित्य, पृ० ३६३।

५ गोरखबानी, सबदी १, २३, ३२ आदि।

६ सिद्ध साहित्य, पृ० ३६२।

७ कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खसम बिन तेली को बैल भयो ।
बैठत नाहि साधु की संगति नाधे जनम गयो ।
खसमहि छांड़ि विषय रंग राते पाप के बीज बयो ॥[१]

कबीर की साखियों में खसम शब्द का प्रयोग अधिकतर पति के लिए ही किया गया प्रतीत होता है । उन्होंने संसारी जीव को उपदेश देते हुए खसम के प्रति उत्तर-दायी बने रहने की सलाह दी है ।[२] यहाँ पर खसम परमात्मा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी संतों द्वारा प्रयुक्त खसम का अर्थ निकृष्ट पति ही मानते हैं, 'खसम वह पति है जो अपनी पत्नी को वश में न कर सके और इन्द्रियों के दास मन को भी इसीलिए कबीरदास ने कभी-कभी खसम कहा है ।'[३] किन्तु पं० चतुर्बली पांडे खसम शब्द का अर्थ साधारण पति ही उपयुक्त समझते हैं ।[४] संतों ने खसम शब्द को किसी भी रूप में क्यों न प्रयुक्त किया हो, उसका आशय पति से अवश्य माना जा सकता है । कबीर का यह भाव इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है—

कहु कबीर आखर दुई भाखि । होइगा खसमु त लेइगा राखि ।[५]

पलटू कहते हैं—

खसम रहा है रूठि नहीं तू पठवै पाती ।[६]

संतों ने इस शब्द का प्रयोग परमतत्त्व के रूप में ही किया है तथा वे अपना सम्बन्ध भावभगति के द्वारा ही उससे जोड़ना उपयुक्त समझते हैं[७] किन्तु इसके अतिरिक्त भी संतों ने 'खसम' शब्द को तत्त्वज्ञानरहित झूठे वाह्याचार मात्र के प्रति भी प्रयुक्त किया है—

एक से दूजा जैनि विचारा । एक से निहुरि निमाज गुजारा ॥
कोइ काहू का हटा न माना । झूठा खसम कबीर न जाना ॥[८] —कबीर

× × × ×

पलटू जिव को मारि कै बल देवत न को देत ।
गरदन मारै खसम की लगवारन के देत ॥[९]

डा० धर्मवीर भारती का अनुमान है कि समय को सिद्धों ने परमतत्त्व अथवा गगनो स्वभाव या शून्य स्वभाव का मानवीकरण कर उसे नाथ या प्रभु के रूप में भी परिकल्पित कर लिया है । अरबी शब्द खसम इस कल्पना की मूल प्रेरणा नहीं है

---

१ बीजक, पृ० २७८ ।
२ 'कबीर' ग्रन्थावली, पद १०२, पृ० १२१ ।
३ कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७८ ।
४ 'समय की खोज', लेख—पं० चन्द्रवली पांडे, 'आज', साप्ताहिक ।
५ संत कबीर, पृ० ३५ ।
६ पलटू साहब की बानी पृ० १६ ।
७ कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७६ ।
८ बीजक, पृ० ३६ ।
९ पलटू साहब की बानी, पृ० ६७ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यद्यपि उससे इस प्रयोग को भी बल अवश्य मिला होगा।[१] संतों ने जिसे प्रभु, राम अथवा खसम कहा है[२] वही खसम कहीं जीव के लिए भी प्रयुक्त हुआ है—

भाई रे चून बिलूंटा खाई।
बाघनि संगि भई सबहिन कै खसम न भेद लहाई॥
सब घर फोरि बिलूंटा खायौ, कोई न जानै भेद।
खसम निपूतौ आगणि सूतौ, रांड न देई लेव॥[३]

तो पंथीय रचनाओं में उसका प्रयोग स्वयं कबीर के लिए भी मिलता है—

बाजा बाजा रहनि का परा नगर में शोर।
सतगुरुख सम कबीर है नजर न आवै ओर॥

संतों ने खसम शब्द का प्रयोग उलटबाँसियों में भी किया है जिसके आधार पर खसम की मृत्यु का भाव कहीं-कहीं प्रकट होता है, किन्तु सामान्यतः उसका अर्थ निकालना कठिन ही है।[४] सिद्ध शब्दावली में प्रयुक्त यह शब्द संतों में किस रूप में ग्रहण किया गया इसका कोई प्रवृत्तिगत प्रमाण नहीं मिलता है किन्तु यह तथ्य अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है कि नाथपंथियों ने इस शब्द का प्रयोग नहीं किया और संतों में इसके प्रयोग की कोई एक ही अवस्था नहीं मिलती।

सहज—सिद्ध शब्दावली का एक और महत्त्वपूर्ण शब्द 'सहज' नाथपंथी रचनाओं में अनेक रूप में प्रयुक्त हुआ है। मुख्यतः वह सहजरूपा परमतत्त्व, सहजशून्य, सहज समाधि तथा सहज जीवन के अर्थ में मिलता है। वस्तुतः सहज एक ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग न केवल योग साहित्य एवं सिद्धों के साहित्य में हुआ है, अपितु इसके आधार पर सम्प्रदाय भी चल पड़े हैं।[५] इस शब्द के उद्भव के विषय में विद्वानों के अनेक मत हैं[६] किन्तु यह प्रायः सर्वसम्मत माना जा सकता है कि सिद्ध साहित्य में इसका प्रचलन विशेष रूप से हुआ है। बौद्ध सिद्धों में इसका प्रयोग स्वाभाविक मार्ग के लिए तो किया ही गया है किन्तु साथ ही उन्होंने सहज का आश्रय उस साधना से भी माना है जिसमें प्रज्ञा और उपाय के सम्मिलन की कल्पना की जाती है। सिद्धों ने 'सहज तत्त्व' को भाव-अभाव दोनों से परे और निर्वाण से भी ऊपर माना है।[७] सिद्धों की

---

[१] सिद्ध साहित्य, पृ० ३६५।

[२] **आपै पावक आपै पवना। जारै खसमत राखै कवना॥**
राम जपत तन जर की न जाय। राम नाम चित रह्या समाय॥
—संत कबीर, पृ० ३५।

[३] **कबीर ग्रन्थावली, पद ८१, पृ० ११३।**

[४] **कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७६।**

[५] **संत साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २४७।**

[६] **हिन्दी साहित्य कोश (सहज), पृ० ८२४।**

[७] **सहज छड़ि जे णिव्वाण भाविउ। णउ परमत्य एक्क ते साहिउ॥**
—सरहपाद का दोहा कोश।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सहज साधना सुखवाद की उपलब्धि मानी जा सकती है, इन्द्रिय बोध के लोप हो जाने से अपने आपको जानने की स्थिति भी लुप्त हो जाती है, वह अवस्था अनुभवैक-गम्य भी मानी गयी है।[१]

नाथपंथियों में 'सहज' शब्द का प्रयोग बौद्ध सिद्धों की भाँति नहीं मिलता। नाथपंथी योगियों की सहजानुभूति आत्मोपलब्धि के रूप में हुई प्रतीत होती है। उसका प्रयोग विशेष रूप से शून्य के साथ भी किया गया है तथा कहीं-कहीं अवस्था का बोध भी उससे होता है, किन्तु योगिनी कौलमार्ग में शिव और शक्ति के सम्मिलन से जिस समरसता की सृष्टि होती है उसका प्रभाव नाथपंथी रचनाओं में अवश्य है। नाथ-पंथियों में सहज भावना शैवों की देन मानी जा सकती है क्योंकि उन्होंने अपनी रचनाओं में सिद्ध प्रक्रियाओं के स्थान पर शिव और शक्ति की समरसता की कल्पना की है—

सक्ति रूपी रज आछै, सिव रूपी व्यंद।
बारह कला रव आछै सोलह कला चंद॥
चारि कला रवि की जे ससि घर आवै।
तौ सिव सक्ति संमि से वे, अन्त कोई न पावै॥
एही राजा राम आछै सबै अंगे बासा।
ये ही पांचों तत बाबू सहजि प्रकाशा॥[२]

संतों में नाथपंथी सहज शब्द का प्रयोग कभी परम्परा के रूप में तथा कभी परम्परा से पृथक रूप में भी हुआ है। नाथपंथी रचनाओं में जब सहज को परमतत्त्व के रूप में प्रयुक्त किया गया तब पाँचों तत्त्वों का सहज से उद्‌भव और सहज में ही विलय माना गया है—

ये ही पांचों तत बाबू सहजि समाना।
बदंत गोरख इमि हरि पद जाना॥[3]

सहज की परमतत्त्व के रूप में निम्नलिखित व्यवस्था भी मिलती है—

अवधू राति न होती दिन सहजै आया।
दिन प्रसरयां राति सहजै समाया॥[४]

यह जगत सहजरूपी आत्मा का खेल है। इससे ही आकार और निराकार की

---

१ इन्दिअ जत्थ विलऊ गऊ णढिउ अप्प सहावा।
सो हले सहज न तनु फुड़, पुच्छहि गुरु पावा॥ —सरहपाद

२ गोरखबानी, पृ० १००।

३ वही, पृ० १००।

४ वही, पृ० १८६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्पत्ति होती है।[1] काणेरी के प्रश्न के उत्तर में नागार्जुन सहज को अत्यन्त व्यापक रूप में प्रकट करते हैं—

सहजै अवना सहजैं गवना। सहजैं सहजैं बहे पवना।
सहजैं सहजैं धीरै बाई। सहजैं सहजैं चिरकायी॥[2]

'सहज शून्य' के रूप में भी नाथपंथी रचनाओं में सहज का प्रयोग हुआ। योग साधना के द्वारा शून्य समाधि का परमतत्त्व के रूप में अद्वय भाव की कल्पना ही इसका हेतु प्रतीत होता है। मन के स्थिर करने के संदर्भ में दिया गया गुरु मछीन्द्र-नाथ का यह उत्तर सहज सुंनि के भाव को इस रूप में व्यक्त करता है—

अवधू सुंने आवे जाइ। सुंने चीया रहै समाइ॥
सहज सुंनि तन मन थिर रहै। ऐसा विचार मछिन्द करै॥[3]

परवर्ती नाथ सम्प्रदाय में जिन मुद्रामैथुन की प्रवृत्तियों का कहीं-कहीं आभास मिलता है उसका स्वरूप गुह्य और तान्त्रिक ही अधिक है, लोकवाणी में जिसका कोई वर्णन आज उपलब्ध नहीं है। समाधि के रूप में अवश्य ही नाथपंथी साधकों ने पवन का निरोध कर इन्द्रियों को पूर्णतया अपने अधीन कर इस अवस्था की प्राप्ति पर बल दिया है। गोरखनाथ की एक वानी इस प्रकार है—

तत वणि जील्यों तत वणि जील्यों, ज्यूं मोरा मन पतियाई।
सहज गोरषनाथ वणिज कराई, पंच बलद नौ गाई।
सहज सुभावै वाषर। लाई मोरे मन उडियांनी आई।[4]

यह साधना यद्यपि सहज साधना के रूप में कभी-कभी अभिव्यक्त की गयी है किन्तु नाथपंथी प्रवृत्तियों के अनुसार वह हठयोग की साधना ही है, संतों की सहज साधना और नाथपंथियों की साधना में इस दृष्टि से कोई साम्य नहीं प्रतीत होता। नाथपंथी रचनाओं में कभी-कभी सहज को परमपद के रूप में भी प्रयुक्त किया गया है, यथा—'सहजपद परम नृबांन, सांभलि गोरख ए परवांन।'[5] किन्तु निर्वाण के अर्थ में प्रयुक्त 'सहज' शब्द योग की ही साधना का वाचक है।

नाथपंथी रचनाओं में सहजशील के सम्बन्ध में भी कतिपय प्रयोग मिलते हैं—

गिरही सो जो गिरहै काया। अभि अंतरि की त्यागै माया॥
सहजसील का धरै सरीर। सो गिरही गंगा का नीर॥[6]

---

१ अवधू सहज हंस का षेल मणीजैं, सुंनि हंस का बास।
सहजैं ही आकार निराकार होइसी, परमज्योति हंस का निवास॥
—गोरखवानी, पृ० १६१।

२ योग प्रवाह—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० २२७।

३ गोरखवानी, पृ० १६५।

४ वही, १०४।

५ वही, २३१।

६ वही, १७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जीवन की सादगी तथा वाह्याचारों और अनुष्ठानों के प्रति नाथपंथी साधकों का दृष्टिकोण सहज शब्द के माध्यम से अनेक स्थलों पर प्रकट हुआ है। साधकों की आचरण सम्बन्धी सूचनाओं में यह शब्द अत्यन्त प्रभावशाली माना जा सकता है जिसका विकास हमें संतों में भी मिलता है। गोरखवानी की कतिपय सबदी उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की जाती हैं—

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चालिबा धीरै धरिबा पाँव।
गरव न करिबा सहजै रहिबा मंणत गोरख राँव॥[1]

× × ×

अवधू सहजै लैणा सहजै दैणा सहजै प्रीति ल्यौ लाइ।
सहजैं सहजै चलैगा रै अवधू तो वासण करैंगा समाई॥[2]

सभी सिद्ध शब्दावली का सीधा सम्बन्ध नाथपंथी प्रवृत्तियों के साथ नहीं जोड़ा जा सकता, विशेष रूप से उन्हीं शब्दों पर यहाँ विचार किया गया है जिनका अर्थ-विकास सिद्ध साहित्य से लेकर संतों की वानियों तक में मिलता है। तत्त्वचिन्तन के आमूल अंतर की दृष्टि से वज्र एवं खसम शब्द का प्रयोग नाथपंथी रचनाओं में नहीं मिलता इस पर विचार किया ही गया है, शून्य तथा सहज शब्द संतों में भी प्रयुक्त हुए किन्तु उनका स्वर नाथपंथी चिन्तन से प्रभावित है यह भी उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। शब्दों के अर्थ-विकास के आधार पर हम नाथपंथी चिन्ता की निम्नलिखित प्रवृत्तियों का आभास पाते हैं—

(१) सिद्धों के तर्कवाद एवं सूक्ष्म विवेचन के स्थान पर नाथपंथी साधकों ने साधना को अधिक महत्त्व दिया तथा उस शब्दावली का प्रयोग ही उन्होंने नहीं किया जिस से निरर्थक वाक्‌जाल की सृष्टि होती है।

(२) सहज साधना के नाम पर जिस महासुखवाद एवं भोगवाद का सिद्धों में प्रचार था उसके स्थान पर योगसमाधि और संयम को लेकर हठयोग की क्रियाओं तक अपने को नाथपंथी साधकों ने सीमित कर लिया।

(३) लोक चिन्ता के अनुसार परम्परागत शब्दों का साधनात्मक एवं व्यवहार-प्रवण रूप सामने रखने का प्रयत्न नाथपंथी साधकों ने किया जिसका हिन्दी के मध्य-युगीन साहित्य पर विशेष प्रभाव दिखाई देता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि नाथपंथी साधकों ने अपनी शब्दावली स्वयं प्रचारित की तथा सिद्धों से ग्रहण किये गये शब्दों को अपने सिद्धान्तों के अनुसार प्रयुक्त किया। संत-काव्य में नाथपंथी शब्दावली का विषय की दृष्टि से कितना प्रयोग हुआ है यह भी यहाँ विचारणीय है।

---

१ गोरखवानी, पृ० ११।
२ वही, पृ० ७९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संत-काव्य में नाथपंथी शब्दावली का विषयगत प्रयोग

नाथ पंथ के वाचक शब्द और संत कवि

संत-काव्य में ऐसे बहुत—से शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनका सम्बन्ध नाथपंथी साधना के वाचक शब्दों से है। संतों ने यद्यपि साधना की दृष्टि से उनका प्रयोग किया है किन्तु उनसे ठीक उसी अर्थ का बोध नहीं होता जिस अर्थ का प्रचलन नाथ पंथ में था। संतों में वे शब्द अपनी भावधारा के अनुसार नये ढंग से प्रयुक्त हुए हैं।

संत कवि मूलतः भाषा के मर्मज्ञ नहीं थे, उन्होंने शब्दों के प्रयोग पर अधिक ध्यान नहीं दिया है, किन्तु विषय की दृष्टि से उनका आग्रह शब्द योजना से अधिक भावधारा के लिए ही प्रतीत होता है। उन्होंने शब्दों को व्यक्तिगत अनुभूति के रंग में रँगकर भी पारिभाषिक रूप में ही व्यक्त किया है। संत काव्य के अन्तर्गत ऐसे बहुत-से कठिन शब्द आते हैं जिनके कुछ न कुछ विशेष अर्थ होते हैं। कतिपय शब्द उलट-बाँसियों में मिलते हैं किन्तु सामान्यतः नाथ पंथ के जिन वाचक शब्दों का प्रयोग संतों ने किया है उसकी परम्परा भारतीय साधना मार्ग की एक लम्बी परम्परा मानी गयी है। यदि यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि साधना प्रधान लोक चिन्ता ने सिद्ध, नाथ तथा संतों के माध्यम से ऐसे मोड़ उपस्थित किये हैं जिनका वाह्यरूप तो वही है किन्तु जिनका आन्तरिक स्वर पृथक-पृथक है। शब्दों का इस रूप में प्राप्य विकास मनोरंजक तो है ही किन्तु एक लम्बी सांस्कृतिक श्रृंखला का पोषक भी है। साधना भेद से ऊपर उठकर शब्दों का प्रयोग अपने मतानुसार साधकों ने किया है। संत-काव्य में जितने नाथ पंथ के वाचक शब्द व्यवहृत हुए हैं उन सबका विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं है, मध्ययुगीन सांस्कृतिक चिन्तन और प्रभाव की दृष्टि से कतिपय शब्दों के अर्थ-विकास पर ही विचार किया जा सकता है।

अजपाजाप—संतों द्वारा प्रयुक्त अजपाजाप नामस्मरण की उस पद्धति का सूचक है जिसमें वाह्य साधनों की सहायता के बिना ही जाप की क्रिया आप से आप चलती है।[1] सिद्धों में अथवा तान्त्रिक साधकों में 'एवं' बीजाक्षर को ध्यान में ग्रहण कर साधना करने की पद्धति प्रचलित थी, किन्तु नाथपंथी साधकों द्वारा, सोहम् का ध्यान धारण कर जिस साधना का प्रचार किया गया, संतों द्वारा प्रयुक्त अजपा जाप उसी का बोध कराता है। गोरखवानी में यह शब्द चित्त की एकाग्रता के रूप में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है—

> **अजपा जपै सुंनि मन धरै। पांचों इंद्री निग्रह करै।।**
> **ब्रह्म अगनि में होमे काया। तास महादेव बंदे पाया।।**[2]

नाथपंथी साधना में अजपाजाप कभी-कभी 'सोहम्' के बिना भी होता हुआ माना गया है। गोरखवानी में एक स्थल पर प्रकट किया गया है—

---

[1] **पारिभाषिक शब्दावली, संत-काव्य, (परिशिष्ट), पृ० ५७०।**

[2] **गोरखवानी, पृ० ७।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऐसा जाप जपो मन लाई सोहं सोहं अजपा गाई ।[1]

कबीर साहब ने 'सोहम्' का परित्याग नहीं किया है किन्तु उनकी रचनाओं में राम शब्द का प्रयोग अधिक मात्रा में मिलता है । कबीर नाथपंथी साधना के स्वर में स्वर मिलाकर 'सोहम्' का जाप करने की बात भी उसी रूप में कहते हुए प्रतीत होते हैं—

ब्रह्मडे सो प्यंडे जांनि । मांन सरोवर करि असनांन ।।
सोहं हंसा ताकौ जाप । ताहिन लिपै पुन्य न पाप ।।
काया मांहै जांनैं सोई । जो बोले सो आपै होई ।।
जोति मोरि जे मन थिर करै । कहै कबीर सो प्रांनी तिरै ।।[2]

किन्तु संतों का अजपाजाप शब्दों के ध्यान की अपेक्षा अनुभूति के एकाग्र होने की ओर अधिक प्रतीत होता है । कबीर की दृष्टि में जोगी वही है जो मन में ही जाप करता है ।[3] संतों में निशब्द जप की स्थिति उस समय मानी गयी है जब आप में ही आप समाहित हो जाय, वह अवस्था साधारण रीति से प्राप्य भी नहीं की जा सकती—

सुरति समाणी निरति में अजपा मांहै जाप ।
लेख समाणा अलेख में ज्यूं आपा मांहै आप ।।[4]

इस दृष्टि से जहाँ संतों ने अजपाजाप का नाथपंथी स्वरूप स्वीकार किया है वहाँ उसकी क्रियाओं के प्रति कहीं-कहीं उपेक्षा भाव भी प्रकट किया है । वैष्णवों के नामस्मरण तथा संतों के एकाग्र भाव में साधना के मुख्य उद्देश्य की सिद्धि ही मुख्य है । संतों की सिद्धि का आधार प्रेमाभक्ति माना गया है । इस स्थिति में उनका अजपाजाप नामस्मरण के माध्यम से मन की एकाग्रता ही ठहरता है । संत-काव्य में इस शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में हुआ है ।

अनहद नाद—अनहद नाद अथवा अनाहत नाद नाथपंथी योगी द्वारा अनुभूत उस विचित्र ध्वनि के लिए व्यवहृत हुआ है जो मानव शरीर के भीतर साधना के द्वारा आप से आप सुनाई पड़ती है । नाद विश्व में व्याप्त शब्द का पिण्ड में प्रतिनिधि माना जा सकता है । पिण्ड में स्थित नाद भी कुण्डलिनी जाग्रत होने के पश्चात् ही साधकों के अनुभव में आता है । हठयोग की साधना में प्राणवायु के शीर्षस्थान में पहुँचते ही अनहद की ध्वनि सुनाई पड़ती है—

---

१ **गोरखबानी**, पृ० १२४ ।
२ **कबीर ग्रन्थावली**, राग भैंरु, ३२८, पृ० १९९ ।
३ **मन में आसण मन में रहणा । मन का जप तप मन सूं कहणा ।।**
—कबीर ग्रन्थावली, पद २०६, पृ० १५८ ।
४ **कबीर ग्रन्थावली**, साखी २३, पृ० १४ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अवधू दंभ कौं गहिबा उनमनि रहिबा ज्यूं बाजबा अनहद तूरं ।
गगन मंडल में तेज चमकैं चंद नहीं तहां सूरं ॥[१]

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने अनहद नाद की व्याख्या करते हुए एक स्थल पर प्रकट किया है कि प्राणवायु के ऊपर पहुँचते ही वह ध्वनि पहले समुद्र वा मेघ के गर्जन जैसी सुन पड़ती है और फिर भेरी, शंख, घंटा, आदि के शब्दों सी जान पड़ती हुई, किंकणी, वंशी; वीणा तथा भ्रमर गुंजन जैसी मधुर हो जाती है और आज्ञा चक्र के अनन्तर प्राण एवं मन का नाद में लय हो जाया करता है ।[२]

इसके साथ ही नाथ पंथ में अनहद की ध्वनि नाद में पिण्ड के समा जाने से मानी गयी है—

अमावस कै घरि झिलिमिलि चंदा पूनिम के घरि सूरं ।
नाद कै घरि ब्यंद गरजै बाजंत अनहद तूरं ॥[३]

नाथपंथियों का विश्वास है कि सहस्रार में अमृत स्रावक चन्द्रमा स्थित है पर उसके प्रभाव से सामान्यत: जीव वंचित रहता है क्योंकि अमृत के स्राव को मूलाधार स्थित सूर्य सोख लेता है । यह महारस अथवा अमृत सूर्याकार स्थान तक आने के पहले यदि रोक लिया जाय तो इसका आस्वादन किया जा सकता है । अभ्यास द्वारा सूर्य को चन्द्र तक लाकर दोनों का सम्मिलन होने से अमावस के चन्द्रमा सा-मलिन बना चन्द्रमा भी पूर्णिमा के चन्द्र सा हो जाता है । ऐसी स्थिति में नाद पिण्ड का मिलन हो जाता है और अनहद नाद की तूरी बजने लगती है ।

संतों में यद्यपि अनहद नाद का प्रयोग नाथपंथी साधनों की भांति ही मिलता है किन्तु कहीं-कहीं भक्त हृदय के लिए यह जगतगुरु की कींगरी[४] तथा हरि की कथा[५] के रूप में भी प्रकट हुआ है । कबीर ने नाथपंथी शैली में 'सर' अथवा शब्द का आभास मानकर अपनी साखी में उसका वर्णन इस प्रकार किया है—

पंषि उडानी गगन कूं, उडी चढ़ी असमान ।
जिहि सर मंडल भेदिया, सो सर लागा कान ॥[६]

× × ×

उलटे पवन चक्र षट बेधा मेरे डंड सर पूरा ।
गगन गरज मन सुंनि समाना, बाजे अनहद तूरा ॥[७]

---

१ गोरखबानी, सबदी ५१, पृ० १९ ।
२ कबीर साहित्य की परख, पृ० २३२, २३३ ।
३ गोरखबानी, सबदी ५४, पृ० २० ।
४ जगत गुरु अनहद कींगरी बाजै तहां दीरघ नादल्यो लागै ।
—कबीर ग्रन्थावली, पद १५६, पृ० १३७ ।
५ आदि ग्रन्थ रागु आसा, ३१ ।
६ कबीर ग्रन्थावली, साखी २१, पृ० १४ ।
७ वही, पद ७, पृ० ९० ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाद में पिण्ड का समावेश हो जाने पर जिस आत्मोपलब्धि की स्थिति संतों ने अनुभव की उसका वर्णन भी नाथपंथी साधना के रूप में ही मिलता है। कबीर साहब कहते हैं—

अवधू नादैं ब्यंद गगन गाजै, सबद अनाहद बोलै ।[1]

× × ×

ससि हर सूर मिलावा। तब अनहद बैन बजावा।
जब अनहद बाजा बाजै। तब सांई संगि बिराजै ॥[2]

बूला साहब का यह पद भी दृष्टव्य है—

सोंह हंसा लागलि डोर। सुरति निरति चढ़ मनुवां मोर।
झिलिमिलि झिलिमिलि त्रिकुटी ध्यान।
जगमग जगमग गगने तान ॥
गह गह गह अनहद नीसान।
प्राण पुरुष तहाँ रहता जान ॥[3]

संतों की रचनाओं में अनहद नाद का भाव प्रायः तल्लीनता के रूप में पाया जाता है। हठयोग की क्रियाओं में आस्था रखने के कारण अनहद नाद की ध्वनि के लिए प्रयत्नशील होना उनके लिए कोई नवीन बात नहीं थी। तृष्णा के समाप्त करने के लिए भी ज्ञान लहरि में अपने आपको संत निमज्जित करने के लिए प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं। कबीर की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

अवधू ज्ञान लहरि धुनि मांडी रे।
सबद अतीव अनाहद राता, इहि विधि त्रिषणां षांडी ।[4]

संतों में संगीत की तन्मयता भी उसका एक रूप हो सकता है।

अमृत—नाथ पंथ में अमृत देहस्थ चन्द्र से झरने वाले रस को कहा गया है। गोरखनाथ योग की युक्ति से इस अमृत के पान करने की सलाह देते हैं—

सुर्णों हो देवल तर्जों जंजालं, अमिय पीवत तब होइब बालं।
ब्रह्म अगनि सींचत मूलं, फूल्या फूल फली फिरि बूले ॥[5]

विद्वानों का मत है कि योगियों के यहाँ इस अपूर्व रस का नाम अमर वारुणी भी प्रसिद्ध है जो तान्त्रिक अनुष्ठानों के अवसर पर प्रयोग में आनेवाली वारुणी का बोध कराता है।[6] किन्तु गोरखनाथ आदि नाथपंथी साधकों में यह अमृत स्राव हठयोग की

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पद १६६, पृ० १५४।
२ वही, पद १७३, पृ० १४६।
३ संत-काव्य, मध्ययुग, पृ० ४०६।
४ कबीर ग्रन्थावली, पद १०, पृ० ६१।
५ गोरखबानी, सबदी ८७, पृ० ३१।
६ कबीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २३४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साधना से ही उपलब्ध होता है। कहीं-कहीं इस शब्द का प्रयग विमल जल के रूप में भी हुआ है।[1] संतों में भी इस अमृत स्राव का वर्णन मिलता है जिसका पान बिना किसी पात्र की सहायता से किया जा सकता है—

कदली कुसुम दल भींतरा, तहाँ दस आँगुल का बीच रे।
तहाँ दुवादस खोजिले जनम होत नहीं मींच रे॥
बंक नालि के अंतरैं, पछिम दिसा की बाट।
नीझर झरै रस पीजिये, तहाँ भवर गुफा के घाट रे॥[2] —कबीर
चल रे मन जहाँ अमृत बनां। निर्मल नीकैं संत जनां॥[3]

इन प्रसंगों में हठयोग की क्रियाओं की ओर स्पष्ट संकेत है किन्तु संतों की साधना का लक्ष्य नाथपंथी काया साधना से भिन्न होने के कारण वे हरिरस, रामरस, प्रेमरस, एवं रसायण आदि का प्रयोग अपनी रचनाओं में बहुधा करते हुए प्रतीत होते हैं जिसका आधार भक्तिरस ही माना जा सकता है। अर्थ के विकास की दृष्टि से संतों और नाथपंथी साधकों का यह रस दो भिन्न कोटि की साधना का परिणाम माना जायगा। रामरस की प्राप्ति करना भी सरल कार्य नहीं है। संतों ने उसके लिए सिर सौंपने की शर्त रखी है और जब एक बार रामरस का पान साधक कर लेता है तब उसकी खुमारी कभी भी नहीं दूर होती।

रामरसायन[4] प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है माँगे सीस कलाल॥[5]
× × ×
सिर सौंपे सोई पिये नहीं तो पिया न जाई॥[6]
× × ×
हरि रस पीया जाणिये, जे कबहूँ न जाई खुमार।
मैमंता घूमत रहै, तोही तन की सार॥[7] —कबीर
× × ×
अमृत रूपी रामरस पीवै जे जन मस्त।
जैसी पूंजी गाँठडी तैसी वणजै वस्त॥[8] —गरीबदास

---

१ अदेषि देषिबा देषि विचारिबा, अदि सिटि राषिबा पीया।
पाताल की गंगा ब्रांह्मड चढ़ाइबा तहाँ विमल जल पीया॥—गोरखवानी, पृ० २।
२ कबीर ग्रन्थावली, पद ४, पृ० ८८।
३ सन्त सुधासार—दादू दयाल, पृ० ४३७।
४ साधुओं की भाषा में रामरस नमक को कहते हैं।
५ कबीर ग्रन्थावली, साखी २, पृ० १६।
६ वही, साखी ३, पृ० १६।
७ वही, साखी ४, पृ० १६।
८ संत सुधासार—गरीबदास, पृ० ५०६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रामरस जहाँ दुर्लभ है वहाँ उसकी प्राप्ति हो जाने के बाद जीव की मुक्ति का कारण भी माना गया है—

मैमंता अविगत रत्व अकलप आसा जीति।
राम अमलि माता रहै जीवन मुकति अतीति ॥[१]

रामरस की प्राप्ति के पश्चात् अन्य किसी रस का स्मरण रहना कठिन कार्य ही है—

रामरस पाईया रे, तार्थैं बिसरि गये रस और।[२]

इसीलिए सन्त रामरस पीने का उपदेश देते हुए प्रतीत होते हैं—

रामरस पीजिये रे, पीयें सब सुख होइ।
पीवत ही पातक कहैं सब संतनि दिसि जोई ॥ [३]

संतों ने यद्यपि भक्तिरस के रूप में अमृत शब्द का बहुत प्रयोग किया है किन्तु नाथपंथी साधना से निकट का सम्बन्ध होने के कारण चन्द्रस्राव को भी उन्होंने अपनी वाणियों में प्रयुक्त किया है। संतों की मूल प्रवृत्ति को देखते हुए उनकी रचनाओं में प्रयुक्त यह शब्द अथवा दूसरे पर्याय शब्दों में तथा नाथपंथी अमृत शब्द में उतना ही अन्तर है जितना कि नाथपंथी साधना में और भक्ति में। इस दृष्टि से नाथ पंथ का यह वाचक शब्द संत-काव्य में नवीन परिस्थितियों को लेकर भक्ति के रूप में प्रयोग में लाया गया है, यह स्पष्ट है, जो संतों की भावना को यथावत् प्रकट करने में सक्षम बन पड़ा है।

उन्मनि—उन्मनि समाधि का पर्यायवाची शब्द माना गया है। यह शब्द उस अवस्था का बोध कराता है जब मन और प्राण दोनों एक हो जाते हैं, फलस्वरूप, मन में स्थिरता आ जाती है।[४] नाथपंथी साधकों ने मन के महत्त्व को समझा था। गोरखनाथ उन्मन योग की साधना का उपदेश देते हैं—

अवधू दंम कौं गहिबा उनमनि रहिबा, ज्यूं बाजब अनहद तूरं।
गगन मंडल में तेज चमंके चन्द नहीं तहाँ सूरं ॥
ससि उसास बाइ कौं भषिबा रोकि लेकु नव द्वारं।
छठैं छमासि काया पलटिबा, तब उन्मनी जोग अपारं ॥[५]

उन्मनि अवस्था प्राणों को नियंत्रित करके उन्हें अपने वश में लाने पर उपलब्ध होती है। नाथपंथियों की दृष्टि से यही वह अवस्था है जब सूर्य एवं चन्द्र का मिलन

---

१ कबीर ग्रन्थावली, साखी ६, पृ० १७।
२ वही, पद ७५, पृ० ११।
३ सन्त सुधासार—संत रज्जबजी, पृ० ५१५।
४ कबीर साहित्य की परख, पृ० २३६।
५ गोरखबानी, सबदी ५१, ५२, पृ० १९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है। मन को वे शक्ति और शिव भी मानते हैं तथा मन पंच-तत्त्वों से निर्मित जीव भी है। इसी मत को लेकर उन्मनावस्था में लीन करने से साधक सर्वज्ञ हो जाता है तथा तीनों लोकों की बातें कह सकता है।[१] उससे आनन्द की अनुभूति होती है।[२]

संतों ने 'उनमनी' का प्रयोग समाधि की एक दशा के रूप में भी किया है किन्तु उनका प्रयोग नाथपंथियों की भाँति सीमित रूप में न होकर व्यापक रूप में हुआ है। जब वे समाधि के रूप में उसका प्रयोग करते हैं तब उसका वर्णन ठीक नाथपंथियों जैसा होता है—

बाहरि खोजत जनम गँवाया।
उन्मनी ध्यान घर भीतर पाया।।[3]

संत कभी उन्मन को विशेषण के रूप में[४] तो कहीं परमतत्त्व के रूप में प्रयोग करते हुए प्रतीत होते हैं। कबीर के एक पद में सहज समाधि और उन्मनि रहनि को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है—

शब्द निरंतर मनुआ राता, मलिन बचन का त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न बिसरै, ऐसी तारी लागी।।
कहै कबीर यह उन्मनि रहनी, सो परगट करि गई।
सुखदुःख के इक परे परम सुख तेहि मैं रहा समाई।।[५]

परमतत्त्व के रूप में उन्मनि का प्रयोग संतों के पूर्व इस रूप में नहीं मिलता। कबीर ने परमतत्त्व का वर्णन उन्मन के रूप में इस प्रकार किया है—

मन लागा उनमन्न सों गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चाँद बिहूंणा चाँदिणाँ, तहाँ अलख निरंजन राई।।[६]
मन लागा उनमन्न सौं उनमन मनहि बिलग।
लूंण बिलगा पाणियाँ पाणी लूंण बिलग।।[७]

---

[१] यहु मन सकती यहु मन सीव। यहु मन पाँच तत्त का जीव।।
यहु मन ले जे उनमन रहै। तौ तीनि लोक की बातां कहै।।
—गोरखवानी, पृ० १८।

[२] उन्मनि लागा होइ आनन्द।—गोरखवानी, पृ० ४५।

[३] कबीर ग्रन्थावली, पद १७, पृ० ९४।

[४] उन्मनि मनुआ सुन्य समाना दुविधा दुर्मति भागी।
—कबीर की विचारधारा, पृ० ४०९।

[५] सन्त सुधासार—कबीर साहेब, पृ० ९७।

[६] कबीर ग्रन्थावली, साखी १५, पृ० १३।

[७] वही, साखी १६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्री परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान है कि यह भी सम्भव है कि कबीर आदि संतों ने परमतत्त्व को केवल 'मन' की संज्ञा दी होगी और उसके पहले 'उन' जोड़ दिया होगा।[1] यह भी सम्भव हो सकता है किन्तु मन के रूप में ही क्यों न हो, उन्मन से परमतत्त्व का तथा मन से संसारी भाव का बोध हो सकता है। कबीर की एक साखी से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

मन दीया मन पाइए, मन बिन मन नहिं होई।
मन उन्मन उस अंडज्यूँ, अनल अकासा जोई॥[2]

संतों के द्वारा प्रयुक्त उन्मनि शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है किन्तु साधना क्षेत्र में हठयोग के प्रभाव के फलस्वरूप उसमें समाधि का भावार्थ सर्वत्र उपलब्ध रहता है। इस रूप में वह शब्द परम्परा-पोषित ही माना जायगा।

गगन और शून्य—सिद्ध शब्दावली तथा नाथपंथी प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात करते समय नाथपंथी साधकों द्वारा इसके प्रयोग की बहुरूपता पर विचार किया ही गया है। नाथपंथी साधकों ने शून्य अथवा गगन को अनेक रूपों में व्यवहृत किया है, संतों में गगन अथवा शून्य का विकास इन रूपों में खोजा जा सकता है—(१) परमतत्त्व, नाद अथवा परमज्ञान के रूप में, (२) ब्रह्मरन्ध्र तथा सहस्रारचक्र के रूप में, तथा (३) परमपद के रूप में। संतों की रचनाओं में शून्य तथा गगन पर्याय से प्रतीत होते हैं।

परमतत्त्व के रूप में नानक ने शून्य और शब्द को प्रायः एक ही माना है।[3] कबीर ने भी आदितत्त्व के रूप में सहज शून्य का प्रयोग किया है—

सहज सुंनि इकु बिरवा उपजि धरती, जलहस सोखिया।
कहि कबीर हउ ताका सेवक, जिनि यहु बिरवा देखिया॥[4]

यहाँ उन्होंने तरुवर का रूपक देकर समझाया है। इस दृष्टि में नानक और कबीर ने आदितत्त्व के रूप में शून्य का प्रयोग किया है किन्तु प्रायः अन्य संतों ने इसको अपनी रचनाओं में इस रूप में नहीं प्रयुक्त किया। शून्य का यह प्रयोग सिद्धों की शैली के आधार पर ही माना जा सकता है।[5] किन्तु परमज्ञान के रूप में संतों द्वारा शून्य का प्रयोग नाथपंथी अद्वयवाद के आधार पर ही हुआ है। शून्य में जीवन-मरण का निषेध छिपा हुआ है—

जीवन मरै मरै पुनि जीवै ऐसे सुंनि समाइया।[6] **—कबीर**

---

१ **कबीर साहित्य की परख, पृ० २३७।**

२ **कबीर ग्रन्थावली, साखी ६, पृ० २८।**

३ **सुन्न शब्द से उठै झंकार। सुन्न शब्द ते ओ अंकार॥**
—प्राणसंगली, नानक, पृ० २०२।

४ **सन्त कबीर, पृ० १८१।**

५ **सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, पृ० ३४२।**

६ **संत कबीर, पृ० ४६।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पहिले ज्ञान का किया चांदना पाछे दिया बुझाइ ।
सुन्न सहज में दोऊ त्यागे राम न कहूँ सुखदाई ।।[1] —रैदास

× × ×

सुन्न असुन्न में डोर बन्धाना ।चडे हंस चढि करत पयाना ।।[2]

संतों द्वारा परमज्ञान अथवा परमतत्त्व के रूप में प्रयुक्त शून्य वेदान्त के लोक-प्रभाव से प्रभावित माना जा सकता है। यद्यपि संतों ने प्रत्यक्ष रीति से शास्त्रों का समर्थन नहीं लिया है किन्तु कतिपय संतों ने उसका प्रतिपादन इसी रूप में किया है।[3]

गगन मण्डल अथवा शून्य मण्डल के रूप में संतों के जितने प्रयोग मिलते हैं वे हठयोग की साधना के अनुसार ही हुए हैं। गगन-मंडल की कल्पना संतों ने त्रिकुटी के मध्य की है—

ताके कहिये ज्ञान गंभीरा। त्रिकुटी मध्य जो परखै हीरा।
ताके जोग यह जगत बताना। जाके गगन मंडल अस्थाना ।।[4]
—दरिया साहब

× × ×

सुख मनि सुन्न जोति त्रिकुटी में तुलसि दरद दिल हगन मिटा ।[5]
—तुलसी साहब

कुछ विद्वानों का मत है कि कबीर आदि की रचनाओं में शून्य शब्द अधिकतर परमतत्त्व की ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है और गगन किसी स्थान विशेष का सूचक सा-लगता है।[6] किन्तु संतों में जहाँ शून्य से परमतत्त्व का बोध होता है उससे अधिक स्थान विशेष का बोध शून्य मण्डल से होता है। कबीर ने सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र का वर्णन इस प्रकार किया है—

सुन्नि मंडल में घर किया, बाजे सबद रसाल।
रोम रोम दीपक भया, प्रगटे दीन दयाल ।।[7]

संतों ने शून्य को गुफा, महल, मण्डप, शिखर, नगर, हाट आदि रूपों में भी वर्णित किया है, किन्तु जब उसका ज्ञानपरक तथा हठयोग प्रधान रूप धीरे-धीरे भुलाया

---

१ रैदासजी की बानी, पृ० ३।
२ गुलाल साहब की बानी, पृ० २७।
३ तत्त्व अतत्त्व कह्यो नहि जात शून्य असून्य उरै न परै है।
ज्योति अज्योति न जान सकै कोउ, आदि न अंत, जिवै न मरै है ।।
—सुन्दरविलास, पृ० १६८।
४ दरिया सागर, पृ० १५।
५ संत-काव्य, पृ० ५३८।
६ कबीर साहित्य की परख, पृ० २४०।
७ संतबानी, संग्रह १, पृ० ८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाने लगा तब सम्भवत: शून्य की नि:सारता को लेकर भी संत सम्प्रदायों में रचनाएँ मिलती हैं—

मन मथ मरै न जीवई, जीवहि मरन न होय।
सुन्य सनेही रामबिन चलै अपन पौ खोय ॥[1]

संतों ने इस प्रकार शून्य शब्द का प्रयोग किन्हीं स्थलों पर नाथपंथी परम्परा में तथा किन्हीं स्थलों पर भावरूप में किया है। शून्य अथवा गगन की परम्परा नाथ पंथ में आकर सिद्ध साहित्य से पर्याप्त दूर होगयी थी यह सिद्ध-शब्दावली के प्रवृत्तिगत रूपों का विवेचन करते समय हमने देखा ही था, संतों में आकर यह शब्द ब्रह्म के आस्तिकवाद के रूप में व्यवहृत हुआ प्रतीत होता है।[2]

नाद और विन्दु—नाद-विन्दु शब्दों का सम्बन्ध लय योग की साधना से माना गया है। योग विषयक ग्रन्थों में इसकी विस्तृत चर्चा है।[3] लय योग की साधना तथा नाद विन्दु की साधना में अन्तर भी माना गया है। योगियों द्वारा नाद-विन्दु का प्रयोग कई अर्थों में किया गया है। नाद शब्द का पर्याय होने के कारण वह तत्त्व अथवा परमतत्त्व भी माना गया है तथा उससे अनहद नाद का भी अर्थ निकलता है। विन्दु वीर्य का पर्यायवाची है तथा ब्रह्मचर्य साधना के लिए प्रयुक्त होता है। यह जीवात्मा के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[4]

संतों में ये शब्द नाथपंथी शब्दावली से ग्रहण किये गये प्रतीत होते हैं। वज्रयानी बौद्ध सिद्धों की वाममार्गी साधनाओं के कारण लोक-जीवन में जिस ब्रह्मचर्य और संयम की आवश्यकता थी, काया साधना की दृष्टि में नाथपंथी रचनाओं में इन शब्दों की बहुलता मिलती है। विन्दु की साधना को गोरखनाथ ने सिद्धि-प्राप्ति के मार्ग का दृढ़ आधार माना तथा इस प्रकार परम्परागत सुखवादी साधना मार्ग पर भी इस दृष्टि से लोक में पुन: विचार किया जाने लगा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

गोरखनाथ ने कहा है—

नाद बिन्दु है फीको सिला। जिहि साध्या ते सिधै मिला ॥[5]

---

[1] बीजक, पृ० १०३।

[2] अबरन बरन धाम नहि छाप। अबरन पाई मैं गुरु की साप ॥
टारा न टरै आवै न जाइ। सुनि सहज महि रह्यौ समाई ॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २६९।

[3] हठयोग प्रदीपिका, ४/६६, ४/११४।

[4] (अ) हठयोग प्रदीपिका, पृ० ४/७२।
(आ) कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायन, पृ० ४०१।

[5] गोरखबानी, पृ० ६१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किन्तु नाद की भाँति विन्दु की बातें तो की जाती हैं पर बिरला ही कोई उसे प्राप्त कर सकता है। कहीं-कहीं वे उसका प्रयोग शिवरूप में भी करते हैं—

व्यंद व्यंद सब कोइ कहै। महाव्यंद कोई बिरला लहै॥
इह व्यंद भरोसे लावै बंध। असथिरि होत न देवो कन्ध॥[१]

× × ×

आछै शिवरूप व्यंद।[२]

गोरखनाथ ने यद्यपि नाद और विन्दु की साधना को बहुत महत्त्व दिया है किन्तु आध्यात्मिक अनुभूति के बिना वे उसका पूर्ण मूल्यांकन नहीं करते प्रतीत होते, संतों में भी नाथपंथी योगियों की भाँति नाद और विन्दु के मिलन की साधना का वर्णन मिलता है किन्तु वे उसके अनुभव को प्रधानता देते हुए प्रतीत होते हैं।

अवधू नादै व्यंद गगन गाजै, सबद अनाहद बोलै।
अंतर गति नहिं देखै नेड़ा ढूंढन बन बन डोलै॥[३]

संतों ने यद्यपि नाथपंथी अर्थ को इस रूप में ग्रहण तो किया है किन्तु संतों की मूल साधना 'राम की भक्ति' थी, वे राम नाम के आगे नाद विन्दु को गौण रूप प्रदान करते हैं—

नाद व्यंद की नावरी, राम नाम कनिहार।
कहै कबीर गुण गाहले, गुरु गमि उतरौ पार॥[४]

कबीर कोरी नाद-विन्दु साधना को बहुत महत्त्व नहीं देना चाहते,[५] एक प्रकार से वे उसे शुष्क और जड़ भी मानते हैं। वह उनके लिए सहायक साधना मात्र हो सकती है। भक्ति-भावना के कारण संतों का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में अधिक व्यापक माना जा सकता है। वह उनके द्वारा साधन रूप में प्रयोग किये गये हैं, साध्य रूप में नहीं।

निरंजन—मध्ययुग के योग, मंत्र और भक्ति के युग में निरंजन शब्द का बारम्बार उल्लेख मिलता है।[६] निरंजन शब्द अनेक रूपों में प्रचलित रहा है। कभी यह निर्गुण ब्रह्म के रूप में व्यवहृत हुआ है तो कभी रूढ़िवाचक संज्ञा के रूप में।

---

१ गोरखबानी, पृ० ७५।
२ वही, पृ० १००।
३ वही, पद १९६, पृ० १५४।
४ कबीर ग्रंथावली, पृ० ६०।
५ बिन्दु राख जो तरमै भाई। खुसरौ क्यों न परम गति पाई॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३००।
६ कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निरंजन को आराध्य मानने वाले निरंजनी सम्प्रदाय भी चले हैं जो राजस्थान तथा उड़ीसा में अब भी विद्यमान हैं ।[१] नाथ पंथ में यह शब्द एक समय ज्ञान निरंजन का वाचक समझा जाता था और निरंजन सिद्धि की भी चर्चा उस दृष्टि से मिलती है ।[२] गोरखनाथ ने भी निम्नलिखित सबदियों में निरंजन को नाथपद का पर्याय माना है—

उदै न अस्त राति न दिन । सखै सचराचर भाव न भिन ।।
सोइ निरंजम डाल न मूल । सर्व व्यापीक सुषमन अस्थूल ।।[3]

× × ×

माता हमारी मनसा बोलिये पिता बोलिये निरंजन निराकार ।
गुरु हमारे अतीत बोलिये जिनि किया पिंड का उधार ।।[४]

गोरखनाथ की एक सबदी से यह भी बोध होता है कि निरंजन सिद्धि भी थी ।[५] इस प्रकार निरंजन नाथपंथी योगियों के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित नाद स्वरूपी निर्गुण ब्रह्म का बोधक समझा गया और उसका उसी रूप में व्यवहार भी हुआ । कुछ विद्वानों का मत है कि पाशुपत शैव-दर्शन में निरंजन 'माया विशिष्ठ अशरीरी जीव का बोधक है' ।[६] संतों में निरंजन शब्द का प्रयोग नाथपंथी परम्परा के अनुरूप ही मिलता है जबकि उनके पंथों में यह शब्द पौराणिक रूप में ग्रहण किया गया ।[७] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संतों में ग्रहीत इस निरंजन शब्द पर विस्तृत विचार किया है। कबीर आदि संतों ने निरंजन को राम की भाँति ही ध्यान का लक्ष्य बनाने का उपदेश दिया है । नाथपंथियों से आगे बढ़कर वह परमतत्त्व अथवा राम के रूप में कबीर द्वारा व्यवहृत किया गया—

राम निरंजन न्यारा रे । अंजन सकल पसारा रे ।।
अंजन उतपति वो उंकार । अंजन मांड्या सब विस्तार ।।[८]

× × ×

अंजन अलप निरंजन सार । यहै चीन्हि नर करहु विचार ।।
अंजन उतपति बरतनि लोई । बिना निरंजन मुक्ति न होई ।।
अंजन आवै अंजन जाइ । निरंजन सब घटि रह्यो समाइ ।।[९]

× × ×

१ कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५२ ।
२ कबीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २४४ ।
३ गोरखबानी, सबदी १११, पृ० ३९ ।
४ वही, सबदी २०२, पृ० ६७ ।
५ वही, सबदी २३१, पृ० ७३ ।
६ कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायन, पृ० ३९७ ।
७ कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५२ ।
८ कबीर ग्रन्थावली, पृ० २०१ ।
९ वही, पृ० २०२ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक निरंजन असह मेरा। हिंदु तुरक दुइ नहिं तेरा ॥[1]

संतों द्वारा प्रयुक्त अंजन शब्द का अभिप्राय माया अथवा सांसारिक विषयादि से माना जा सकता है। इस प्रकार निरंजन का प्रयोग सारतत्त्व के लिए ही किया गया है।

संतों ने निरंजन को निर्गुण और निराकार रूप में प्रयुक्त किया प्रतीत होता है। उसके द्वारा अनासक्त जीवन का बोध भी होता है—

गोव्यंदे तूं निरंजन तूं निरंजन तूं निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं रेख नाहीं मुद्रा नहीं माया ॥[2]

कबीर ने निरंजन शब्द का प्रयोग मन के रूप में भी किया है।[3] वस्तुतः निरंजन शब्द संतों में आकर अनेक रूपों में व्यवहृत हुआ। मुख्यतः वह परात्पर ब्रह्म का वाचक ही माना जा सकता है।

सहज—सिद्ध शब्दावली से लेकर संत-काव्य तक में जिस शब्द की परम्परा अविच्छिन्न रूप में मिलती है वह सहज शब्द नाथपंथियों में अनेक रूप में व्यवहृत हुआ है।[4] संतों में सहज शब्द परमतत्त्व, सहज ज्ञान तथा सहज स्वभाव, सहज साधना, सहज समाधि तथा सहज रहनि के रूप में व्यवहार में लाया गया है, किन्तु उनका स्वर वज्रयानी सहज साधकों से बिलकुल ही मेल नहीं खाता। संतों ने सहजवाद की उपेक्षा कर उसमें सहज भक्ति का समावेश किया है ऐसा प्रतीत होता है। एक वाक्य में हम उनके द्वारा व्यवहृत सहज शब्द को स्वाभाविक और परमतत्त्व तथा सहज समाधि की साधना का वाचक मान सकते हैं जिसका कुछ सम्बन्ध नाथपंथी प्रवृत्ति से माना जा सकता है।

परमतत्त्व के रूप में कबीरदास ने उसे किसी सीमा में बाँधने का यत्न नहीं किया है। सहज स्वरूपा परमतत्त्व के अतिरिक्त शेष सब कुछ भ्रम ही है—

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तों इसम भरम भुलाना।
केतिक कहौं कहा नहिं मानें सहजै सहज समाना ॥[5]

रैदास का कथन है कि बिना सहज के सिद्धि नहीं हो सकती—

---

[1] कबीर ग्रन्थावली, पृ० २०२।
[2] वही, पद २१९, पृ० १६२।
[3] वही, पद ३३, पृ० ९९।
[4] इस प्रबन्ध का अध्याय ६।
[5] बीजक, पृ० ११६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भाई रे सहज बन्दौ लोइ, बिन सहज सिद्धि न होई।
रैदास दास ह्वे करि रह्यौ सहज समाई ॥[1]

संतों द्वारा सहज-रूपी राम का प्रयोग भी किया गया है जो अपनी पिछली परम्परा से बिलकुल ही भिन्न कोटि का हुआ है। वस्तुतः संतों की भक्ति-भावना के कारण नाथपंथी साधना का वाचक शब्द की भक्ति का वाचक बनकर व्यवहृत हुआ। सहज समाधि से जिस उन्मनि अवस्था का भान होता है उसी से रघुराई भी मिलते हैं।[2] दादू ने सहज तत्त्व के प्रसंग में राम का उल्लेख भी दिया है—

राम सबद सुख लै रहै पीछे लागा जाई।
मनसा वाचा कर्मना तेहि तत सहज समाई ॥[3]

संतों ने आत्मज्ञान के पहले सहजतत्त्व के ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर बल दिया है।[4] यह शब्द सहज धुनि[5], सहज वेलि,[6] सहज समाधि[7] तथा सहज सुनि[8] के रूप में संतों में व्यवहृत हुआ है। संतों ने सहज समाधि को भाव-योग के रूप में व्यवहृत कर सहज रहनी का जो स्वरूप अपनी वाणियों में दिया है वह लोकधर्म का प्रभाव भी माना जा सकता है। वैष्णव सहज जीवन से प्रभावित होकर कबीर कहते हैं—

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन से जागी, दिनदिन अधिक चली ॥

सहज शब्द नाथ पंथ में जिस रूप में प्रयुक्त हुआ, संतों में उससे भी अधिक व्यापकता से उसका प्रयोग किया गया। कबीर ने एक स्थल पर संकेत भी किया है कि सहज-सहज तो सब कहते हैं पर जानता कोई नहीं है—

सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजै विषया तजी, सहज कही जै सोइ ॥
× × ×
सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन सहजैं हरिजी मिलै, सहज कही जै सोइ ॥[9]

---

१ रैदासजी की वानी, पृ० २०।
२ बीजक, पृ० ११६।
३ दादू दयाल की वानी, पृ० ३।
४ कबीर ग्रन्थावली, पद २५, पृ० ९६।
५ वही, पद १५५, पृ० १३८।
६ वही, पद १६३, पृ० १४२।
७ वही, पद १५०, पृ० १३७।
८ वही, पद ६९, पृ० १०९।
९ वही, साखी १, ४, पृ० ४२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिस सहज शब्द का इतना अर्थ-विकास हुआ उसका प्रयोग कतिपय साधकों ने कुछ न करने के अर्थ में भी ग्रहण किया। सहज शब्द इन सब दृष्टियों से मध्ययुगीन चिन्ताधारा का बहुत ही शक्तिशाली शब्द माना जायेगा।

सुरति निरति—सुरति निरति का संयुक्त प्रयोग सबसे पहले नाथपंथी रचनाओं में ही मिलता है जिनका महत्त्व संत साहित्य के अन्तर्गत बहुत माना गया है। सिद्धों में सुरति शब्द तो मिलता है[1] किन्तु सुरति निरति दोनों शब्दों का अर्थ-विकास सिद्ध साहित्य से उपलब्ध नहीं होता। गोरखवानी में एक सबदी मिलती है जिसमें मछीन्द्र ने सुरति निरति की व्याख्या इस प्रकार की है—

अवधू सबद अनाहद सुरति सो चित।
निरति निरालंभ लागै बंध॥
दुविधा मेटि सहज में रहे। ऐसा बिचार मछिन्द कहै॥[2]

इन शब्दों की मूल व्युत्पत्ति में जाना उचित न होगा क्योंकि संत साहित्य में स्मृति के अपभ्रंश-रूप में सुरति शब्द का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। अर्थविज्ञान की दृष्टि से इन शब्दों ने अपने व्युत्पत्तिजन्य अर्थ को छोड़ दिया। सुरति निरति के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न मत उपलब्ध हैं किन्तु संतों में प्रयुक्त इन शब्दों के समीचीन अर्थ क्या हैं इस सम्बन्ध में कोई एक धारणा नहीं बनायी जा सकती। नाथों में प्रयुक्त इस शब्द का अर्थ श्री परशुराम चतुर्वेदी 'शब्द सुरति योग' के रूप में मानते हुए सुरति का अर्थ शब्दोन्मुख चित्त तथा निरति का अर्थ निरालम्ब की स्थिति करते हैं तथा उसी का विकास संतों में भी मानते हैं।[3] डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल सुरति का अर्थ स्मृति तथा निरति का अर्थ तादात्म्य-रूप मानते हैं।[4] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार सुरति अन्तर्मुखी वृत्ति तथा निरति बाहरी प्रवृत्ति की निवृत्ति है।[5] वज्रयानी सिद्धों में जिस सुरति का उद्भव चित्त प्रवाह से माना जाकर मैथुनपरक अर्थ लगाया गया था, नाथपंथी साधकों तथा संतों में उसका वाचक सुरति निरति शब्द नहीं मालूम पड़ता है। इस सम्बन्ध में सुरति शब्द-योग से ही इसका अर्थ मानना उचित प्रतीत होता है। सुरति शब्द की वह अवस्था है जब वह चित्त में स्थित रहता है तथा निरति निरालम्भ की स्थिति मानी जा सकती है। नाथ पंथ में इस संदर्भ में कतिपय सबदी विचारणीय हैं—

---

[1] **सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, पृ० ४०९।**
[2] **गोरखबानी, पृ० १९६।**
[3] **कबीर की विचारधारा, पृ० २५१।**
[4] **योग प्रवाह, पृ० २३,३२।**
[5] **कबीर, पृ० २५४ (पाद टिप्पणी)**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अवधू सुरत सो साधक सबद सो सिधि।
आप सो माया पर सो रिधि।
दुई को मेट निरति में रहै। ऐसा विचार मछिन्द्र कहै॥[१]
× × ×
अवधू सुरति मुषि बोलै सुरति मुषि चलै।
सुरति मुख बैठे सुरति मुषि मिलै॥
× × ×
सुरति सो फिर्‌या मिल्या सोइ सारं॥[२]

संतों में नाथपंथी सुरत शब्द योग की परम्परा का ही मुख्य रूप से निर्वाह मिलता है—

सुरति समाणी निरति में निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खूले स्वयं दुवार॥[3]
× × ×
सुरति समाणी निरति में अजपा माहे जाप।
लेख समाणां अलेख में यूँ आपामाहे आप॥[४]

सुरति का प्रयोग कभी सुरता के लिए जैसे कथता बकता सुरता सोई',[५] कभी स्तुति के लिए तथा कभी आत्मा के लिए भी किया गया है। संत कवियों ने कतिपय प्रसंगों में सुरति को अस्पष्ट रूप में प्रयुक्त किया है। सामान्य रूप से संतों में प्रयुक्त सुरति के लिए कबीर का यह रूपक उपयुक्त माना जा सकता है—

सुरति ठींकुली लेज ल्यौ मन नित ढोलन हार।
कंवल कुवां में प्रेम रस, पीवै बारंबार॥[६]

नाथ पंथ के कतिपय वाचक शब्दों का संत-काव्य में जिस रूप में अर्थ-विकास मिलता है उसके आधार पर नाथपंथी प्रवृत्तियों की सूचना हमें साधारणतया मिल ही जाती है। शब्दों के प्रयोग की बाह्य योजना में यद्यपि कोई अन्तर नहीं है तथापि नाथपंथी शब्दों को संतों ने जिस रूप में ग्रहण किया है उसके आधार पर हठयोग की क्लिष्ट काया साधना तथा कुण्डलिनी का उद्‌बोधन संतों की प्रवृत्तियों में प्रवेश करता हुआ नहीं दिखाई पड़ता। संतों ने अमृत के स्थान पर रामरस को अपनी साधना का

---

१ **गोरखवानी**, पृ० २०० ।
२ **वही**, पृ० १९६ ।
3 **कबीर ग्रन्थावली**, साखी २२, पृ० १४ ।
४ **वही**, पृ० २३ ।
५ **वही** साखी १४, पृ० १८ ।
६ **वही**, पृ० १८ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आधार बनाया तथा शून्य और सहज शून्य को मिलाकर ऐसे सहजतत्त्व की उद्भावना की जिसने संत-काव्य को एक नया मोड़ दिया और सांस्कृतिक चिन्तन को जहाँ सहज और लोकोन्मुख बनाया वहाँ अनेक साधनाओं के मिश्रित प्रयोगों से दुरूह और नीरस भी बना डाला। धर्मसाधना के साहित्य में इन प्रवृत्तियों का होना कोई दोष नहीं माना जा सकता। संतों ने जिस भक्ति को अपनी साधना का मुख्य हेतु बनाया था उसके आगे सहज सिद्धियाँ तो क्या अष्ट महासिद्धियाँ भी गौण रूप में ही आ सकी हैं। इन शब्दों के क्रमिक विकास को देखकर यह तथ्य सहज ही निःसृत होता है कि मध्य-युग में संतों की शब्दावली भी भक्ति-प्रवाह में अपने आपको निमज्जित कर लोक चिन्ता की अभिव्यक्ति में सहायक हुई थी।

गुह्यवाणी और रूपक योजना

धर्मसाधना के काव्य को साधना के ही अन्तर्गत उसका एक अंग मान लिया गया प्रतीत होता है। काव्य का यह रूप काव्य मर्मज्ञों द्वारा सामान्य नहीं माना गया। सिद्ध साहित्य में गुह्यवाणी के रूप में जिन मंत्रों एवं बीजाक्षरों को व्यवहृत किया गया उसकी कल्पना बौद्ध तथा ब्राह्मण दोनों ही साधनाओं में पूर्व से ही पल्लवित होती हुई प्रतीत होती है। सिद्धों ने जिस गुहिण, गुहिर भास की कल्पना इस सम्बन्ध में की थी, विद्वानों ने उसका मुख्य हेतु वैयक्तिक प्रज्ञोपायात्मक साधना ही माना है।[1] सिद्धों के बाद भी इस शैली की रचनाएँ नाथपंथी साधकों तथा संतों में मिलती हैं और उनके पूर्व भी इस शैली की रचनाएँ मंत्र के रूप में भारतीय साहित्य में उपलब्ध हैं। सिद्धों ने जिन रचनाओं को गुह्यवाणी के नाम से सम्बोधित किया है उनमें अलौकिक रहस्यात्मक स्वभाव का विकसित होना पाया जाता है तथा उनकी प्रतीकात्मक शैली को ही 'सन्धा भाषा' अथवा 'सन्धा वचन' नाम बौद्धों द्वारा ही सर्वप्रथम दिया गया प्रतीत होता है।[2] यद्यपि प्राचीन भारतीय आर्यग्रन्थों में भी ऐसे उदाहरण खोजकर निकाले जा सकते हैं जिनमें सन्धा भाषा जैसी भाषा के प्रयोग मिल सकते हैं तथा रहस्य संकेतों के प्रतीक विधान भी विद्वानों ने इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किये हैं जिन्हें गुह्यवाणी की कोटि का माना जा सकता है[3] किन्तु तथ्य यह है कि तन्त्रों में ही उस गुह्यवाणी का विकास हुआ है जिसका उद्देश्य अपनी साधना को बहुधा गुप्त रखना था। बौद्ध तन्त्रों तथा योगाचार में इस गुह्य प्रतीक योजना का मुद्रामैथुन-

---

[1] सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, पृ० २४५।

[2] (अ) हिन्दी साहित्य कोश, संधा भाषा, पृ० ७९३।
(आ) सहजयानियों में इस प्रकार की भाषा का नाम 'सन्धा भाषा' प्रचलित था।—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३४।

[3] कबीर की विचारधारा, पृ० ३५३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परक वह स्वरूप मिलता है जिसकी शैली और भी अधिक दुरूह बन पड़ी है तथा उनमें भाषा का अटपटापन भी कम नहीं है। बाह्य दृष्टि से नाथपंथी रचनाओं एवं संत-काव्य में योगपरक रूपकों की रहस्यात्मकता तथा परम्परा से प्राप्त अटपटापन भी मिलता है जिन्हें विद्वानों ने उलटबाँसी के नाम से अभिहित किया है किन्तु गुह्यवाणी और उलटबाँसी अथवा उलटी चरचा को एक-दूसरे का विकसित रूप नहीं माना जा सकता। उलटबाँसी ठीक वही नहीं है जो बौद्ध सिद्धों की वामाचार-परक गुह्यवाणी थी। सिद्धों में उलटी चर्चा का कोई प्रसंग नहीं मिलता उसी प्रकार नाथपंथी रचनाओं तथा संतों की वाणियों में मुद्रामैथुन-परक प्रतीत विधान के उस रूप का भी अभाव है।[१] गुह्यवाणी के पर्याय रूप में प्रचलित संधा भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत है। संधा भाषा के विवेचन के आधार पर उपर्युक्त कथन की पुष्टि की जा सकती है।

विद्वानों ने सिद्धों में व्यवहृत इस भाषा के विविध अर्थों में समझने का प्रयत्न किया है जिसके आधार पर निम्नलिखित मत उपलब्ध हैं[२]—

(१) अंधकार और प्रकाश के मध्य संध्या की भाँति धूपछाँही शैली।
(२) अभिसंधि सहित अथवा साभिप्राय भाषा।
(३) संधि देश की भाषा।
(४) समाप्त होने वाले काल की भाषा।

इन मतों में प्रायः विद्वानों ने अनुमानसापेक्ष्य अर्थों की सम्भावना की है। वस्तुतः सिद्ध साहित्य में जिस गुह्य साधना की रहस्यमय अभिव्यक्ति मिलती है उसके प्रतीक विधान में गूढ़ भाव की सोद्देश्य योजना भी निहित है। इस प्रकार की शैली की विशेषता दो बातों में खोजी जा सकती है। प्रथम रूप अस्फुट अभिव्यक्ति का है तथा द्वितीय गोपनीय अनुभूति का। ये दोनों ही रूप संधा भाषा में एक साथ मिलते हैं। अस्पष्टता के कारण उसे संध्या की भाँति धूपछाँही शैली कहा गया तथा साभिप्राय होने के कारण अभिसंधि सहित भी विद्वानों ने उसे माना है। संधि देश की भाषा कहना उसके लिए उपयुक्त नहीं है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत ठीक ही कहा जा सकता है क्योंकि संधि देश के रूप में अनुमित बिहार की पूर्वी सीमा तथा बंगाल की पश्चिमी सीमा सदा इसी भाँति होगी यह तर्कपूर्ण बात नहीं है।[३] इसी प्रकार समाप्त होने वाले काल की भाषा का तर्क भी उचित नहीं प्रतीत होता।[४] संधा भाषा का प्रयोग करने वाले साधक सिद्ध युग अथवा अपभ्रंश काल की समाप्ति से

---

१ हिन्दी साहित्य कोश, उलटी साधना, पृ० १६७।
२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६५।
३ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३४।
४ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्बद्ध कर अपने ऐसे प्रयोग नहीं करते होंगे। जिस रूप में सिद्धों की गुह्यवाणियों की भाषा को संधा भाषा का नाम दिया गया उसका कारण तत्कालीन गुह्य साधना की प्रधानता ही माना जा सकता है। किन्तु लोकजीवन में जिस गुह्य साधना के भोगपरक रूप के प्रति आंतक और विरोध भाव की व्यंजना स्वाभाविक थी उसके परिणामस्वरूप उसका गोप्य रूप ही प्रचलित रह सकता था। कुछ विद्वान् दृष्टिकूट, गुह्यवाणी तथा उलटबाँसी को एक ही मानते हैं, किन्तु हमारे मत में यह बात उपयुक्त नहीं प्रतीत होती। शैली की जिस प्रतीकात्मकता के आधार पर इनको एक माना गया है उसकी व्यंजना में कालविशेष एवं परिस्थिति-विशेष के कारण अंतर होता गया प्रतीत होता है। दृष्टिकूट में शब्दों का प्रयोग अधिकतर पाठकों व श्रोताओं के विस्तृत ज्ञान व जानकारी को लक्ष्य कर किया जाता है जिसका अप्रत्यक्ष हेतु परीक्षा के लिए अवसर प्रस्तुत करना भी माना जा सकता है।[1] गुह्यवाणी अथवा संधा भाषा में अभिप्राय शब्दों[2] के द्वारा प्रत्यक्ष भाव को व्यक्त करने के साथ-साथ किसी अन्य गूढ़ भाव को सूचित करने का उद्देश्य भी हुआ करता है। उलटबाँसी अथवा उलटी चर्चा के शब्दों में स्वभाव विरुद्ध एवं प्राकृतिक नियमों के विपरीत उल्लेख मिलता है जिसमें चमत्कारपूर्ण अर्थ निहित रहते हैं।[3] सामान्यतः ऊपर से दिखने में दृष्टिकूट, संधा-वचन और उलटबाँसी एक ही भाँति की रचना शैली के अन्तर्गत आते हैं किन्तु एकसी अस्फुट एवं रहस्यपूर्ण शब्द-योजना के बाद भी उनमें पर्याप्त अन्तर मिलता है। उद्देश्य की भिन्नता के कारण भी कभी-कभी एक ही प्रतीक भिन्न शैलियों में व्यवहृत हुए हैं। यह प्रतीक शैली भिन्न-भिन्न रूपों में भारती-साहित्य में मिलती है यद्यपि उनकी मुख्य प्रवृत्तियों में बहुत भेद नहीं माना जा सकता।

आध्यात्मिक क्षेत्र के कवियों ने प्रायः सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया है। आध्यात्मिक 'साधकों में अपनी सूक्ष्म अनुभूति को प्रकट करने की बलवती भावना पायी जाती है। वे उसे भावपूर्ण एवं स्पष्ट रूप में व्यक्त करना भी चाहते हैं किन्तु वे उसे बोधगम्य रूप में प्रकट नहीं कर पाते, उनमें प्रतीकों का प्रयोग भी अधिक मात्रा में मिलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार उनकी यह सांकेतिक भाषा ही सत्य की अभिव्यक्ति को काव्य का रूप प्रदान किया करती है।[4] काव्य के कला-पक्ष से उनका कोई तादात्म्य प्रतीत नहीं होता, इसीलिए भावों के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने प्रतीक पद्धति का आश्रय लिया है। संत कवि में भी जो कि मुख्यतः आध्यात्मिक परम्परा के कवि हैं, यह प्रतीक पद्धति परम्परा-पोषित रूप में मिलती है। वस्तुतः यही प्रतीक

१ संत-काव्य—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ६५।

२ सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, पृ० २७०।

३ प्रतीक रूपक अथवा धर्म विपर्यय रूपक को उलटबाँसी कहते हैं, प्राकृतिक परिस्थितियों को उलटकर विपरीत निरूपण करना ही इस शैली का उद्देश्य है।
—डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य, पृ० २३६।

४ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ३३८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शैली विभिन्न नामों से धर्मसाधना के साहित्य में व्यवहृत हुई है किन्तु विषय की दृष्टि से और साधना के गुह्य पक्षों से सम्बन्धित होने के कारण उनका कोई विशेष नाम प्रचलित हो गया प्रतीत होता है। 'कूट काव्य', गुह्य वाणी तथा 'उलटबाँसी' उसी की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। संतों में उलटबाँसी का विशेष प्रयोग मिलता है। वर्णन शैली में ये उलटबाँसी नाथपंथी साधकों की 'उलटी चर्चा' की ही परम्परा में आती हैं। उनकी अत्यधिक सादृश्यता इस बात को प्रकट करती है कि अन्य बातों की भाँति उलटबाँसियों का प्रयोग भी नाथपंथियों के माध्यम से संतों तक पहुँचा है। यह प्रतीक शैली वस्तुतः वेदकालीन साहित्य की ऋचाओं, महाकाव्यकालीन काव्यों, तंत्रों, बौद्ध-सिद्धों की गुह्यवाणियों तथा संतों की उलटबाँसियों में मिलती है।[1]

संत-काव्य में इस प्रकार के प्रतीक दो रूपों में प्रयुक्त हुए हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने इन्हें अर्थ रूपक तथा प्रतीक रूपक माना है।[2] अर्थ रूपक से तात्पर्य विशिष्ट शब्दों के विशिष्ट अर्थों की व्यंजना से तथा प्रतीक रूपक को अर्थ विपर्यय रूपक माना जा सकता है जो उलटबाँसियों के रूप में संत सम्प्रदाय में मिलता है। संतों ने दोनों का प्रयोग किया है। अर्थ रूपक मुख्यतः सामान्य जीवन की घटनाओं पर आधारित होते हैं। इन रूपकों की रचना का उद्देश्य विशिष्ट परिस्थितियों की गूढ़ व्यंजना आध्यात्मिक अर्थ में घटित करना ही प्रतीत होता है।[3] संत-काव्य में अर्थ रूपकों का उपयोग जगत की असारता तथा साधना के तत्त्वज्ञान के परिचय की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है, जाने-पहचाने शब्दों से गूढ़ अर्थ की व्यंजना इन रूपकों के द्वारा हो जाती है। घर के लिए शरीर, आग के लिए ब्रह्मज्ञान, पाँच लरिका के लिए पंचेन्द्रिय आदि का प्रगोग कथन को समझने में सहायक हो सकता है।[4] इस दृष्टि से संतों द्वारा प्रयुक्त इन अर्थ रूपकों की कोई संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती। सामान्यतः कोई भी लोक-प्रचलित शब्द जिस से परमार्थ बोध की अभिव्यक्ति प्राप्त हो सके, अर्थ रूपक के अंतर्गत आ सकता है। संतों के ये अर्थ रूपक मान्यता के आधार पर ही समझे जा सकते हैं किन्तु इस प्रकार की रूपक योजना के निर्वाह में पूर्ण सफलता संतों को नहीं मिली है। जिस क्षेत्र में संतों को अपनी साधना का विशेष प्रचार करना पड़ता था उन्हीं शब्दों का प्रयोग उन्होंने किया प्रतीत होता है। ये अर्थ रूपक विषय की पूर्ण व्यंजना के स्थान पर शब्दगत अभिव्यक्ति को ही प्रकट करते हैं। अर्थ रूपकों और उलटबाँसियों में बहुत ही अल्पभेद माना जा सकता है।

---

[1] हिन्दी साहित्य—डा० रामकुमार वर्मा, द्वितीय खण्ड, पृ० २३५।

[2] वही, पृ० २३५।

[3] वही, पृ० २३५।

[4] कबीर ऐसा कोई न जनमिओ, अपने घर लावै आग।
पाँचहु लरिका जारिकै, रहै राम लिव लाग॥—संत कबीर, पृ० २५४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उलटबाँसियाँ उलटबाँसियाँ संत-काव्य की एक विशेषता ही मानी जा सकती हैं। सामान्यतः ये उलटबाँसियाँ उन रचनाओं में मिलती हैं जिनमें किसी बात को अप्रत्यक्ष रूप में विपरीत या ऊटपटांग ढंग से कहा गया रहता है। बहुत से साहित्यमर्मज्ञ ऐसी रचना को 'अधम काव्य' भी कह डालते हैं।[१] वस्तुतः संतों के ये प्रतीक रूपक लौकिक काव्य की दृष्टि से नहीं लिखे गये। उलटबाँसी का प्रथम दृष्टि में वर्णन असम्भव सा, आश्चर्य और चमत्कारजन्य होता है किन्तु आध्यात्मिक संकेतों से परिचित व्यक्ति उन्हें समझकर आनन्द की अनुभूति कर सकता है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से संतों की उलटबाँसी जटिल नहीं मानी जा सकतीं, न भाषा की दृष्टि से ही उन्हें दुरूह कहा जा सकता है। यह मुख्यतः शैली की अस्पष्टता मानी जा सकती है।

'उलटबाँसी' शब्द का प्रयोग काव्य में कब से हुआ इस सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक आधार हमारे पास नहीं है और न इस शब्द की व्युत्पत्ति का ही पता चलता है। गोरखनाथ द्वारा रचित निम्नलिखित पद में सर्वप्रथम 'उलटी चरचा' का प्रयोग मिलता है—

> **नाथ बोले अमृत बाणी, बरिषैगी कंबल भीजैगा पाणी।**
> × × ×
> **एक जू रढिया रठती आइ। बहू बिवाई सासू जाई॥**
> **नगरी को पाणी कुई आवै। उलटी चरचा गोरष गावै॥**[२]

उलटी चर्चा अथवा उलटबाँसी का तात्पर्य विपरीत अथवा असाधारण कथन माना जा सकता है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने उलटबाँसी शब्द की उत्पत्ति के लिए कतिपय मूल उद्‌भावनाएँ की हैं जिन्हें प्रामाणिकता के अभाव में पूर्णतया स्वीकार नहीं किया जा सकता।[३] गोरखवानी में उलटबाँसी कहे जा सकने वाले अनेक पद मिलते हैं[४] जो संतों की उलटबाँसियों के पूर्व रूप माने जा सकते हैं। डा० रामकुमार वर्मा उलटबाँसी की कल्पना का विशिष्ट आधार मानते हैं।[५] हठयोग के आठ अंगों में प्रत्याहार के द्वारा साधक अपनी इन्द्रियों को विषय-वासना में विचरण करने के बदले उन्हें अन्तर्मुखी करने की साधना करता है। यह साधना उन्हें अपनी गति में उलट जाना ही होती है। इन्द्रियों के उलट जाने से इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विषय भी उलट जाते हैं। सांसारिकता उलटकर आध्यात्मिकता में बदल जाती है। संतों में

---

१ संत-काव्य—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २४।

२ गोरखवानी, पृ० १४२।

३ कबीर साहित्य की परख, पृ० १५२।

४ (१) आवलियो थलि मोरियो ऊपरि नींब बिजौरे फलियों।
—गोरखवानी, पृ० १११ (पद २०)।
(२) चीटी केरा नेत्र में गज्येन्द्र समाइला। गावडी के मुख में बाधला बिवाइला॥
(पद ३४)
(३) अचरा न चरै धेन कटरा न खाई। पंच ग्वालियाँ को मारण धाई।
(पद ५१) आदि।

५ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० २३६।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उलटबाँसी के अर्थ को व्यक्त करने वाले दूसरे कतिपय शब्द भी मिलते हैं। कबीर ने उलटा वेद[1] सुन्दरदास ने उलटी[2] अथवा विपर्यय शब्दों का प्रयोग उलटबाँसी के अर्थ में ही किया प्रतीत होता है।

तर्क की दृष्टि से तो यह बात कही जायगी कि वैदिक रूपों में हमें शब्दविहीन भाषा मिलती है अर्थात् आर्य ऋषिगण सांकेतिक ध्वनियों में बातें करते हैं जिन्हें पूर्वं-शब्द नहीं कहा जा सकता। साधारणतया भारतीय दार्शनिकों एवं रहस्यवादियों ने अनुभूति की व्यंजना में ऐसी समाधि भाषा का प्रयोग किया। उसी परम्परा पर मध्य-युग के मतों ने ध्वन्यात्मक परिपाटी पर प्रतीकों की योजना की है। यह प्रतीक भाषा भावगम्य है परन्तु काव्य की कसौटी पर उसमें दुष्क्रमत्व, दुष्टत्व आदि दोष स्पष्ट हैं, वे पहेली ही हो गये। लाक्षणिकता और व्यंजना का चमत्कार कवि-परम्परा सिद्ध होता है, पर संतों की उलटबाँसियाँ परम्परा से पोषित नहीं हैं, उनमें अर्थ की संगति अलग-अलग सामयिक परिस्थिति के अनुकूल बैठानी पड़ती है।

संतों में उलटबाँसियों का प्रयोग अस्वाभाविक रूप में हुआ प्रतीत नहीं होता। कुछ विद्वानों का मत है कि निश्चित उद्देश्यों से प्रेरित होकर ही संतों ने अपनी रचनाओं में उलटबाँसियों का प्रयोग किया है।[3] वे उद्देश्य प्रायः निम्नलिखित माने जा सकते हैं :

(१) हठयोग की क्रियाओं द्वारा प्राप्त सिद्धि की गूढ़ चर्चा के उद्देश्य से।
(२) आध्यात्मिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से।
(३) दुरुपयोग से बचाने के लिए प्रच्छन्न रूप से प्रकट करने के उद्देश्य से।

संतों द्वारा इन उद्देश्यों की कहीं अभिव्यक्ति नहीं भी हुई है किन्तु जिस रूप में उलटबाँसियों का प्रयोग हुआ है उसके आधार पर यह माना जा सकता है कि उपर्युक्त किसी न किसी उद्देश्य की प्रेरणा से ही संतों ने उलटबाँसियों का सृजन किया है। इन उलटबाँसियों के द्वारा सामान्य व्यक्ति को कोई लाभ नहीं प्रतीत होता किन्तु प्रत्याहार की सिद्धि में संलग्न साधक उलटे कथनों से अपनी क्लिष्ट साधना को और बलवती बना सकता है। संतों ने जगत को मिथ्या मानकर सामान्य मनुष्य की दृष्टि से उलटे भाव की सतर्क स्थापना की किन्तु प्रत्येक व्यक्ति उस आध्यात्मिक सत्य को नहीं समझ सकता इसीलिए सम्भवतः उन्हें प्रच्छन्न रूप से अपनी बात कहनी पड़ी तथा साथ ही अपनी बात को इस ढंग से संतों ने कहा है जिसे सुनकर प्रत्येक व्यक्ति

---

[1] है कोई जगत गुरुज्ञानी उलटि वेद बूझै।—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४१।

[2] सुन्दरदास उलटी कहै समुझै संत सुजान।—सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ७६१।

[3] (१) हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० २३८।
(२) संत-काव्य—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ९८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुतूहल और आश्चर्य से स्तम्भित हो जाय। इस प्रकार उलटबाँसियों के द्वारा वे साधारण जन को अपनी ओर आकृष्ट कर सकते थे। संतों ने यद्यपि चमत्कारपूर्ण कथनों के द्वारा अपने उद्देश्य को इस रूप में प्रकट किया है किन्तु उसे उन्होंने स्वयं कभी उलटबाँसी नाम नहीं दिया। संतों की रचनाओं में प्रायः 'पदहि विचारै' [1], 'पदको बूझै,'[2] या 'पद का करै न वेरा'[3] आदि का प्रयोग हुआ है और उनमें निहित रहस्य संकेतों की चर्चा अकथ कहाणी[4], एक अचम्भा[5], अकथ कथा[6], अद्भुत कथा[7] आदि के द्वारा की गयी है।

संतों की कुछ उलटबाँसियाँ प्रतीकों अथवा पारिभाषिक शब्दों पर आश्रित हैं तथा कुछ का सम्बन्ध विद्वानों ने अलंकारों; विशेषतया असंगति, विषम, विरोध विभावना, रूपक, विशेषोक्ति और अतिश्योक्ति; से माना है[8] और कुछ में इन दोनों का सम्मिश्रण भी पाया जाता है जिन्हें अद्भुत रस-प्रधान उलटबाँसियाँ कहा जा सकता है। विषय के अनुसार उलटबाँसियों को कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है जिनमें से कुछ प्रकार इस रूप में माने जा सकते हैं :

(१) सांसारिक व्यवहार, भ्रम आदि के वर्णन से सम्बन्धित उलटबाँसियाँ।
(२) हठयोग की साधना से सम्बन्धित उलटबाँसियाँ।
(३) ज्ञान विरह, सजानुभूति अथवा आध्यात्मिक जीवन-सम्बन्धी उलटबाँसियाँ।
(४) मन, माया, काल आदि विषयों पर आधारित उलटबाँसियाँ।
(५) संदेश प्रधान उलटबाँसियाँ।

संत-काव्य में उलटबाँसियों की परम्परा का सीधा सम्बन्ध नाथ पंथ से है इस सम्बन्ध में प्रायः सभी एकमत हैं। यद्यपि संतों की उलटबाँसियों में सिद्धों और जैनों के विषय और वर्णनशैली का प्रभाव भी खोजा जा सकता है किन्तु प्रायः सभी उलटबाँसियों में कतिपय समानता तो मिल ही सकती है। मध्ययुग में गोरखनाथ के महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व के प्रभाव के फलस्वरूप सम्भवतः नाथपंथी उलटबाँसियों का इतना प्रचार हुआ कि उनमें से कई एक अंशतः कबीर की पंक्तियों में ज्यों की त्यों मिल

---

[1] कबीर ग्रन्थावली, पद ९, पृ० ९१।
[2] कबीर ग्रन्थावली, पद १६१, पृ० १४१।
[3] वही, पद १६५, पृ० १४३।
[4] वही, पद १५४, पृ० १३८।
[5] वही, पद ११, पृ० ९१।
[6] वही, पद १४, पृ० ९३।
[7] वही, पद १६१, पृ० १४१।
[8] कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायत, पृ० ३२६।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जाती हैं।[१] संत साधना का सीधा सम्बन्ध जैसा कि पूर्व में प्रकट किया गया, नाथपंथी योग पद्धति से भी है। ऐसी स्थिति में योगियों के पारिभाषिक शब्दों में उलटी बानी को प्रभावशाली और अद्भुत बना देने की शक्ति थी यह तथ्य भी विचारणीय है।[२] पारिभाषिक शब्दों, योगपरक रूपकों तथा अनुमान सापेक्ष्य तथ्यों को लेकर उलटबाँसियों का स्वरूप संत-काव्य में अपनी विशेषता को प्रकट करता है। उलटबाँसियों का अर्थ सम्पूर्णतया श्रोता अथवा पाठक के इन पारिभाषिक शब्दों अथवा योगपरक रूपकों से परिचित होने अथवा आत्मानुभूति के प्रबल होने पर ही निर्भर माना जा सकता है। प्रेम भक्तिपूर्ण कथन भी कभी-कभी उलटबाँसियों में मिल जाते हैं।[3]

कबीरदास की कतिपय उलटबाँसियाँ अद्भुत रस का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, उनकी परम्परा में अन्य संतों की भी ऐसी रचनाएँ उपलब्ध हैं जिन्हें उलटबाँसियों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। तुलसीसाहब, सुन्दरदास, पलटू, शिवदयाल आदि संतों ने वर्णनशैली के इस रूप को भी अपनाया है। हिन्दी के संत साहित्य में उलटबाँसियों की रचना तो मिलती ही है साथ ही अन्य प्रांतीय भाषाओं में भी उलटबाँसियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं।[४] संतों की उलटबाँसियों के कुछ अवतरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं जिनके आधार पर उनके साधारण स्वरूप का परिचय प्राप्त हो सकता है। यद्यपि संत कबीर की उलटबाँसियों का पाठ उनकी सब उपलब्ध रचनाओं में एकसा नहीं है फिर भी पाठभेद की समस्या को स्पर्श न करते हुए कतिपय उदाहरण ही यहाँ दिया जाने उपयुक्त होंगे। कबीर की एक उलटबाँसी इस प्रकार है—

हरि ने षारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिनि षाये।
ग्यान अचेत फिरैं नर लोई, ताथैं जनम-जनम डहकाये ॥ टेक
धौल मंदलिया बैलर बाजी, कऊवा ताल बजावै।
पहरि चोल नांगा दह नाचै, भैंसा निरति करावै ॥
स्यंघ बैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा लावैं।
उंदरी बधुरी मंगल गावै कछु एक आनन्द सुनावै ॥

---

१ (अ) गोरखवानी—डूंगरि मंछा जलि सुसा, पाँखी में दौ लाग।
अरहर वहै तूसाल वाँ सूलैं कांटा भागा ॥(पद २६, पृ० ११६)
कबीर ग्रन्थावली—समन्दर लागि आगि, नदिया जलि कोयला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूखा चढ़ गई ॥(सा० १०, पृ० १२)
(आ) गोरखवानी—नाथ बोले अमृत वाणी। वरिषैगी कंवली भीजैगा पाणी ॥
(पृ० १४१)

२ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत। —कबीर, पृ० ८३।

3 कबीर बादल प्रेम का हम पाई वरष्या आई।
अनंदि भोगी आत्मा, हरि भई बनराई ॥—कबीर ग्रन्थावली, साखी ३४, पृ० ४।

४ कबीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १८१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कहै कबीर सुनहुँ रे संतों गडरी परबत खावा ।।
चकवा बैसि अंगारे निगलै सयंद अकासां धावा ।।[१]

सामान्यतः इसका शब्दार्थ होगा कि हरि के पकाये हुए नमकीन बड़े को जिस किसी ने जला डाला वही उसे खा सका, नहीं तो जो ज्ञानहीन रहा उसे बार-बार जन्म लेकर धोखे में ही पड़ा रहना पड़ा। धौल बैल मंदला बाजा बजाने वाला है और साधारण बैल रबाब बजाया करता है जिस पर कौआ ताल देता रहता है, गधा लम्बा-सा वस्त्र पहनकर नाचता है और भैंसा नृत्य कराने में मग्न है। सिंह बैठा हुआ पान के पत्तों की काट-छाँट कर रहा है और बड़ा चूहा उनकी गिलोरियाँ बना रहा है। बेचारी चुहिया मंगल गान करती है और कछुआ आनन्द प्रकट कर रहा है। कबीर कहते हैं कि हे संतों, गेंडुरी ने पर्वत को खा लिया और चकवा बैठकर अंगारे निगलने लगा और समुद्र आकाश की ओर दौड़ पड़ा। इस पद में प्रारम्भ से अन्त तक कोई संगति नहीं दीखती और न ही इसकी कोई उपादेयता प्रकट होती है। उद्देश्य की दृष्टि से भी इसे अटपटी ही कहा जायगा किन्तु यदि प्रथम दो पंक्तियों पर ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होगा कि बड़े का प्रयोग एक ऐसी वस्तु के प्रतीक के रूप में किया गया है जो नष्ट होने के पश्चात् भी उपयोग में लायी जाती है तथा यदि अज्ञानवश ऐसा न किया जाय तो मनुष्य को धोखे में पड़कर बार-बार जन्म लेना पड़ता है। वह वस्तु नरदेह है जिसमें सहजदशा की उपलब्धि के लिए आमूल परिवर्तन करना आवश्यक है। अज्ञान के कारण इस देह में पंचज्ञानेन्द्रिय (मंदलिया बैल, रबाबी बैल, ताल बजाने वाला कौआ, नाचने वाला गधा तथा नृत्य करने वाली भैंस) अस्वाभाविक ढंग से कार्य करने में लगी रहती हैं तथा उसका अन्तःकारण चतुष्टय अर्थात् मन, बुद्धिचित्त एवं अहंकार (सिंह, घूँस, उंदरी तथा कछुआ) बेतुके मार्ग में प्रवृत्त होकर पड़े रहते हैं किन्तु यदि कहीं कुण्डलिनी) (गड़री सुषुम्ना के मेरुशिखर को पारकर गयी (विशाल पर्वत को खा गयी) तो चित्त में अनुराग का अविर्भाव हो जाता है। (दहकते अंगारे के समान) और तब मन परमात्मा की ओर इस प्रकार उन्मुख हो जाता है जिस प्रकार उमड़ता हुआ समुद्र आकाश की ओर दौड़ता है। इस प्रकार इन प्रतीकों के आधार पर एवं पारिभाषिक रूप में इस उलटबाँसी का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। 'जीवत मृतक' की सहज 'साधना' का यह वर्णन कितना सुन्दर बन पड़ा है।

कबीर की अन्य उलटबाँसी का एक पद निम्नलिखित है—

जीवत जिनि मारै मूवा मति ल्यावै।
मांस विहूंणा घरि मत आवै हो कंता ।। टेक ।।
उर बिन, पुर बिन, चंच बिन, वपु बिहूँनां सोई।
सो स्याजज जिनि मोर कंता, जाकै रगत मास न होई ।।
पैती पार के पारधी, ताकी धुनहीं पिनच नहीं रे ।।

---

[१] कबीर ग्रन्थावली, पद १२, पृ० ६२।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ता बेली को दूक्यौ मृग औ ता मृग कैसी सबहीं रे ।।
मार्‍या मृग जीतता राख्या, यहु गुरु ग्यांन अही रे ।
कहै कबीर स्वामी तुम्हारे मिलन की बेली है पर पात नहीं रे ।।[१]

अर्थात् हे कंत (जीव) ! यदि मृग (मन, ज्ञानसम्पन्न होने के कारण) जीवित अवस्था में हो तो उसे मत मारो (बाधित करो) और यदि वह (माया से प्रभावित होने के कारण) मृतकावस्था में हो तो उसे मत लाओ। किन्तु फिर भी तुम बिना माँस (बुद्धिजन्य दृढ़ भाव) लिये घर वापस भी न आओ। उस मृग (मन) के न तो छाती है, न पैर हैं और न मुख ही है। (शून्य रूप होने के कारण) यह बिना शरीर का है। उस सावज को मारकर ही क्या होगा जिसमें रक्त-मांस का अभाव हो। उस मृग (मन) को मारने वाले पारधी या शिकारी (प्राणशक्ति) के पास किसी धनुष को रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती और परली कोटि की निपुणता वाला हुआ करता है। उसके द्वारा मारा गया मृग (मन) लताओं में प्रवेश कर जाता है। सुविस्तृत आत्मबेली की ओर अंतर्मुख हो जाता है। उसका कोई शीश (आकार) नहीं और वह मारे जाने के पश्चात् भी सुरक्षित रहा करता है। वह गुरुपदेश द्वारा उपलब्ध ज्ञान के क्षेत्र का विषय है। कबीर का कहना है कि परमात्मा ! जिस तुम्हारी बेलि (आत्मबेलि) के भीतर उस मृगरूपी मन को प्रविष्ट होना है उसमें पत्ते (प्रवृत्ति के) नहीं हैं।

इस उलटबाँसी के कतिपय प्रतीक जैसे मृग, पारधी का प्रयोग गोरखनाथ के एक पद में भी मिलता है[२] सिद्धाचार्य सुमुकपा ने भी अपने एक चर्यापद में मन को 'हरिन' के प्रतीक रूप में व्यवहृत किया है।[३] इन प्रतीक रूपकों का उद्देश्य आध्यात्मिक साधना को प्रकट करना ही माना जा सकता है, इनकी पारिभाषिक अभिव्यक्ति विभिन्न विषयों के प्रतीकों के माध्यम से पहचानी जा सकती है किन्तु वे सामान्य रूप में समझे नहीं जा सकते।

कबीर की उलटबाँसी के रूप, पद में ही नहीं मिलते अपितु साखियों में भी देखे जा सकते हैं। एक साखी निम्नलिखित है—

समंदर लागीं आगि, नदियां जलि कोयला भई ।
देखि कबीरा जागि मंछी रूषां चढ़ि गई ।।[४]

अर्थात् समुद्र में आग लग गयी, नदियाँ जलकर भस्म हो गयीं और मछली वृक्ष पर चढ़ गयी हैं। तात्पर्य यह है कि जब शरीर में ज्ञान विरह की अग्नि प्रज्वलित हो उठी और सभी सांसारिक बन्धन नष्ट हो गये तब मन ऊँची दशा को प्राप्त कर सका है। यह परम्परा भी गोरखनाथ से प्रवाहित हुई प्रतीत होती है।[५]

---

१ **कबीर ग्रन्थावली**, पद २१२, पृ० १६०।
२ **गोरखवानी**, पद २६, पृ० ११६।
३ **चर्यापद** ५।
४ **कबीर ग्रन्थावली**, साखी १०, पृ० १२।
५ **गोरखवानी**, पद २०, पृ० ११२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कबीर की इन रचनाओं में उलटबाँसियों का स्वरूप स्पष्ट है, इसी रूप में संत सुन्दरदास का यह पद भी दृष्टव्य है :

कुंजर कौं कीरी गिलि बैठी, सिंघहि षाइ अघानौ स्यात ।
मछरी अग्नि मांहि सुख पायौ, जल पै हुती बहुत बेहात ।।
पंगु चढ़यौ पर्वत के ऊपर मृतकहि देषि डरानौ काल ।
जाकौ अनुभव होइ सुजानै सुन्दर ऐसा उलटा ख्याल ।।[१]

अर्थात् मस्त हाथी को एक कीड़ी ने निगल लिया (काम को बुद्धि ने जीत लिया) सिंह को खाकर शृंगाल पुष्ट हो गया (जीव ने संशय पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली) मछली को आग में ही सुख मिलने लगा (ब्रह्माग्नि में आनन्दमग्न हो गयी) वह जल में दुखी थी (शरीर में सदैव बेचैनी रहती थी)। इस प्रकार पंगु पुरुष (शांत मन) पर्वत पर (चिदाकाश में) चढ़ गया पहुँचकर निश्चल हो गया। और मृतक को देखकर काल भयभीत हो गया (जीवनमुक्त के सामने काल का प्रभाव जाता रहता है) इन बातों को वही व्यक्ति जानता है जिसे स्वानुभूति हो चुकी है, दूसरे की दृष्टि में यह उलटा विचार ही कहा जायगा।

संतों की उलटबाँसियों के ये अवतरण संतों की साधना पद्धति का संक्षिप्त रूप भी प्रस्तुत करते हैं तथा इनके द्वारा हम उनकी अनुभूति की विलक्षणता का भी आभास पाते हैं। सांसारिक मनुष्यों की मायाजनित दुरावस्था का अच्छा चित्र कतिपय उलटबाँसियों में किया गया प्रतीत होता है।[२] संतों की यह मनोवृत्ति अनेक कारणों पर प्रकाश डालती है। कुछ विद्वान इनके द्वारा व्यंजना का चमत्कार करते हुए प्रतीत होते हैं[३] तथा कुछ के मतानुसार वह एक शैलीमात्र है जो परम्परा के अनुसार ग्रहण कर ली गयी है।[४] जो भी हो, उलटबाँसियाँ संत-काव्य की विशेषता की सूचक हैं। प्रायः इन उलटबाँसियों में जिस योगमत का प्रतिपादन मिलता है वह संतों का प्रतिपाद्य मुख्य विषय नहीं माना जा सकता। साधना का एक रूप इनमें मिल सकता है।

नाथपंथी प्रवृत्तियों तथा शब्दावली का यह संक्षिप्त परिचय संत-काव्य की प्रवृत्तियों को प्रकट करने की दृष्टि से यहाँ पर दिया गया है। मूलतः संतों की शैली का अधिकांश स्वरूप नाथपंथी साधकों की शैली पर ही आधारित है। इस दृष्टि से संतों की शैली का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। युग की चेतना के क्रान्तिकारी चरण शैली की इन्हीं अवस्थाओं में अभिव्यक्त हुए प्रतीत होते हैं। हम नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन संतों में पाते हैं किन्तु उनका स्वरूप पुराना ही है। तत्त्वचिन्ता के युगानुरूप

---

१ सुन्दर ग्रन्थावली, सं० २, पृ० ५१०।
२ कबीर ग्रन्थावली, पद १७५, पृ० १४७।
३ कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायन, पृ० ३८५।
४ संत-काव्य, भूमिका—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०३।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रभाव के फलस्वरूप शैली में भी थोड़ा बहुत परिवर्तन मिलता है जो गत्यात्मकता का परिचायक है किन्तु यह सब एक लम्बी सांस्कृतिक चेतना का इतिहास है, यह बात निर्विवाद है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन समीचीन ही प्रतीत होता है कि जहाँ तक इनकी उपस्थापना पद्धति, विषय, भाव, भाषा, अलंकार, छन्द, पद आदि का सम्बन्ध है, ये संत सौ-फीसदी भारतीय परम्परा में पड़ते हैं, उनके पारिभाषिक शब्द, उनकी रूढ़िविरोधिता, उनकी खण्डनात्मक वृत्ति और उनकी अक्खड़ता आदि उनके पूर्ववर्ती साधकों की देन है।[१] इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते।

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

७

नाथ पंथ के सन्दर्भ में निर्गुण संत-काव्य की मूल चेतना

निर्गुण संत-काव्य का उन्मेश भारतीय लोक-चिंता की प्राचीन परम्परा की एक अभूतपूर्व व्यंजना है। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के मध्य जिस भावप्रवण लोक-चिन्ता को लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी में संत-काव्य का स्फुरण हुआ उसका आविर्भाव आकस्मिक रूप में नहीं माना जा सकता।[1] मध्ययुगीन प्रवृत्तियों के इस अध्ययन से यह स्पष्ट है कि संत-काव्य उन्हीं पदचिन्हों पर अग्रसर हुआ था जो साधना-पद्धति के रूप में नाथ पंथ में उस समय तक पूर्णतया ग्रहण की जा चुकी थी। देहस्थ ब्रह्माण्ड से लेकर आध्यात्मिक आतमविचार तक के साधनों का उपयोग संत-काव्य में हुआ है जिसकी शैली पिछली परम्परा का स्मरण दिलाती है। वस्तुतः संत-काव्य में इस परम्परागत प्रभाव के कारण एक विशिष्ट काव्यशैली तथा पारिभाषिक शब्दावली का रूढ़ प्रयोग सर्वत्र पाया जाता है। मध्ययुग में सिद्ध साहित्य की उस गुह्य, भोगपरक साधना का भारतीय लोक-जीवन में कभी खुलकर स्वागत न हुआ, यह स्पष्ट ही है। दार्शनिक तत्त्ववाद से जुड़ने के बाद भी साधक जन-जीवन में उसके प्रयोगों को प्रभावशाली न बना सका, फलतः हम सिद्धों के बाद नाथपंथी साधकों के संयम सम्बन्धी विचारों का तथा योग-प्रधान नैतिक साधना का आसेतु हिमाचल प्राधान्य हुआ जिसकी साधना कठिन होते हुए भी लोक-चिन्ता से मेल खा सकी। सिद्ध और नाथपंथी

---

[1] उत्तर भारत में भक्ति का यह उन्मेश ग्रियर्सन के शब्दों में 'बिजली की चमक के समान कैसे हुआ इस पर विद्वानों ने तरह-तरह के मत प्रकट किये हैं। ग्रियर्सन तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों का यह मत कि भक्ति आन्दोलन ईसाई प्रभाव का परिणाम है, अब असन्दिग्ध रूप से निराधार प्रमाणित हो जाता है। —हिन्दी साहित्य कोश, डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ५२७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साहित्य एक ही शैली का होने के बाद भी भाव और अभिव्यक्ति की दृष्टि से कुछ निश्चित स्थापनाओं के मध्य दो भिन्न प्रवृत्तियों का पोषक प्रतीत होता है। एक का आश्रय स्थल भारतीय हिन्दू तत्त्ववाद का वह प्राचीन योगिसम्प्रदाय है जिसके महत्त्व को प्रायः सभी महापुरुषों ने स्वीकार किया था तो दूसरे की मुख्य पृष्ठभूमि बौद्ध धर्म के परवर्ती सम्प्रदाय तथा उनकी साधनाएँ थीं जो अनेक प्रयोगों को सामने रखकर समाज में कभी भय तो कभी प्रवंचना को जन्म दे रही थीं। सामान्य व्यक्ति की धर्मभीरुता जहाँ इन दोनों की गहराई को समझने के लिए प्रयत्नशील थी वहाँ सामाजिक आदान-प्रदान एक-दूसरे में समन्वय करने के लिए स्वतः तत्पर हो रहे थे। यह आदान-प्रदान किस रूप में हुए इसके विषय में विद्वानों की भिन्न-भिन्न स्थापनाएँ हो सकती हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह विचार उपयुक्त ही प्रतीत होता है कि महायान सम्प्रदाय का यद्यपि मध्ययुगीन लोक-चिन्ता पर प्रभाव है किन्तु हमारे सामाजिक आचार-विचारों का वह मेरुदण्ड नहीं है।[1] उत्तर भारत में उस समय शास्त्रप्रवण सामाजिक उपासना का ऐसा लोकपरक स्वरूप प्रस्तुत हो रहा था जिसका पूर्ण समन्वय हमें स्वामी रामानन्द में मिलता है। सत कवि इस प्रकार तथाकथित उच्च समाज में कभी अच्छी दृष्टि से नहीं देखे गये किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि सामान्य लोकमत में उनका महत्त्व कभी कम न हो सका। इन दो विरोधी परिस्थितियों में संत कवियों की मूल-चेतना को खुलकर खेलने का अवसर मिला। अपने पूर्ववर्ती साधकों की हठयोग की साधना को अंगीकार करते हुए भी संतों ने उसे ठीक उसी रूप में स्वीकार नहीं किया जिस रूप में वह नाथ पंथ में स्वीकृत थी। ऐसा प्रतीत होता है कि नाथ पंथ यद्यपि साधना पंथों में एक प्रभावशाली और प्राचीन परम्परा का पोषक था किन्तु वह भी पौराणिक लोकमत को अधिक प्रभावित न कर सका। भक्ति का प्रवाह धीरे-धीरे देश-व्यापी रूप धारण कर रहा था, किन्तु वैष्णव भक्ति का वह आन्दोलन संतों को स्वीकार नहीं हुआ। लोक-चिन्ता में मिलकर वह उपासना-पद्धति भी ऐसे रूप में प्रस्तुत हुई जिसमें गलदश्रु भावुकता और काया-क्लिष्ट योग दोनों के लिए विशेष स्थान नहीं रह गया पर यह मध्ययुगीन चिन्ता की स्वाभाविक परिणति ही मानी जायगी यद्यपि इसके स्वरूप निर्धारण में राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ भी कम उत्तरदायी नहीं हैं।

काव्य के क्षेत्र में संत-काव्य के आविर्भाव की परिस्थितियों पर कम आश्चर्य व्यक्त नहीं किया गया है। आज भी सामान्य श्रोता अथवा पाठक अपढ़ संतों की वाणियों से अपने रागात्मक सम्बन्धों को आसानी से जोड़ लेता है, उसके स्वर में स्वर मिलाकर अपने राग-विकारों का एक सामान्य धरातल वहाँ उसके लिए सुलभ है किन्तु अपढ़ कहे जाने वाले इन संतों में ऐसी कौनसी विशेषता है जिसके आधार पर हम उनमें से कुछ की रचनाओं को श्रेष्ठ काव्य के अन्तर्गत मानने पर कटिबद्ध होते हैं।

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सत्य की ऐसी प्रखर अनुभूति एवं मुखर अभिव्यंजना कविताधर्मी व्यक्तियों में नहीं देखी जाती। संत-काव्य मूलतः भावों की अविकल प्रतिकृति एवं प्रकृत शब्दयोजना है। ऐसा काव्य किसी न किसी साधना से अनुप्राणित ही रहा है। उसमें शास्त्रीय अध्ययन की अपेक्षा अनुभवजन्य प्रतीति पर बल दिया गया है। फिर संतों के पढ़े-लिखे अथवा अपढ़ होने से अनुभूति की प्रेषणीयता में कोई कमी नहीं आ सकती। जहाँ अक्षर ज्ञान अनुभूति के लिए हृदय को विस्तृत करता है वहाँ हृदय को संकीर्ण भी बना सकता है। इस दृष्टि से काव्य का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। संत कवियों की मानवीय संवेदना उन्हें देश, काल और वर्ग से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य धरातल पर पहुँचा देती है। यहीं उनकी वाणी अपने मूलरूप में काव्य की मानवीय सबलता बनकर प्रस्फुटित हुई है।[1] संत-काव्य की मूल चेतना इस दृष्टि से सर्वजनहिताय है। उसकी सामाजिक संक्रमण की प्रतिक्रिया व्यक्तिगत साधना और आत्मानुभव के रूप में फूट निकली है। संत-काव्य विश्व मानवता के हित में कतिपय व्यक्तिवादी आदर्श सुझाव भी प्रस्तुत करता है। किन्तु जहाँ उसमें परम्परा के निर्वाह का स्वरूप मिलता है वहाँ वह मात्र वाग्जाल कहा जायगा। संत-काव्य का यह रहस्य उस सत्य की सतत व्यंजना है जिसके बिना काव्य कोरा वाग्जाल और राज दरबार की शोभा है। रसों में श्रेष्ठ शृंगार रस की दृष्टि से यदि केवल काव्य का मूल्यांकन किया गया तब संत-काव्य काव्यकला की कसौटी पर निश्चित ही सफल सिद्ध नहीं होगा किन्तु मानव के आत्मनिवेदन और संसार की करुणा से प्लावित जनहृदय से सम्बद्ध होकर यदि काव्य का मूल्यांकन किया गया तो निश्चित ही संत-काव्य की श्रेष्ठता सर्वसम्मत होगी। संत-काव्य के मूल्यांकन के लिए हमें मानव कृत्यों के आध्यात्मिक पक्ष पर भी ध्यान देना होगा, धार्मिक साधना पर भी, और सांस्कृतिक चेतना पर भी। इस दृष्टि से संत-काव्य हिन्दी के संक्रमणकालीन प्रकृत लोक-काव्य का एक सुन्दर उदाहरण है जिसकी प्रवृत्तियों का प्रभाव आधुनिक युग तक देखा जाता है। भले ही संत अपने आपको कवि न कहते हों किन्तु इन उदात्त उपकरणों को छोड़कर फिर काव्य की कोई मौलिक उपादेयता शेष नहीं रह जाती है। सुन्दर पद्य रचना ही काव्य नहीं है, वस्तुतः वही रचना अधिक दिनों तक जनसामान्य की रुचि को सन्तुष्ट करने में समर्थ होगी जिसमें विषय की व्यापकता, उद्देश्य की महानता और लोक-हृदय को स्पर्श करने की क्षमता है, भाषा और शैली उसके पीछे चलने वाले साधन मात्र हैं। संत-काव्य में इस दृष्टि से लोक-प्रचलित काव्यरूपों और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग इस बात की सूचना देता है कि उसकी ग्रहण शक्ति अधिक तीव्र थी। वह लोकाभिव्यक्ति जनभाषा में ही सम्भव थी। सरल भाषा ही उस युग के व्यवहार का माध्यम बन सकती थी। वस्तुतः संत-काव्य में सत्य का ओजस्वी निरूपण निर्भीकता के साथ हुआ है। साथ ही वह कोमल भावनाओं

---

१ प्यंजर प्रेम प्रकासिया अंतरि भया उजास।
मुख कस्तूरी महमहीं वाणी फूटी वास ॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और कल्पनाओं से सम्पन्न है, उसका सौन्दर्य इन्द्रियातीत है, उसीमें जीवन का संदेश है और अनुभूति की तन्मयता भी।[1] सत्य के प्रति यह उत्कट अभिलाषा भारतीय संस्कृति की परम्परागत देन है। मध्ययुग के सुधारक सम्प्रदायों से लेकर नाथपंथी साधकों तक में उसके प्रति एकसा ही आत्मीय भाव है। नाथपंथी साधकों ने अपने उपदेश लोकभाषा में दिये। संतों ने उसी रूप में उसे ग्रहण कर लिया। शास्त्रीय रूप की अपेक्षा प्रकृत काव्य को एवं काव्यरूपों को नाथपंथी साधकों ने अपनाया, संतों ने भी उन्हीं पदचिन्हों पर अपनी वाणियों का सृजन किया। इस प्रकार यह पृष्ठभूमि सांस्कृतिक लोक-चिन्ता के ही कारण सम्भव हुई। साहित्य संस्कृति का मुख्य पोषक तत्त्व है, शब्दयोजना की अपेक्षा भावों की सरल अभिव्यक्ति के द्वारा भी उसकी धारा प्लावित बनी रहती है।

संत-काव्य के सृजन का सूत्रपात हिन्दी के भक्तियुग के अन्तर्गत माना जाता है। उत्तर भारत में जिस भक्ति भावना का चरम उत्कर्ष मिलता है उसकी कोई एक ही दिशा नहीं थी, यह हमें विदित ही है। वस्तुतः आत्मनिवेदन का एक ही प्रकार सम्भव भी नहीं है। संसार में आध्यात्म के अन्तर्गत विभिन्न उपासनाएँ इस बात की पुष्टि करती हैं कि भिन्न-भिन्न मार्गों से भी उपास्य तक पहुँचा जा सकता है। मार्गों की भिन्नता से हमें परमतत्त्व के प्रति आत्मनिवेदन की अवस्थाओं का बोध अवश्य होता है। हिन्दी के भक्तियुग के अन्तर्गत सगुण तथा निर्गुण भक्ति का भेद प्रमुख है, सगुण-भक्ति के अन्तर्गत भी विद्वानों ने कुछ भेद किये हैं[2] किन्तु इसके साथ ही इस्लाम के आक्रमण के परिणामस्वरूप जिस सूफी काव्य का प्रादुर्भाव हिन्दी में हुआ वह भी संत-काव्य की अनेक प्रवृत्तियों से जाने-अनजाने सम्बद्ध हो गया। इस प्रकार संत-काव्य का सम्पर्क सगुण भक्तिकाव्य और सूफी काव्य दोनों से ही हुआ है, यद्यपि सूफी काव्य प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा से सम्बद्ध है, उसका पृथक से अनुशीलन किया जाना अपेक्षित है। सगुण भक्तिकाव्य वैष्णव भक्ति आन्दोलन से सम्बद्ध होकर मध्ययुग की धार्मिक चेतना का प्रमुख आधार बना किन्तु निर्गुण संत-काव्य भी अपनी सीमाओं में लोक-चिन्ता को प्रभावित करने में किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं हुआ। हिन्दी का भक्तियुग इस रूप में स्वर्णयुग के नाम से अभिहित किया जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। सगुण भक्त कवियों में महाकवि सूर, तुलसी; प्रेमाख्यानक सूफी कवियों में मलिक मोहम्मद जायसी तथा निर्गुण संत कवियों में कबीर की रचनाओं ने जिस भावपूर्ण धार्मिक-काव्य का सृजन किया वह लौकिक काव्य का अनेक अशों में मार्गदर्शन कर सका। हिन्दी के भक्तिकालीन काव्य पर नाथपंथी साधना और साहित्य का प्रभाव भी किसी न किसी रूप में परिलक्षित होता है। भक्तिकाव्य में मिलने वाले नैतिक संयम और आचरण की शालीनता को योग-साधना का प्रतिफल ही समझना चाहिए। जिस

---

१ हिन्दी साहित्य—डा० रामकुमार वर्मा, द्वितीय खण्ड, पृ० २३९।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पृष्ठभूमि में सगुण और निर्गुण भक्ति का प्रतिद्वन्द्वी विचार भक्तिकाव्य में मिलता है वह नाथ पंथ के सामान्य प्रभाव के परिणामस्वरूप ही समझा जायगा। भक्ति और योग का अनुकूल समन्वय तो केवल संत-काव्य में ही उपलब्ध है। सगुण भक्तिकाव्य में गोरख की साधना-पद्धति को भक्ति में बाधक समझा गया[1] और प्रेमाख्यानक सूफी काव्य में योग की साधना परमात्मा रूपी प्रेयसी को प्राप्त करने में सहायक मानी गयी।[2] कहीं-कहीं वह साधना कथा प्रसंग की वाचक बनकर भी प्रस्तुत हुई है। सहज समाधि अथवा ब्रह्म विचार के रूप में अभिव्यक्त संतों की मूल चेतना इस दृष्टि से सगुण भक्तिकाव्य और सूफी काव्य से भिन्न ही ठहरती है। संतों की प्रेमाभक्ति न योग का विकसित स्वरूप है और न सूफियों का एकेश्वरवाद का कोई नया रूप और न सगुण भक्ति कवियों की नवधा भक्ति के किसी विभाग अथवा साधना के अन्तर्गत संतों का भक्ति-भावना को रखा जा सकता है। उस पर नाथपंथी साधना का प्रभाव स्पष्ट है, वैष्णव भक्ति का स्वर भी उसमें मिल सकता है किन्तु सूफी प्रभाव न के बराबर है। स्वामी रामानन्द में जिस योग और भक्ति का लोकपरक समन्वयवादी स्वरूप परिलक्षित होता है, संत-काव्य उसकी अटपटी अभिव्यक्ति है। भले ही संत कबीर ने स्वामी रामानन्द को अपना गुरु न बनाया हो अथवा स्वामी रामानन्द ने उन्हें अपना शिष्य न स्वीकार किया हो किन्तु उस युग पर स्वामी रामानन्द का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है यह सामान्य रूप से अस्वीकार नहीं किय जा सकता। राम-नाम की भक्ति के माध्यम से सगुण और निर्गुण काव्यधारा जिस अभूतपूर्व रूप में हिन्दी में प्रवाहित हुई है वह प्रकट ही है।

संत-काव्य को प्रायः जन-काव्य भी कहा गया है।[3] मध्ययुगीन संस्कृति के निर्माण में इस जन-काव्य का महत्त्वपूर्ण हाथ है। वस्तुतः संस्कृति के रूप में जिस चिन्तन का प्रादुर्भाव सिद्ध सामन्त नाथयुग[4] में हुआ, संत कवियों के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुई है। इस्लाम धर्म के आगमन के साथ-साथ ही हमारी प्राचीन संस्कृति के कतिपय तत्त्व और अधिक उभरे हैं। सहिष्णुता और समन्वय का यह स्वरूप संतों में अपने चरम रूप में मिलता है। व्यक्तिवादी साधना का यह

---

१ **गोरख जगाओं जोग। भगति भगायौ लोग ॥**
—हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १४०।

२ **पद्मावत—मलिक मोहम्मद जायसी।**

३ **संत-काव्य की लोकप्रियता उसके काव्यत्व की प्रचुरता पर निर्भर नहीं। वह जन-साधारण के अंग बने कवियों (वा क्रांतिदर्शी व्यक्तियों) की स्वानुभूति की यथार्थ अभिव्यक्ति है और उसकी भाषा जन-साधारण की भाषा है। उसमें साधारण जनसुलभ प्रतीकों के ही प्रयोग हैं और वह जनजीवन को स्पर्श करता है, वह सभी प्रकार से जनकाव्य कहलाने योग्य है।**
—परशुराम चतुर्वेदी, कबीर साहित्य की परख, पृ० १९।

४ **हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ० ३४।**

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एकान्तिक रूप यद्यपि कभी-कभी समाज सुधार के नाम से भी अभिहित किया गया है, किन्तु वह सामाजिक स्वरूप प्राप्त नहीं कर सका। संतों के परवर्ती सम्प्रदायों में जिस सामाजिकता का रूप मिलता है उसकी स्थिति विशुद्ध साम्प्रदायिक और संतों के चिन्तन से विपरीत ही समझ में आती है। संत-काव्य लोक संस्कृति का परिचायक है, उसमें जन-साधारण की अनुभूति का उदात्त स्वरूप मिलता है जैसाकि नाथपंथी साहित्य में भी मिलता है। जनभाषा के द्वारा उसकी पहुँच सम्पूर्ण देश में हुई है, विदेशी दासता के युग में संतों की इसी आध्यात्मिकता के कारण भारत की एकता के सूत्र दृढ़तर हुए हैं। संतों के भ्रमणशील स्वभाव के कारण हिन्दी का भारतव्यापी रूप ही उसकी राष्ट्रीय एकता का पोषक है। डा० रामकुमार वर्मा का यह कथन वस्तु-स्थिति का सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत करता है। उन्होंने लिखा है कि लगभग चार शताब्दियों से संतों की वाणी ने जो जनता को आस्तिकता का संबल दिया है वह अभी तक उसी रूप में वर्तमान है। आचरण की पवित्रता का जो उपदेश संतवाणी में है, उसका सांस्कृतिक मूल्य कितना अधिक है।[१] सांस्कृतिक प्रभाव से सम्बद्ध इन तथ्यों के विश्लेषण के पश्चात् ही हम संत-काव्य की मूलचेतना और उनको देन का यथार्थ रूप प्राप्त कर सकते हैं। नाथपंथी साहित्य के संदर्भ में संत-काव्य का सगुण भक्ति काव्य तथा प्रेमाख्यानक काव्य के परस्पर रूप का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है जिसके आधार पर एक ही युग की भिन्न-भिन्न काव्यगत प्रवृतियों का तुलनात्मक परिचय प्राप्त किया जा सकता है। सबसे पहले उन परिस्थितियों पर विचार करना उपयुक्त होगा जिनके आधार पर हमें संत-काव्य के नाथपंथी साधना से प्रभावित होने के बाद भी भिन्न कोटि की साधना मानना पड़ता है। इस दृष्टि से संत-काव्य की कतिपय विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं।

निर्गुण संत-काव्य का मूल स्वर और नाथ पंथ

नाथ पंथ के सिद्धान्त और साधना पद्धति के विस्तृत अध्ययन के परिणामस्वरूप यह तथ्य सहज ही निःसृत होता है कि नाथपंथी साधना का यद्यपि अपने युग में प्रभाव रहा होगा किन्तु सामान्यतः वह जनजीवन के लिए लोकप्रिय साधना न बन सकी। नाथपंथी हठयोगी साधना जहाँ परम्परा के अनुसार योग से सम्बन्ध साधना थी वहाँ उसके व्यापक प्रभाव का कारण तात्कालीन सहजयानी सिद्ध साधना की भोगपरक परिस्थितियाँ ही थीं जिन्हें साधारण-जन कभी भली दृष्टि से नहीं देखते थे, नाथ पंथ ने उसे संयम और शील से मंडित कर शुद्धतावादी रूप दिया है, कतिपय मौलिक तत्वों के समावेश से जिनका सम्बन्ध वेदान्त की तत्त्व-चिन्ता से माना जा सकता है, साधना का रूप ही बदल गया। नाथपंथी साहित्य की शब्दावली तथा उसका भावपक्ष तात्का-लीन समाज रचना की स्वाभाविक चिन्ता के अधिक निकट प्रतीत होता है किन्तु उसमें

---

१ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, २३९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी मानव की उत्कट जिज्ञासा को शमित करने के पर्याप्त साधन नहीं दिखाई देते। फिर भी साधना-प्रधान हठयोग के उपदेशों में हमें मानवीय रस के दर्शन होते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह मत समोचीन ही प्रतीत होता है कि गोरखपंथी साहित्य में साधनामूलक विधियों और वैराग्योत्तेजक विचारों का बाहुल्य होने से नीरसता ही अधिक है तथापि गोरखनाथ के लिखे पदों में एक प्रकार का मानवीय रस भी है जो इन उपदेशों को सरल और सहजग्राह्य बना देता है।[1] वस्तुतः संतों की वाणियों में साधनामूलक विधियों का समावेश तो हुआ है किन्तु उनकी सम्पूर्ण साधना आत्म-विचार और प्रेमाभक्ति की साधना है जिसमें भक्तिभाव की धारा प्लावित होती हुई प्रतीत होती है। बंधुत्व की भावना से भक्तिभाव का यह उन्मेश सत-काव्य की भाव-धारा को नाथपंथी साधनामूलक साहित्य से पृथक कर देता है और यही कारण है कि जो समीक्षक इस काव्य को अपनी पिछली परम्परा की पृष्ठभूमि में नहीं देखते वे उसमें विशुद्ध ज्ञानमार्गी अथवा इस्लामी प्रभाव का आरोप कर लेते हैं।[2] भारतीय लोक-चिन्तन में विचारों एवं साधनाप्रधान मार्गों का आदान-प्रदान होता रहा है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसमें अस्वाभाविक रूप से कुछ बातें ग्रहण कर ली गयी हों अथवा छोड़ दी गयी हों। साधना पंथों में सिद्ध, नाथ और संतों की यह विस्तृत परम्परा इस बात का प्रमाण है कि भारतीय समाज ने परिस्थितियों के अनुकूल अपनी चिन्तनधारा को परिवर्तित तो किया है किन्तु वह परिवर्तन प्राचीन परम्परा का ही विकसित रूप है। संतों में यह चिन्तनधारा अधिक भावप्रधान तथा आत्मविचार मूलक बन पड़ी है इसका कारण भारतव्यापी भक्ति-आन्दोलन माना जा सकता है जिसने छोटे-बड़े को तथा निरक्षर और साक्षर को भक्तिभाव में दीक्षित कर दिया। संत कवियों का मूलस्वर भक्ति का स्वर है इसमें दो मत नहीं हो सकते। जबकि नाथपंथी साधना का साहित्य साधनाप्रधान तथा सामान्य अनुभवों पर ही आधारित माना जा सकता है। रस-परिपाक की दृष्टि से नाथपंथी साहित्य का मूल्य अधिक नहीं है, संत-काव्य में भक्ति का आत्मनिवेदन तथा माधुर्य अथवा शांत तथा शृंगार रस के संयोग-वियोग पक्षों का लोकसुलभ वर्णन सहज उपलब्ध है, संत-काव्य में वस्तुतः वे ही प्रसंग उसकी लोकप्रियता में बाधक हैं जिनका निर्वाह हठयोग की साधना के अंतर्गत संत-काव्य में हुआ है। वर्ण्य विषयों की दृष्टि से नाथपंथी साहित्य में काया-योग, सहज जीवन, रूढ़ि विरोध, संयत आचरण और ब्रह्मचर्य का वर्णन हुआ है। संत-काव्य में इन वर्ण्य विषयों के साथ भक्ति की भावधारा का भी प्रकृत प्रवाह आ मिला है जिसका नाथ पंथ में अभाव है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि केवल भक्ति के कारण ही हिन्दी संत-काव्य लोकप्रिय हुआ किन्तु यह अवश्य माना जायगा कि उसकी लोक-प्रियता का कारण भक्ति और योग का वह असामान्य समन्वय है जिसे देखकर प्रत्येक

---

१ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, नाथपंथी साहित्य, पृ० ८९।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७२।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

व्यक्ति आश्चर्यचकित हो जाता है। योगियों के लोकप्रभावी रूप को संत कवियों की निर्गुणभक्ति-भावना ने ही वह स्वरूप प्रदान किया जिसके आधार पर एक समय हिन्दी प्रदेश भक्तिभाव से प्लावित हो उठा। हिन्दी का यह भक्तियुग इस दृष्टि से संतों का ऋणी है जिनकी सहजानुभूति और सत्य के प्रति अटूट श्रद्धा ने योगमार्ग की क्लिष्टता को निर्गुण भक्तिमार्ग में परिवर्तित कर दिया।[1] संत कवियों ने स्वानुभूति की प्रयोगशाला में उदात्त भावों का मंथन कर उन्हें अपनी वाणी द्वारा प्रकट किया है जबकि नाथपंथी साधक कायायोग की सीमा को प्रमुख मानकर अपनी वाणियों को उसी के प्रयोगों तक सीमित रखते रहे। यह भक्तिभाव आत्मविचार की ही वस्तु है, उसका सम्बन्ध साधना की स्थूल प्रक्रियाओं से प्रायः नहीं के बराबर है। संत कवि इस प्रकार जिस परमात्मतत्त्व की रहस्यमयता से अपने आपको सम्बद्ध कर लेते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि नाथपंथी साहित्य में उस दृष्टि से विचार ही नहीं किया गया। संतों का भाव-सौन्दर्य स्वानुभूतिपरक ही माना जायगा। वे परमतत्त्व की अनुभूति को अपनी अटपटी वाणी में व्यक्त करने का प्रयत्न तो करते है किन्तु उस रहस्यमय की अनुभूति के स्वर और भी रहस्यपूर्ण हो जाते हैं। संत-काव्य की यह अस्पष्टता और अटपटापन भाव सौन्दर्य की तीव्रता के बाद भी सदोष ही मानी जायगी।

संत कवियों का विशेषतया संत कबीर आदि की रचनाओं का स्वर स्पष्ट ही समन्वयवादी और व्यावहारिक है। यह समन्वय मध्ययुग की धार्मिक-चिन्तन की सहज उपलब्धि भी कही जाय तो अत्युक्ति न होगी। स्वामी रामानन्द में जिस भक्ति भावना का परिचय मिलता है उसका धरातल योग साधनाप्रधान रहा होगा। रामानन्द के गुरु राघवानन्द भी भक्ति आन्दोलन के बहुत बड़े नेता हुए हैं जो योग विद्या में पारंगत थे।[2] यद्यपि कबीर आदि संतों के पूर्व भी उत्तर भारत में भक्ति की उपासना का कुछ न कुछ रूप तो अवश्य रहा है किन्तु हठयोग का प्रभाव निम्नवर्गीय समाज में विशेष रूप से मिलता है। इनमें से कतिपय आश्रम भ्रष्टयोगी जातियाँ मुसलमानों के आक्रमणों एवं इस्लाम के असहिष्णु बल प्रयोग से इस्लाम धर्म में परिवर्तित हुईं, दूसरी ओर भक्ति का द्वार स्वामी रामानन्द के प्रयत्नों से अंत्यजों के लिए भी खुल गया। जनता की भाषा में जन-आन्दोलन का यह रूप संत-काव्य की धारा को अपनी पिछली परम्परा से जोड़ता हुआ भी नवीन रूप में ही प्रकट हुआ है। संत कबीर में इस योग भक्तिमयी उपासना का प्रबल आग्रह है। परम्परा का निर्वाह संत कवियों में विशेष रूप में हुआ है किन्तु प्रेम को भक्ति का माध्यम स्वीकार करने से संत कवियों का भाव-पक्ष सगुण-निर्गुण से परे परात्परब्रह्म के प्रेम रहस्य का पोषक प्रतीत होता है, वे प्रेम

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६२।

२ स्वामी राघवानन्द और सिद्धान्त पंचमात्र हैं।—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, योग प्रवाह, पृ० १।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतीक योग-साधना पर घटित हो सकते हैं और भक्ति पर भी, किन्तु उनकी चरम परिणति संतों की भक्ति-भावना में ही खोजी जा सकती है।[१]

वस्तुतः संत-काव्य की प्रेरणा का आधार न तो निर्गुण साधना का ज्ञानाश्रयी पक्ष ही माना जा सकता है और न हठयोगियों की काया-क्लिष्ट योग साधना का उदासी मार्ग।[२] उसका मूलस्वर भक्ति का स्वर है। जीव और ईश्वर, जीव और जगत की एकता का आभास ज्ञानमूलक होते हुए भी परमात्मारूपी प्रियतम की आनन्दानुभूति का ही एक अंग है। आत्मा-परमात्मा के ये सम्बन्ध भक्ति-भावना में अनेक रूपों में प्रकट हुए हैं। भक्ति की प्रमुखता के कारण कबीर आदि संतों की रचनाओं में तथा गोरखनाथ और उनके अनुयायियों के साहित्य में दो ध्रुवों का अन्तर आ गया प्रतीत होता है। योग-साधना की परम्परा में लिखे गये साहित्य की शिल्पविधि का विरोध न करते हुए भी संत-काव्य में जिस नवीन भावभगति का उन्मेश मिलता है उसके प्रति संत कवियों में एक विशेष निष्ठा का भाव भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार संत-काव्य में ज्ञान और योग गौण तथा भावना और भजन प्रमुख हैं। संतों की वाणियों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय आध्यात्मिक है, उसमें सीमा और असीम का प्रेममय द्वन्द्व अभिनव माधुर्य और सौन्दर्य की सृष्टि करता है।

कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी पुरातन परम्परा से पोषित होता हुआ भी संत-काव्य का स्वर एकदम नवीन है, यही कारण है कि राजनीतिक धार्मिक और सामाजिक संक्रमण के युग में भी संत कवियों की शब्दावली के अर्थ नये हैं। उसकी व्यंजना व्याकुलता की पीड़ा से पगी है तथा उसकी शैली लोकप्रसूत है।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्य प्रवृत्ति और संत-काव्य

संत-काव्य के प्रादुर्भाव के साथ ही जिस सूफी प्रेमाख्यानक काव्य की चर्चा हिन्दी के संत-काव्य के सन्दर्भ (पूर्वमध्यकालीन साहित्य) में मिलती है, वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने में उसका संक्षिप्त परिचय सहायक होगा। वस्तुतः प्रेमाख्यानक साहित्य का सूफी फकीरों द्वारा सृजन किया गया अंश ही आज उपलब्ध है, मध्ययुग में जिस विस्तृत प्रेमाख्यानक काव्य की परम्परा से सम्बद्ध होकर सूफी प्रेमाख्यानक काव्य को जनसाधारण ने अपने मनोरंजन का हेतु बनाया, उसके सूत्र अभी भी असम्बद्ध और अप्रकाशित ही हैं[३] किन्तु उससे यह स्पष्ट है कि आख्यान के रूप में प्रेमकथाओं का काव्यगत स्वरूप अवश्य ही रहा होगा। उसका आलोच्य विषय से सीधा सम्बन्ध भी

---

[१] ये प्रतीक जब जीवनगत सम्बन्धों में आये तो भक्ति के आधार बने, जब हठयोग की क्रियाओं में आये तो योग के आधारभूत साधन बने।
—डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० २१८।

[२] गोरखवानी, पृ० ३६।

[३] मैनासत—पं० हरिहरनिवास द्विवेदी, भूमिका।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नहीं है। मध्ययुग में मुसलमानों के आगमन के साथ ही जिस सूफी मत ने भारतीय लोकचिन्तन को अनेक अंशों में प्रभावित किया है उसके सूत्र मुस्लिम एकेश्वरवाद में निहित होते हुए भी मुसलमानी शास्त्र के पूर्णतया अनुकूल नहीं प्रतीत होते। सूफी साधक रहस्यवादी माने गये हैं।[१] विद्वानों का अनुमान है कि 'सूफी' शब्द मूलरूप में जिन अरब और ईराक देशों के व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त किया गया है वे मोटे ऊनी वस्त्र पहना करते थे तथा वे सन्यासियों का सा पवित्र जीवन भी यापन करते थे। अपनी महत्त्वपूर्ण साधना के कारण मुस्लिम बादशाहों तथा सामान्य जनता द्वारा वे आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।[२]

भारत में जिन सूफी सम्प्रदायों का प्रवेश हुआ, उनका स्वरूप भारत के बाहर ही नहीं शताब्दी के मध्य स्थिर हो चुका था, यह प्रायः सर्वमान्य मत है। वस्तुतः इस्लाम धर्म के प्रारम्भिक युग में सूफी केवल सात्विक जीवन का आदर्श स्वीकार करने तथा खुदा के प्रति प्रगाढ़ प्रेम भाव रखने के कारण प्रसिद्ध बताये गये हैं। तत्पश्चात् क्रमशः उनमें आध्यात्मवाद के गम्भीर चिंतन की चर्चा मिलती है और इस प्रकार उसमें दार्शनिकता का समावेश हुआ। सूफी मत की इस दार्शनिकता का कारण अनेक विद्वान उस पर भारतीय अद्वैत वेदान्त प्रभाव मानते हैं[३] किन्तु जिस रूप में सूफी सम्प्रदायों का गठन हुआ उनमें इस्लामी एकेश्वरवाद का प्रभाव स्पष्ट है। मुसलमान बादशाहों के आक्रमण के पूर्व सूफियों के पहुँचने के उदाहरण भी अनेक देशों में मिलते हैं।[४] उसके अनुसार यह तथ्य निर्विवाद है कि उसका सम्बन्ध इस्लाम धर्म के राजनीतिक पक्ष से भी था और भारत में भी मुसलमान विजेताओं के आगमन के पूर्व सूफी फकीरों का आगमन हुआ था। राजसत्ता के प्रति उनकी श्रद्धा का उदारण हमें उनकी प्रेम कथाओं के पूर्व कथन में भी मिलता है।[५] वस्तुतः सूफी मत इस्लाम धर्म का ही अंग है, यद्यपि उसके सिद्धान्तों में वह कट्टरता नहीं मिलती जो इस्लाम धर्म के राज्याश्रय से उसमें प्रविष्ट हो गयी थी। सूफी फकीरों का एकेश्वरवाद उनके ही तर्कों द्वारा भिन्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया प्रतीत होता है जिसके अनुसार सत्ता, गुण और कर्म में परमात्मा अद्वितीय और निरपेक्ष है। वह परमतत्त्व के साथ ही परकल्याण और परमसौन्दर्यमय भी है। तत्त्वचिन्तन की दृष्टि से सूफियों के भी मुख्य दो वर्ग कालान्तर में हो गये जो वुजूदिया और शुहूदिया के नाम से अभिहित किये गये।[६]

---

१ हिन्दी साहित्य कोश, सूफी, पृ० ८५८।

२ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० २४३।

3 हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ३०२।

४ एनसाईक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, पृ० ६५।

५ पद्मावत, पृ० ५।

६ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ८५९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सूफी मार्ग का परिचय हमें सूफी फकीरों द्वारा रचित काव्यों में भली प्रकार से मिल जाता है। सूफियों ने भारत में जिस प्रेमाख्यानक काव्य का आश्रय लिया था उसकी परम्परा फरसी साहित्य में भी भिन्न रूप से प्रतिपादित हुई मिलती है। फारस के सूफी कवियों ने नीरस वैराग्यप्रवण उपदेशों को अपनी रोचक शैली द्वारा जो आकर्षक रूप प्रदान किया, उसका विस्तार सूफी जगत में सर्वत्र पाया जाता है। रुबाई, गजल और मसनवी शैली में उन्होंने घटनाओं का सविस्तार वर्णन किया तथा प्रेम साधना को विशेष महत्त्व देते हुए अनेक कथानक की सृष्टि की। विद्वानों का मत है की मसनवी काव्यों के रचयिता सूफी कवियों ने एक ऐसी वर्णनेशैली अपनायी जिसके सहारे इस आध्यात्मिक प्रेम का स्पष्टीकरण 'इश्क मजाजी' वा लौकिक प्रेम की कहानियों के साधारण व्यापारों द्वारा भी किया जा सकता था।[१] सूफी साधक प्रेम के माध्यम से परमात्मा के पाने की बात कहते हैं। वस्तुतः परमतत्त्व उनकी दृष्टि में परम सौन्दर्य तथा परम प्रियतमा भी है। सूफी कवियों ने उस परमात्मारूपी प्रियतमा के प्रेम सम्बन्ध का वर्णन आत्मविभोर होकर किया है, उस अलौकिक प्रेम को प्रकट करने के लिए सूफियों ने जिन प्रतीकों का प्रयोग किया उनमें शास्त्रीय परम्परा के स्पष्ट दर्शन होते हैं।[२] सूफी साधकों की दृष्टि में यह जीवन एक यात्रा है और उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करने के बाद अवश्य ही इस यात्रा का चरम प्राप्त हो सकता है। सूफीमार्ग में कई मंजिलों, अवस्थाओं और मुकामों की चर्चा मिलती है।[३]

कुछ विद्वानों का मत है कि सूफीमत तथा भारतीय अद्वैत वेदान्त में पर्याप्त समानता है[४] और उसके आधार पर सूफी प्रेमाख्यानक काव्य भारतीय लोक-जीवन के अनुकूल सिद्ध हुए हैं, किन्तु समानता के साथ-साथ उसमें पर्याप्त भेद भी है। आध्यात्म चिंतन को लेकर यह भी कुछ लोगों का अनुमान है कि उनके अद्वैत चिंतन में भाव की प्रधानता है किन्तु उनके आख्यानों में इस्लाम का ही अनुमोदन है।[५] समासोक्ति पद्धति पर रचित सूफी साहित्य पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सूफी साधना में भारतीय प्रेमाख्यानक परम्परा से पूर्व एक तीव्र मादन भाव का सर्वत्र प्रचार था। श्री चन्द्रबली पाण्डे ने लिखा है कि सूफी शायरी में से यदि साकी और बुलबुल को निकाल दिया जाये, इश्क और शराब का नाम लेना बन्द कर दिया जाये, चमन और कब्र से परहेज किया जाये तो सूफी काव्य का उसी क्षण अन्त हो

---

१ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० २४४।

२ हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह—परशुराम चतुर्वेदी।

३ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ८०६।

४ हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० हिरण्मय, पृ० ७३।

५ तसव्वुफ अथवा सूफी मत—चन्द्रबली पाण्डे, पृ० १४४।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जाये।[१] इससे सहमत होना कठिन होगा किन्तु इतना निष्कर्ष निकल सकता है कि सूफी साहित्य में ज्ञान तत्त्व की अपेक्षा प्रेम तत्त्व प्रबल है। हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य इस दृष्टि से सूफी रचनाओं की इस कोटि में नहीं आते जिसके आधार पर कतिपय विद्वान उनकी प्रेम भावना को संत-काव्य की प्रेमाभक्ति के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं। वस्तुतः सूफी साधक यद्यपि इस्लाम के साथ थे किन्तु भारतीय वैष्णव भक्ति और उसकी सहृष्णु मधुर उपासना से प्लावित भारतीय हृदय से सम्बद्ध होकर वे भारतीय आख्यानों में घुल-मिल गये और उन्होंने जिस साहित्य का सृजन किया वह उस प्रवृत्ति का परिचायक अवश्य है जिसके मूलस्रोत विदेशों में हैं किन्तु वह भी तो भारतीय लोक प्रभाव का ऋणी माना जायगा। यदि ऐसा न होता तो प्रसिद्ध सूफी कवि जायसी यह क्यों कहते—

एक जोलाहे सौं मैं हारा।[२]

जो भी हो, सूफी मत में हिन्दू विचार परम्परा के सूत्र खोजे जा सकते हैं, तथा अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में प्रयत्न भी किये हैं,[३] किन्तु उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि यदि सूफी मत का इस देश में आगमन न हुआ होता तो संतों आदि में प्रेमाभक्ति का यह स्वरूप ही न मिलता। सामान्य पारस्परिक प्रभाव के अतिरिक्त संत-काव्य और प्रेमाख्यानक सूफी काव्यों में ऐसी बातों का कोई प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि संतों ने हठयोगियों की साधना और सूफियों की प्रेम भावना को लेकर अपनी भाव धारा को भक्ति का रूप दिया। सूफी मार्ग भारत में आकर जिस प्रेमाख्यानक परम्परा से सम्बद्ध हुआ वह लोक प्रचलित कथानकों पर आधारित था[४] जबकि संतों का काव्य नाथपंथी साधकों की परम्परा और लोक-जीवन के आध्यात्मपरक अनुभूतियों का प्रकृत रूप, भक्ति का वह स्रोत, हठयोग की साधना को आत्मसात करता हुआ उसके आगे निकल गया। उसमें सूफी प्रेमाख्यानक काव्यधारा का कितना क्या मेल हुआ होगा, नहीं कहा जा सकता। सूफी प्रेमाख्यानक काव्यधारा निश्चित ही मध्ययुग की एक सबल काव्यधारा मानी जा सकती है किन्तु उसकी पृष्ठभूमि, भाव, उसके काव्य रूपों का प्रयोग, उसकी भाषा तथा उसकी पहुँच सभी संत-काव्य से पृथक कोटि की है तथा संत-काव्य को प्रभावित करने में वह सक्षम नहीं प्रतीत होती।

---

१ तसव्वुफ अथवा सूफी मत—चन्द्रबली पाण्डे, पृ० १७०।
२ जायसी ग्रन्थावली—अखरावट, पृ० ३३१।
३ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १७, २०।
४ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्वानों का मत है कि सूफी साधक भारत में मुसलमानों के सर्वप्रथम आक्रमण (सन् ७०२) के पूर्व ही सिन्ध और दक्षिण भारत में आने लगे थे किन्तु उस समय उनका प्रचार विशेष नहीं हुआ था।[1] प्रारम्भिक सूफी फकीरों में अबुल हसन हुज हुज्विरी (सन् १०७४ लगभग), बाबा फखरुद्दीन, (मृ० सन् (११६८), बंदा निवाज गेसू दराज (सन् १३१८—१४२१) के नाम उल्लेखनीय हैं। भारत में सूफी मत के अनेक उपसम्प्रदाय हैं किन्तु उनमें से मुख्य हैं—चिश्चिया, कादिरिया सुहरवर्दिया और नक्शबन्दिया। इन सम्प्रदायों में अनेक फकीर हुए, जिनके प्रति धार्मिक और श्रद्धालु व्यक्तियों द्वारा अपार श्रद्धा प्रकट की गयी। साधु फकीरों और संतों को प्रायः धर्मप्रिय हिन्दुओं ने सदैव ही बड़े आदर की दृष्टि से देखा है। इन सम्प्रदायों के द्वारा सूफी प्रेममार्ग के उपदेश दिये गये, इस्लाम के प्रति विजित हिन्दुओं के मन में जो आक्रोश था उसे सूफी फकीरों ने अपने गीतों और मसनवियों द्वारा नये रूप में ढालकर ईश्वर के प्रति प्रेम, पारस्परिक भाव और सहानुभूति का वातावरण प्रस्तुत किया, धर्मान्ध व्यक्तियों द्वारा पीरों, फकीरों की समाधियों पर मेले लगाये जाने लगे जिनमें हिन्दू-मुसलमानों के भेद को दृष्टि-ओझल करते हुए अनेक हिन्दुओं ने भी भाग लिया। राजनीतिक कट्टरता का स्वरूप धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप जिस रूप में लोकजीवन में व्याप्त हुआ वह एक संक्रमण युग की गाथा ही मानी जा सकती है। तलवार की धार पर जिन जातियों को इस्लाम धर्म स्वीकार करना पड़ा उनमें इस सहिष्णुता के प्रति कहीं कोई समभाव नहीं मिलता। साथ ही सूफी फकीरों के प्रभाव से जो हिन्दू जातियाँ प्रभावित हुईं वे भी सूफी मार्ग को समझने में असमर्थ ही रही प्रतीत होती हैं। सूफी साधकों ने अपने मत को लोगों तक पहुँचाने के लिए आख्यानों की सहायता ली।

प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा के सूत्र जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया गया, और भी असम्बद्ध ही हैं। सूफी फकीरों ने जिस प्रेमगाथा की परम्परा का आश्रय लिया, कुछ विद्वानों के मतानुसार उसका सूत्रपात सर्वप्रथम उस काल से माना जा सकता है जबकि मुल्ला दाऊद ने सं० १४३६ में अपनी 'चन्दायन' का निर्माण किया और तब से उसके अनुसरण में अन्य कवि भी लिखने लगे।[2] चन्दायन का उद्देश्य दो प्रेमियों के प्रेम सम्बन्धों का वर्णन करना ही प्रतीत नहीं होता, श्री परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि उसमें दी गयी कथा का उद्देश्य लौकिक प्रेम (इश्क मजाजी) को आधार बनाकर अलौकिक प्रेम (इश्क हकीकी) का निरूपण करना भी था। साधनरूप में प्रयुक्त किया गया लौकिक प्रेम का कथानक सूफी आख्यानक काव्य में एक सीढ़ी अथवा साधना ही माना गया, इसी परम्परा में अन्य सूफी प्रेम गाथाओं की रचनाएँ भी मिलती है जिनमें

---

[1] हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ७४।

[2] हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुतबन की मिरगावती (सं० १५६०), जायसी की पद्मावती अथवा जायसीकृत पद्मावत (सं० १५६७) तथा मंझन की 'मधुमालती' (सं० १६०२) मुख्य हैं।[१] इसके अतिरिक्त उसमान ने चित्रावली, शेखनबी ने ज्ञान प्रदीप, कासिम शाह ने हंस जवाहर, नूर मोहम्मद ने इन्द्रावती और फाजिलशाह ने प्रेम रतन प्रेमाख्यानक काव्य लिखे।[२] इन सबके कथानक यद्यपि भिन्न हैं किन्तु इनके उद्देश्य तथा शैली दोनों में समानता मिलती है।

सूफी फकीरों की इन रचनाओं में नाथपंथी हठयोग की क्रियाओं का भी वर्णन मिलता है जो योगिसम्प्रदाय के लोक प्रभाव का परिचायक माना जा सकता है।[3] भारतीय सूफी मार्ग में योग की दृष्टि से पदों की कल्पना की गयी प्रतीत होती है जो साधक के लिए आवश्यक मुकामात की सूचना देते हैं। नासूत (प्रकृतावस्था), मेलकूल (पवित्रावस्था), जबरुत (आनन्दावस्था) तथा लाहूत (सत्यावस्था), के रूप में विभिन्न आध्यात्मिक अवस्थाएँ भी मिलती हैं किन्तु इन प्रेमाख्यानक काव्यों का मूलस्वर प्रेम साधना ही माना जा सकता है। ये कतिपय प्रेमाख्यानक काव्य प्रायः अन्योक्ति के रूप में ही लिखे गये हैं।[४] भारतीय कथानकों को लेकर उनके एकान्त हिन्दू पात्रों के भी निष्कर्ष मुसलमानी सिद्धान्तों से पूर्ण बन पड़े हैं, मसनवी शैली और प्रायः अवधी भाषा में लिखी गयी ये रचनाएँ विद्वानों के लिए आश्चर्य का कारण हैं।[५] प्रायः ये रचनाएँ प्रबन्ध-काव्य की कोटि में आती हैं, पद्मावत में तो महाकाव्य के सभी लक्षणों का निर्वाह किया गया प्रतीत होता है।

सूफी फकीरों ने जिस प्रेमतत्त्व का निरूपण किया है, जायसी के पद्मावत में उसका स्वरूप बहुत स्पष्ट है। उनकी दृष्टि में प्रेम के समान अन्य कोई साधना नहीं है। उस पर अनुसरण करना बच्चों का खेल नहीं, उसे केवल वही जान सकता है जो सिर काटकर उस पर खड़ा हो जाये।[६] जायसी ने प्रेमी के लिए प्रेममार्ग के किसी पथप्रदर्शक का होना भी अत्यंत आवश्यक माना है, सूफी साधक उसे 'पीर' कहते हैं, उसी को गुरु की संज्ञा भी दी जाती है[७] प्रेमतत्त्व का सार अंश विरह में पूर्णतः लक्षित

---

१ "हिन्दी आलोचना में पद्मावत एवं पदुमावती दोनों नामों से जायसी की रचना को सम्बोधित किया गया।" —परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह, पृ० ४७।

२ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५७।

3 पद्मावत, पृ० २२,९,१०।

४ हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० २१।

५ (अ) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २०२।
(आ) जायसी ग्रन्थावली, भूमिका—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४,५।

६ पद्मावत, पृ० ११,४।

७ गुरु सूआ जेह पंथ दिखाया।—जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३४१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है। उसमें मूर्छा, आदि अनेक विरह दशाओं का रूप भी देखने को मिलता है। जायसी आदि सूफी कवियों का विरह वर्णन सामी परम्परा के अनुरूप ही हुआ है जिसमें अतिशयोक्ति की भरमार भी हो सकती है। इस प्रकार सूफी प्रेमाख्यानक काव्य की कतिपय विशेषताएँ निम्नलिखित हो सकती हैं :

(१) ये आख्यानों के आधार पर रची जाने वाली प्रबन्ध रचनाएँ है।

(२) इनकी शैली फारसी की मसनवी शैली है जिसमें दोहा, चौपाई का प्रयोग मिलता है।

(३) इनकी भाषा प्रायः अवधी है।

(४) इनका मुख्य विषय सूफी प्रेम साधना को लौकिक प्रेम के उदाहरण-स्वरूप उपस्थित करना है।

(५) इनमें परमतत्त्व को नारी के रूप में तथा आत्मा को पुरुष रूप में माना गया है।

संत-काव्य एवं सूफी काव्य की रचनाओं को देखकर प्राय. पाठक एक असमंजस में पड़ जाता है कि मुस्लिम प्रभाव से आक्रांत होने के बाद भी इन दोनों धाराओं में कतिपय समानता और कतिपय विरोध क्यों है ? हमने देखा है कि संतों की रचनाएँ मुक्तक की कोटि में आती हैं जिनमें मुख्य साखी और शब्द हैं, उनके काव्यरूप नाथ-पंथी रचनाओं के ही लोक प्रचलित काव्यरूप हैं तथा उनकी भाषा जनभाषा है जो किसी क्षेत्र विशेष की नहीं कही जा सकती। संतों की रचनाओं का मुख्य विषय प्रेमा-भक्ति है जिसके अलौकिक रूप का परिचय देने के लिए उन्हें किसी अन्य साधना की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। संत कवि प्रधानतः शंकराद्वैत के समर्थक थे तथा भाषा और आध्यात्मतत्त्व के क्षेत्र में मध्ययुग में सांस्कृतिक चेतना के वाहक माने जा सकते हैं जबकि सूफी साधक संकुचित और सीमित रूप में ही सामने आते हैं। संतों की साधना पूर्णतया भारतीय है; उनमें परमतत्त्व को पुरुष और आत्मा को नारी मानकर प्रेमाभक्ति की पुष्टि की गयी है। उनमें सूफी साधकों के 'मादन' भाव की अपेक्षा आत्मनिवेदन का भाव प्रधान है। आत्मविचार ही उसकी मुख्य साधना है। संतों की प्रेम पद्धति और सूफी प्रेम पद्धति में पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। सूफी परमात्मा को स्त्री रूप में देखते हैं जबकि संत पुरुष रूप में।[1] सूफी फकीरों ने लौकिक कथानकों के आधार पर अलौकिक प्रेम का निरूपण किया है किन्तु संतों ने सगुण-निर्गुण से परे उस अनिर्वचनीय 'तत्' को अनुभूति का विषय बनाया है। संत-काव्य में अलौकिक प्रेम निर्वाह के लिए पात्रों के माध्यम की आवश्यकता नहीं

---

[1] दुलहनी गावहु मंगलचार।
हम घरि आये हो राजा राम भरतार ॥—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८७।
नयन जो देखा कुमलाया निरमल नीर सरीर ॥
हसत जो देखा हंसया, दसन जोति नगहीर ॥ —जायसी ग्रन्थावली, पृ० १६५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतीत होती ।[१] संतों ने परमतत्त्व को केवल रूप सौंदर्य की सीमा में ही नहीं देखा जैसाकि सूफी फकीरों के वर्णनों में मिलता है, संतों की दृष्टि में वह अधिकतर अरूप और अनिर्वचनीय ही माना जा सकता है। अलौकिक प्रेम पद्धति में सूफी फकीरों के विरह वर्णन कभी-कभी हास्यास्पद और अतिरंजना युक्त हो गये हैं[२] जबकि संतों की अलौकिक प्रेम पद्धति का आधार भारतीय नारी की पातिव्रत भावना एवं एकान्तिक प्रेमनिवेदन माना जा सकता है। इस दृष्टि से तो सूफी फकीर अवश्य ही भारतीय संत मत से प्रभावित थे।

नाथ पंथ की योग साधना सूफी काव्य और संत-काव्य दोनों को प्रभावित करती है किन्तु एक में मुस्लिम साधना का प्रभाव दृढ़तर हुआ है तो दूसरे में भक्ति भाव का सम्मिश्रण सूत्र। रूप की दृष्टि से सूफी काव्य और संत-काव्य की अपनी पृथक-पृथक विधाएँ मिलती हैं।

सगुण भक्ति काव्य धारा और संत कवि

संतों और सूफी फकीरों की धारा से भिन्न अलौकिक प्रेम अथवा भक्ति पद्धति का एक और मुख्य स्वरूप हमें हिन्दी साहित्य के पूर्व मध्यकाल में मिलता है जिसे सगुण भक्ति काव्य धारा के नाम से अभिहित किया गया है।[३] सगुण भाव से ईश्वर की भक्ति करने वाले कवियों ने उस परमात्मा को सगुण और साकार मानकर उसके सम्बन्ध में यह कल्पना की कि वह अपने अलौकिक रूप में किसी वैकुण्ठ, गोलोक अथवा साकेत आदि धाम में नित्य निवास करता है और अलौकिक रूप में वह सृष्टि पर अवतार भी लेता रहता है। इस श्रेणी के भक्तों का उपजीव्य ग्रन्थ कुछ विद्वानों के अनुसार भागवतपुराण रहा है।[४] अवतार के रूप में भगवान की विविध लीलाओं की कल्पना भी भक्तों द्वारा की गयी तथा उनका वर्णन भी किया गया। अपने इष्ट देवता के शील और सौन्दर्य के वर्णन द्वारा उसके पास पहुँचने का अनुमान भी उन्होंने किया तथा परमात्मा के साथ अनेक सम्बन्धों की स्थापना भी की। वैष्णव कवियों की भक्ति-भावपरक रचनाओं को भिन्न-भिन्न शाखाओं में बाँटा गया है। मुख्य हैं—(१) राम भक्ति शाखा, (२) कृष्ण भक्ति शाखा। निर्गुण संत-काव्य, राम काव्य एवं कृष्ण काव्य की उत्कृष्ट रचनाओं के आधार पर ही हिन्दी साहित्य के इतिहास का पूर्व मध्यकाल

---

१ इहि तत राम जपहु रे प्राणी बूझों अकथ कहाणी।
हरि कर भाव होइ जा ऊपरि, जाग्रत रैनि बिहांनी॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६१।

२ कनक पाति कित जो बन कीन्हा। और न कठिन बिरह औहि बीन्हा॥
जोबन जलहिं विरह मसि छुआ। फूलहिं भौंर, फरहिं या सूआ॥
—जायसी ग्रन्थावली, पृ० ७५।

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ११६।

४ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्पूर्ण सांस्कृतिक चेतना तथा सामाजिक चेष्टा से युक्त भाव भक्तिपरक युग 'भक्ति काल' के नाम से अभिहित किया गया, यद्यपि भक्ति की दृष्टि से एक ही धारा के ये तीन पृथक और विशेष रूप मध्ययुग में पल्लवित हुए किन्तु उनकी अंत:प्रेरणा का स्रोत भगवान की भक्ति में ही निहित है। निर्गुण संत कवियों और वैष्णव भक्ति कवियों की भक्ति पद्धति का यह भेद भगवान के निर्विशेष और सविशेष रूप के भेद में ही खोजा जा सकता है।[१] विद्वानों का अनुमान उपयुक्त ही है कि दक्षिण भारत में भक्ति का जो स्वरूप है, कबीर आदि के भक्ति काव्य में उसका स्वरूप बहुत बदल गया है। ज्ञान के उच्च गिरिश्रृंग के सम्पर्क में आकर इस भक्तिधारा ने सगुण लीलारूपी निर्झर का रूप धारण किया जिसमें मर्यादा पुरुषोत्तम, भगवान राम और नरनागर भगवान कृष्ण की सगुण लीला के सरस मधुर गान ने समस्त मध्यदेश को मुखरित कर दिया।[२] भक्ति की इस त्रिधारा को मध्यदेश में प्लावित करने का श्रेय स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में हुए स्वामी रामानन्द तथा श्री मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी, वल्लभाचार्य तथा निम्बार्काचार्य की शिष्य परम्परा में हुए विभिन्न आचार्यों को ही है। इस दृष्टि से जहाँ संत कबीर आदि निर्गुण संत कवि स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा में आते हैं वहीं स्वामी रामानन्द की सवर्णों की श्रेणी में सगुणोपासक भक्त भी हैं जो उनकी भक्तिभावना के अधिक निकट हैं। सगुण भक्ति काव्यधारा और निर्गुण संत कवियों की काव्यधारा में भक्तों की सामान्य समानताओं एवं विशेषताओं के बाद भी जो भेद हैं वह साधना की दृष्टि से मध्ययुगीन लोक चिन्ता की विभिन्न परिस्थितियों का प्रतिफल ही माना जायेगा। कहीं संत कवि वैष्णव भक्त को एक आदर्श व्यक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं तो कहीं मूर्तिपूजा और अर्चन प्रणाली के प्रति उनका घोर विरोध है।[3] संतों की प्रेमालक्षणा भक्ति सगुण वैष्णव भक्ति का ही दूसरा रूप नहीं है, उनकी आत्मसाधना इस दृष्टि से सबसे पृथक कोटि की ठहरती है। संत-काव्य के सन्दर्भ में सगुण भक्ति काव्य की मुख्य धाराओं का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है :

रामभक्ति शाखा

कतिपय विद्वानों का मत है कि यद्यपि कबीर को स्वामी रामानन्द के महान् व्यक्तित्व के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला था तो भी उन्हें रामानन्द का सच्चा प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता।[४] डा० रामकुमार वर्मा का विचार है कि

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ८१।

२ आलोचना, इतिहास विशेषांक, वर्ष २, अङ्क १, 'भक्तिकाव्य'—डा० श्री कृष्णलाल का निबन्ध, पृ० ५७।

3 वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १२२।

४ हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन – डा० हिरण्मय, पृ० ६५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्तरी भारत में राम भक्ति का जो प्रचार हुआ, उसका एकमात्र श्रेय रामानन्द ही को है। रामानन्द के पूर्व यद्यपि अनेक वैष्णव भक्त हो चुके थे तथापि राम भक्ति के वास्तविक आचार्य रामानन्द ही समझे गये। रामानन्द ने जनसमाज की बोली में ही वैष्णव धर्म का प्रचार किया। रामानन्द के शिष्य कबीर ने यद्यपि रामनाम का आश्रय लेकर ही संतमत की रूपरेखा निर्धारित की तथापि राम भक्ति का पूर्ण विकास तुलसीदास की रचनाओं में ही हुआ।[1] 'राम भक्ति शाखा' के अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि हिन्दी में राम भक्ति का परमोज्ज्वल प्रकाश १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गोस्वामी तुलसीदासजी की वाणी द्वारा स्फुरित हुआ। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने काव्यभाषा की सारी प्रचलित पद्धतियों के बीच अपना चमत्कार दिखाया।[2] कुछ विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि हिन्दी साहित्य के प्रादुर्भाव के पूर्व रामकथा शताब्दियों से भारतीय साहित्य मात्र में इतनी व्याप्त होती रही थी कि समस्त भारतीय संस्कृति राममय हो चली थी।[3] हिन्दी में राम भक्तिधारा का अपना पृथक ही स्थान है। डा० माताप्रसाद गुप्त का मत है कि हिन्दी राम भक्तिधारा में अनेक कवि हुए, किन्तु राम भक्तिधारा का साहित्यिक महत्त्व अकेले तुलसीदास के कारण है। धारा के अन्य कवियों और तुलसीदास में अन्तर तारागण और चन्द्रमा का नहीं है, तारागण और सूर्य का है। तुलसी की अपूर्व आभा के सामने वे साहित्याकाश में रहते हुए भी चमक न सके इसलिए इस धारा का अध्ययन मुख्यतः तुलसीदास में ही केन्द्रित करना होगा।[4] हिन्दी राम भक्ति काव्य पर तुलसीदास का यह एकाधिपत्य हिन्दी राम साहित्य की एक विशेषता ही माना जायगा।

गोस्वामी तुलसीदास के पूर्व का रामभक्ति काव्य अधिक विस्तृत नहीं है। वह प्रायः अप्रकाशित ही है। सबसे प्रथम नाम स्वामी रामानन्द रचित 'राम रक्षा स्त्रोत' का है, साहित्यिक दृष्टि से इस रचना का कोई महत्त्व नहीं है। किन्तु स्वामी रामानन्द का महत्त्व उत्तरी भारत में भक्ति आन्दोलन के नेता के रूप में सर्वमान्य है। इस क्रम में दूसरा नाम विष्णुदास का आता है। इन्हें बाल्मीकीय रामायण के किसी हिन्दी रूपान्तर का कर्ता बताया गया है।[5] इनके अतिरिक्त ईश्वरदास कृत 'भरत मिलाप', 'अंगद पैज' दो रचनाएँ और मिलती हैं।[6] उपर्युक्त सभी रचनाएँ राम भक्ति परम्परा में आती हैं किन्तु इसके अतिरिक्त भी कुछ रचनाएँ जैन रामकथा

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३३३।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १२४।
३ हिन्दी साहित्य कोश, कामिल बुल्के, पृ० ८९५।
४ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० ३०४।
५ वही, पृ० ३०५।
६ नागरी प्रचारिणी खोज विवरण (१९००), संख्या ८५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की परम्परा में भी पायी जाती हैं, जिनमें मुख्य हैं मुनि लावण्य की 'रावण मन्दोदरी संवाद', जिनराजसूरी की 'रावण मन्दोदरी संवाद,' ब्रह्मजिनदास का 'रामचरित या रामरस' और हनुमन्तरस'।[१]

गोस्वामी तुलसीदास (१५३२–१६५३ ई०) रामकाव्य के प्रधान कवि हैं। डा० रामकुमार वर्मा का मत है कि तुलसीदास ने राम के चरित्र का आधार लेकर मानव जीवन की जितनी व्यापक और सम्पूर्ण समीक्षा की है उतनी हिन्दी साहित्य के किसी कवि ने नहीं की। इस समीक्षा के साथ ही उन्होंने लोकशिक्षा का भी ध्यान रखा और मानव जीवन में ऐसे आदर्शों की स्थापना की जो विश्वजनीन हैं और समय के प्रवाह से नहीं बह सकते।[२] तुलसीदास के नाम पर ३१ रचनाओं की सूची मिलती है किन्तु डा० माताप्रसाद केवल निम्नलिखित बारह रचनाओं को प्रामाणिक मानते हैं—रामलालनहछू, रामाज्ञा प्रश्न, जानकी मंगल, रामचरितमानस, पार्वती मंगल, गीतावली, कृष्ण गीतावली, विनय पत्रिका, बरवै दोहावली, कवितावली, हनुमान वाहक।[३] तुलसीदास के राम साहित्य में आध्यात्मिक विचारों की दृष्टि से इतनी सामग्री मिलती है कि विद्वान प्रायः उसे तुलसी दर्शन के नाम से अभिहित करते हैं। उनके राम भक्ति सम्बन्धी विचार 'आध्यात्म रामायण' पर आधारित हैं ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है।[४]

रामकाव्य के रचयिताओं के उपास्य सगुण राम हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय निर्गुण मतवादी संत राम के मर्म की चर्चा कर उसके निराकार परमतत्त्व रूप का प्रचार करते थे तब सगुण भक्ति के क्षेत्र में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाना स्वाभाविक ही था और इस संदर्भ में भक्ति काल में कुछ उत्तम काव्य का सृजन भी हुआ है। यह भी निर्विवाद है। तुलसीदास के मतानुसार राम परमात्मा हैं, वे ही निर्गुण और सगुण ब्रह्म हैं, वे अपनी माया का आश्रय लेकर अवतार धारण करते हैं मायाश्रित राम के सगुण रूप की लीलाओं को देखकर ज्ञानी भी भ्रम में पड़ जाते हैं और उस भ्रम से प्रेरित होकर राम के कर्मों का आरोप करने लगते हैं। जीवन ईश्वर का अंश है और इसलिए भी सच्चिदानन्द है। इस भव से मुक्ति कर्ममार्ग के द्वारा नहीं होती, ज्ञान मोक्षप्रद अवश्य है किन्तु भक्ति भव से मुक्ति के लिए अमोघ साधन

---

१ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० ७६।

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३३७।

३ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० ३१३।

४ वही, पृ० ३२५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है ।[१] नाथपंथी परम्परा में ही संतों ने ब्रह्म के परात्पर रूप को साधारण जनता के लिए सुलभ बनाने का प्रयत्न किया था । किन्तु तुलसीदास ने योगियों और निर्गुण मतवादी संतों के प्रति अपना रोष ही प्रकट किया है—

गोरख जगायो जोग । भगति भगाओ लोग ॥

× × ×

तुम्ह जो कहा राम कोउ आना । जेहि श्रुत गाव धरहिं मुनि ध्याना ॥
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जो मोह पिसाच ।
पाखण्डी हरिपद विमुख जानहिं झूंठ न सांच ॥[२]

संत कवियों के निर्गुण ब्रह्म को लक्ष्य करते हुए सम्भवतः इन पक्तियों में उत्तरकाण्ड में काकभुशुन्डि ने गरुड़ से कहा था—

निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुन न जानइ कोइ ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि-सुनि मन भ्रम होइ ॥[3]

रामकाव्य में तुलसीदास की रचनाओं के जिस पक्ष को दृढ़तर रूप में व्यक्त किया गया है वह तत्कालीन किसी भी काव्यधारा में उतनी तीव्रता से नही मिलता । तुलसीदास ने अपनी भक्तिभावना को समन्वय के रूप में प्रस्तुत किया है—

ज्ञानहिं भगतहिं नहिं कछु भेदा । उभय हरहिं भव संभव खेदा ॥

× × ×

ज्ञान, अज्ञान, सगुण, निर्गुण उनके मतानुसार सापेक्ष्य हैं, निरपेक्ष नहीं—

ज्ञान कहै अज्ञान बिन, तम बिनु कहै प्रकास ।
निरगुन कहै जो सगुण बिनु, सो गुरु तुलसीदास ॥

---

१ (अ) हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० ३२५ ।

(आ) राम ब्रह्म परमारथ रूपा । अविगत अलख अनादि अनूपा ।
सकल विकार रहित गत भेदा । कहि नित नेति निरूपहि वेदा ॥
भगति भूमि भूसर सुरभि, सुरहित लागि कृपाल ।
करत चरित धरि मनुज तन, सुनत मिटहिं जगजाल ॥
—रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा ९३ ।

(इ) जेहि रमि गावहि वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोह दशरथ सुत भगतहित कौशलपति भगवान ॥
—रामचरितमानस, बालकाण्ड, २१८ ।

(ई) ईश्वर अंशजीव अविनासी ।

२ रामचरितमानस, बालकाण्ड ।

3 उत्तरकाण्ड, दोहा ७३ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उनकी समन्वय भावना के सम्बन्ध में एक स्थल पर लिखा है कि उन्हें लोक और शास्त्र दोनों का बहुत व्यापक ज्ञान था। उनके काव्य ग्रन्थों में जहाँ लोकविधियों के सूक्ष्म अध्ययन का प्रमाण मिलता है वहीं शास्त्र के गम्भीर अध्ययन का भी परिचय मिलता है। लोक और शास्त्र के व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफलता दी थी, उनमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, वैराग्य और गृहस्थ का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृत का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्ति चिन्तन का, ब्राह्मण और चाण्डाल का, पंडित और अपंडित का समन्वय रामचरितमानस के आदि से अन्त तक दो छोरों पर जाने वाली पराकोटियों को मिलाने का प्रयत्न है।[1] संत-काव्य में भक्ति के एक पक्ष का—साधना समन्वित सहज समाधि का—आग्रह है जो व्यक्ति कल्याण की नाथपंथी हठयोगी साधना का विकसित रूप ही प्रतीत होता है जबकि तुलसीदास का रामकाव्य स्पष्ट ही लोक वेद की मर्यादा का पोषक और लोक कल्याण के समन्वय के ऊँचे आदर्श को लेकर खड़ा हुआ है। राम के शील, भक्ति, सौंदर्य समन्वित चरित्र को लेकर तुलसीदास ने जिन मर्मस्पर्शी चित्रों को प्रस्तुत किया है, वह रूप अन्यत्र देखने में नहीं आता,[2] तुलसीदास की रचनाएँ रामभक्ति की दृष्टि से तो महान् हैं ही साथ ही वे काव्यकला की दृष्टि से भी उत्कृष्ट ठहरती हैं। आचार्य शुक्ल का मत है कि भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं तो इन्हीं महानुभाव को। और कवि जीवन का कोई एक पक्ष लेकर चले हैं जैसे वीर काल के कवि उत्साह को, भक्ति काल के दूसरे कवि प्रेम और ज्ञान को, अलंकार काव्य के कवि दाम्पत्य, प्रणय या शृंगार को। पर इनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है। एक ओर तो वह व्यक्तिगत साधना के मार्ग में विरागपूर्ण शुद्ध भगवतभक्ति का उपदेश करती है, दूसरी ओर लोक पक्ष में आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों का सौंदर्य दिखाकर मुग्ध करती है। व्यक्ति साधना के साथ ही साथ लोकधर्म की अत्यन्त उज्ज्वल छटा उसमें वर्तमान है।[3]

तुलसीदास के बाद राम भक्ति धारा में एक सौ वर्ष बाद तक राम का मर्यादा पुरुषोत्तम रूप ही प्रधान रहा। इसके अन्तर्गत सबसे पहली कृति कवि केशवदास की रामचन्द्रिका (१६०१ ई०) है। विद्वानों के मतानुसार केशवदास भक्तिधारा के कवि नहीं माने जा सकते।[4] तुलसीदास के उत्तर समसामयिकों में दूसरे प्रमुख कवि

---

१ हिन्दी साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३५।
२ तुलसी ग्रन्थावली (विनयपत्रिका), पृ० ५०९, ५४५।
३ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १३८।
४ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० ३२८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भक्तमाल के रचयिता नाभादास हैं जिनकी रचना 'रामाष्टयाम, राम भक्ति सम्बन्धी रचना मानी जाती है।[१] इसके अतिरिक्त सेनापति की रचना 'रामायण वर्णन' और 'राम रसायन वर्णन' मुक्तक छन्दों के संकलन के रूप में उपलब्ध है। परवर्ती उल्लेखनीय रचनाओं के अन्तर्गत डा० माताप्रसाद गुप्त ने निम्नलिखित रचनाओं का निर्देश किया है[२] :

दशरावउत—महाराज पृथ्वीराज (निधन तिथि सन् १६०० ई०)
रामायण महानाटक—प्राणचन्द चौहान (रचना काल सन् १६१० ई०)
गुणराम रासो—माधवदास चारण (रचना काल सन् १६२८ ई०)
राम अवतार लीला—मलूकदास
अवध विलास—लालदास (रचना काल सन् १६४३ ई०)
भरतजी की बारहमासी
अवतार चरित्र—नरहरिदास (रचना काल सन् १६७६ ई०)
सीताराम चरित्र—रामचन्द

आगे चलकर रामभक्ति की धारा मधुर भाव की भक्ति की ओर मुड़ जाती है, जिनमें लोक कल्याण के स्थान पर कृष्ण भक्ति और रीतिधारा से प्रभावित सजातीय भाव की प्रमुखता मिलती है।

कृष्ण भक्तिधारा

डा० ब्रजेश्वर वर्मा का कथन है कि हमारे देश की संस्कृति जिन उपकरणों से मिलकर बनी है उनमें कृष्णवार्ता और कृष्णकथा का अद्वितीय स्थान है।[३] उत्तर भारत में कृष्ण भक्ति का प्रादुर्भाव पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व नहीं माना जा सकता। भारतीय भाषाओं में ही हिन्दी (मैथिल) में विद्यापति, बंगला में चण्डीदास तथा गुजराती में भीम ने सर्वप्रथम गोपालकृष्ण की लीलाओं को काव्य का विषय बनाया। विद्यापति द्वारा विरचित जिस कृष्ण भक्ति काव्य की चर्चा की जाती है उसका स्थान लौकिक शृङ्गार के अन्तर्गत आता है अथवा भक्ति के अन्तर्गत इसके विषय में परिस्थितियों के भक्ति प्रवण होने के कारण प्रायः विद्वान् एकमत नहीं हैं।[४] विद्यापति के पश्चात् हिन्दी कृष्ण काव्य के प्रथम कवि सूरदास (जन्म सं० १५३५ वि०) हुए जिनकी प्रतिभा को पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य ने अपने सम्प्रदाय के प्रचार में लगाया। यह प्रायः सर्वसम्मत मत है कि हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य को सबसे अधिक

---

१ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० ३२८।
२ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ३३०।
३ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, कृष्ण भक्ति साहित्य—डा० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ३३३।
४ विद्यापति के भक्त हृदय का रूप उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में छिप जाता है।
— डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५०९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रेरणा महाप्रभु वल्लभाचार्य, उनके उत्तराधिकारियों और उनके भक्ति सम्प्रदाय पुष्टि मार्ग से मिली थी।[१] सूरदास का सम्बन्ध इसी बल्लभ कुल से था। उन्होंने गोपाल कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित सम्पूर्ण आख्यान को सूरसागर में एक गीति प्रबन्ध का रूप दिया। यद्यपि सूरदास नाम के अनेक भक्त हुए हैं तथा उसी प्रकार उनके नाम की अनेक पुस्तकें प्रसिद्ध हैं किन्तु कृष्ण भक्ति धारा के प्रमुख कवि और पुष्टिमार्ग के जहाज[२] भक्त कवि सूरदास की तीन ही रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। वे हैं—सूरसागर, सूर सारावली तथा साहित्य लहरी। डा० ब्रजेश्वर वर्मा का कथन है कि उनके अद्भुत व्यक्तित्व का घनिष्ठ परिचय तो हमें उनकी अमर कृति 'सूरसागर' से ही मिलता है जिसके नवीनतम संस्करण में ५,००० के लगभग पद संकलित मिलते हैं, परन्तु सूरसागर के वैज्ञानिक सम्पादन की समस्या अब भी ज्यों की त्यों शेष है।[3] सूरदास अष्टसखाओं में अग्रणी हैं।

सूरदास ने यद्यपि ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को अस्वीकार नहीं किया किन्तु निरालम्ब मत के लिए सगुण ईश्वर का स्तवन ही उन्हें प्रिय था।[४] मानव मत के लिए ब्रह्म अगम है। नाथपंथी तथा निर्गुण साधकों से वे ब्रह्म के स्वरूप पर अपनी भिन्नता भी प्रकट करते हैं। भ्रमर गीत के रूप में संगृहीत पदों में ज्ञानाभिमानी उद्धव को अंततोगत्वा सगुण भक्ति स्वीकार करनी पड़ती है।[५] दैन्य सूर की प्रकृति का एक स्थायी अंग था, उनकी प्रारम्भिक भक्ति दैन्य प्रधान ही थी। महाप्रभु वल्लभाचार्य के अनुग्रह से जब उन्हें भगवान की लीला का ज्ञान हुआ तब उनकी सुप्त सौंदर्यवृत्ति जाग उठी और कृष्ण लीला गान के रूप में उनके हृदय से आनन्द का स्रोत उमड़ने लगा।[६] सूर का सम्पूर्ण काव्य लौकिक काव्य की परिभाषा में श्रृंगार के अंतर्गत आता है तथा भक्ति काव्य के संदर्भ में माधुर्य रति के अंतर्गत। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि सूरदास हिन्दी साहित्य के महाकवि हैं क्योंकि उन्होंने न केवल भाव और भाषा के दृष्टिकोण से साहित्य को सुसज्जित किया, वरन् धार्मिक क्षेत्र में ब्रजभाषा के सहारे कृष्ण काव्य की एक विशिष्ट परम्परा को जन्म दिया। अतः वे केवल व्यक्ति काव्य के आदर्शों को लेकर ही कवि नहीं हैं प्रत्युत साहित्य के क्षेत्र में प्रवृत्तियों को नवीन रूप देने वाले कलाकार भी हैं।[७] यदि यह कहा जाय कि सूर कृष्ण काव्य के अप्रतिम गायक थे तो अत्युक्ति न होगी।

---

१ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० ३८३।

२ वही, पृ० ३५४।

३ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, कृष्ण भक्ति साहित्य, पृ० ३८५।

४ सूरसागर (ना०प्र०स०), पद २।

५ वही, पद ३४६६, पृ० ४७७।

६ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड—डा० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० ३८४।

७ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५३३-३४।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कृष्ण काव्य का विस्तार दूर तक हुआ है। गोस्वामी विट्ठलदास ने जिन अष्टछाप शिष्यों को चुनकर उनका परिचय दिया है वे हैं कुंभनदास, सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, चतुर्भुजदास, गोविंदस्वामी, छीतस्वामी और नन्ददास।[1] इन कवियों ने गोपाल कृष्ण की लीलाओं को भिन्न-भिन्न रूप में अभिव्यक्त कर कृष्ण काव्य की श्री वृद्धि की। अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त बल्लभकुल के रसखान कवि का नाम सुपरिचित है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा का कथन है कि जाति के मुसलमान और प्रारम्भ में अत्यंत गर्हित प्रेम वासना में लिप्त होते हुए भी इन्हें कृष्ण की अनन्य भक्ति का प्राप्त होना यह सूचित करता है कि किस प्रकार भगवान कृष्ण पतितों के उद्धारक और पापियों के तारक हैं।[2]

पुष्टिमार्गी धारा के अतिरिक्त राधाबल्लभ सम्प्रदाय के गोस्वामी हित हरिवंश (सं० १५५६-१६०६ वि०), हरिराम व्यास (सं० १५४९-१६५५ वि०), दामोदर दास सेवकजी (अनुमानतः १५७७-१६१० वि०), स्वामी चतुर्भुजदास (१६वी शताब्दी) ध्रुवदास (१६वीं शताब्दी), चाचा हित वृन्दावनदास (१८वीं शताब्दी), और हठीजी (१८वीं शताब्दी) कृष्ण भक्ति धारा के अधिक प्रसिद्ध कवि हुए हैं। विद्वानों का अनुमान है कि कृष्ण भक्ति काव्य के कलेवर में राधाबल्लभी सम्प्रदाय ने कदाचित सर्वाधिक योग दिया है, अनेक कवियों का उल्लेख इस सन्दर्भ में किया गया है।[3] इसके अतिरिक्त हठी सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी हरिदास स्वयं एक अच्छे कवि थे, उनकी परम्परा के कवियों का उल्लेख भी कृष्ण भक्ति काव्य के अंतर्गत किया जाता है। चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी तथा निम्बार्कमतानुयानी भक्तों ने भी कृष्ण काव्य के सृजन में योग दिया है। इसके अतिरिक्त मीराबाई (जन्म सं० १५५५ वि०), रहीम साहब, नरोत्तमदास, कविवर घनानन्द आदि लब्धप्रतिष्ठ कवियों ने कृष्ण भक्ति की स्वच्छ धारा को अपनी वाणी के माधुर्य से प्लावित किया है। कृष्ण काव्य के विस्तृत विवेचन का यह स्थल नहीं है। कृष्ण काव्य के विकास की यह संक्षिप्त रूपरेखा है।

सगुण भक्ति काव्य के इस संक्षिप्त परिचय से यह स्पष्ट है कि निर्गुण भक्ति की धारा का सम्बन्ध आचार्यों द्वारा प्रवाहित भक्ति मार्ग से नहीं है। यदि हम भक्ति काव्य को स्थूल रूप में विभाजित करें तो यह स्पष्ट हो ही जाता है कि एक वर्ग गायकों का रहा है तथा दूसरा आचार्यों का। कवि एवं आचार्य भक्तों की कोटि में तुलसी और सूर की रचनाएँ आयेंगी तथा गायकों का सम्बन्ध निर्गुण साधकों से स्थिर होगा। सिद्धों और नाथों के तंत्र तथा गहन कानन में चक्कर काटती हुई यह विशुद्ध अनुभूतिमयी अभिव्यक्ति सिद्धान्त के क्षेत्र में नाथपंथी भावधारा की परवर्ती है। सगुण भक्ति का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार स्मार्त परम्परा से बना रहा है।

---

१ हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० ३८४।
२ वही, पृ० ३८८।
३ वही, पृ० ३९१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सामाजिक विषमता और धार्मिक आवरणशीलता के मध्य जिस निर्गुण भक्ति भावना ने मध्ययुग में प्रकृत काव्य की चेतना को मुखर किया उससे स्पष्ट है कि अपने समकालीन परिस्थितियों से प्रभावित होती हुई भी यह धारा नाथ पंथ की उपदेशशीला वृत्ति, सहजशील का आदर्श और ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा को लिये हुए पल्लवित हुई। यद्यपि नाथ पंथ की योगधारा का प्रभाव सगुण भक्ति काव्य पर भी पड़ा है किन्तु भक्तों को वह मार्ग ग्राह्य प्रतीत नहीं हुआ। संतों ने उस मार्ग को अपनी साधना के मध्य देखा परखा किन्तु वे उससे आगे बढ़कर अपनी आत्मविचार की साधना को जन्म दे सके। इस दृष्टि से संत-काव्य नाथपंथी काव्य की प्रेरणा को अपनी पृष्ठभूमि में स्वीकार करता हुआ बढ़ा है, यह स्पष्ट है।

संत-काव्य की सांस्कृतिक परम्परा

सांस्कृतिक परम्परा की दृष्टि से संत-काव्य का मूल्य कम नहीं है। सांस्कृतिक परम्परा अथवा संस्कृति के अन्तर्गत प्रायः विद्वानों ने दो अवस्थाओं की चर्चा की है। एक का सम्बन्ध स्थानीय अथवा जातीय विकास से है तथा दूसरे का सम्बन्ध लोकव्यापी अथवा मानवीय विकास से।[1] यद्यपि दोनों अवस्थाएँ एक-दूसरे की पूरक हैं। संसार की जातियों अथवा राष्ट्रों ने कतिपय विशेषताओं को अपने भीतर इस रूप में ग्रहण किया है कि वे अपने मौलिक गुणों को लेकर उद्भाषित हो सके हैं। संस्कृति इस दृष्टि से मानव को सरस, सुन्दर और कल्याणमय बनाने के लिए प्रयत्नशील है। किसी भी देश की संस्कृति का विकास उस देश के धर्म, दर्शन और साहित्य के द्वारा ही हुआ है यह प्रायः सर्वमान्य मत है।

भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में विद्वानों की स्थापनाएँ भिन्न-भिन्न हैं। महा-महोपाध्याय पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने एक स्थल पर प्रकट किया है कि भारतीय संस्कृति का मूल आधार आध्यात्मवाद ही है। प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले शरीर आदि के अतिरिक्त एक (नित्य) आत्मा है, वह अनादि अनन्त है। आज जिस शरीर में हम हैं, ऐसे हजारों-लाखों शरीर वह धारण कर चुका और छोड़ चुका है, आगे भी जब तक वह मुक्त न होगा तब तक ऐसे हजारों-लाखों शरीर धारण करेगा और छोड़ता रहेगा, उस आत्मा को उन्नत करना अर्थात् इस शरीर-बन्धन के झगड़े से छुड़ाकर

---

[1] (अ) किसी देश की संस्कृति अपने को धर्म, दार्शनिक विचार, कविता, संगीत और कला, शासन-प्रबन्ध आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है। —डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, प्रारम्भिक शब्द।

(आ) संस्कृति कुछ ऐसी चीज का नाम हो जाता है जो बुनियादी और अन्तर-राष्ट्रीय है।—स्व० श्री नेहरू, संस्कृति के चार अध्याय (प्रस्तावना)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वरूप में प्रतिष्ठित कर लेना या मुक्त कर लेना ही हमारे जीवन का उद्देश्य है, इन विचारों का नाम ही आध्यात्मवाद है।[1] दूसरी विचारधारा के लेखक इस दृष्टि से भिन्न स्थापनाएँ रखते हैं। उन्होंने लिखा है कि भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। एक ओर तो इस संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व, मोहनजोदड़ो आदि की सभ्यता तथा द्रविड़ों की महान सभ्यता तक पहुँचता है, दूसरी ओर इस संस्कृति पर आर्यों की बहुत ही गहरी छाप है, जो भारत में मध्य एशिया से आये थे।[2] वस्तुतः भारतीय संस्कृति पर विचार करते समय एक दीर्घकाल की मानव चेतना का इतिहास हमारे सम्मुख आ उभरता है जिसमें विविध रंग हैं, विविध प्रतिकृतियाँ हैं। इस रूप में उपलब्ध हमारी यह परम्परा अपनी कुछ विशेष सांस्कृतिक विशेषताओं को जन्म दे सकी हैं, इसमें दो मत नहीं हैं।

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने भारतीय संस्कृति को निम्नलिखित विशेषताएँ परिगणित की हैं :

(१) यह संस्कृति आध्यात्म भावना पर आधारित है।
(२) इस संस्कृति में ऐहलौकिक सुख और समृद्धि की उपेक्षा नहीं की गयी।
(३) एहलौकिक सुख और समृद्धि के लिए वर्ण और आश्रमधर्म का पालन आवश्यक है।
(४) सहिष्णुता भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता रही है।
(५) भारतीय संस्कृति अनेक तत्त्वों के सम्मिश्रण का परिणाम है।
(६) भारत ने अपनी जिस अनुपम संस्कृति को विकसित किया, उसे संसार में प्रचारित करने का भी इस देश के लोगों ने प्रयत्न किया।[3]

डा० विद्यालंकार द्वारा वर्णित भारतीय संस्कृति की इन कतिपय विशेषताओं के अतिरिक्त भी सामान्य रूप से भारतीयों में आवागमन, एवं आन्तरिक शुद्धि के प्रति दृढ़ आस्था, करुणा, मैत्री, विनय एवं अहिंसा के प्रति सामान्य सुझाव तथा उत्सव-प्रियता परम्परागत रूप में उपलब्ध होते हैं जो भारतीय संस्कृति की अन्य विशेषताएँ मानी जा सकती हैं। समग्ररूप से भारतीय संस्कृति की एक अत्यन्त प्राचीन एवं व्यापक रूप में प्रसारित चिन्तनधारा है जिसका विकास मानव-जाति के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

भारतीय संस्कृति की उपलब्धियों की चर्चा की यहाँ आवश्यकता नहीं है, दृष्टव्य केवल यही है कि संत-काव्य इस दृष्टि से अपनी सांस्कृतिक परम्परा की विस्तृत

---

१ **सम्मेलन पत्रिका**, लोक संस्कृति अंक, पृ० ६९।
२ **संस्कृति के चार अध्याय**, प्रस्तावना—जवाहरलाल नेहरू, पृ० ६।
३ **भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास**—डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ० २६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पृष्ठभूमि में पल्लवित हुआ है। बौद्धमत के ह्रास के पश्चात् भारतीय चिंतनधारा में जिस नाथपंथी हठयोगी साधना का प्रादुर्भाव हुआ, मध्ययुग में उसका रूप योगी सम्प्रदाय की प्राचीन परम्परा और शैव मतवाद की लोकपरक भावना को लेकर ही गठित हुआ है, इस पर पूर्व में विस्तार से चर्चा की जा चुकी है।[१] वस्तुतः मध्ययुग में भारतीय संस्कृति का विकास परस्पर विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों को लेकर ही हुआ है। भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था की अवहेलना कर जिस श्रमण चिन्तन का सूत्रपात बौद्धों और अन्य व्रात्य सम्प्रदायों द्वारा किया गया है, उसका विकास निरन्तर होता रहा है। नाथ पंथ में उसका रूप कठोर काया-साधना तथा नैतिक आचरण में सीमित हो गया किन्तु परम्परा से प्राप्त वर्ण-व्यवस्था की स्वीकारोक्ति नाथ पंथ में नहीं मिलती।[२] नाथ पंथ में उन सभी रूढ़ियों का खंडन है जो सिद्ध सम्प्रदाय में पाया जाता है किन्तु नाथ पंथ की रचनाओं में उपलब्ध पाखण्ड खण्डन, मंत्र व्यर्थता, और सम्प्रदाय अवहेलना की भावना का होना ही उन्हें सिद्ध परम्परा का पोषक नहीं बना देता। नाथ पंथ में जिस ब्रह्मवाद की निश्चित धारणा उपलब्ध है[3] वह प्राचीन भारतीय आध्यात्मवाद के उन्मेष का ही परिणाम है जिसके सूत्र स्वामी शंकराचार्य की धर्मभावना में मिलते हैं। नाथ पंथ में इसके अतिरिक्त सिद्धों के भोगवाद के विरुद्ध नैतिक आचरण पर बहुत बल दिया गया है। मध्ययुग में नाथ पंथ की सांस्कृतिक चेतना इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय आध्यात्मवाद से पूर्णतया मेल खाती है। संत-काव्य, नाथ पंथ का परवर्ती है। सांस्कृतिक परम्परा की दृष्टि से ब्रह्मविचार अथवा आत्मविचार उसकी मुख्य विशेषता है। यह आत्मविचार की भावना, स्पष्ट है कि उसे नाथ पंथ से मिली। यहीं पर बौद्ध चिन्तन की पृथकता का स्पष्ट बोध होता है। श्री दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में बौद्ध धर्म और संस्कृति के पराभव तथा नाथ पंथ चिंतन के उद्भव पर प्रकाश डालते हुए एक स्थल पर प्रकट किया है कि कोई-कोई विद्वान यह भी कहते हैं कि बौद्ध धर्म का भारत से लोप इसलिए हुआ कि दार्शनिक स्तर पर हिन्दू धर्म से उसका सामंजस्य नहीं बैठ सका। बौद्धों का विरोध हिन्दुओं ने इसलिए किया कि वे जाति-प्रथा के विरोधी थे, यज्ञ को नहीं मानते थे तथा ब्राह्मणों की जन्मजात श्रेष्ठता उन्हें स्वीकार नहीं थी। किन्तु बौद्ध दर्शन का विरोध इसलिए हुआ कि उसका रूप नकारात्मक था, वह जीवन से भाग खड़े होने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता था।[४] नाथ पंथ इस रूप में सम्पूर्ण व्यवस्था का विरोधी होने के बाद भी प्राचीन आध्यात्मिक धारा से अपने को सम्बन्ध पाता

---

१ इस ग्रन्थ का अध्याय २।

२ कोई बादी कोई बिवादी, जोगी को वाद न करना।
अठसठि तीरथ समंदि समावे यूं जोगी कौ गुरमुषि जरना॥
— गोरखवानी, पृ० ५।

३ गोरखवानी, पृ० ४।

४ संस्कृति के चार अध्याय, पृ० २१८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

है। डा० रामकुमार वर्मा का मत है कि गोरखनाथ ने नाथ सम्प्रदाय के जिस आन्दोलन को जन्म दिया वह भारतीय मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ।[1] संतों ने उसी मुख्य मनोवृत्ति को आधार मान सम्पूर्ण समाज की व्यवस्था को चुनौती दी फिर भी वह लोक-जीवन में आदर पाता गया।[2] संत-काव्य इस दृष्टि से नाथपंथी संस्कृति का अगला चरण माना जाय तो अत्युक्ति न होगी। नाथ पंथ ने केवल संतों की विचारधारा को ही प्रभावित नहीं किया, मध्ययुग का सम्पूर्ण तत्त्वचिन्तन नाथ पंथ के प्रभाव से प्रभावित था।[3]

संत-काव्य की सांस्कृतिक परम्परा इस रूप में नाथ पंथ से पूर्णतया सम्बद्ध मानी जायगी किन्तु यदि भारतीय संस्कृति के गत्यात्मक स्वरूप को देखा जाय तो यह तथ्य स्वीकार नहीं किया जा सकता कि संतों का सांस्कृतिक मूल्य नाथपंथी प्रभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भक्ति के आन्दोलन के फलस्वरूप पन्द्रहवीं शताब्दी में जिस भावधारा का विकास हुआ उसके परिपुष्ट होने की प्रक्रिया में इस्लाम का आक्रमण तथा हिन्दू चिंतनधारा की भक्तिविह्वल भावना प्रमुख है।[4] पन्द्रहवीं शताब्दी की सांस्कृतिक उथल-पुथल वस्तुतः प्रभाव सापेक्ष्य ही नहीं मानी जा सकती, यद्यपि परम्परारूप में चली आने वाली भारतीय संस्कृति की यह धारा उस काल में आकर जिस रूप में मुखर हुई उसके पूर्व उसका यह रूप नहीं मिलता। इस्लाम का इस रूप में आक्रमण भारत के लिए अभूतपूर्व घटना थी। राजनीतिक आक्रमण का प्रभाव प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ता ही है इसमें दो मत नहीं हो सकते किन्तु संत-काव्य के रूप में भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन की यह परिस्थिति प्राचीन और नवीन दोनों के सामंजस्य का परिणाम है। संतों में प्राचीन भारतीय संस्कृति के उन सभी अंगों का व्यावहारिक रूप उपलब्ध है जिसका कारण संतों की समन्वयशील वृत्ति ही मानी जायगी संत नाथपंथियों से कम कठोर एवं लोकजीवन के अधिक निकट है। वस्तुतः हम उनमें लोक संस्कृति के वे सब उपकरण पाते हैं[5] जिनके आधार पर राष्ट्रीय संस्कृति का बीजारोपण होता है तथा विश्व संस्कृति का पुष्प खिलता है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के पूर्व नाथ मत ही सबसे प्रबल लोकधर्म था। परवर्ती काल में भक्ति की प्रचण्ड धारा में यद्यपि बहुत ही पुरानी स्मृतियाँ बह गयीं परन्तु नाथपंथियों के विश्वास और साहित्य

---

१ **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास**, पृ० ११७।

२ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० ४५, ४६, ४४, ४२ इत्यादि।

३ **हिन्दी साहित्य, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि**, पृ० ३५।

४ **हिन्दी साहित्य की भूमिका**—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २।

५ **सम्मेलन पत्रिका**, लोक संस्कृति विशेषांक, डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित का निबन्ध, 'संतों के लोक गीत,' पृ० १४६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपना अमिट चिह्न इन पर छोड़ गये हैं।[१] नाथ पंथ का यह प्रभाव तथा उसके 'विश्वास' केवल हिन्दी संत-काव्य पर ही नहीं है अपितु प्रायः सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य पर नाथ पंथ के साहित्य और विश्वास का प्रभाव है। संतों ने उन्हीं विश्वासों को भक्ति के माध्यम से मूल्यांकन कर स्वीकार तथा अस्वीकार किया है। भक्ति आन्दोलन के परिणामस्वरूप नवीन दृष्टिकोण को अपनी आत्मविचार की साधना से मण्डित भी किया है। भारतीय संस्कृति की प्राचीन परम्परा का कतिपय प्रकरणों में विरोध करते हुए भी वे उसके मर्म से सदैव परिचित रहे प्रतीत होते हैं, नाथपंथी पृष्ठभूमि में संत-काव्य की यह सांस्कृतिक परम्परा आधुनिक युग तक भारतीय जीवन को प्रभावित किये हुए हैं। संतों के चिन्तन के प्रयत्नों के फलस्वरूप भारतीय जीवन में निम्नलिखित प्रवृत्तियों का उन्मेष हुआ प्रतीत होता है जिन्हें सांस्कृतिक उपलब्धियाँ कहा जा सकता है :

(१) सत्य के प्रति आग्रह।
(२) आध्यात्मिक चिन्तन की प्रमुखता तथा ऐहिक सुखों के प्रति विरति।
(३) व्यक्तिगत साधना का महत्त्व तथा सामाजिक जीवन के प्रति उदासीनता।
(४) भेदभाव के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण।
(५) समन्वय के लिए प्रयत्न।

इन उपलब्धियों के अतिरिक्त संतों ने भारतीय संस्कृति के कुछ प्राचीन तत्त्वों की अवहेलना भी की है। नाथपंथी साधकों की भाँति संतों ने भारतीय वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार नहीं किया। सांस्कृतिक दृष्टि से यह एक आश्चर्यजनक घटना ही मानी जायगी। भारतीय धर्मसाधना के विकास के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए हमने मध्यकालीन भारतीय जीवन पर पड़े अनेक प्रभावों एवं मतों की सविस्तार चर्चा की है। सामाजिक भेदभाव और आडम्बरपूर्ण धार्मिक बाह्याचारों ने वर्णों को अनेक जातियों में विघटित कर औपचारिकता को इतना बढ़ावा दिया कि मध्ययुग में सामाजिक जीवन घात-प्रतिघात की एक गाथा ही बन गया। धार्मिक क्षेत्र से लेकर सामाजिक जीवन में भी ऊँचनीच की भावना घर कर गयी। संतों की पूर्व परम्परा इस रूप में सामाजिक पतन और निराशा से आक्रांत प्रतीत होती है। गौतम बुद्ध, गोरखनाथ और कबीर को इस दृष्टि से हम रूढ़ि के विरोध में अग्रसर होता हुआ पाते हैं। संतों ने वर्णाश्रम धर्म की अवहेलना अपनी परम्परा-पोषित रूप में की है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

यद्यपि सांस्कृतिक दृष्टि से संतों में द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी रूप नहीं मिलता किन्तु उनकी सांस्कृतिक चेतना साध्य भावना का व्यापक स्वरूप प्रस्तुत करती है। लोकजीवन को पूर्ण तत्त्व की अनुभूति से बाँधकर भेदभाव एवं वर्ग के स्थान पर परमतत्त्व के विराट और व्यापक साम्य भाव का स्वर संत-काव्य की सांस्कृतिक देन

[१] हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० ६७।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ही माना जा सकता है । लोक संस्कृति की दृष्टि से संतों की व्यापकता और सामान्य जन को अपने निकट लाने की क्षमता अपूर्व ही मानी जायगी । संतों की अनुभूति का यह संदेशप्रवण रूप उन्हें उदात्त सांस्कृतिक धरातल पर पहुँचा देता है ।

इन उपलब्धियों की पृष्ठभूमि हमें नाथ पंथ में मिलती है, यह उपर्युक्त विवेचन से भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है । संत-काव्य नाथपंथी परम्परा के साथ ही भारतीय संस्कृति की अनुभूतिमयी धारा का प्रमुख पोषक है । इसका सांस्कृतिक मूल्यांकन आध्यात्मिक दृष्टि से ही किया जा सकता है ।

हिन्दी साहित्य को संत कवियों की देन

प्रस्तुत प्रबन्ध में हमने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि संत-काव्य अनेक क्षेत्रों में एवं रूपों में नाथ पंथ से प्रभावित रहा है । विद्वानों का मत प्रायः स्पष्ट ही है कि संत सम्प्रदाय की विचारधारा के निर्धारण में नाथ सम्प्रदाय का विशेष योग है । संत सम्प्रदाय की भावभूमि पर निर्गुण उपासना ने एक सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण किया जो विदेशी धर्म प्रचार के कठिन अस्त्रों से भी नहीं तोड़ा जा सका ।[1] डा० रामकुमार वर्मा का यह कथन मध्यकालीन चिन्तन के क्षेत्र में संत-काव्य के महत्त्व को स्थापित करता है जिसकी मूल पृष्ठभूमि नाथ पंथ में मिलती है । संतों की रचनाओं का हिन्दी साहित्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग है । इसे हिन्दी साहित्य के इतिहास का कोई भी विद्यार्थी अस्वीकार नहीं कर सकता । नाथ पंथ की देन, इस दृष्टि से संत-काव्य की तुलना में अधिक नहीं ठहर सकती, किन्तु जिस प्रकार वृक्ष की सुखद शीतल छांह के महत्त्व का मूल्यांकन करते समय उसकी जड़ों की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता उसी प्रकार जब संत-काव्य की देन के विषय में विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं उस समय प्रायः संतों की वाणियों के मूल्यांकन तक ही हम केन्द्रित रह जाते हैं । नाथ पंथ की प्रवृत्तियाँ ही मूलरूप में संत-काव्य के लिए उत्तरदायी हैं तथा संत-काव्य अपने मूल में नाथ पंथ से प्रभावित हैं, यह तथ्य उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ही है । अतएव नाथ पंथ की हिन्दी साहित्य को क्या देन है इसी संदर्भ में हम संत-काव्य की देन का मूल्यांकन कर सकते हैं । नाथ पंथ की निम्नलिखित स्थापनाएँ स्पष्ट हैं :

(१) नाथ पंथ व्यक्तिगत कायापलट में आस्था रखता है ।
(२) व्यक्तितत्त्व के पूर्ण विकास द्वारा वह अपनी साधना की उपलब्धि करता है ।
(३) आत्मनिर्भरता और सच्चरित्रता के लिए उपदेश देता है ।
(४) समानता के भाव का पोषण करता है ।
(५) सर्वात्मभाव की सिद्धि में विश्वास करता है ।
(६) काव्य उसके लिए साधन है ।

---

[1] हिन्दी साहित्य—डा० रामकुमार वर्मा, द्वितीय खण्ड, पृ० २०. ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(७) अनुभूति की सच्चाई ही उसका उपजीव्य है।
(८) लोकभाषा और प्रचलित काव्य रूपों को ही सामान्यता अपनाया गया है।

नाथ पंथ की प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुई हैं, भाषा की दृष्टि से नाथ पंथ की रचनाओं का सृजन उस समय हुआ जबकि अपभ्रंश का काल प्रायः समाप्ति पर था और हिन्दी के विकास की वह प्रारम्भिक अवस्था थी।[१] भाषा की उस प्रारम्भिक अवस्था में भी नाथपंथी साधकों ने लोकवाणी को ही अपने उपदेश का माध्यम स्वीकार कर लोकभाषा को अग्रसर करने में सक्रिय योग दिया, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यद्यपि नाथ पंथ की हिन्दी रचनाएँ बहुत ही कम उपलब्ध हैं तथापि जिस रूप में भी वे उपलब्ध हैं उनके आधार पर ही संतों की वानियों में प्रतीकों और काव्य रूपों की उद्‌भावना हो सकी है। नाथ पंथ के परवर्ती साधक यद्यपि साधना के नेतृत्व पक्ष से विरत से प्रतीत होते हैं किन्तु अपने प्रारम्भिक रूप में नाथ पंथ के साधक साधनापंथों के अग्रणी रहे होंगे ऐसा अनुमान सहज ही किया जा सकता है। संतों को लोक नेतृत्व प्राप्त हुआ, उसका कारण संतों के दृष्टिकोण की व्यावहारिकता और साधना के प्रति कठोर आग्रह का अभाव ही माना जायगा जो नाथ पंथ की विशेषता मानी जाती है। संत-काव्य हिन्दी साहित्य के चिन्तन का नाथ पंथ के पश्चात् का चरण है यह भी कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है, और इस दृष्टि से संत-काव्य की देन नाथ पंथ की अपेक्षा अधिक विस्तृत, व्यापक और लोक प्रभावी है। उसमें धार्मिक चेतना के साथ-साथ अनायास ही काव्य का वह रूप भी मिलता है जिसे वास्तविक अर्थ में काव्य कहा जा सकता है।[२]

संत-काव्य प्रकृत काव्य है, उसमें अपूर्व आत्मविश्वास और आशावादिता के भाव मिलते हैं। उसका दृष्टिकोण आध्यात्मिक है। वह व्यक्तिगत कायापलट में आस्था रखता हुआ महामानव की प्रतिष्ठा का पोषक है।[३] अपने उद्देश्य की पूर्ति में उसने उपदेश का मार्ग ग्रहण किया है, किन्तु वह उपदेश उसकी अनुभूति से प्रमाणित तथा अनुभव से पगा हुआ है। कबीर साहब ने एक स्थल पर कहा है—

कहु कबीर मैं सो गुरु पाया जाका नाउ विवेकी[४]

संत वा असत का स्वयं निर्णय कर लेने की शक्ति को ही उन्होंने अपना गुरु बनाया है जिसे विवेक की संज्ञा दी जा सकती है। आत्मविचार का यह माध्यम इतनी स्पष्टता के साथ गोरखवानी में नहीं मिलता—

---

१ **पुरातत्त्व निबन्धावली**—महापंडित राहुल सांकृत्यायन, ।
२ **हिन्दी साहित्य**—डा० रामकुमार वर्मा, द्वितीय खण्ड, पृ० २३९।
३ **संत-काव्य, भूमिका**—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १२६।
४ **आदि ग्रन्थ, सही ५**।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पढि देख पंडिता रहि देषि सार । अपनी करणी उतखांपार ॥[1]

गोरखनाथ ने करणी के द्वारा ही उपलब्धि का भाव व्यक्त किया है, विवेक उनकी दृष्टि में कहीं वाद है, कहीं विवाद है जो जोगी को नहीं करना चाहिए ।[2] संत-काव्य में आत्मनिर्भरता के लिए अपने अनुमान पर चलने को श्रेयष्कर माना गया है ।[3] निजी मन की शक्ति पर ही निर्भर रहने का उपदेश देकर जिस चिन्तन को संतों ने लोक-जीवन में प्रचलित किया वह आत्मनिर्भरता के लिए आवश्यक प्रतीत होता है ।[4] चरित्रवान व्यक्ति ही सर्वश्रेष्ठ मनुष्य है ।[5] भेदभाव सर्वात्मसिद्धि के मार्ग में बाधक है ।[6] वर्ण्य विषय की दृष्टि से संतों की ये रचनाएँ मानव की सच्ची अनुभूति की परिचायक हैं, यद्यपि वे सुगढ़ नहीं हैं यह भी कतिपय विद्वानों का मत है ।

संत-काव्य की यह देन जहाँ जनता में नैतिक बल को विकसित करती है वहाँ उसमें जनजागरण का संदेश भी निहित है । संतों की आध्यात्मिक चेतना विश्व धर्म का अंग मानी जाती है । समाज के जिस स्तर पर धर्म तथा दर्शन की पहुँच नहीं थी, संतों की वाणियों ने वहाँ अपना संदेश पहुँचाया है, इस दृष्टि से उनका महत्त्व अप्रतिम है ।

संत-काव्य ने जन-भाषाओं के विकास पर अपनी परम्परा-पोषित धारणा के कारण जितना बल दिया है वह स्पष्ट ही है । उन भाषाओं के द्वारा जिस काव्य का सृजन हुआ वह स्थायी साहित्य के अन्तर्गत आता है । हिन्दी का संत-काव्य भावुक मन को शांति देने के लिए सक्षम है यह महत्त्व अन्य लौकिक साहित्य को उपलब्ध नहीं है, यह भी संत-काव्य की एक विशेषता ही माना जायगा ।

काव्य की दृष्टि से भी संतों की वाणियों का मूल्य कम नहीं है, यह उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट ही है । नाथ पंथ जहाँ शुष्क साधनावाद तक अपने को सीमित रख सका, संतों में वह कोमल भावनाओं और कल्पनाओं से सम्पन्न होकर प्रस्फुटित हुआ । उसमें जीवन का संदेश है, अनुभूति की तन्मयता भी तथा सत्य और सौंदर्य का ऐसा अपूर्व मिलन है जो संत-काव्य के लिए आवश्यक है । इन सब उपलब्धियों के लिए संत-काव्य नाथ पंथ का अनुवर्ती है । क्या भाव, क्या भाषा, क्या प्रतीक विधान और क्या शैली, सभी दृष्टि से संत-काव्य पर नाथ पंथ का गहरा प्रभाव है, यह स्पष्ट है ।

---

१ **गोरखवानी**, पृ० २१ ।
२ **वही**, पृ० ५ ।
३ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० १८ ।
४ **दूलनदास की वानी**, पृ० ३७ ।
५ **मलूकदास की वानी** ।
६ **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० १०६ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

अरस्तू का काव्य शास्त्र	डा० नगेन्द्र
आत्म विज्ञान	म० दा० गाडगिल
उत्तरी भारत की संत परम्परा	परशुराम चतुर्वेदी
कबीर	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा
कबीर की विचारधारा	डा० गोविन्द त्रिगुणायन
कबीर ग्रन्थावली	प्रकाशक—काशी नागरी प्रचारिणी सभा
कबीर वचनावली	प्रकाशक—काशी नागरी प्रचारिणी सभा
कबीर बीजक	कबीर ग्रन्थ प्रकाशन समिति
कबीर साहित्य का अध्ययन	पुरुषोत्तम लाल
कबीर साहित्य की परख	परशुराम चतुर्वेदी
काव्य कला तथा अन्य निबन्ध	जयशंकर प्रसाद
काव्य कल्पद्रुम, प्रथम भाग	कन्हैयालाल पोद्दार
काव्य दर्पण	रामदहिन मिश्र
काव्य शास्त्र	डा० भगीरथ मिश्र
गरीबदास की वानी	बेलवेडियर प्रेस
गुलाल साहब की वानी	बेलवेडियर प्रेस
गोरखवानी	प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन
घट रामायण, २ भाग (तुलसी साहब)	बेलवेडियर प्रेस
चिंतामणि, भाग १, २	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जायसी ग्रन्थावली	प्रकाशक—नागरी प्रचारिणी सभा
तसव्वुफ और सूफी मत	आचार्य चन्द्रबली पाण्डे
तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड	प्रकाशक—काशी नागरी प्रचारिणी सभा
तुलसी साहब की वानी	बेलवेडियर प्रेस
दया बाई की वानी	बेलवेडियर प्रेस
दर्शन दिग्दर्शन	राहुल सांकृत्यायन
दोहा कोश	सम्पादक—राहुल सांकृत्यायन
धरनीदास की वानी	बेलवेडियर प्रेस
नाथ सम्प्रदाय	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
नाथ सिद्धों की वानियाँ	काशी नागरी प्रचारिणी सभा
निर्गुण काव्य दर्शन	सिद्धिनाथ तिवारी
पलटू साहब की वानी, भाग १, २	बेलवेडियर प्रेस
प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास	रांगेय राघव
पुरातत्त्व निबन्धावली	राहुल सांकृत्यायन
भक्तमाल	नाभादास
बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन	भरतसिंह उपाध्याय
बौद्धधर्म दर्शन	आचार्य नरेन्द्र देव
भारतीय दर्शन	डा० बल्देव उपाध्याय
भारतीय साहित्य प्रकाश	डा० बल्देव उपाध्याय
भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास	डा० सत्यकेतु विद्यालंकार
मध्यकालीन धर्मसाधना	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
मलूकदास की वानी	बेलवेडियर प्रेस
मैनासत	सम्पादक—हरिहर निवास द्विवेदी
यारी साहब की वानी	बेलवेडियर प्रेस
योग प्रवाह	डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
रहस्यवाद और हिन्दी कविता	गुलाबराय तथा डा० शंभुनाथ पांडेय
रामानन्द की हिन्दी कविता	...
विश्वधर्म दर्शन	सांवलिया बिहारीलाल
वैष्णव धर्म	परशुराम चतुर्वेदी
संत-काव्य	परशुराम चतुर्वेदी
संत कवि दरिया : एक अनुशीलन	डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
संत सुधासार	वियोगी हरि
संत दर्शन	डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संस्कृति के चार अध्याय	दिनकर
सहजो बाई का सहज प्रकाश	बेलवेडियर प्रेस
सिद्धांत और अध्ययन	गुलाबराय
सिद्ध साहित्य	डा० धर्मवीर भारती
सुकवि समीक्षा	डा० दशरथ ओझा, डा० विजेन्द्र स्नातक
सुन्दर दर्शन	डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित
सुन्दर ग्रन्थावली, भाग १, २	हरिनारायण शर्मा
स्वामी दादूदयाल की वानी	सम्पादक—पं० चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी
शैवमत	डा० यदुवंशी
हिन्दी काव्यधारा	राहुल सांकृत्यायन
हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय	डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह	परशुराम चतुर्वेदी
हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास	डा० भगीरथ मिश्र
काव्य में रहस्यात्मक प्रवृत्तियाँ	डा० ब्रजमोहन गुप्त
हिन्दी काव्य रूपों का उद्भव और विकास	डा० शकुन्तला दुबे
हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग	डा० नामवर सिंह
हिन्दी को मराठी संतों की देन	डा० विनयमोहन शर्मा
हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन	डा० हिरण्मय
हिन्दी साहित्य	डा० श्यामसुन्दरदास
हिन्दी साहित्य	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड	भारतीय हिन्दी परिषद्
हिन्दी साहित्य का आदिकाल	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डा० रामकुमार वर्मा
हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम खण्ड	नागरी प्रचारिणी सभा
हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास	डा० अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन
हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि	विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
हिन्दी साहित्य की भूमिका	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य कोश	प्रधान सम्पादक—डा० धीरेन्द्र वर्मा
हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता	डा० वेनीप्रसाद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संस्कृत

माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य एवं बृहदारण्यकोपनिषद	प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर
गोरक्ष पद्धति	प्रकाशक—खेमचन्द्र श्रीकृष्णदास
श्रीमद्भागवद्गीता (शांकरभाष्य)	प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर
नारद भक्ति सूत्र	प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर
शांडिल्य भक्ति सूत्र	प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर
योगिसम्प्रदाय विष्कृति	चन्द्रनाथ योगी

अंग्रेजी

एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग २, ६, ११	हेस्टिंग
गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज	जार्ज वेस्टन विग्स
गोरखनाथ एण्ड मेडीवल मिस्टीसिज्म	डा० मोहनसिंह
एसेन्सशियल्स आफ इण्डियन फिलॉसफी	प्रो० एम० हीरायना
इन्फ्ल्युएन्स आफ इस्लाम इन हिन्दू कल्चर	डा० ताराचन्द
कबीर एण्ड कबीर पंथ	जी० एच० वेस्काट
कबीर एण्ड हिज फॉलोअर्स	एफ० ई० के
कलेक्टेड वर्क्स आफ श्री आर० जी० भण्डारकर	भण्डारकर ओरियण्टल
शैविज्म, वैष्णविज्म एण्ड अदर माईनर रिलीजन्स	इन्स्टीट्यूट पूना
मिस्टीसिज्म	एलविन अण्डरटिल
मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र	डा० आर० डी० रानाडे
मेडीवल मिस्टीसिज्म आफ इण्डिया	आचार्य क्षितिमोहन सेन
मायावाद	साधु शांतिनाथ
संत मत एण्ड दि बाईबिल	नारायण दास
दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी	सम्पादक—आर० सी० मजूमदार
दि फिलॉसफी आफ ब्युटीफुल	नाईट
दि निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोयट्री	डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
दि योग आफ सेन्ट्स	डा० व्ही० एच० दाते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पत्र-पत्रिकाएँ

आलोचना
काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका
कल्याण
सम्मेलन-पत्रिका
समालोचक
रेवा
हिन्दी अनुशीलन

राजकीय संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
3992
18.2.71
State Museum Library, Lucknow

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh